

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचितः

# समयसार

समय देशना

भाग - 1



देशनाकार

आचार्य विशुद्ध सागर महाराज जी

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य विरचित

# समयसार

पर

# समय देशना

(प्रवचन भाग -१)

-देशनाकार-

प्रातः स्मरणीय, अभीक्षणज्ञानोपयोगी, अध्यात्मयोगी,  
सिध्दांततत्त्ववेत्ता, तार्किकशिरोमणि

प. पू. आचार्य श्री १०८ विशुद्धसागरजी

सम्पर्क करें  
**नरेन्द्रकुमार जैन**  
सि.डी. साहित्य, जय जिनेन्द्र की  
प्लेट, स्टीकर, जैन सामग्री  
मो.: 9926027824

- प्रकाशक: -

## अनिल बुक डेपो

द्वारा - श्री. अनिल कासलीवाल  
सेक्टर ६, ए मार्केट, भिलाई (दुर्ग).  
मो. ०९४२५२३९३३०.

मुद्रक/प्रकाशक :-  
अनिल बुक डेपो  
भिलाई (दुर्ग)

प्रथम आवृत्ति - (१००० प्रतियाँ)  
सन - २०१० वीरसंवत् - २५३७

**परामर्श-सम्पादक**

**डॉ. जयकुमार जैन**

अध्यक्ष, अखिल भारतीय शास्त्री परिषद

**डॉ. श्रेयांसकुमार जैन**

अध्यक्ष; अखिल भारतीय विद्वत् परिषद

**प्रो. ऋषभप्रसाद जैन**

**संकलन**

ब्रह्मचारिणी नीतू दीदी

संघस्थ गणाचार्य विरागसागरजी

**शब्दशोधन**

इंजि. जिनेन्द्र जैन, भोपाल

इंजि दिनेश जैन, भिलाई

**मुद्रण स्थळ :**

प्रभात प्रिंटिंग वर्क्स,

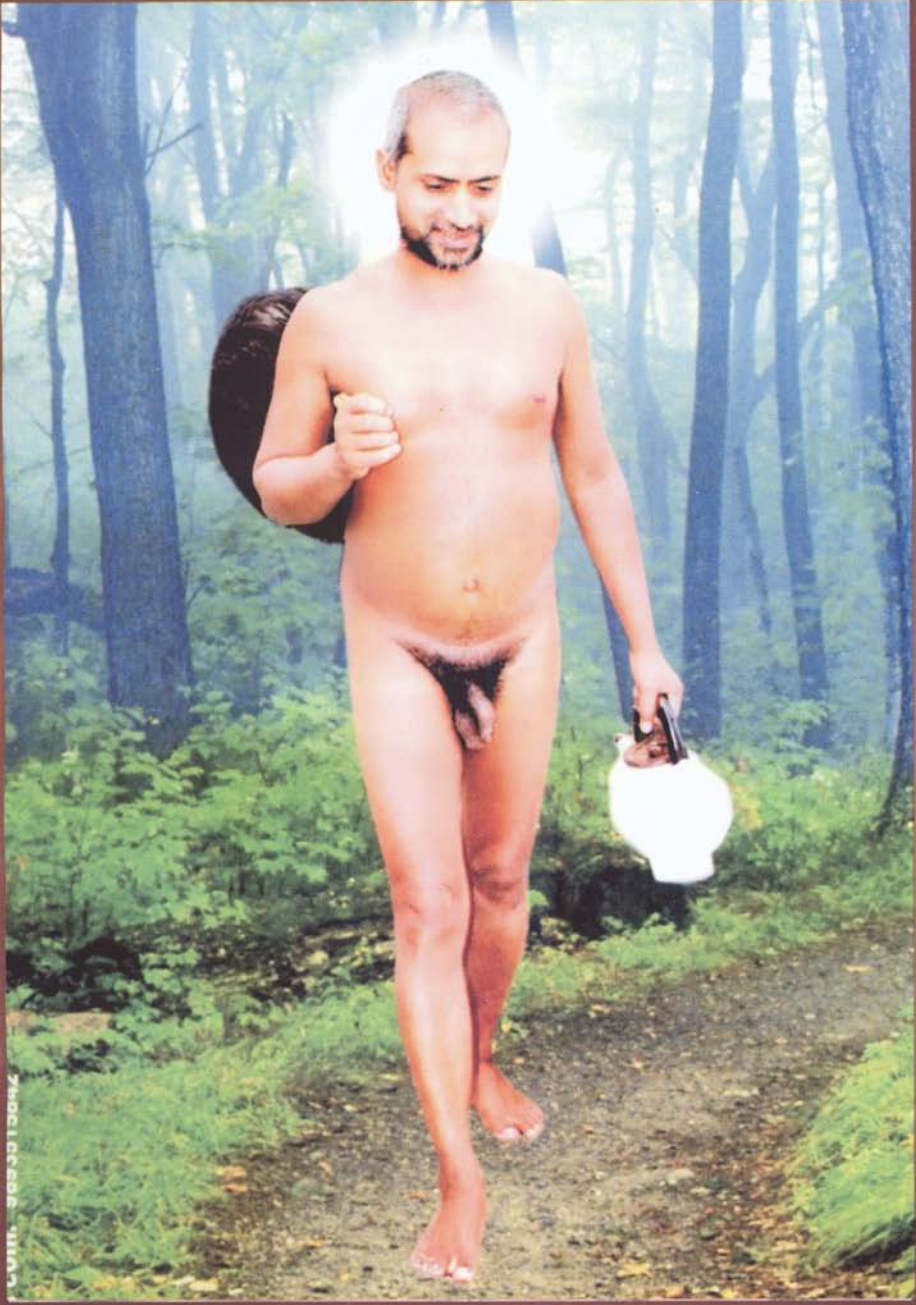
४२७, गुलटेकडी, पुणे

**प्राप्तीस्थान**

जीवराज जैन ग्रंथमाला, सोलापूर - ४१३००२.

फोन(०२१७)२३२०००७, मो. ९४२१०४००२२, ९८९०९६७७०६.

(सर्वाधिकार सुरक्षित)



प. पू. चर्याशिरोमणी आचार्य श्री १०८ विगुधसागरजी महाराज





# मंगलशीष

दलिक शब्द रचना पट ग्रंथ/शास्त्रका पूर्ण नाम 'समयसार प्राभृत' है जिसका अर्थ है 'समय' यानि 'आत्मा' 'सार' अर्थात् प्रयोजनीय आध्यात्मिक तत्त्व 'प्रा' यानि उत्कृष्ट रूप से 'भृत' अर्थात् भरा हुआ है। वह नय सार प्राभृत है। 'समयसार' उसका ही एक देश नाम है। यह अध्यात्मिक तत्त्ववेत्ता श्री कुंदकुंदाचार्य की मूल्य कृति है। जो वास्तविक समयसार की उपलब्धि का एक प्रबल साधन है। पर इसकी पात्रता के विषय श्री जयसेनाचार्य जी तात्पर्यवृत्ति में लिखते हैं कि,

'अत्र ग्रंथे वस्तुवृत्त्या वीतराग सम्यग्दृष्टेर्ग्रहणं, यस्तु चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सराग सम्यग्दृष्टिस्तस्य गौणवृत्त्या हण' (गाथा १९३ की टीका)

अर्थात् - इस ग्रंथमें वास्तविक रूप से निश्चय से वीतराग सम्यग्दृष्टि को ग्रहण किया गया है और जो चतुर्थ गुणस्थानवर्ति सराग सम्यग्दृष्टि है उसका गौणवृत्ति से ग्रहण किया गया है। तथा आगे पुनः इसीबात को दोहराते हुए गाथा २०१-२०२ की तात्पर्य वृत्तिमें लिखते हैं कि,

'अत्रतुग्रंथे पञ्चमगुणस्थानादुपरितन गुणस्थानवर्तिनां वीतराग सम्यग्दृष्टिनां मुख्यवृत्त्या ग्रहणं, सराग सम्यग्दृष्टिनां गौणवृत्त्येति व्याख्यानं सम्यग्दृष्टि व्याख्यानज्ञ सर्वकाले तात्पर्येण ज्ञातव्यम्' ॥

अर्थात्, यहाँ इस ग्रंथ में पांचवे गुणस्थान से ऊपर वाले गुणस्थान वाले वीतराग सम्यग्दृष्टि जीवों का मुख्यरूप से ग्रहण है सराग सम्यग्दृष्टि का गौण रूप से ऐसा व्याख्यान सम्यग्दृष्टि के व्याख्यान समय में सभी जगह तात्पर्य रूप से जानना चाहिए।

एक प्रश्न हो सकता है कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव के ४३ कर्म प्रकृति के अभाव में उतने अंश में वीतरागता हो सकती है क्या ? तात्पर्यवृत्तिमें इसे इस प्रकार कहा है - "रागी सम्यग्दृष्टि न भवतीति भणितं भवद्भिः, तर्हि चतुर्थ पञ्चम गुणस्थानवर्तिन तीर्थकर भरतसगर राम पाण्डवादयः सम्यग्दृष्टयो न भवति? इति। तन्न, मिथ्या दृष्ट्यापेक्षा त्रिचट्टवार्तिशत प्रकृतिनां बन्धाभावात्सराग सम्यग्दृष्टयो भवति। कथं इति चेत् चतुर्थ गुणस्थानवर्तीना जीवानां अनंतानुबंधी क्रोधमानमायालोभमिथ्या पाषाणटेखादि समानाना रागादिनामभावात्। पञ्चम गुणस्थान वर्तिनां पुनर्जीवानां अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभोदय जनितानां भूमिरेखादिसमानानां रागादिनामभावात् इति पूर्वमे भाणितमास्ते। (ता.वृ.गा.२०१.२०२)

अर्थ.-रागी सम्यग्दृष्टी नहीं होता है। ऐसा आपने कहा है तो चतुर्थ पञ्चम गुणस्थानवर्ती (गृहस्थावस्थामें) तीर्थकर भरत सगर राम पाण्डव आदि सम्यग्दृष्टि नहीं कहलायेंगे? उत्तर - ऐसा नहीं किन्तु मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा त्रैतालीस (४३) प्रकृतियों के बंध का अभाव होनेसे (वे) सराग सम्यग्दृष्टि होते हैं क्योंकि चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीवों के अनंतानुबंधी क्रोधमान मायालोभ और मिथ्यात्व के उदय से पाषाण (पत्थर) की रेखा (लकीर) के समान वालों के रागादिका अभाव है (इसलिये वे वीतरागी नहीं किन्तु सराग सम्यग्दृष्टि हैं) पञ्चम गुणस्थानवर्ती जीवोंके अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ के उदय से भूमिरेखादि के समान रागादि का अभाव है (इसलिये वे भी सरागी ही हैं न कि वीतरागी) ऐसा पूर्व में भी कह चुके हैं।



## आशीर्वाद

आचार्य कुन्द-कुन्द स्वामी विरचित 'समयसार' नाम ग्रन्थ है जो साक्षात् जीवत्व और शुद्धोपयोग का दिग्दर्शन करता है उनके शब्दों के रहस्यों को आचार्य अमृतचन्द्र, आचार्य जयसेन के साथ साथ पण्डित जयचन्द्र छाबड़ा, पं.मोतीचन्द्र आदि ने उद्घाटित करने का पूर्ण प्रयत्न किया है। अपने अपने समय में सफल भी हुए हैं तथा अनेक भव्यों ने बोधि का लाभ भी प्राप्त किया है।

वर्तमान में आचार्य आदिसागर जी अंकलीकर के शिष्य आचार्य महावीर कीर्ति के शिष्य आचार्य विमलसागर जी के शिष्य गणाचार्य विराग सागर जी के शिष्य आचार्य विशुद्ध सागर जी हैं। उनके ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम बढ़ा हुआ है। अध्यात्म क्षेत्र में अच्छी पहुंच है साथ ही तद्रूप क्रिया है यह अधिक महत्वपूर्ण है। समयसार की वाचना में इसकी अच्छी व्याख्या की है वह महत्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ के सरलीकरण से भव्य जीवों को ज्ञान ध्यान सुगमता से होगा तथा मोक्षमार्गी बनकर शुद्धात्म स्वरूप में परिणत होंगे।

अतः उनको मेरा शुभ आशीर्वाद है.....

अनन्त चतुर्दशी २००६  
इचल करंजी

आचार्य सन्मतिसागर



## सम्पादकीय

जैन धर्म में वर्तमान शासन नायक भगवान् महावीर और उनकी दिव्यध्वनि के धारक द्वादशांग आगम के प्रणेता गौतम गणधर के बाद श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य को प्रधानता दी गई है। यही कारण है कि प्रत्येक माङ्गलिक कार्य के पूर्व जैनधर्मानुयायियों में निम्नलिखित मङ्गल श्लोक पढ़ने की परम्परा सतत प्रवहमान है -

'मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी ।

मङ्गलं कुन्दकुन्दाचार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम् ।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य श्रमण संस्कृति के उन्नायक, प्राकृतवाङ्मय के अग्रणी प्रतिभू, तर्कप्रधान दार्ष्टान्तिक शैली में लिखित अध्यात्म साहित्य के युगप्रधान महामनीषी हैं। उनकी महत्ता इसी से सिद्ध है कि पश्चाद्वर्ती आचार्य परम्परा अपने को कुन्दकुन्दान्वयी कहकर गौरवित समझती है। प्रो. हार्नले ने विभिन्न शास्त्रों, पट्टावलिओं, एवं पुरातात्विक सामग्रीका अध्ययन - अनुसन्धान करके आचार्य कुन्दकुन्द का जन्मसमय ई.पू. १०८ निर्धारित किया है। नन्दिसंघ की पट्टावली के अनुसार श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने ९५ वर्ष १०माह १५ दिन की दीर्घायु पाई थी। उन्होंने ११ वर्ष की अल्पवय में दीक्षा धारण की थी तथा वे ३३ वर्ष तक मुनिपद पर आसीन रहे थे। तदनन्तर ४४ वर्ष की आयु में उन्होंने आचार्य पद को अलंकृत किया था। ५१ वर्ष १० माह १५ दिन तक वे इस पद को सुशोभित करते रहे और अन्त में ई. पू. १२-१३ में उनका समाधिमरण हुआ था। इस प्रकार अद्यावधि आचार्य कुन्दकुन्द का समाधिमरण हुये दो सहस्र वर्ष से भी दो दशक अधिक हो चुके हैं।

विपुल साहित्य प्रणयन की दृष्टि से न केवल प्राकृत भाषा में ही, अपिल सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में कुन्दकुन्दाचार्य अग्रणी एवं सर्वातिशायी हैं। उन्होंने अध्यात्मविषयक और तत्त्वज्ञान विषयक दोनों प्रकार के साहित्य की रचना की है। निम्नलिखित २१ ग्रन्थ निर्विवाद एवं प्रामाणिक रूप से कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत हैं-

पयवणसारो, समयसारो, पंचत्थिकाय, णियमसार, बारस अणुवेक्खा, दंसणपाहुड, चारित्तपाहुड, सुत्तपाहुड, बोधपाहुड, भावपाहुड, मोक्खपाहुड, लिंगपाहुड, सीलपाहुड, सिद्धभत्ति, सुदभत्ति, चारित्तभत्ति, जोइभत्ति, आयरियभत्ति, णिव्वाणभत्ति, पंचगुरुभत्ति और तित्थयरभत्ति।

रयणसार भी कुन्दकुन्दकृत माना जाता है। किन्तु भाषा-शैली की दृष्टि से इसमें अन्य कृतियों की अपेक्षा भिन्नता दृष्टिगत होती है। जैन अध्यात्म एवं तत्त्वज्ञान के लिए इन ग्रन्थों की महत्ता सर्वस्वीकृत है।

अध्यात्म की दृष्टि से कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत ग्रन्थों में समयसार का विशेष महत्त्व है। इसका नाम ग्रन्थकार ने समयपाहुड कहा है किन्तु, अमृतचन्द्रसूरि ने 'नमःसमयसाराय' कहकर अपनी टीका आत्मख्याति प्रारंभ की है। कदाचित् इसी कारण समयपाहुड को समयसार नाम से विशेष प्रसिद्धि मिली है। अमृतचन्द्ररचित आत्मख्याति पाण्डित्यपूर्ण शैली में लिखित निश्चयनयप्रधान टीका है। इसके पश्चात् जयसेनाचार्य ने उभयनयाश्रित तात्पर्यवृत्ति नामक टीका लिखी, जो सरल एवं स्पष्ट है। अमृतचन्द्रसूरि का समय १० वीं शताब्दी ईस्वी तथा जयसेनाचार्य का समय १२ वीं शताब्दी ईस्वी मान्य है। आत्मख्याति के अनुसार समयसार में ४१५ गाथार्ये तथा तात्पर्यवृत्ति

के अनुसार ५३१ गाथायें हैं। इन दो प्रसिद्ध संस्कृत टीकाओं के अतिरिक्त पं. जयचन्द्र छाबडा कृत भाषावचनिका (१८०७ई.) महत्वपूर्ण है। आधुनिक समय में श्री गणेश प्रसादजी वर्णी एवं श्री मनोहरलाल जी वर्णी आदि द्वारा लिखित टीकाएँ भी महत्वपूर्ण हैं।

दिगम्बर आचार्य परम्परा में उत्कृष्ट क्षयोपशमज्ञानी आत्मानुभवी आचार्य विशुद्धसागरजी महाराज का नाम प्रत्येक स्वाध्यायी की जिह्वा पर विराजमान है। उन्होंने समयसार पर जो प्रवचन किये, उन्हीं का संकलन समयदेशना में किया गया है। आचार्यश्री ने समयदेशना में समयसार की गूढ गुत्थियों को सहज ही सुलझा देने का भगीरथ प्रयास किया है। इस प्रयास में उन्होंने कहीं तर्क का आश्रय लिया है तो कहीं अनुभव की कसौटी पर परखा है। विषय की सांगोपांग उपस्थिति में अन्य शास्त्रोंके संदर्भोंने उनका सहयोग किया है। आचार्य विशुद्धसागर कृत समयसार देशना में पदे-पदे ऐसे छोटे-छोटे वाक्य दृष्टिगोचर होते हैं जिनमें अर्थसागर समाया हुआ है। इस प्रसंग में कतिपय प्रसंग द्रष्टव्य हैं।

‘भवातीत होता है तो भव का अभिनन्दन बन्द करो।’

‘जितने व्याख्यान हैं, वे परसमय हैं। जी व्याख्यानातीत हैं, वे स्व-समय हैं।’

जैन दर्शन में वस्तुतत्त्व के ज्ञान के साधन के रूप में प्रमाण और नयों को स्वीकार किया गया है। नयों की नासमझी ने समाज में वैमनस्य उत्पन्न किया है। आचार्यश्री विशुद्धसागर जी महाराज ने समयदेशना में निश्चय एवं व्यवहार दोनों नयों का आश्रय लेकर समाज में पनप चुके विवादों के शमन का अनायस ही प्रयास किया है। समयदेशना की सबसे बड़ी विशेषतः यह है कि यह प्रामाणिक एवं परम्परापुष्ट है। इसमें समयसार की टीकाओं, पंचास्तिकाय, तत्त्वार्थवार्तिक, बृहद्द्रव्यसंग्रह, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, समाधितन्त्र, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, मूलाचार, स्वरूप-संबोधन, परीक्षामुख, इष्टोपदेश, भावनाद्वात्रिंशतिका, नियमसार आदि अनेक ग्रन्थों को भूरिशः ससम्मान उद्घृत किया गया है।

समयसार के प्रवचन के रूप में आचार्यश्री विशुद्धसागरजी कृत समयदेशना वास्तव में एक सार्थक प्रयास है, जो अध्ययन, चिन्तन एवं मनन के क्षेत्र में एक मानक स्थापित करेगा।

समयदेशना के सम्पादन के लिए ग्रन्थ की आद्यन्त वाचना की गई। वाचना के समय पिष्टपेषण से बचने के लिए तथा विषय की सुस्पष्टता के लिए कतिपय अंशों को परिवर्तित या परिवर्धित करना पड़ा। आचार्यश्री से स्थान-स्थान पर विचार-विमर्श करके उनके मन्तव्य को सुरक्षित रखने का पूरा-पूरा प्रयास किया गया है। फिर भी भूलें रहना हीन क्षयोपशमजन्य हैं। इसमें जो कुछ अच्छाई है, वह आचार्यश्री की है। कमियों का उत्तरदायित्व हमारा है। कमियों/त्रुटियों के लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं।

समयदेशना के वाचन के अवसर प्रो. वृषभप्रसाद जैन लखनऊ, डॉ. श्रेयांसकुमार जैन बडौत, इंजिनिअर जिनेन्द्रकुमार जैन भोपाल, इंजि. श्री दिनेश जैन भिलाई, की महनीय भूमिका रही है। इन सब महानुभावों के साथ मुझे भी आचार्य श्री का मंगल आशीर्वाद मिले, यही हमारी कामना है।

संस्कृत विभाग, एस.टी.कॉलेज

मुजफ्फरनगर

२७ एप्रिल, १०

जयकुमार जैन

अध्यक्ष

श्री अ.भा.दि. जैन विद्वत्परिषद्

## आमुख

### समयदेशना : एक अमृत-कलश

- समयो खलु णिम्मलो अप्पा  
(निश्चये ते निर्मलआत्मा ही समय है ।) – रयणसार 1952
- समयसार चिद्ज्योति स्वरूप है । समय का वर्णन करने वाला यह समय पाहुण ग्रन्थ है ।
- जो निजानन्द में लवलीन आत्मा है, वह समयसारभूत आत्मा है ।  
– समयदेशना । 90

जीव के दो भेद हैं – संसारी और सिद्ध, शरीर सहित सभी जीवों को संसारी कहते हैं । संसारी जीव अनादिकाल से मुहुर्मुहु जन्म-मरण करते हुए नित्य नये-नये शरीर धारण करते आ रहे हैं । शरीर-सन्ततिका उच्छेद करने में वे आज तक समर्थ नहीं हो सके हैं । जिनका चित्त मोह-क्षोभ अर्थात् मिथ्यात्व एवं राग-द्वेषादि मल से मलिन होता है, वे संसार-संसेरण से कभी मुक्त हो भी नहीं सकते, जो विकार, वियाण या मलिनस्म परिणतिसे बचनेका पुरुषार्थ करते हैं, वे ही एक दिन पंच परावर्तन रूप श्रृंखला को तोड़कर सिध्दालयमें विराजमान हो जाते हैं और उसके बाद वह स्वात्मा के सदाबहर आनन्द का सदाकाल अनुभव करते रहते हैं । वे फिर कभी संसार में लौटकर नहीं आते जन्म मरण के चक्र से मुक्त जीव ही सिध्द कहलाते हैं ।

इसी बात को संक्षेप में यों भी कहा जा सकता है कि जीव की अशुद्ध दशा का नाम संसार और शुद्ध दशा का नाम मुक्ति है । जैनदर्शन में संसारी और मुक्त या सिद्ध, इन दोनों ही जीवों का वर्णन मिलता है , जीव की शुद्ध, दशा का कथन जिस दृष्टि से होता है, उसे अध्यात्म कहते हैं. तथा जिस पध्दति से अशुद्ध दशा का वर्णन किया जाता है, उसे सिद्धान्त कहते हैं । किसी भी भव्यात्मा को अपने दोषों ही स्वरूप के बारे में जानना आवश्यक है । कहा भी गया है 'बिन जाने वा दोष गुणन को, कैसे तजिए --गहिए ।' सिध्दान्त और अध्यात्म परस्पर विरोधी नहीं, एक-दूसरे के पूरक है । सिध्दान्त का ज्ञान साधन है तो अध्यात्म का ज्ञान साध्य है । कारणों को मिलाए बिना कभी कार्य की सिद्धि नहीं होती, अशुद्धि को जानकर उसे दूर करने का पुरुषार्थ करेंगे, तभी तो शुद्ध दशा को प्राप्त हो सकेंगे, आत्मा पर मलिनता का कितना ही घना आवरण पड़ा हो, उसे बुद्धीपूर्वक श्रम करते हुए हटाकर विशुद्धात्मा के दर्शन हो सकते हैं, मन में यदि यह विश्वास नहीं होगा, तो भी काम बनने वाला नहीं है ।

अध्यात्म के गीत गाने मात्र से कोई आध्यात्मिक नहीं होता । उसे सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त कर जीवन में उसका प्रयोग (संयम या व्यवहार चारित्र का पालन) भी करना अनिवार्य है । आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित 'समयसार' जैनाध्यात्म का एक सिरमौर ग्रन्थ है । इसी एक ग्रन्थ के कारण आचार्य कुन्दकुन्द को युगप्रवर्तक साधु माना जाता है तथा भगवान महावीर और गौतम गणधार के बाद सभी लोग उनके नाम का श्रद्धा से स्मरण

करते आ रहे हैं । उनके नाम से ही मूलसंघ को 'कुन्दकुन्दान्वय' नाम से उल्लेख किया जाता है । उनके इस महत्व को देखते हुए ही कविवर वृन्दावन ने लिखा है । 'कुन्दकुन्द से मुनीन्द्र न थे, न है, न होयेंगे।' यह समयसार ग्रन्थ केवल वाणी विवरका विलास नहीं है, बल्कि आचरण-पुष्प का मकरन्द है । थमर-तरीखी जिसकी वृत्ति है, वही इसका आचमन करने का अधिकारी है । सिद्धान्त में वर्णित उपायों को आस्रव का कारण मानने वाले इसे नहीं पचा सकते ।

व्यवहारनयाश्रित सिद्धान्त के ज्ञान से वंचित अथवा जानते हुए भी उसकी उपेक्षा करने वाले जीव शुद्ध निश्चय नयाश्रित समयसार को पढ़कर कभी कभी अपने लक्ष्य से भटकने हुए भी देखे जाते हैं । 'समय देशना' में देशनाकार सतत ज्ञानाभ्यासी पूज्य आचार्य श्री विशुद्धसागरजी महाराज ने ठीक ही इशारा किया है - 'सुनने वाला समयसार बहुत सरल है और करने वाला समयसार बहुत कठिन है।' उन्होंने यह भी लिखा है - 'अन्दर-बाहर का कोलाहल बन्द होने पर ही समयसारस्वरूप की प्राप्ति होगी' आगत प्रवासी पं. बनारसीदास जैन एक बहुश्रुत एवं बहुपाठी विद्वान थे समयसार की एक टीका को पढ़कर उनका जो विपरीत परिणमन हुआ, वह एक मार्भिकउदाहरण के रूप में हमारे सामने है ।

यह प्रसंग है विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध का, उस समय पण्डितजी आगरा के मोतीकटरा मोहल्ले में रहते थे । स्वाध्याय में उसकी गृहरी रुचि थी । जो भी ग्रन्थ हाथ में आ जाता, अपने मित्रों के मध्य वह उसकी वाचना करते थे । स्वाध्याय का क्रम व्यवस्थित नहीं था । अपनी छन्दोबद्ध आत्मकथा 'अर्थकथानक' में वह स्वयं लिखते हैं कि जैनधर्म का व्यवस्थित परिज्ञान न होने से 'समयसार' नामक अध्यात्म शास्त्र को पढ़कर उनकी बुद्धि भ्रमित हो गई थी । समयसार पढ़ने ही पूर्व उन्हींने अपने मित्र नरोनाम के साथ णमोकार की एक माला करने का नियम लिया था । व्रत-भंग होने पर धी का त्याग करने की प्रतिज्ञा की थी । हर चतुर्दशी को उपवास करते थे तथा सूचीबद्ध पचास हरी (सब्जी-तरकारी आदि) के सेवन की मर्यादा निश्चित की थी । यह बात आत्मकथा में उन्होंने स्वयं लिखी है, ध्यान से पढ़िए: -

नौकारवाली एक जाप नित कीजिए ।

दोष लगे परमात तो धीड न लीजिए ॥४३५॥

मारत वरत यथासकति सब चौदस उपवास ।

सारखी कीन्ही पास जिन राखी हरी पचास ॥४३६॥

इसी बीच उनके एक मित्र श्री अरथमल्लने राजमल्लकृत समयसार की टीका स्वाध्यायपीठ पर विराजमान की । उसका स्वाध्याय वे सभी करने लगे । पढ़ते-पढ़ते बुद्धि चकराने लगी । वह लिखते हैं : -

तब बनाएसि बाँचे नित भाषा अत्थ विचारै चित्त ।

पावै नहिं अध्यात्म पेच, मानै बाहिज किया हेच ॥५०४॥

माला फेरना, रसत्यागना, खाना-पीना आदि तो बाह्य क्रियायें हैं । आत्मा तो त्रिकाल शुद्ध है । उस पर इन जड़ क्रियाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, ऐसी विकृत सोच उनकी बुद्धि में आई और उन्होंने लिए हुए सभी नियम तोड़ दिए । उनका जो पतन हुआ, उसका वर्णन उन्होंने इन शब्दों में किया है : -



देव चढ़ाया नेवज खौंही ॥६००॥  
 जिन प्रतिमा निंदहि मन माहिं,  
 मख लो कहहिं जो कहनी नाहिं ।  
 रमाहिं रात-दिन पशु की भाँति,  
 रहे एकंत मृषामद भाँति ॥६१२॥

समयसार अपरिपक्व बुद्धि से अभ्यास करने से उनका यह पतन बि. सं. १६७१ से शुरु हुआ, जिसका पराक्षेप वि.सं. १६९२ वीर में तब हुआ, जब पाण्डे रूपचन्द्रसे उन्हें 'गोम्मटसार' का स्वाध्याय कराया । बीस बर्षे तक उनकी यह दुर्दशा रही । उसके बाद उनका सुलटना शुरु हुआ उनकी बुद्धि में आया -

जो जिय जिस गुणधानक होय,  
 तैसी क्रिया करै सब कोय ॥६३२॥  
 भिन्न-भिन्न विवरण विस्तार,  
 अन्तर नियत बहुगी व्यवहार ॥६३३॥  
 सुनि-सुनि रूपचंद के बैन,  
 बनारसी भयौ दिढ जैन ॥६३५॥

आज भी हमारे समाज का एक वर्ग एकान्तवाद के भँवर में झूल रहा है । 'समयदेशना' में आचार्य श्री ने ठीक ही लिखा है - 'पात्र की भूमिका को न देखकर और गुणस्थान -क्रम से कथन न करने के कारण, ज्ञानी चौदहवें गुणस्थान का कथन चौथे में लगाओगे ती विवाद तो होना ही है (पृष्ठ ८)।' सच तो यही है कि जिसने पहले आस्रव और बन्ध की प्रक्रिया को समझ लिया है, अध्यात्म की कथनी को वही आत्मसात कर सकता है । हर कोई उसे नहीं पचा सकता ।

समयसार आत्मा के अचिंत्य वैभव की अनुभूति कराने वाला एक अद्भुत ग्रन्थ है । शुद्ध आत्मतत्त्व का प्रतिपादक ग्रन्थ सम्पूर्ण जैन वाङ्मय में दुसरा नहीं है । इस ग्रन्थ के स्वाध्याय से जीव की यह समझ बनती है कि मैं शुद्ध, निरंजन, शाश्वत और अविनाशी तत्त्व हूँ । जानना और देखना मेरा स्वभाव है, पर वर्तमान में पर का कार्य या भोक्ता स्वयं को मानता हूँ । यही मेरी भूल ही और इस भूलके कारण मेरी पराधीनता है । जानने और देखने के अतिरिक्त अन्य जितने भी जीव हैं, व सभी संयोगज भाव हैं । अकेली आत्मा के तो ये भाव हो ही नहीं सकते । उपदान क अशक्त होने से हमारा मन और इन्द्रिया बहिर्मुखी बनी हुई है । बाहर बहुत भटकने वाला सुविधार्ये तो पा सकता है । किन्तु सुख को कदापि नहीं । सुविधा ये क्षणभंगुर और सुख शाश्वत होता है । उस शाश्वत सुख की प्राप्त के लिए हमे अन्तर्मुखी होना होगा । सुख तो हमारी अपनी निधि है, बाहर भटकने से वह कभी प्राप्त नहीं हो सकती । समयसार की सीख याद रखनी चाहिए 'बाहर के पट बन्द कर, अन्तर के पट खोल ।'

आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी ने ग्रन्थ के मंगलाचरण में सिद्ध भगवान को नमस्कार किया है । प्रत्येक व्यक्ती अपने आदर्श की उपासना करता है । जीव की पूर्ण स्वतंत्र एवं शुद्ध अवस्था उन्हें प्रिय है । चूँकि सिद्ध भगवान स्वभाव अवस्था को प्राप्त है और समयसार का सूत्रधार भी उसी अवस्था को प्राप्त करना चाहता है, इसलिए उन्होंने सर्वप्रथम सिद्ध परमात्मा की वन्दना कर अपने अभिप्रेत को व्यक्त कर दिया है । हम भी तो कर्मसे

अपने रहित उस सिद्ध परमेष्ठी की उपासना करते हैं, जिसके विषय में कहा गया है - सकल ज्ञेयज्ञायक तदपि निजानन्द रसलीन' । पर से निरपेक्ष उनका यह क्षायिक भाव ध्रुव है । कभी पर से प्रभावित नहीं होते वह अचल है अर्थात् उनका यह भाव कभी नष्ट नहीं होगा । उनका यह स्वभाव से उत्पन्न आनन्द अभौतिक है, उसकी भौतिक उपासना नहीं कि जा सकती । ऐसी ध्रुव अचल और अनुपम आत्माका वर्णन' करने वाला ग्रन्थ है समयसार और इस ग्रन्थ के रचसीता ने उस निविष्ट आत्मा के विषय में वही कहा, जो उन्हें श्रुतकेवली से और आचार्य परम्परा से प्राप्त हुआ है । अपनी और से कुछ नहीं कहा । जो भी कहा, प्रामाणिक महापुरुषों से सुनकर और समझकर कहा है । यह कोई ग्रन्थ या महाग्रन्थ नहीं है, यह तो एक अमृत कलश है, जिसकी एक बूंद में भी विकारों के शमन की अपरिचीत सामर्थ्य है ।

समयसार चिदानन्दरूपोन्मुख शास्त्र है । उसमें आत्मा के शुद्धोपयोग की चर्चा है । शुद्धात्मा शुभ और अशुभ दोनों से ही विरत होती है । परम पारिणामिक भाव ही उसे इष्ट है । मिलाकर चाहे शुभ की करे या अशुभ की, उसकी दृष्टि में दोनों की खोट हैं । जो सोना है उसीको शुद्ध सोना कहा जा सकता है । एक तोला सोने में यदि एक रत्ती भी ताँबा मिला हुआ है तो द्रव्य दृष्टि में वह शुद्ध नहीं है । समयसार विभाव कर्म का भेद होने से पाप पुण्य को समान मानता है । एक को लोहे की बेड़ी मानता है तो दूसरे को सोने की । एकान्त दृष्टिवाले इसे पकड़कर बैठ गए हैं और पुण्य को भी पाप की तरह हेय कहने लगे हैं । यथार्थ में कुन्दकुन्द का अभिप्राय समझने में बड़े-बड़ों में भूल हो जाती है । अपने अन्य ग्रन्थोंमें उन्होंने पुण्य के भी प्रशस्त और अप्रशस्त, ये दो भेद किए हैं । सम्यक्दृष्टि जीव प्रशस्त पुण्य का आश्रय लेता है, जिसका काम पाप से छुड़ाना है । पाप को छुड़ाने वाला हेय कैसे हो सकता है ? । वह तो शुद्धोपयोगकी प्राप्ति में उपायरूप है । जो उपाय उपदेय तक पहुँचाये, वह ग्राह्य है । कौनसा कथन किस अपेक्षा से कहा गया है, इसे जाने बिना कोई धारणा बना लेना ही एकांत है । समयसार का मर्म समग्र दृष्टि से ही समझा जा सकता है । एकान्तबुद्धि से नहीं । आचार्य देवसेन ने लिखा है कि सम्यक्दृष्टी का निदान रहित (प्रशस्त) पुण्य नियम से मोक्ष का हेतु है, संसार का नहीं ।

समयसार में वर्णित एकत्व विभक्त आत्माकी चर्चा हमने पहले कभी सुनी नहीं, इसलिए अटपटी-सी लगती है और काम-योग-बन्ध की कथा हम जन्म जन्मान्तर सुनते आए हैं , इसलिए मन को सुहानी लगती है । जो आज तक अपरिचित है, उसका परिचय प्राप्त करते समय मन अटकता और उलझता है । उसका निरन्तर श्रवण या अभ्यास ही हमें समाधान दिला सकता है । नए-नए श्रोताओ या पाठकोंके लिए समयसार का पढ़ना पहेलियाँ बुझाने जैसा कार्य है । योग्य वक्ता या व्याख्याकार जब मुक्तिसंगत वार्ता या लेखन से जब किसी वस्तु को प्रस्तुत करता है तो कठिन वस्तु भी सरल लगती है । आत्मा बद्ध है या अब, स्पृष्ट है, अस्पृष्ट, अनन्य है या अन्यरूप भी परिणत होती है- ऐसे अनेकानेक प्रासंग पहेलियों जैसे ही तो हैं, किन्तु समयदेशना में पूज्य आचार्यश्री ने उन्हें सोदाहरण जिस तरह से समझाया है, उससे शंका के लिए किसी के मन में कोई अवकाश ही नहीं रह जाता । उन्होंने अपनी देशना में जो भी कहा है, वह अनुभूत है । उन्होंने समयसार को पढ़ा ही नहीं, जिया भी है । ऐस सन्तों की वचनिका का लाभ मिलनाभी प्रशस्त पुण्योदय का सूचक है ।

समयसार पर लिखी गई टीकाओं या वचनिकाओं में यह अधुतातन होने से अप्रतिम हैं । जो बाद में कही सुनी या लिखी जाती है, उसमें पूर्ववर्ती सभी व्याख्याओं का भी सार आ जाता है, इस टीका में भी अब तक की सभी टीकाओं का सार निहित है । पढ़ने में मन लगता है , चित्त उबता नहीं है और बार-बार पढ़ने की इच्छा होती है । 'दो शब्द' लिखने के बहाने हमें भी इस देशना को आद्यन्त पढ़ने का सुअवसर मिला, इसे हम



वंदितु सव्वसिद्धे, ध्रुवमचलमणोवमं गइं पत्ते ।

वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवली भणियं ॥१॥ स.सा.॥

## मंगलाचरण

मनीषियो ! आचार्य भगवन् "कुन्दकुन्द स्वामी" का सारे विश्व में विख्यात अध्यात्म का सर्वोपरि ग्रन्थ अब आपके सामने है। "समयसार" यह वह अनोखा ग्रन्थ है, जिस ग्रन्थ के लिखने के बाद एक हजार वर्ष व्यतीत हो गये थे, लेकिन किन्हीं वीतरागी आचार्यों ने उस पर कोई लेखनी नहीं चलाई थी। एक हजार वर्ष के उपरान्त आचार्य 'अमृतचन्द्र स्वामी' ने जिस पर 'आत्मख्याति टीका' लिखी थी। वह 'आत्मख्याति' टीका अपने आप में सूत्र रूप में प्रख्यात हो गई, और टीका का एक-एक पद्य अपने आप में महामंत्र के रूप में उद्घाटित हुआ, जिस पर आचार्य महाराज ने कलश लिखे, वह "अध्यात्म अमृत कलश" अपने आप में एक स्वतंत्र ग्रन्थ बन गया। महान श्रमण संस्कृति में अशरीरी स्वरूप को उद्घाटित करने वाला, कोई ग्रन्थ है, तो वह है, आत्म प्रवादपूर्व जिसमें आत्मा के स्वरूप का ही व्याख्यान है। ८४ पाहुड ग्रन्थों में आचार्य कुन्दकुन्द का यह समयसार बेजोड ग्रन्थ है। आज सम्पूर्ण विकल्पों से परे होकर अन्य सब प्रश्नों को विराम देते हुये, अभिराम ये विचार करे, कि अहो, वे परम योगीश्वर अपने जीवनपर्यन्त की लीला को किसी क्रिया को किये बिना कैसे पूर्ण करते होंगे ज्ञानी ! सबसे ध्रुव सत्ता शक्तिमान कोई पदार्थ है, तो आत्म स्वभाव है। इस आत्म स्वभाव में जीवन की सबसे बड़ी साधना है। जब तक करने-कराने के भाव हैं तब तक, ज्ञानियो ! बहिर् भाव है। बहिर् भाव में जीने वाला कभी समयसार को नहीं प्राप्त कर पायेगा। ये अलौकिक सूत्र जिसमें अनेक-अनेक योगी डुबकियाँ लगाकर चले गये, पर पार नहीं पा सके। ऐसे समयसार ग्रन्थ को आज हम प्रारम्भ कर रहे हैं।

**नमः समयसाराय, स्वानुभूत्या चकासते ।**

**चित्स्वभावय भावाय, सर्वभावान्तरच्छिदे ॥१॥ अ.अ.क.॥**

सम्पूर्ण पदार्थों को वेदन करने वाली आत्मा सम्पूर्ण परभावों से रहित है। ग्रन्थ को नमन नहीं, ग्रन्थकर्ता को नमन नहीं, किसी परमात्मा को नमन नहीं। नमन है, तो ध्रुव आत्मा को है। परमात्मा त्रैकालिक नहीं होता, वह होता तो है, लेकिन आत्मा त्रैकालिक होता है। जब हम परमात्मा को नमन करेंगे, तब हमारी दृष्टि 'पर' में चली जायेगी, क्योंकि परमात्मा द्रव्य नहीं है, परमात्मा तो पर्याय है, द्रव्य तो आत्मा है। बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा ये आत्मा की तीन दशायें हैं। इस अशरीरी भगवान् आत्मा का वर्णन करने वाले ग्रन्थ में उन दशाओं की वंदना नहीं है वरन् उस दशावान् की वंदना है जिसकी दशायें कभी नष्ट नहीं होती है।

**अन्तरात्मा**, बहिरात्मा ये तो, ज्ञानियो ! आये राम, गये राम हैं। लेकिन आत्मा त्रैकालिक ध्रुव है। उस त्रैकालिक ध्रुव आत्मा को छोड़कर मैं परमात्मा पर भी दृष्टि नहीं फेकना चाहता हूँ, क्योंकि परमात्मा पर दृष्टि डालूँगा, तो मेरी दृष्टि 'पर' में चली जायेगी, इसलिए परमात्मा को नमस्कार नहीं है। इसलिए "नमः समयसाराय"। समय यानी आत्मा। उस आत्म-स्वभाव को ही नमस्कार है। जो कैसा आत्मा का स्वभाव है ? "स्वानुभूत्या"। ज्ञानी ! पर-सापेक्ष द्रव्यों को इन्द्रियों से वेदा जाता है, परन्तु समयसार को स्वानुभव से ही वेदा जाता है। जिसे इन्द्रियों वेदती हैं, वह द्रव्य परावलम्बी होता है। पर जो स्वावलम्बी तत्त्व



है, वो इन्द्रियों के वेदन का विषय नहीं, वह तो स्वानुभव मात्र का विषय है। इसलिए कारिका कह रही है "स्वानुभूत्या चकासते"।

समयसार स्वानुभूति से प्रकाशमान है। "चित्त्वभावाय" जो मात्र चित् स्वरूप है। कर्म को ध्यान में नहीं लाना। कर्मातीत जो है, वह स्वरूप मात्र चित् ही है, शेष मेरा स्वरूप नहीं है। मैं तो मात्र चित् हूँ, यानि मैं तो चैतन्य मात्र हूँ। इसके अलावा मैं अन्य नहीं हूँ। जो अन्य है, वो मैं नहीं हूँ और जो मैं हूँ, वो अन्य नहीं है। इसलिए "चित्त्वभावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ....।" सम्पूर्ण पदार्थों को जानना मेरा धर्म है। जो "मीमांसक" लोग आत्मा को परसंवेदी कहते हैं, उनसे कह देना कि आत्मा परसंवेदी नहीं, आत्मा स्वसंवेदी है। परसंवेदन से मुझे क्या प्रयोजन? मैं तो स्वसंवेदी हूँ। हे सांख्य! यह तेरी ही मति में विवेक जायेगा कि आत्मा भवान्तर को नहीं जानता; परन्तु समयसार कहता है कि जब तक भिन्न पदार्थ को नहीं जानेगा, तब तक अभिन्न स्वभाव को कैसे जानेगा? यह आत्मा भवान्तर का ज्ञाता भी है और स्वभाव का भोक्ता भी है। निज द्रव्य को तन्मय होकर जानता है, परद्रव्य को ज्ञायकभाव से जानता है। मैं निज द्रव्य को तन्मयभूत होकर जानता हूँ, परद्रव्य को ज्ञायकभाव से जानता हूँ। मैं परद्रव्य को तन्मय होकर नहीं जानता हूँ। मैं परद्रव्य तन्मय हो भी कैसे पायेगा, क्योंकि मेरे में और पर में अत्यन्ताभाव है। यह है मोह की विडम्बना! अत्यन्ताभाव में भी निज भाव कैसे बना रखा है? आपकी स्वतंत्रता में किंचित भी पराधीनता नहीं है। भिन्न द्रव्य तेरी स्वतंत्रता का हनन नहीं कर रहा है। तू स्वयं परतंत्र हुआ है। परतंत्र कभी किसी द्रव्य ने तुझे किया नहीं है। परतंत्रता को तूने स्वीकार किया है। यदि परतंत्रता तेरा धर्म हो जायेगा तो बहिरात्मा कभी अन्तरात्मा या परमात्मा नहीं बन पायेगा। परतंत्रता धर्म नहीं है, धर्म तो स्वतंत्रता ही है। परतंत्रता परावलम्बी है, स्वतंत्रता स्वावलम्बी है। इस आत्मा को विभावधर्मी मत मान बैठना। ये आत्मा विभावधर्मी नहीं है, आत्मा स्वभावधर्मी है। विभावधर्मी हो जायेगा तो वह विभाव हो जायेगा; जबकि विभाव त्रैकालिक नहीं है, तात्कालिक अवस्थायें हैं। परन्तु स्वभाव तो त्रैकालिक है। आत्मा में कर्म निरन्तर नहीं है, आत्मा में कर्म सान्तर है। ध्यान दीजिए, आत्मा में कर्म निरन्तर नहीं हैं, इनमें नियम से अन्तर पड़ेगा, अतः सान्तर है। जब अन्तर पड़ेगा, तभी तो मुक्त अशरीरी भगवान् होगा। भव्यजीव का संसार सान्तर ही होता है, अभव्य जीव का संसार निरन्तर ही होता है, न फिर भी, ज्ञानी! स्वभाव दृष्टि से अन्तर करो। कर्म निरन्तर नहीं, कर्म सान्तर ही होते हैं, ज्ञानधारा धारावाही है, कर्मधारा धारावाही नहीं है। ज्ञानधारा आत्मा में त्रैकालिक रहेगी, कर्मधारा नियम से बदलेगी। आप सब मनुष्य हो, तो क्या मनुष्य ही रहोगे? नियम से पर्याय बदलेगी। भावकर्म भी बदलते हैं, द्रव्यकर्म भी बदलते हैं, नोकर्म भी बदलते हैं। ज्ञानियो! कर्मधारा क्रमिक है। ज्ञानधारा धारावाहिक है। इसलिए इस ग्रन्थ में वेदन करना है, और समझना है, कि मेरी आत्मा का जो वास्तविक स्वरूप है, वह तो सत्-चित्-आनन्द है। सच्चिदानन्द है, सत् है। सत् क्या है? चित् है। चित् कैसा है? आनन्द है। "सच्चितानन्द रूपोऽहम्", अन्य मेरा स्वरूप नहीं है। मैं जगत् में नहीं हूँ। मेरा ध्रुव स्वरूप तो इतना है- सत्-चित्-आनन्द। जीवद्रव्य सत् है। किसके कारण? चित् के कारण। चित् है तो कैसा है? आनन्द है। उस सच्चिदानन्द चित् स्वरूप को नमस्कार करके आचार्य-भगवन् अमृतचन्द्र स्वामी सरस्वती की वंदना कर रहे हैं।

**अनंतधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः ।**

**अनेकांतमयीमूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥२॥ अ.अ.क.॥**

लोक में सरस्वती की जितनी प्रतिमा बनाई गई हैं, सब काल्पनिक हैं। ध्रुव कोई सरस्वती है तो, मनीषियो ! ज्ञानमूर्ति है। उसी देवी की आराधना करो। न कोई वीणावादिनी, न कोई पुस्तकधारिणी है। अध्यात्म शास्त्र में यदि किसी सरस्वती की उपासना है, तो वो सरस्वती, जो अनेकान्तमयी मूर्ति है जिसमें अनंत धर्मों का कथन किया गया हो।

जो द्रव्य-गुण-पर्याय को देख रही है, निज गुण-द्रव्य-पर्याय को अनुभव में ला रही हैं। अनंत धर्मात्मक धर्मों को जो देखती है, ऐसी पृथक् आत्मा, जो परमात्मा है, ऐसी अनेकान्तमयी मूर्ति नित्य ही मुझे प्रकाशमान करे। मेरे अन्तस् में अविद्या का तम है, मिथ्यात्व का तम है, भेदविज्ञान के अभाव का अन्धकार है। उस अन्धकार को उपशमन करने वाला कोई प्रकाशपुंज है, तो अनेकान्त मूर्ति है। ज्ञानियो ! कितनी पर्यायों में कितनी जगह भ्रमण किया ? ज्योति के अन्वेषण में किसी ने दीपक की उपासना की, पर जो अखण्ड ज्योति थी, उस पर लक्ष्य ही नहीं गया। कोई मोमबत्ती का ध्यान कर रहा है, तो कोई धूपबत्ती के ध्यान में लगा है, तो कोई दीपक में लिप्त है। पर जो निजधर्म, निजज्योति स्वरूप जो ज्योति थी, उस ज्योति पर दृष्टि ही नहीं गई। क्रियाओं में इतना लवलीन हो गया, कि क्रियाओं से उभरने का मन ही नहीं किया। विश्वास रखना, पाप में डूबा जीव तो उभर जाता है, परन्तु क्रियाओं में डूबा जीव नहीं उभर पाता है। ध्यान दो, पाप में डूबा जीव तो समझता है कि मैं पाप कर रहा हूँ, इसलिए उभर लेता है, पर जिसे धर्म का विवेक नहीं, क्रियाओं में लीन हो गया, वह कभी सोचता भी नहीं कि इनसे भी उभरना है। संकट के दिन अच्छे होते हैं जब कम-से-कम इतना ध्यान तो होता है कि हमें संकटों से हटना है, संकटों को दूर करना है। परन्तु इन्द्रिय सुखों के दिन कितने खोटे हैं, जिनसे हम हटने का कभी विचार भी तो नहीं लाते। तो इसलिए आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी स्वयं ही कहने लगे। मैं 'समयसार' ग्रन्थ की टीका क्यों लिख रहा हूँ, इसकी आत्मस्थिति टीका लिखने का उद्देश्य क्या है मेरा ? तत्त्वों को जानना नहीं है, तत्त्व को जानना है। तत्त्वों को जानते-जानते भवावलियाँ व्यतीत हो गईं। अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव ने ग्यारह अंगों एवं नौ पूर्वों में तत्त्वों को ही तो जाना, लेकिन तत्त्व को कहाँ जाना ? एक निज तत्त्व को जान लेता, तो परतत्त्व को जानने की क्या आवश्यकता थी? ये जानने का विचार ही जानने नहीं दे रहा है। क्योंकि इसको जानने में इतना समय लग जाता है, कि जिसे जानना चाहिए था उसे जानने का जब सोचता है, तब तक इतना थक जाता है कि उसे समय ही नहीं मिलता। इसलिए आचार्य-भगवन् अमृतचन्द्र स्वामी तृतीय कलश में क्या कह रहे हैं ? कि मैं यह इसलिए नहीं लिख रहा हूँ, कि तत्त्वों को जानूँ। मैं इसलिए लिख रहा हूँ कि तत्त्व को जानूँ।

**परपरिणति-हेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-विरत-मनुभाव्य-व्याप्तिकल्माषितायाः ।**

**मम परम विशुद्धिः शुद्धिन्मात्रमूर्त्तैर्भवतु समयसार-व्याख्ययैवानुभूतेः ॥३॥ अ.अ.क.**

मोह परणति पर, ज्ञानियो ! परपरणति हेतुः । पर-परणति हेतु है। मैं तो चिद्रूप था, लेकिन क्या करूँ ? जीवों की ये मोह परिणति पर में क्यों जा रही है ? जिसे तूने पाल के रखा है, सम्भाल के रखा है, क्यों ज्ञानियो ! किसकी इच्छा की पूर्ति कर रहे हो ? जिस ओर लक्ष्य डाला, मोह की ही तो पूर्ति की है। किसी ने अशुभ रूप में, तो किसी ने शुभ रूप में की। पर किया क्या है ? जो मोह तेरा मकान बनाने में जा रहा था, वह मोह तेरा मन्दिर बनाने में चला गया, लेकिन काम किसका हुआ है ? कार्य तो मोह का ही हुआ है। अब तुम्हारी ये बातें कोई भी सुनना पसन्द नहीं करेगा कि वह तो हमने शुभ किया है। शुभ तो किया है, लेकिन कर्मरहित नहीं किया। ज्ञानी ! शुभ जब कर रहा था, स्वाद तो पर में ही था। जो निश्चल स्वाद था, वह तूने

कहाँ लिया ? क्या बदला ? मोह नहीं बदला, मोह का विषय बदल लिया है । तूने राग नहीं बदला, राग का विषय बदला है । इस लेखनी से हिसाब कर रहा था, दुकान का गणित लगा रहा था, तो अब दुकान को बदलकर तू लोक का गणित लगाने लगा । हे ज्ञानी ! समयसार कह रहा है कि इतना तो अन्तर आ गया, दुकान से तो हट गया, लेकिन अभी आत्मलोक से दूर है । कभी तू रमणी को निहार रहा था, पिता को मालूम चल गया कि मेरे बेटे को कन्या निहारने की आदत लग गई, अब इसकी शादी कर दूँ, कहीं बदनाम न हो जाऊँ । तो अपनी इज्जत के पीछे उसकी शादी कर दी । ज्ञानी ! ध्यान तो दो । शादी कर दी है, तो क्या स्त्री तेरी हो गई ? वह तो पर ही है । पुनः प्रश्न है कि शादी हो तो गई तेरी, लेकिन ये तो बताओ, जो कुँवारी कन्या को देख रहा था पाप करने के भावों से, उसमें पाप के बन्ध का जो भाव हो रहा था, वह जिसके साथ शादी हो गई है, उसके साथ तू सेवन करेगा तो क्या धर्म से ब्रह्मचर्य हो जायेगा ? अब्रह्म तो दोनों ही हैं । समाज की बात छोड़िये, अब्रह्म की धारा की बात कीजिये । ओ मुमुक्षु ! 'परिणति मोहनाम्नः ।' चाहे तो निज शरीर को निहारे, चाहे पर शरीर को निहारे, लेकिन व्यभिचार दोनों ही हैं । ज्ञानियो ! ये तो दुनियाँ ने कहना सीखा है कि पर के शरीर को निहारना व्यभिचार है, परन्तु यह समयसार ही कह पायेगा, कि स्वयं के पुद्गल शरीर को निहारना भी व्यभिचार ही है । क्या कहा कि ब्रह्म की बात करो, धर्म की बात करो । अच्छा यह तो बताओ कि आपके पास जो ज्ञानी बैठा है, उसका कुर्ता क्या आपका है ? नहीं है न ! तो जो आपका है, उसे ही अपना कहते हो क्या ? जैसे दूसरे का वस्त्र तेरा नहीं है, वैसे ही तेरा वस्त्र भी तेरा नहीं है ।

मुमुक्षु ! पर का रागभाव मेरा रागभाव नहीं है, तो तेरा रागभाव भी तेरा रागभाव नहीं है । पर-परिणति बहुत दूर है, मैं निज की साधना कर रहा हूँ । निज साधना को निहारते-निहारते साधना में कर क्या रहे थे, ये तो बता दो ? कि मैं तो कर रहा हूँ, परन्तु ये नहीं कर रहा है । ज्ञानी ! तुम दोनों ही साधना नहीं कर रहे थे । क्यों ? बोले- आचार्यश्री ! इन्होंने सामायिक नहीं की, ये पूरी सामायिक में सोया है। तूने कब की ? तूने की होती, तो देख कैसे लिया ? ये सो रहा है, इसका मतलब है कि एक ने सोते-सोते नहीं की, दूसरे ने जागते-जागते नहीं की, दोनों ही ने सामायिक नहीं की । क्यों ? ऐसा तो नहीं लग रहा कि हमारा व्यवहार-धर्म समाप्त हो जायेगा ? भैया ! हमने पहले ही कह दिया था घर के व्यवहार को अब आप घर में संभाल लो । तो सामायिक किसकी हुई ? दोनों की नहीं हुई । ध्यान दो, धर्म गंभीर है । एक दर्शनावरणी में चला गया, एक दर्शन में चला गया, पर सामायिक दोनों ही नहीं कर पाये । मतलब यह कि एक सोने में गया, दूसरा देखने में गया, पर देख दोनों ही नहीं पा रहे थे जिसके देखने लिए बैठे थे । 'परपरिणति मोहो, पर की परिणति का हेतु तो मोह है । कैसा है वह मोह ? ईधन डालो तो अग्नि जले, पर आश्चर्य तो देखो कि अग्नि तो ईधन की सत्ता होने पर जलती है, पर ये मोहाग्नि ईधन न होने पर भी जलती है । मोह-अग्नि उत्कृष्ट है । बेटे का उदर में आना ही नहीं हुआ, पर माँ सोच रही थी कि संतान होगी, तो ऐसा करेंगे । अभी तो ईधन आया ही नहीं था, और जलना शुरू हो गया ।

ज्ञानी ! सम्बन्धी की मृत्यु हो गई । लकड़ी तो समाप्त हो चुकी थी, फिर भी जल क्यों रही है ? वह चला गया, फिर भी तुम रो क्यों रहे हो ? चूल्हे में अग्नि ईधन होने पर ही जलती है, पर मोह की अग्नि तो होने व न होने दोनों में जलती है, इसलिए मोह अग्नि उत्कृष्ट है । न लेना, न देना, फिर भी रोना । कुछ नहीं, ये पागलपन है । वस्तु के तत्त्व का निर्णय नहीं ले पा रहा है, इसलिए रो रहा है। ऐसे भी लोग यहाँ विराजते हैं, जिनको यथार्थ में किसी का लेना-देना नहीं है, फिर भी रो रहे हैं । मैं आपके नगर में राज्य करने नहीं आऊँ

गा, आप किसी पुर में राज्य नहीं कर पाओगे, तब भी आपको पुर का राग रुला रहा है। जीव की धारा देखो कि एक प्रदेश का भी भोग नहीं कर पा रहा है, क्योंकि तू बाह्य भोगों का त्यागी हो चुका है, परन्तु नगर की गली का राग तुझे सता रहा है।

बहुत कठिन है, आचार्य अमृतचन्द्र जैसा योगी लिखता हो, 'पर परणति हेतुः।' बिना हेतु के कार्य नहीं होता। एक-एक शब्द पकड़ना। पर में परिणति क्यों जा रही है? ये झूठी बातें नहीं चलेगी, न कोरा अध्यात्म चलेगा। नहीं, हम तो परम विशुद्ध हैं, मेरा तो मोह चला गया है। अरे! मोह चला गया तो घर में बैठा क्यों है? घर में भी बैठा रहता, मानता हूँ, लेकिन घरवालों के प्रति रागभाव क्यों? घरवालों में रागभाव है, मैं भी मानता हूँ, पर घर के बाहर के लोगों में द्वेष क्यों? इसका तात्पर्य है कि अभी ध्रुव सत्यतत्त्व का भान नहीं हुआ। जहाँ-तक मैं व मेरापन झलक रहा है, तब-तक मोह की धारा चल रही है और भिन्न के प्रति भिन्नत्व भाव देख रहा है। रोष हो, तोष हो तो अभी शुभोपयोग भी नहीं बन रहा है।

कठिन है? तो आचार्य आगे कहते हैं, दो शब्द हैं-अनुभव, अनुभाव्य। अनुभाग यानी कर्म का विपाक, फलदान। अनुभाव्य यानि उन कर्मविपाक से तेरे रागादि परिणाम हो रहे हैं, उससे तू कलुषित हो रहा है, झुलस रहा है। हे प्रभु! हे आनंदकन्द, ज्ञानघन, चिद्रूप परमेश्वर! तू अनुभाव, अनुभाव्य भाव में कलुषित क्यों हो रहा है? भगवन्! पर-परणति का हेतु मोह है। "परम विशुद्धोऽहं" मेरी तो परम विशुद्धि है। हे नाथ! समयसार की व्याख्या में मैं अनुभव करूँ। किसका? "मम परम विशुद्धि", जो मेरी परम विशुद्धि है, वह मेरी शुद्ध चिन्मात्र मूर्ति हो जाये और कुछ नहीं चाहिए। हे भगवन्! जो मेरी विशुद्धि है, प्रार्थना कर रहे हैं, समयसार से कुछ मिले, तो वह शुद्ध चिन्मात्र मूर्ति हो जाये। कहाँ चेला, कहाँ चेली, कहाँ सम्बन्ध। कुछ नहीं, ऐसी भावना भा रहे हैं। मुझे कुछ प्राप्त हो तो विशुद्ध भाव हो। जो रागादि से कलुषित मेरी बुद्धि है, दृष्टि है, वह धुल जाये। कितनी मेहनत है, एक मलिन शरीर के चर्म को धोने का कितना पुरुषार्थ करते हैं, पर एक मलिन दृष्टि को धोने का पुरुषार्थ क्यों नहीं करते? विश्वास रखो जबलपुर की ज्ञानी आत्माओं! जिस दिन आपकी दृष्टि धुल जायेगी, उस दिन चादर धोने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। चादर मलिन तभी तक दिखती है, जब-तक दृष्टि मलिन होती है। दृष्टि निर्मल हो जाये तो मल, मल है और चादर-चादर है।

अब यहाँ पर सूत्र का अवतार होता है। अभी तक आचार्य-भगवन् अमृतचन्द्र स्वामी अपनी भावना कह रहे थे, मंगल भावना रख रहे थे। आचार्य भगवान् कुंदकुंद स्वामी मंगलाचरण कर रहे हैं -

**वंदित्तु सव्वसिद्धे, ध्रुवमचलमणोवमं गइं पत्ते ।**

**वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवली भणियं ॥१॥ स.सा.॥**

सब सिद्धों की वंदना करता हूँ। कैसे हैं वे सिद्ध? ध्रुव हैं, वे कभी वापस नहीं आयेंगे। अचल हैं, चलायमान नहीं होते। अनुपम हैं, जिनकी कोई उपमा नहीं है। ऐसी गति को जिन्होंने प्राप्त किया है। ध्यान दो, गाथा क्या कह रही है - "गइंपत्ते"। तू अनादि से सिद्ध होता, तो "गइंपत्ते" शब्द क्यों होता। इस भ्रम को निकाल देना कि मैं त्रैकालिक शुद्ध हूँ। ज्ञानी! तू शक्ति रूप से तो है, परन्तु अभिव्यक्ति रूप से नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द देव कह रहे हैं, 'गइंपत्ते'। प्राप्त किया है, थे नहीं। पकड़ना तत्त्व को। यदि पूर्व से ही थे, तो पुरुषार्थ किसके लिए? तत्त्व समझना। समयसार की पहली ही गाथा में पुरुषार्थ को खड़ा कर दिया है। यदि भगवान् पूर्व से सिद्ध थे, तो पुरुषार्थ किसके लिए? फिर यदि वे सिद्ध थे, तो हम कभी सिद्ध नहीं हो पायेंगे। क्यों? तू "सदाशिव" हो गया, क्योंकि "जो शिव है, वे ही शिव है", बाकि नहीं होंगे।

पर "गदिं पत्ते" सूत्र वाक्य कह रहा है कि नहीं-नहीं, आप भी प्राप्त कर सकते हो, क्योंकि मैंने प्राप्त किया है। कैसे किया है? "वोच्छामि समयपाहुड मिणमो" जो समयप्राभृत नाम का शास्त्र है, श्रुतकेवली ने जैसा कहा है, वैसा मैं कहूँगा। क्यों कहूँगा? 'गइं पत्ते'। कौन-सी गति के लिए? "सत्त्व सिद्धे", जो सिद्धों ने गति प्राप्त की है, उन सिद्धों की गति की प्राप्ति मुझे भी हो जाये, इसलिए मैं समयपाहुड नाम के ग्रन्थ को कहूँगा। क्योंकि इसको जाने बिना गति मिलती नहीं। कौन-सी गति? सिद्ध गति। जिनको चार गतियाँ चाहिए हैं, वे समयसार को न जानें। जिन्हें चार गति नहीं चाहिए, सिद्ध गति चाहिए, वे समयसार को ही जानें, शेष को न जानें।

सिद्ध गति चाहिए है, ध्रुवसत्य यह है। जब परमात्मा का राग सिद्धगति में बाधक है, तो आपका राग सिद्धगति का साधन किंचित भी नहीं है। निर्णय करना आज ही। भवों की बातें कई बार करते हो। सिद्ध गति का लक्ष्य है तो असिद्ध गति की बातें क्यों नहीं छोड़ते हो? क्योंकि 'सुनने-वाला' समयसार बहुत सरल है, और अनुभव 'करनेवाला' समयसार बहुत कठिन है। द्रव्य समयसार सुन/पढ़ रहे हैं। भाव समयसार तो चिद्रूप है, स्वरूप है, पररूप किंचित भी नहीं है। 'वंदित्तु' - किसका आलम्बन लेना? उसका नहीं, जो बचता नहीं है, नष्ट होता है, मिट जाता है। उसका आलम्बन ले रहा है तो कहाँ गई तेरी प्रज्ञा? छिन गई, नष्ट हो गई। जिसे पकड़ना चाहिए था, उसे पकड़ नहीं रहा है, पर्यायों को पकड़े बैठा है। कभी स्वयं की स्थूल पर्याय को पकड़ता है, कभी सम्बन्धी की पर्याय को पकड़ता है। अरे ज्ञानी! तेरे परिणामों की पर्याय तेरे पकड़ने में नहीं आ रही है। ये पुद्गल की पर्याय को क्यों पकड़े बैठा है? क्यों, जो सुबह परिणाम थे, वे अभी वैसे ही हैं क्या? भावों की पर्याय को तो पकड़ नहीं रहा है, चमड़ी की पर्याय को पकड़े बैठा है। अभी तत्त्व बहुत दूर है, विश्वास रखो। ये सब पर्याय के डमरू को लेकर बजा रहे हैं। किसका आलम्बन लिया है? अध्रुव का, जिसे मिट जाना है। तो किसका आलम्बन लेना चाहिए? ध्रुव का आलम्बन लेना चाहिए। जिन्होंने परभावों से विश्रान्ति ले ली है, कैसे हैं, वे सिद्ध भगवान? ध्रुव हैं, अचल हैं, सम्पूर्ण उपमा छोड़ दी है। क्या विशेषण, क्या उपाधियाँ। जब तक विशेषण है, तब तक विशिष्ट नहीं है। हम जिस दिन विशिष्ट हो जायेंगे, उस दिन विशेषण समाप्त हो जायेंगे। मैं न्यायाचार्य हूँ, व्याकरणाचार्य हूँ, जब तक विशेषण चल रहे हैं, तब तक विशिष्ट नहीं हो पाओगे। जो विशेषताओं से परे हो चुका है, वह विशिष्ट पुरुष अशरीरी सिद्ध भगवान् है। इस विश्व में कोई विशिष्ट पुरुष है तो वह एक ही है, उसका नाम अशरीरी सिद्ध भगवान् है। अरहंत भी विशिष्ट पुरुष नहीं हैं, क्योंकि उनके भी चार कर्म शेष हैं अभी। 'पुरुषार्थ सिद्धि उपाय' ग्रंथ में कहा है "अस्ति पुरुश्चेदात्मा"। जो अस्ति पुरुष है, वही चिदात्मा है, जहाँ समस्त पर्याय नष्ट हो जाये, पुरुष अकेला बचे। कैसा? जो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से रहित है, वह ही विशिष्ट पुरुष है, शेष सब सामान्य हैं।

एक बात बताओ, किसी का सम्मान करना उसे धर्म में डालना है, कि अधर्म में? अधर्म में डालना है। वह जीव अपने आत्मा के ध्यान का विचार कर रहा था, परन्तु आपने टीका लगा दिया, तो आ गया मान। तूने मानकषाय में डाल दिया। किसी को संसार में लम्बे समय तक राके रखना हो तो उसको सम्मान देते रहना। वे मान-सम्मान में बने रहे, तो विशुद्धि बना नहीं पायेंगे, तो संसार में आपके साथ रहे आयेंगे।

ये धन-दौलत, ये हार आत्मा का सत्कार नहीं, अभिमान है। क्योंकि इसने अभिनन्दन किया तो किसका किया? भव का ही किया है। हे भवाभिनांदियो! भवातीत होना है तो भव का अभिनन्दन बन्द करो

। सम्मान से बड़ा आनन्द है तो न मान, न सम्मान। अपमान या मान किसका होता है ? जिसका चित्त विक्षिप्त होता है। जिसका चित्तविक्षेप ही नहीं होता, उसका न मान है, न सम्मान है।

स्वाभिमान शब्द को भी कोष से हटाना है। हे ज्ञानी ! वह है कौन-सी वस्तु ? जब पर्याय ही तेरी नहीं मानता हूँ, तो जो भी सम्मान किया जाता है, वह तेरी पर्याय को लक्ष्य लेकर किया जायेगा। ये भी परभाव ही है। निजभाव में होगा तो वह अभिव्यक्ति नहीं करेगा, अनुभूति करेगा। सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो श्रद्धा है, वह अभिव्यक्ति का विषय नहीं, अनुभूति का विषय है। यह समयसार अभिव्यक्ति वाली श्रद्धा पर जोर नहीं दे रहा, ये अनुभूति वाली श्रद्धा पर जोर दे रहा है।

### ॥ भगवान महावीर स्वामी की जय ॥

५५५

इस ग्रन्थ को पाकर/पढ़कर एक जीव ने अपनी मुख-पट्टी फेंक दी और कहने लगा कि यह तो अशरीरी बनानेवाला, भगवान्-आत्मा को प्राप्त करानेवाला ग्रन्थ है। पर इस भ्रम को निकाल देना, कि 'समयसार' ग्रन्थ अमुक व्यक्ति ने ही प्रचारित किया है। ऐसा नहीं है। मैंने कर्नाटक में जाकर देखा। वहाँ के लोगों में आध्यात्मिक रुचि है, और सम्प्रतिकाल में वर्णी जी ने भी इस ग्रन्थ की अच्छी व्याख्या की। बल्कि यँ कहना चाहिए, कि जिन्होंने पट्टी को फेंका, वे स्वयं पत्रों के माध्यम से वर्णी जी से पढ़ा करते थे। यह अलौकिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ को समझने के लिए पूर्ण एकाग्र होना पड़ेगा, क्योंकि इस ग्रन्थ की टीका में आचार्य-भगवान् अमृतचन्द्र स्वामी कहनेवाले हैं, कि जब-तक अन्दर व बाहर का कोलाहल बन्द नहीं करोगे, तब-तक वह परम तत्त्व समझ में नहीं आयेगा। अन्दर-बाहर का कोलाहल बन्द होने पर ही समयसार स्वरूप की प्राप्ति होगी। भगवान् वर्द्धमान स्वामी के शासन में द्वादशांग वाणी को निबद्ध किया गया। प्रथम श्रुत-स्कन्ध सिद्धान्त-शास्त्र, द्वितीय श्रुतस्कन्ध अध्यात्मशास्त्र। प्रथम श्रुतस्कन्ध पर अनेक आचार्यों ने अपनी कलम चलाई, परन्तु द्वितीय श्रुतस्कन्ध को निबद्ध करने हेतु आचार्य-भगवान् कुन्द-कुन्द स्वामी ने अपनी कलम चलाई। ज्ञानियो ! एक हजार वर्ष तक आचार्य-भगवान् कुन्द-कुन्द के ग्रन्थ सुरक्षित रहे।

एक हजार वर्ष व्यतीत होने के उपरान्त आचार्य भगवान् अमृतचन्द्र स्वामी ने उन ग्रन्थों को निहारा और उन ग्रन्थों पर टीका लिखना प्रारंभ की। ध्रुव सत्य है कि सिद्धान्त पर विवाद बहुत कम हैं, अध्यात्म में विवाद है ही नहीं। पर अध्यात्म को पढ़कर जीव विवाद में आ जाता है। कारण क्या है ? क्योंकि आगम में विवाद / विसंवाद नहीं होता है। यथार्थता ये है कि पात्र की भूमिका को न देखकर और गुणस्थान क्रम से कथन न करने के कारण। ज्ञानी ! चौदहवें गुणस्थान का कथन चौथे में लगाओगे, तो विवाद तो होना ही है। क्योंकि आपने देखा है, विद्युत् के दो तार एकसाथ चलते हैं, ऋणात्मक और धनात्मक। ऋण में धन का, धन में ऋण का प्रयोग करोगे तो लाइट जलेगी, कि बल्व फ्यूज होंगे ?

ऐसे ही दो विषय चल रहे हैं, निश्चय और व्यवहार। एक दूसरे के सहकारी कारण हैं। साध्य-साधक भाव हैं। साध्य-साधक भाव को न समझकर जो साधक था उसे साध्य बना लेना और जो साध्य था उसे साधक बना देना, तो क्या होगा ? यह विद्युत का दोष नहीं है, यह दोष गलत लगाने वाले का है। इसलिए ध्यान देना, इस ग्रन्थ में जिज्ञासा दिखे तो प्रश्न कर लेना, ये परन्तु उसको विपरीत समझ कर नहीं जाना।

आचार्य कुन्दकुन्द देव एक महान श्रुताचार्य हुए, तो लगता है कि कथंचित् भगवान् महावीर स्वामी से विशेष पुण्यात्मा थे। मैंने 'कथंचित्' लगाया है, इसीलिए बात कुछ और है। क्यों ? पुण्य के अनेक भेद हैं,

एक भेद नहीं है। तीर्थंकर महावीर स्वामी की आयु मात्र ७२ साल की रही, पर आयुकर्म की प्रधानता को निहारें तो आचार्य कुन्द-कुन्द ८९ वर्ष तक मुनि बनकर रहे, ८ वर्ष की आयु में दीक्षा ले ली, ९५ वर्ष १० माह १५ दिन की आयु पाई थी। इतने दीर्घ समय तक आचार्य-भगवान् कुन्द-कुन्द मुनिपद पर रहे। इतने वर्ष की तो तीर्थंकर महावीर की आयु नहीं थी। इसलिए इस अपेक्षा से तीर्थंकर महावीर से कथंचित् आचार्य-भगवान् कुन्दकुन्द देव पुण्यात्मा थे।

### “अर्पितानर्पित सिद्धेः।”

इस ग्रन्थ का अध्ययन करते समय ‘आचार्य उमास्वामी’ के सूत्र को लेकर चलना ‘अर्पितानर्पित सिद्धेः। एक की प्रधानता है, दूसरे की गौणता है, अभाव किसी का नहीं है। साधन, साधन है, साधन साध्य नहीं है। साधन के बिना साध्य की प्राप्ति नहीं होती है। जो साधन को ही साध्य मान लेता है, वो बहिरात्मा होता है। जो साधन के अभाव में साध्य को प्राप्त कर लेता है, वो परम बहिरात्मा होता है। ज्ञानियों! ध्यान रखना ‘परम’ क्यों लगा दिया? जो आपने साधन के अभाव में साध्य को प्राप्त कर लिया। कारण के बिना कार्य व साधन के बिना साध्य की प्राप्ति असंभव है। लेकिन जो साधन को साध्य माने उसे तो बहिरात्मा कहा; पर साधन के अभाव में जो साध्य को सिद्ध कर लेता है, उसे परम बहिरात्मा कहा। वह तो अज्ञानी था, पर तुम साध्य को जानकर भी और साधनविहीन होकर प्राप्त करने की बात करते हो, तो परम अज्ञानी हो। इसलिए हमने उसमें ‘परम’ शब्द जोड़ा।

साधन, साधन है। आज दो जीव भ्रमित है। एक वे हैं जो साध्य की प्राप्ति में ही लगे हैं साधन के अभाव में और दूसरे भ्रमित वो हैं, जो साध्य की ओर लक्ष्य ही नहीं ले जा पाते, साधन के पीछे भाग रहे हैं। साधन साधना नहीं है। जो साधना को साध्य मान बैठेगा, वो न साध्य को पायेगा, न साधन को। किसी को नहीं समझ पायेगा। समझ में आ रहा है न?

हे ज्ञानी! साधना साधन ही है। साधना साध्य किंचित भी नहीं है। साधना के बिना साध्य किंचित भी सिद्ध होता नहीं है, इसलिए साधना परम अनिवार्य है। पर जो जीव साधना में लगकर साधना ही कर रहे हैं और साध्य को नहीं समझ पा रहे हैं, वह साधना करके उभय लोक से खोखले हो रहे हैं। उभय लोक से खोखले क्यों कह दिया? इसलिए कह दिया कि वर्तमान का सुख तूने बुद्धिपूर्वक छोड़ दिया, भविष्य में साध्य पर लक्ष्य है नहीं, सो भविष्य में मिलनेवाला है नहीं, अतः इस लोक से भी गया, परलोक से भी गया। बिना साध्य के साधना नहीं होती है। पर, ज्ञानी! साध्य वही होता है, साधना से जिसकी प्राप्ति होती है। निर्ग्रन्थ दीक्षा लेना, साधना करना, पर साध्य स्वात्मसिद्धि है, न कि स्वर्ग। स्वर्ग चले जाना, ये भिन्न विषय है, परन्तु साध्य की सिद्धि पर लक्ष्य न रखकर स्वर्ग और व्यर्थ के प्रपंच में लग जाना, साधना नहीं है। साध्य के अभाव में साधना संभव नहीं है।

अपन ‘समयसार’ पढ़ रहे हैं। बुरा मत मानना, यथार्थ बताओ, साध्य पर लक्ष्य २४ घण्टे में कितनी बार जाता है, साधना भी कितनी होती है, और साधना के माहौल में विराधना कितनी चल रही है? हे ज्ञानी! उस शिकारी से पूछो। तू कितना भोला है, जो कि झाड़ी में छिपकर बैठा है। लगता योगी-जैसा है, पर उसका निशान आखेट है, चिड़िया को मारने बैठा शिकारी है। हे योगी! तू बैठा तो योगी की मुद्रा में था, पर दृष्टि भोग पर लगी थी, निजात्म चिड़िया को मार रहा था शरीर के वेश की आड़ में। क्या कहूँ, आप सहन नहीं कर पायेंगे।

गोमटेश में सभी महाराज आचार्यों ने कहा कि 'विशुद्धसागर' से अध्यात्म सुनना है। पर मैं सोच रहा था, कि इतने बड़े-बड़े आचार्यों के सामने में क्या समयसार सुनाऊँगा, क्या अध्यात्म सुनाऊँगा। पर उस दिन लगा मुझे कि अध्यात्म कोई शक्ति है। किया प्रवचन। आचार्य वर्द्धमानसागर, आचार्य पद्मनन्दि जी, आचार्य विरागसागर जी महाराज, तीनों आचार्य भगवन्तों ने समीक्षा की, खूब घुमाया, पर आखिरी में यही कहा कि सत्य यही है।

'समयसार' ग्रन्थ का नाम नहीं है, ग्रन्थ का नाम 'समय पाहुड़' है। इस 'समयपाहुड़' ग्रन्थ में समयसार की बात है। समयसार कागज नहीं होता, समयसार शब्द नहीं होता, वाणी नहीं होती। समयसार द्रव्यमान नहीं होता और समयसार, ज्ञानी! रागादि भाव भी नहीं होता। समयसार कथंचित् भावमन भी नहीं होता। समयसार चिद्ज्योतिस्वरूप है। स्वरूप का वर्णन करनेवाला यह 'समयपाहुड़' ग्रन्थ है। 'समय' यानी आत्मा, 'सार' यानि रत्नत्रय। रत्नत्रय से मण्डित आत्मा 'समयसार' हैं। समय यानी अरहन्त। जो निजानन्द में लवलीन आत्मा है, वह समयसारभूत आत्मा है। समय यानि सिद्ध। जो परम स्वसमय में लवलीन हो गये, वे द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से पूर्ण विमुक्त हो चुके हैं। वही है सार उसका, वही शुद्ध आत्मा ही समयसार है।

समय यानि पंचाचार। पंचाचार से युक्त सारभूत जो है आत्मा। आचार्य-भगवन्त की आत्मा ही समयसार है। समय यानि आगम। आगम के स्तर को जाननेवाले उपाध्याय परमेष्ठी की जो आत्मा है, वही समयसार है। समय यानि साधना। जो समय को, समय पर समझकर निजात्मा में लवलीन है, ऐसा साधु-परमेष्ठी समयसार है। पंचपरमेष्ठी समयसार हैं।

समय यानि समय। जिसमें स्वात्मा 'समय' का वर्णन हो, ऐसा जिन-आगम, जिनेन्द्र की कही हुई जो वाणी है, वही है समयसार। सरस्वती है समयसार।

समय यानि आत्मा। जो आत्मा का ध्रुव स्वभाव है, वही समयसार है। इन अर्थों में ग्रन्थ के पृष्ठों पर लिखा समयसार कहीं नहीं है। भ्रमित नहीं होना। ये विशुद्धसागर नहीं बोल रहे हैं। 'समयसार' पर 'अध्यात्म अमृत कलश' के रूप में आचार्य 'अमृतचन्द्र स्वामी' का एक स्वतंत्र ग्रन्थ है। पं. जगमोहन लाल शास्त्री वाला नहीं समझ लेना, वो तो अभी लिखा है। इस पर विशाल संस्कृत टीका ग्रन्थ परम अध्यात्म तरंगिणी का है। उस ग्रन्थ में समयसार के आठ अर्थ निकाले। तो ऐसे समयसारभूत आत्मा में कैसे प्रवेश करें? तो कुन्द-कुन्ददेव कहते हैं, हे योगीश्वर! अब तू 'समय' को समझ, परन्तु समय पर ही समझना। देखो, भाषा समयसार की है, इसलिए इसे अन्यत्र नहीं ले जाना। इस बात का सभी को भय लगता है। क्योंकि मैंने समयसार को ऐसा कहा, तो ये लोग ही कहेंगे, कि व्यवहार का लोप नहीं हो जायेगा? जो पच्चीस वर्ष से समयसार का पाठ कर रहा था, उसके सामने मैंने समयसार निकाला और कहा, अब सुनो समयसार। हाथ जोड़ने लग गये महाराज! व्यवहार का लोप नहीं हो जायेगा? हमने कहा आज समझ में आया है। सोलापुर की घटना है। पंडित जी हाथ जोड़ कर कहने लगे - इतना गहरा तो हम भी नहीं बोलते। मैंने कहा कि तुम निश्चयाभास में बोलते हो, इसलिए नहीं बोलते।

निश्चयनय तो गंभीर है। इसलिए आप ध्यान रखना, समयसार सुनते समय अन्यत्र नहीं भटकना, पूछ लेना।

स्याद्वाद शैली से समयसार समझना है आपको। इसलिए पुनः ध्यान दो, समय को समझना है।



हे योगीश्वर ! समय को समझना, समय के द्वारा समझना, समय के लिए समझना, समय में समझना, समय पर समझना । तब समझ में आयेगा समयसार । और किसने समझाया, किसके लिए समझाया ? समय को समझाया, समय के द्वारा समझाया, समय के लिए समझाया, समय से ही समझाया, समय में ही समझाया । यही तो समयसार है ।

**संयोगतो दुःखमनेक भेदं, यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी ।**

**ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो, यियासुना निवृर्तिमात्मनीनाम् ॥28 भा.द्वा.॥ (सामायिक पाठ)**

हे मुमुक्षु ! समय को तू न समझा, पर षष्ठी विभक्ति में चला गया । हे ज्ञानी ! ये सम्बन्ध ही समय को नष्ट कर रहे हैं । षष्ठी विभक्ति पर सापेक्षी है । ज्ञानी ! षष्ठी के अभाव में शेष स्वसापेक्षी व परसापेक्षी उभयरूप है । ये षट्कारक भेदरूप भी होते हैं, अभेदरूप भी होते हैं । पर ध्रुव सत्य यह है कि इस ग्रन्थ को समझने के लिए कारक भी समझ में आना चाहिये ।

मनीषियो ! इस ग्रन्थ में प्रमेय, प्रमाता, प्रमिति का विषय है । दर्शनशास्त्र जहाँ बाहर प्रमेय खोजता है, अध्यात्मशास्त्र वहाँ निज में ही प्रमेय, प्रमाता, प्रमिति खोजता है । मैं ही प्रमाता हूँ, इस विषय को मात्र जिनशासन ही कहने में समर्थ है । बस, ध्यान रखना, कहीं जाने की जरूरत नहीं है । मैं तो ये जानता हूँ हे आचार्य-भगवान् कुन्द-कुन्ददेव ! कि आपने जो परोस दिया है, वह हम कितना खा-पचा पाते हैं। ये भिन्न विषय है, पर देखने से लगता है कि आपने क्या-क्या नहीं लिखा है । जगत के लोगों ने बाहरी ज्ञेयो को जानने का बहुत पुरुषार्थ किया है, और कर रहे हैं; लेकिन जगत के लोगों ने अन्दर के ज्ञेय को जानने का किंचित भी पुरुषार्थ नहीं किया, न कर रहे हैं । यानि कि जाना, पर जाननहार को नहीं जाना । कितनी बड़ी भूल है । प्रमा, प्रमाता, प्रमेय, प्रमिति, कर्त्ता, कर्म, करण, क्रिया । इन चार के अभाव में काम बनता ही नहीं । यानी विश्व में कोई विशिष्ट सिद्धान्त 'कर्त्ता और क्रिया' को समझ ले, तो कोई विवाद नहीं आयेगा । कर्त्ता को देखकर क्रिया आती है, कि क्रिया को देखकर कर्त्ता चलता है ? हे ज्ञानी ! परिणति क्रिया है, परिणामी कर्त्ता है, परिणामन कर्म है । आपको विश्वास हो या न हो, पर मुझे तो भवितव्यता पर पूरा विश्वास है। भोपाल में लोग कहते-कहते थक गये, पर भोपाल में समयसार नहीं हो पाया । यहाँ जबलपुर के लोगों की भवितव्यता थी, तो यहाँ हुआ । 'यः क्रियां करोति सः कर्त्ता ।', जो क्रिया करता है, वो ही कर्त्ता, है न कि ईश्वर कर्त्ता । रागादि भाव किसने किया ? मैंने किया, तो मैं कर्त्ता । किसको किया ? मेरे को किया मैं कर्म । किससे किया ? मेरे से किया तो मैं करण । तो मैं किसमें कर रहा हूँ ? मेरे में कर रहा हूँ । मैं अधिकरण । किसके लिये कर रहा हूँ ? मेरे लिये कर रहा हूँ, मैं सम्प्रदान । किससे कर रहा हूँ ? मैं से भिन्न होकर, कि मैं से अभिन्न होकर ? अपने निज चैतन्य भाव से अभिन्न होगा एवं परभाव से भिन्न होगा मैं से ही तो कर रहा हूँ । मैं अपादान । 'आलाप पद्धति' में विभाव को भी आत्मा का स्वभाव कहा है । विभाव को स्वभाव कहा ही है, इसलिए कहा है ।

अब अपने को परिणति को समझना है, तो परिणामी को समझना होगा और परिणामी को समझना है, तो परिणति को समझना होगा । परिणामी समझ में आये या न आये, परिणति समझ में आती है । अरे ज्ञानी ! जब परिणति समझ में आ रही है, धुँआ समझ में आ रहा है, तो समझ लेना चाहिए कि अग्नि है । अनुमान नहीं, प्रत्यक्ष में बताता हूँ । सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष में कहूँ कि परमार्थ प्रत्यक्ष में कहूँ ? सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष में देखा जावे तब भी समझ में आता है । परमार्थ प्रत्यक्ष स्याद्वाद का विषय है, शुद्ध ज्ञान के जानने

के लिए। सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष तेरी इन्द्रियों का विषय है। और दोनों ही प्रत्यक्ष आत्मा ही के प्रत्यक्ष हैं। सुनो, यही कारण है, कि जो प्रत्यक्ष-प्रमाण से आत्मा को समझना समझते हैं, वह भी प्रत्यक्ष है। जो प्रत्यक्ष प्रमाण से आत्मा को नहीं समझ पाता है, उसको अभी आत्मा दिखती ही नहीं है। आत्मा को कहे या न कहे, प्रत्यक्ष प्रमाण से आत्मा जानी जाती है। ज्ञानी ! श्रुतज्ञान किसका विषय है ? आत्मा का। श्रुतज्ञान किसमें होता है ? आत्मा में। तो जो जिसमें है, उसको नहीं जानता है क्या ? हम अपने ज्ञान को बाहर में ले जा रहे हैं, अपने ज्ञान को अन्दर में नहीं ले जा रहे हैं।

हे ज्ञानी ! एक बात यथार्थ बता दूँ, एक बात का निराकरण कर लो। कुछ जीवों ने समझ लिया है कि कपड़े पहने-पहने मोक्ष हो जायेगा और कोई समझता है कि कपड़े उतारे-उतारे मोक्ष हो जायेगा। दोनों भ्रम में हैं। वे ज्ञानी जीव कहने में डरते हैं, पर मुझे डर नहीं लगता ....।

**वीतरागं जिनं नत्वा, ज्ञानानन्दैक-सम्पदम् ।**

**वक्ष्ये समयसारस्य वृत्तिं तात्पर्यसंज्ञिकाम् ॥१॥ ता.वृ.॥**

यहाँ पर आचार्य जयसेन स्वामी ग्रन्थ के प्रारंभ की भूमिका बना रहे हैं। यहाँ आचार्यश्री ने व्यक्ति-विशेष को नमस्कार नहीं किया। 'धवला' जी की आठवीं पुस्तक में, मंगलाचरण में 'णमो लोए सव्वसाहुणं' सबसे पहले साधुपरमेष्ठी को नमस्कार किया है। 'षट्खण्डागम' की आठवीं पुस्तक में, जिसमें तीर्थकर प्रकृति के बंधके सोलहकारण भावों का विस्तृत वर्णन किया है, आचार्य-भगवान् वीरसेन स्वामी कह रहे हैं कि हमने भूलकर नहीं किया साधु परमेष्ठी को नमस्कार। जानकर नमस्कार किया है। क्योंकि अरहंत तभी बनते हैं, जब साधु पहले बनते हैं। अरहंत के मार्ग की प्राप्ति साधु बने बिना नहीं होती है, इसलिए पहले साधु को नमस्कार किया है। अन्य बोले - आचार्य और उपाध्याय को क्यों नहीं किया ? उत्तर यह है कि ये परमेष्ठी तो हैं, पर साधु नहीं हैं। वे तो पद हैं। साधु तो साधु है, और वे दो भी साधु हैं।

आचार्य-भगवान् वीरसेन स्वामी लिख रहे हैं -

हमने साधु परमेष्ठी को नमस्कार किया है, इसमें कोई क्रम भंग नहीं किया, हमने पश्चादानुपूर्वी का प्रयोग किया है। "णमो लोए सव्वसाहुणं"। 'समाधि शतक' में आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने सिद्धों को नमस्कार किया है - हे भगवन् ! मुझे सिद्ध बनना है, इसलिए सिद्धों को नमस्कार किया है।

यद्यपि सापेक्षदृष्टि से २४ भगवानों को नमस्कार किया है। वीतरागता ही है सम्पदा जिसकी, ऐसे जिनं नत्वा। वे कषायानंद, विषयानंद, रागानंद में लीन नहीं हैं, वे ज्ञानानंद में लीन हैं। ज्ञानानंद कब होगा ? जब विषयानंद का अभाव होगा। जब तक विषयानंद है, तब तक ज्ञानानंद नहीं। हे मुमुक्षु - जिसके नयनों में मृगनयनी निवास कर रही है, उसकी आत्मा में ब्रह्म का वास कैसा ? जिसके अन्दर ब्रह्म का वास है, उसके नयनों में मृगनयनी कैसी ? एक म्यान में दो तलवार कैसे ? ज्ञानियो ! समयसार सुनना, पर ध्यान रखना अपने आप में लगाकर नहीं बैठ जाना। ये तो आप ज्ञान प्राप्त कर रहे हो। लगाना हो तो योगी बनना। आज क्लास इसलिए प्रारंभ करना पड़ रही है, कि तत्त्व का विपर्यास देखने को बहुत मिल रहा है। छतरपुर में जब समयसार कमरे में पढ़ता था पूरे संघ के साथ, तो ये परिणाम निकला कि 'पुरुषार्थ सिद्धिउपाय' की सामूहिक क्लास में लोग कम होने लगे, और समयसार के स्वाध्याय को कमरे से बाहर करना पड़ा। हमने कहा- ऐसा क्यों करते हो, ये तुम्हारा विषय नहीं है ? बोले- हो या न हो, श्रावक की बातें तो कहीं भी सुन लूँगा, पर आत्मा होती कैसी है, ये समयसार सुनने से आयेगा। तो समयसार की भाषा पर-सापेक्षी नहीं है। स्व-

सापेक्षी है। विषय पर-सापेक्षी नहीं है, पर-निरपेक्षी है और पर-निरपेक्ष भाव ही शुद्ध समयसार है। इसलिए समयसार ग्रन्थ को कहूँगा। जिसकी तात्पर्यवृत्ति संज्ञा है, उसे मैं आचार्य जयसेन स्वामी कहूँगा।

अमृतचन्द्र स्वामी की टीका सूक्ष्म प्रदानी है, पर जयसेन स्वामी की टीका विस्तार बुद्धि वालों के लिए है। श्रेष्ठ वक्ता वही होता है, जो मैं क्या-क्या कहूँगा पहले ही कह देना है, और बाद में फिर दोहरा देना है। न्याय की भाषा में उपनय निगमन।

हेतु को पुनः दोहराना, हेतुपूर्वक कहना। और प्रतिज्ञा, हेतु उपनय, उदाहरण, निगमन, पाँच प्रकार से बालकों को समझाया जाता है, पर ज्ञानियों का एक से काम चल जाता है।

## ॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

४ ४ ४

ये आत्मा अनुपम हैं, इस शब्द के प्रयोग से आत्मा की ध्रुव सत्ता का वर्णन किया। मंगलाचरण में ही 'अनुपम' शब्द कहकर, हे ज्ञानी! सम्पूर्ण विवादों से दूर कर दिया। धर्म, अर्थ, काम ये तीन पुरुषार्थ/त्रिवर्ग/तीन वर्ग से जो परे है, उसका नाम है अपवर्ग/मोक्ष। भगवान् अपवर्गस्वरूपी हैं, वर्गस्वरूपी नहीं हैं। 'अनुपम' शब्द कह रहा है कि जो त्रिवर्ग से ही शून्य हो चुके हैं, वे अपवर्ग में लीन हैं, ऐसे भगवान् सिद्ध परमेश्वर हैं।

कल आपने अनेकान्त मूर्ति की वंदना की, और यहाँ आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी की भावना को पढ़ा कि परपरिणति का हेतु मोह है। इस मोह का विनाश हो, और 'समयसार' ग्रन्थ का फल अगर कुछ प्राप्त हो तो, शुद्धात्मतत्त्व की लीनता मुझे प्राप्त हो।

“ध्रुवममलम्” यहाँ तक हम समझ चुके हैं। ज्ञानी! चार गतियों में जो गमन था, वह गमन कर्म की सत्ता को सूचित कर रहा था और अब चार गतियों के गमन का अभाव हुआ है तो वह आत्मा अविचल हुई है, कर्मातीत हुई है। इसका मतलब है कि हम चलायमान हैं, सिद्ध भगवान् चलायमान नहीं हैं। जिस दिन कर्मातीत होगा, उस दिन आत्मा अचल होगा। वे सिद्ध परमेश्वर अचल हैं, क्योंकि पुद्गल कालकरण वाला है। जीव को चलानेवाला कर्म है। पुद्गल कालाधीन चलता है, जीव कर्माधीन चलता है। जहाँ कर्म की अधीनता का अभाव हो चुका है, ज्ञानी! आत्मा स्वाधीन अविचल है। वह अविचल भगवान् कैसा है? जिसके चलने में पर के निमित्त का अभाव हो चुका है। निज क्रियावर्ती शक्ति के नियोग से, द्रव्य के सद्भाव से वे परमेश्वर जैसे-ही कर्मातीत दशा को प्राप्त होते हैं, वे सिद्धालय में जाकर विराजमान हो जाते हैं। अब कब आयेंगे? लोक में कहा जाता है कि - 'जब लोक में धर्म की हानि होने लगती है, असुर बढ़ने लगते हैं, अभिमानी हो जाते हैं, तो पुनः परमेश्वर वापस आ जाते हैं।' हे ज्ञानी! यह वह सिद्धान्त नहीं है। हमारे जो परमेश्वर हैं, वे कैसे हैं? 'दग्ध बीजवत'। जैसे जला बीज पुनः अंकुरित नहीं होता है, ऐसे कर्म भी जिनके नष्ट हो चुके हैं उनके भवांकुर उत्पन्न नहीं होते हैं।

जब हमारा परमेश्वर जगत् के पर-द्रव्य का कर्ता नहीं है, तो तू परद्रव्य का कर्ता कैसा है? मेरा सुख, मेरा दुःख मेरे में ही है। मेरे सुख-दुःख का तू किंचित भी भोक्ता नहीं है, मेरे सुख-दुःख का तू किंचित भी कर्ता नहीं है। ध्यान दीजिए इच्छाओं का समाधान हो सकता है, फिर भी आप मेरे सुख-दुःख के कर्ता नहीं हैं। इसलिए चाहे शुभ समाचार हो, चाहे अशुभ समाचार हो, समाचार तो दिये जा सकते हैं, पर सुख-दुःख नहीं दिया जा सकता। हे ज्ञानी! उस गहरे शब्द को पकड़ो। समाचार आया कि तेरे घर में पुत्ररत्न

की प्राप्ति हुई, समाचार आया कि दूकान में आग लग गई। आप बताओ क्या करोगे ? समाचार देने वाला समाचार तो दे सकता है, लेकिन यदि तू सुखी-दुःखी नहीं होना चाहता है तो दोनों ही समाचार तुझे सुखी-दुःखी नहीं कर सकते हैं। जिनका जलना धर्म था, वो जल गये; जिनका जन्म लेना ही धर्म था, उसने जन्म ले लिया। नया क्या हुआ ? चाहे आप हर्षित हो या न हो, पर जीव जो अपनी आबाधा को लेकर आया था, उसने गर्भ की आबाधा को पूर्ण किया है, तो जन्म तो लेगा ही। तुम क्यों परेशान होते हो ? उसको तो जन्म लेना ही है। ये भी ध्रुव सत्य है कि जन्म के साथ मरण को भी प्राप्त हो रहा था। आप क्या सुख-दुःख की बात कर रहे हो, अचल अवस्था पर ध्यान दो।

हे ज्ञानी ! समयसार को यहाँ ही सुनना-समझना नहीं है, घर में सुनना-समझना है, समयसार को घर में लगाना है। जिसका जन्म होना था, निश्चित था, जिसकी मृत्यु होना है, वह आयुकर्म पर निश्चित है। आप हर्ष-विषाद ही कर पायेंगे, न किसी का जन्म रोक पाओगे, न मृत्यु रोक पाओगे। रोक सकते हो तो हर्ष-विषाद को रोकना। तेरे हाथ का विषय है। लेकिन जन्म किसी का या मरण किसी का होना तेरे हाथ में नहीं है। इसलिए संसारी जीव त्रिवर्ग को प्राप्त किये हैं, और मुक्त परमात्मा अपवर्ग को प्राप्त किये हैं। अचल, अचलत्वमुपगता” अचलता को प्राप्त है, यानि चार गतियों में भ्रमण समाप्त हो चुका है। वे अद्वितीय स्वरूप में लीन हैं। “अखिलमुपमान विलक्षणत्वात्” सम्पूर्ण उपमा से विलक्षित, अब यहाँ पर कोई उपमा नहीं है। जब-तक उपमा है, तब-तक पर सापेक्षता का भाव है, उपमाओं का अभाव हो गया, क्योंकि गतियों का अभाव है। गतियाँ जो होती हैं, पर निमित्तक ही होती हैं। ध्यान दो, गतियाँ जो होंगी, वे पर निमित्तक होंगी। जब परनिमित्तक ही होंगी, तो वो मेरी आत्मा का धर्म नहीं होगा। जो-जो पर निमित्तक है, वह सब मेरे आत्मधर्म से परे है। जो परनिमित्त होते हैं, वे निजधर्म होते नहीं। अहो ! मैंने पर निमित्तों को ही निहारा, इसलिए निजधर्म को भजा नहीं। जो निज धर्म को भज गया है, वह परनिमित्तों से हट गया है। ये समयसार का ज्ञान भी मेरा निज धर्म नहीं है, क्योंकि “श्रुतमनिन्द्रियस्य”, ये श्रुतज्ञान मन का आलम्बन ले रहा है और मन के आलम्बन से श्रुत हो रहा है। ये क्षयोपशम के साथ चल रहा है। क्षयोपशम कर्म का साथ ले रहा है। ज्ञानी ! समयसार जो स्वरूप है, वह क्षयोपशम भाव से रहित है। समयसार क्षायिक स्वभाव भी नहीं है। समयसार यदि क्षायिक भाव है, तो हमें किसी का क्षय करना पड़ेगा, पर निमित्तक है। क्षायिक भाव भी परनिमित्तक है, क्योंकि पर का क्षय करेंगे तब क्षायिक भाव प्रकट होगा। मैं क्षायिकभावस्वभावी भी नहीं हूँ। मैं क्षयोपशम भावस्वभावी भी नहीं हूँ। मैं औदयिक भाव स्वभावी नहीं हूँ। मैं तो परम पारिणामिकभाव स्वभावी हूँ। हे ज्ञानी ! क्षायिक भाव मेरा धर्म नहीं, क्योंकि पराधीन है। ये पराधीन क्यों है ? कर्म के क्षय हुये बिना क्षायिक भाव होता नहीं; परन्तु पारिणामिक भाव किसी द्रव्य का आलम्बन लेता नहीं, इसलिए पारिणामिक भाव मेरा स्वभाव है। क्षायिक भाव प्रकट होता है, इसलिए स्वभाव नहीं है। परन्तु पारिणामिक भाव सदा होता है, इसलिए स्वभाव है। वहीं परम समयसारभूत परिणत क्षायिक भाव स्वभाव नहीं है। निजस्वभाव ही परम पारिणामिक स्वभाव है। परमपारिणामिक स्वभाव में लीन हुई आत्मा नियम से क्षायिकभाव में लीन होगी। परन्तु ध्यान देना, मैं परमशुद्ध निश्चयनय से बोल रहा हूँ। व्यवहारनय से आप क्षायोपशमिक भी हो, क्षायिक भी हो, औदयिक भी हो, पारिणामिक भी हो। लेकिन परम शुद्ध निश्चयनय से आत्मा का जो ध्रुव स्वभाव है, वह परम पारिणामिक भाव है। मैं विशुद्धि स्थान भी नहीं हूँ, मैं संक्लेश स्थान भी नहीं हूँ, क्योंकि विशुद्धि स्थान उसमें हो, जिसमें अशुद्धि हो। मैं तो त्रैकालिक ध्रुव शुद्ध हूँ, तो मेरे में विशुद्धि कहाँ ? जो

विशुद्धि से भी परे है, उसका नाम शुद्धस्वभाव है। जब तक विशुद्ध है, तब तक शुद्ध नहीं है। बस, ये तो कारण समयसार है विशुद्ध, कार्य समयसार है शुद्ध। मैं शुद्ध हूँ, विशुद्ध नहीं हूँ। 'विशुद्ध' पर्यायजन्य दशा है, 'शुद्ध' स्वभावजन्य अवस्था है। विशुद्ध परिणतियाँ होती हैं। परिणामी शुद्ध होता है। परिणतियाँ नष्ट होती हैं, परिणामी नष्ट नहीं होता है। परिणामी त्रैकालिक ध्रुव है। परिणतियों में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य अशुद्ध रूप होता है। परन्तु परिणति में उत्पाद-व्यय शुद्ध हो रहा है।

अब ध्यान दो- ये समयसार की भाषा है, यह षट्हानि-वृद्धि रूप परिणतियाँ हैं। वे परिणतियाँ ही हैं, जो हो रही हैं, पर न कोई कर नहीं रहा है। जब कोई कर नहीं रहा है, तो तू कर्त्ता क्यों हो रहा है ?

हे मुमुक्षु ! अपने अखण्ड ध्रुव स्वभाव में लीन हो जाओ, अखण्ड शुद्ध स्वभाव को प्राप्त मत करो। यदि प्राप्त करोगे, तो उसे उत्पन्न कराना पड़ेगा। वो तो है ही। लीन हो जाओ, उत्पन्न नहीं कराओ। जो उत्पन्न होता है, वो सही नहीं होता है। जो उत्पन्न होता है, वह पर्याय होती है। पर परमस्वभाव उत्पन्न नहीं होता, परम स्वभाव तो होता है। इसलिए आप तो परभाव से अलग हो जाओ। परभाव से अलग हो जायेगा, तो स्वभाव में लीन हो ही जायेगा। मैं नहीं चाहता हूँ, कि तुम विषय-कषाय को छोड़ो। अरे ! विषयकषाय की विडम्बना में पड जायेगा, तो स्वभाव से दूर हट जायेगा। तू स्वभाव में लीन हो जा, तो विषयकषाय स्वमेव हट जायेगे। ज्ञानी ! यही तो अन्दर का पुरुषार्थ है, इसलिए कह रहे हैं। कैसे ? परमेश्वर "अचलमुपगता", जिनकी सम्पूर्ण उपमायें निकल चुकी हैं। अद्भुत महत्त्व है अशरीरी भगवान्-आत्मा का। ऐसे अनुपम त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) शून्य हो गया, ऐसा अशरीरी-आत्मा है। ध्यान देना, यहाँ जो वर्णन है, वह शुद्धात्म का परिणमन कैसा है ? सीधा कहाँ जा रहे हैं आप ? सिद्धालय में। अरहंतों से भी नहीं मिल रहे। सीधा सिद्धों के स्वरूप का वर्णन है। क्यों समझना है यह विषय ? हे योगीश्वर ! अरहंत बनने के लिए निर्ग्रन्थ नहीं बनना पड़ता है। अरहंत हो जाते हैं। सिद्ध बनने के लिए निर्ग्रन्थ बने हैं न आप। इसलिए ध्यान अरिहंतों में नहीं ले जाओ, निर्ग्रन्थों में नहीं ले जाओ, अपना ध्यान सिद्धों में ले जाओ। जिसे तू चाहता है, प्राप्त करना चाहता है, उसे तू समझ कि है कैसा ? जिसकी प्राप्ति के लिए तूने साधना की है, उस साध्य को तो एक बार जान लो। जब तुझे साध्य का ही ज्ञान नहीं है तो साधना किसके लिए करने बैठ गया है ? एक प्रश्न कीजिए, मन में पहले कन्या का बोध होता है, कि पहले शादी का नियोग होता है ? बोलो, जिस अज्ञानी को कन्या का बोध ही नहीं है, तो शादी का नियोग किसके लिए हो रहा है ? कितनी बड़ी विडम्बना है, अशरीर सिद्धों के स्वरूप को जाने नहीं और मुनि बनकर बैठ गये। बने किसके लिए थे ? शादी किसके लिए ? ये मंडप किसके लिए बनाया ? किसी कन्या का बोध होना चाहिए था।

हे मुमुक्षु ! ये दीक्षा का मण्डप किसके लिए जब तुझे मुक्तिकन्या का बोध नहीं है ? ये 'समयसार' ग्रन्थ जिसे आप विपरीतता में समझ बैठे हो, ऐसा नहीं है। ये मुक्तिकन्या का बोध करानेवाला ग्रन्थ है। जब तुझे बोध हो जाये, तो मण्डप में जाना, बरातियों के साथ चले जाना। लेकिन जब तक कन्या का बोध नहीं है तो, हे ज्ञानी ! शादी किसके साथ होगी ? उस बोध को जानना है तो अब विश्वास करो। कन्या को लेने जाता है, तो विशेष सज-सँवर कर क्यों जाता है ? क्योंकि जिस कन्या को तू लेने जा रहा है, वैसी कन्या तेरे घर में नहीं है। तेरे घर में बहन हो सकती है। बहिन का जन्म तेरे घर में होता है, भाई भी तेरे घर में जन्म लेता है, पर तेरे घर में पत्नी का जन्म नहीं होता है। जिस कन्या को तू लेने जा रहा है, उस कन्या को विशिष्ट सम्मान के साथ पत्नी बनाने जा रहा है।

हे मुमुक्षु ! तेरे घर में राग-द्वेष रूपी बहनों का जन्म तो होता है, तेरे घर में काषायिक भावरूप भैया तो है, पर जिस कन्या के साथ जीवन पूर्ण होना चाहिए, वह नहीं है। मुक्तिकन्या इन सबसे भिन्न है। अगर उसे चाहता है तो इन सम्बन्धों को तुझे दूर हटाना पड़ेगा। समझ गये, मुक्ति कन्या को लेने जाना है, तो उसके लिये दूल्हा बनना पड़ेगा, पिच्छे कमण्डलु लेना पड़ेगा। तुम पहले स्वरूप जानो, कन्या को जान लो, जानने में कोई कठिनाई नहीं है, कोई तुझे व्यभिचारी नहीं कहेगा, लेकिन लेने तभी जा पाओगे, जब दूल्हा बनोगे। बात को गहराई से समझना। कन्या को जानना किसी के भी ज्ञान का विषय हो सकता है, लेकिन मिलेगी उसे जो वर होगा, पात्र होगा। वह अनुपम सुन्दरी है मुक्तिवधू। मुक्तिवधू की उपमा किसी सुन्दरी को नहीं दी जा सकती है। वह ऐसी सुन्दरी है जिसके लिए, हे ज्ञानी ! एकान्त में तुझे निहारना पड़ेगा। उस कन्या को आँखों से नहीं देखा जा सकता। वह तो तन से रहित है, अतनुजा है। उस अतनुजा का भोग चेतन स्वभाव से होता है। वे तो अज्ञानी हैं जो आँख खोल रहे हैं, बन्द कर रहे हैं और कह रहे हैं कि वही दिख गई। अरे ! कहाँ दिख गई ? वह अतनुजा है, वह दिखती नहीं है।

आत्मा दिखती नहीं है, अतनुजा है। उस अतनुजा से मिलना है, तो तनुजा से मिलना बन्द करना पड़ेगा। मिलेगी उसे, जो जिनमुद्रा को धारण करेगा। वह परम रमणी कैसी है ? परम आदर्शमयी है। जिसका कहीं दूसरा आदर्श नहीं है। तू मोह व इन्द्रियसुख में लिप्त रहा, इसलिए अनुपम दशा को प्राप्त नहीं हुआ। तो कैसे मिले ? उसके लिए कह रहे हैं, कि स्वात्मा में लीन होकर। श्रुत अनादि-अनिधन है। आगम का कभी उत्पाद नहीं होता, आगम का कभी विनाश नहीं होता है। द्रव्यश्रुत की परम्परा वर्तमान में महावीर स्वामी से है, लेकिन संतति-अपेक्षा आगम अनादि-अनंत है। अनादि से अनंत काल तक वही श्रुत रहेगा। वह श्रुत कैसा है ? सम्पूर्ण अर्थों को साक्षात् प्रकट करनेवाला है। आचार्य अमृतचन्द्र कह रहे हैं, कि यह 'समयसार' में नहीं कह रहा, आचार्य कुन्दकुन्द भी नहीं कह रहे। वह अनादि से प्रकट हैं, सम्पूर्ण अर्थों को कहनेवाला, साक्षात् केवली-प्रणीत है। सम्पूर्ण अर्थ को प्रकाशित करनेवाला यदि कोई है, तो श्रुत है। यह केवली की वाणी है।

जब आचार्य-भगवान् नया ग्रन्थ प्रारंभ करते थे, तो हम आनंदित होते थे, उस ग्रन्थ को सिर पर रखते थे। क्यों ? पुद्गल के टुकड़ों की अनुभूतियाँ अनंत वार ली हैं, पर चेतनप्रकाश की अनुभूति इसी पर्याय में मिल रही है। हे मुमुक्षु ! जब भी आप मुनिराज बनने के विचार में आर्ये, और जब भी योगीश्वर बनें, तो इस बात को आज डायरी पर नोट कर लेना, भविष्य में कभी स्मृति आ जाये तो दोहरा लेना, कि महाराज ने कुछ कहा था। हे मुमुक्षु ! जगत् की यशः कीर्ति किसी भी पर्याय में मिल सकती है, पर स्वात्मानुभूति का अनुभव निर्ग्रन्थ अवस्था मात्र में ही होता है। इसे प्रपंचों में नष्ट नहीं करना, इसे तो प्रकाश की ओर ले जाना। आपको सब मिल सकता है, पर आत्मवैभव जिनमुद्रा में ही मिलता है। इतना गहरा ग्रन्थ कैसे बन गया ? ध्रुव सत्य बताऊँ, लिखने बैठते तो इतना सुन्दर नहीं लिख पाते। उन्होंने लखा था। हे ज्ञानी ! अनुभूति अंशों में नहीं होती, सर्वांश में होती है। पंचम गुणस्थान के परिणति की जो अनुभूति होगी, वह तेरे सर्वांश में होगी। और सम्यग्दृष्टि जीव वही होता है, जिसे तत्त्वानुभूति होती है। जिसे तत्त्वानुभूति नहीं, वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। मैं जानकर बोल रहा हूँ, भ्रम से नहीं बोल रहा हूँ। जिसे तत्त्वानुभूति नहीं, वह सम्यग्दृष्टि नहीं।

हे मुमुक्षु ! साततत्त्व में तू जीव तत्त्व है कि नहीं ? तेरे लिए तेरी ही अनुभूति नहीं, तो तू सम्यग्दृष्टि कैसा ? तू चैतन्य द्रव्य है, फिर भी तुझे चैतन्य द्रव्य का भान नहीं हो रहा है, तो पंचम गुणस्थानवर्ती बना

किसने दिया ? तदजन्म कषायों की प्रकृतियों का उपशमन करेगा, और जितनी प्रकृतियों का उपशमन करेगा, उतनी प्रकृतियों के उपशमन से कोई गुण प्रकट होगा कि नहीं होगा ? जो प्रकट होगा, वह चेतन में होगा, कि अचेतन में होगा ? जो चैतन्य में होगा, उसकी अनुभूति चेतन करेगा, कि अचेतन करेगा ? इसलिए उसे भी अनुभूति होगी। श्रुतकेवली भी स्वयं अनुभवक हैं। जो श्रुतकेवली भगवन्त ने कहा है न, वह भी स्वयं अनुभव करके कहा है, इसलिए प्रामाणिकता को प्राप्त है। अरे ! हम उस वैद्य के पास जाते हैं, जो वैद्य अनेक लोगों को ठीक किये होता है, तो हम उसको प्रमाणित मानकर उसका प्रचार-प्रसार करते जाते हैं। ऐसे ही, ज्ञानी! जिसने स्वयं अनुभूति ली है, स्वयं अपने अनुभव से जानकर कहा है, ऐसे सर्वज्ञ की वाणी को श्रुतकेवली ने कहा है, इसलिए सर्वज्ञ की वाणी ही प्रमाणित है।

समय यानी आत्मा। उस आत्मा को प्रकाशित करनेवाला यह प्राभृत शास्त्र, यह समयसार ग्रन्थ है और यह अरहंतदेव के प्रवचन का अंग है, अवयव है, इसलिए मुझे स्वीकार है। ध्यान देना, ये अरहंत के प्रवचन का अवयव है, इसमें अपने मन का नहीं जोड़ देना। अपने मन का जोड़ दोगे, तो अरहंत का अंग अविशुद्ध हो जायेगा। इनको विशुद्ध ही रहने दो, इसमें अपना मत नहीं जोड़ो। आपको अपना मत (अंग) जोड़ना हो, तो अपने नाम का ग्रन्थ बनाओ। उसे आचार्य कुन्दकुन्द का या अमृतचन्द्र स्वामी का मत कहो। जिनको आपको सुनना या पढ़ना हो, वो सुनेंगे पढ़ेंगे। जिसे नहीं सुनना है, वह आपका नहीं सुनेंगे, कुन्द-कुन्द को ही सुनेंगे।

ज्ञानी ! जैसे हरी-लाल चिट लगी है आपकी खाद्य सामग्री पर, ऐसे आपको कुछ लिखना हो तो लाल चिट लगा देना, अपना नाम लिख देना। बिना चिट के कुन्द-कुन्द में अपनी हरी चिट लगाओगे, तो व्यभिचार हो जायेगा। ये बुद्धि का व्यभिचार है। मैं प्रतिदिन कहता हूँ कि जिनवाणी जगत्कल्याणी है, जनवाणी जगत्कल्याणी नहीं है। जिनवाणी कहने में हृदय को संकुचित मत करो। "केवलिश्रुतसंघ-धर्म-देवासर्वनादो दर्शनमोहरय" (त.सू.)। ६/१३

जिनवाणी की गद्दी पर बैठकर अपनी बात रखना अच्छी बात नहीं है। यहाँ जो भी बैठे हैं, ये सब ज्ञानीजीव हैं। ये मुझे सुनने नहीं आये, ये मेरे मुख से जिनवाणी सुनने आये हैं। तो मेरा भी कर्तव्य बनता है कि मैं जिनवाणी ही सुनाऊँ। मैं वक्ता तो हो सकता हूँ, पर बकता नहीं बनना चाहता। सम्यग्दृष्टि जीव तत्त्ववक्ता तो हो सकता है, पर बकता नहीं है। जो तत्त्व में अपनी बात मिला देता है, वह वक्ता नहीं होता है, वह बकता मात्र है। इसलिए वक्ता बनना है, बकना नहीं है। हे ज्ञानियो ! जिसमें आत्मतत्त्व निहित नहीं है, स्वात्मतत्त्व निहित नहीं है, वह बकता तो हो सकता है, वक्ता नहीं हो सकता।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने प्रश्न किया था न "अध्यात्म अमृतकलश" में, प्रभो ! मेरे मोह का विगलन कैसे हो ?

**परपरिणति-हेतुमोह नाम्नोनुभावादविरत - मनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः ।**

**मम परम विशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्त्तर्भवतु समयसार व्याख्ययैवानुभूतेः**

॥३॥अ.अ.क.॥

पर परिणति में जाने का हेतु मोह है। हे मुमुक्षु ! अर्हत प्रवचन को सुनेगा, तो मोह स्वयं का भी विगलित होगा और पर का भी विगलित होगा। इस पंचमकाल में एक ही उपाय है, जगत् में वीतराग वाणी, जो कषाय का उपशमन रख सकती है, अन्य कोई साधन नहीं है। संघ में भी ज्यादा बैठेगा, तो वहाँ भी खटपट

होती है। संघ में जिनवाणी लेकर बैठेगा, तो उपशमन भाव को प्राप्त करेगा। और उतना ही शास्त्र स्वाध्याय करो, जितना अविशंवादीपन रहे। जिनवाणी के व्याख्यान में विसंवाद होने लग जाये, तो बड़े प्रेम से भगवती वाणी को बन्द कर देना, लेकिन जिनवाणी को खोले-खोले विसंवाद नहीं करना। क्योंकि विसंवाद करने से काषायिक भावों का उदय होता है। काषायिक भावों के उदय से कर्म का आस्रव होता है। आस्रव भाव आयेंगे, तो बन्ध होगा। बन्ध होगा तो संसार बड़े प्रेम से बढ़ेगा। हम यहाँ संसार बढ़ाने नहीं आये, संसार घटाने आये हैं। सभी से बोल देना कि तत्त्व उपदेश में विसंवाद नहीं करना। जिनवाणी अविशंवादी ही होती है। अर्हंत वचन अविशंवादी वचन हैं।

इसलिये आचार्य भगवान् अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि ये अर्हंत के वचन हैं, वे भाववाच्य-यानि भाव-समयसार द्रव्य-समयसार रूप भाषा का उपक्रम करते हैं।

**वीतरागं जिनं नत्वा ज्ञानानन्दैकसम्पदम् ।**

**वक्ष्ये समयसारस्य वृत्तिं तात्पर्यसंज्ञिकाम् ॥१॥ ता.वृ॥**

आचार्य जयसेन स्वामी कह रहे हैं, कि जिन नामधारी की वंदना नहीं है, वीतराग जिन की वंदना है। वीतराग जिन को नमस्कार करके। कैसे हैं वे जिन? ज्ञान ही एक आनंद की सम्पदा है जिनके, ऐसे जो समयसार रूप है संज्ञा जिसकी, उसकी तात्पर्यवृत्ति कहता हूँ।

विस्तार बुद्धि के शिष्य को बोध कराने के लिए आचार्य जयसेन स्वामी पातनिका (पीठिका) सहित व्याख्यान करते हैं। प्रथम स्थल में छः गाथा, द्वितीय स्थल में दो गाथा, तृतीय स्थल में दो गाथा, चतुर्थ स्थल में दो गाथा, पंचम स्थल में दो गाथा, इस प्रकार चौदह गाथा पर्यन्त समयसार पीठिका समझना चाहिये। शेष ४२५ गाथा मूल का विप्लेशन है।

हे ज्ञानी ! निश्चयनय से मैं स्वयं आराध्य हूँ, मैं स्वयं में आराधक हूँ। व्यवहारनय से पंचपरमेष्ठी आराध्य हैं, मैं आराधक हूँ। परमशुद्ध निश्चयनय से इस लोक में न कोई आराध्य है, न आराधक है। परभावों से भिन्न मैं अवक्तव्य हूँ, ऐसे निर्विकल्प समाधि भाव को नमस्कार। व्यवहारनय से वचनात्मक व द्रव्य नमस्कार। “वन्दितु सव्वसिद्धे” ये द्रव्य नमस्कार है। किसको ? सव्व सिद्धे। सब सिद्ध कौन से ? लाठी सिद्ध, खड्गसिद्ध आदि को नहीं। तो चबूतरे की वंदना ? नहीं-नहीं। फिर किस सिद्ध की वंदना ? “स्वात्मोपलब्धि सिद्धे”, जो स्वात्मा से सिद्ध हैं उस सिद्ध की वंदना है। उस अंजन चोर ने अंजन को सिद्ध कर लिया था। वह आँख में लगा लेता था, तो दिखाई नहीं देता था। उस सिद्ध की वंदना नहीं है। यहाँ स्वात्मोपलब्धि की सिद्धि को प्राप्त किया है जिनके, उस सिद्ध की वंदना है।

स्वात्मोपलब्धि सिद्धि, परम पारिणामिक, ज्ञायक स्वभाव वीतराग भाव जो कर्मातीत है, वही स्वात्मोपलब्धि सिद्धि है। जिन्होंने सिद्ध गति को प्राप्त किया है, ऐसे सिद्धों की वंदना है।

जैसे पाषाण की शिला में टांकी से उत्कीर्ण कर प्रतिमा को अवतीर्ण किया जाता है, तो कितने भी तूफान में वह प्रतिमा विघटित नहीं होती है। ऐसे ही जिनने भेदविज्ञान की छैनी से निज ध्रुव आत्मा को टंकोत्कीर्ण किया है, ऐसा परम टंकोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभाव जो आत्मा का धर्म है, वह सिद्ध कर लेना, जो अविनश्वर है।

और कैसा है ? द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित हैं। हे ज्ञानी ! ध्यान दो, आप सिद्ध नहीं हैं। आपके द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म दिख रहे हैं। सिद्धस्वरूपी तो हो सकते हो, लेकिन सिद्ध नहीं हो



। जो द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से रहित हैं, ऐसे सिद्धों की वंदना है और शुद्धस्वभाव से युक्त हैं और अमल (निर्मल) हैं, और अचल हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव भाव ये पंच-परावर्तन-संसार से रहित हैं। ऐसे अचल परमेश्वर हैं, अद्भुत स्वभाव से युक्त हैं, उपमा से रहित हैं, अनुपम हैं। सम्बन्ध अभिधेय, प्रयोजन आत्मा है, प्रयोजन यानि सिद्धि और अविधेय यानि जानने योग्य है। सिद्ध तो शुद्ध, ध्रौव्य चैतन्य द्रव्य हैं। समयसार का अर्थ जो सम्यक् बोध है, जिससे समीचीन आत्मा का बोध होता है, ऐसा समय आत्मा है। अथवा समान एकीभाव से प्राप्त हो, गमन करे, ऐसा सार शुद्ध अवस्था में आत्मा, ऐसा प्राभृत, समयप्राभृत। इस प्रकार से श्रुतकेवली द्वारा कहा गया, सर्वज्ञ गणधरदेव के द्वारा कहा गया, ऐसा समयसार है। व्याख्यान = टीका, व्याख्येय = गाथा आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा। इन दोनों का सम्बन्ध व्याख्यान - व्याख्येय सम्बन्ध है।

सूत्र अभिधान है, सूत्र का अर्थ अभिधेय है। ये अभिधान-अभिधेय सम्बन्ध है। इस ग्रन्थ का प्रयोजन क्या है? शुद्धात्म ज्ञान की प्राप्ति ही इस ग्रन्थ का प्रयोजन है। दूसरी गाथा में स्वसमय और परसमय का कथन कर रहे हैं। ध्यान रखना, इस ग्रन्थ को बड़ी तन्मयता से समझना और किंचित भी भ्रमित नहीं होना। जहाँ निश्चय का व्याख्यान हो, उसे निश्चय की अपेक्षा से ग्रहण करना और जहाँ व्यवहार का व्याख्यान हो, उसे व्यवहार की अपेक्षा से ग्रहण करना। लेकिन एक-दूसरे में जोड़कर विवाद नहीं करना, क्योंकि अभी तो मंगलाचरण हुआ है, अभी ग्रन्थ के अन्दर प्रवेश कहाँ किया आपने? जब मंगलाचरण इतना गहरा है, तो ग्रन्थ तो बहुत गहरा है। क्योंकि यहाँ पर प्रत्यय को कोई स्थान नहीं दिया जाता है। यह तो आपका अहोभाग्य है, जो आज सुन रहे हो।

हे जीवों! अब सुन ही लो। मुनि होना मात्र स्वसमय नहीं है। मुनि होकर भी परसमय में चला जाता है जीव। स्वसमय की दशा तो अविकल है, जो व्याख्यान का विषय नहीं है, अनुभूति का विषय है। 'मैं मुनि हूँ', ये शब्द भी तो पर समय है। मैं मुनि हूँ इसलिए आप सुन रहे हो। कोई भिन्न पुरुष कहता तो भाग जाते। हे मुनियो, त्यागी-व्रतियो! इस देहधर्म को तू मुनि मान रहा है। मुनिमुद्रा तो अनंतबार मिली है, पर मुनिस्वरूप एक बार मिल गया होता, तो पंचमकाल में क्यों आने को मिलता? मुनिधर्म तो अनेक बार मिला, पर मुनिस्वरूप नहीं मिला। यह समयसार मुनिमुद्रा का नहीं है, यह स्वसमय मुनिस्वरूप का है। कितनी बार मुनि बना, लेकिन जो था, उससे नहीं मिला। हे जीव! दर्शनज्ञान-चारित्र में स्थिरता है, उतना ही, वही समयसार जानो। वही स्वसमय सुसमय है। मैं मुनि हूँ, मैं कर्मनिहित हूँ, मुझे कर्मनाश करना है यह पर समय की भाषा है, स्वसमय नहीं है। हे मुमुक्षु! तू परसमय को जान। कर्मप्रदेश का स्थिरपना, कर्मप्रदेश का चिन्तनपना, कर्मप्रदेश का व्याख्यानपना, यह सब पर समय है। स्व समय में स्थिर होगा, तब तू समयसारभूत होगा।

**य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम् ।**

**विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिवन्ति ॥६९॥ आ.अ.कलश ॥**

जहाँ ये पक्षपात विलीन हो जायेगा, स्वरूप में लीन हो जायेगा, तब स्वसमय में लीन होगा। मैं शुद्धात्मा हूँ, ऐसा कहनेवाला भी पर समयी है, क्योंकि मैं शुद्धात्मा हूँ, ये मैं शब्द भिन्न में है। तू भिन्न में लीन हुआ है। तू भिन्न में चला गया। जो स्वसमय में होगा, उसे भी भूल जायेगा। वो तो लीन ही होगा। क्यों? स्थिर होना स्वसमय है, कहना स्वसमय नहीं है, पर समय है। जितने-जितने व्याख्यान हैं, ये सब पर समय हैं। जो व्याख्यानातीत है, वो स्वसमय है। इसलिए उपयोग की दशा क्या होगी? वह उपयोग में ही होगी।

उपयोग की दशा कैसी है? ऐसा कहनेवाला भी पर समयी है। जो समयसार का व्याख्यान कर रहा है, उस समय वह भी परसमयी है। जो समयसार में लीन हो रहा है, वह स्वसमयी है। अब समझ में आयेगा कि क्यों योगी कहते हैं कि तुम तो माथा ही टेको, निश्चय स्वानुभूति तो रत्नत्रय धारण करने पर ही आयेगी। अब घर में हाय-हाय नहीं करना, जैसा थाली में आ जाये, जैसा मिले, भोजन कर लेना और अपने स्वसमय में लीन रहना। अनंत बार खाया, अब तो स्वसमय की रोटी बनवाना है और उसी में लीन होना है।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

५ ५ ५

जीवो चरित्तदंसणणाणड्डिउ तं हि ससमयं जाण ।

पुगलकम्मपदेसड्डियं च तं जाण परसमयं ॥ २ स.सा. ॥

यहाँ पर आचार्य कुन्द-कुन्द ने 'समयप्राभृत' ग्रन्थ में स्व समय व पर समय का व्याख्यान प्रारंभ किया। जो जीव दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित है, वह स्वसमय में है और जिसका पौद्गलिक कर्मों में स्थित भाव है, वह परसमय में है। कैसी है यह योगी की परमदशा? जिन्होंने योग के उपयोग का भी निरोध किया हो। जिन्होंने व्रत, समिति, गुप्ति के पालन के विकल्प का ही विकल्प छोड़ दिया हो। जिन्होंने कर्मों की १४८ प्रकृतियों के बंध, उदय, संक्रमण आदि के विकल्प से अपने आपको दूर हटा लिया हो। जिसने संक्लेश स्थान तो छोड़े, विशुद्धिस्थान के विकल्प का ही त्याग कर दिया हो। और जहाँ विशुद्धि स्थान की प्राप्ति का भी विकल्प न हो, ऐसा परम वीतरागी वह निर्ग्रन्थ श्रमण है। वे श्रमण ही ध्रुव, अचल, अनुपम दशा में लवलीन, आनंदकन्द, ज्ञानघन स्वचतुष्टय में विराजते हैं। जिन्हें चतुष्टय के भान का भी भान नहीं है, वे परम निर्वाण को प्राप्त होनेवाले परमयोगीश्वर हैं। अमल, विमल, अखण्डित, चिद्रूप, भगवत् स्वरूप की प्राप्ति के विकल्प को जिन्होंने दूर से ही छोड़ दिया हो। वे तो अमल में लीन हैं, वे तो विमल में विलीन हैं, स्वयं में स्थित हैं। वे हि स्वसमयी हैं। मैं बंधस्थान को प्राप्त हूँ, मुझे विशुद्धि स्थान की वृद्धि करना है। ऐसे विकल्पों में जीनेवाला जीव परसमयी है। दीक्षा लेना है, दीक्षा देना है। ये विकल्प भी तुझे दीक्षा में नहीं रहने दे रहे हैं। जब दीक्षा में निवास करेगा, तो इन विकल्पों से भी तू अपने आपको दूर पायेगा।

समयसार यानि, "मुनि का स्वभाव"। पिच्छि कमण्डलुधारी मुनिराज कैसे होते हैं, वो "प्रथमानुयोग" से आपको मिल जायेगा। २८ मूलगुणों का पालन कैसे करते हैं, ये आपको "मूलाचार" में मिल जायेगा। और किन-किन प्रकृतियों के क्षय, क्षयोपशम से योगी होते हैं, यह "गोम्मटसार" में आपको मिल जायेगा। परन्तु मुनि मुनि में कैसे होते हैं, ये 'समयसार' में सुनना। इस ग्रन्थ में मुनि के द्रव्यस्वरूप, का मुनि की पर्याय का किंचित भी वर्णन नहीं है। इस ग्रन्थ में तो मुनि की परिणति का वर्णन है। क्योंकि पर्याय के मुनि तो हमारे चाक्षुष हैं, परन्तु परिणति के योगीश्वर चाक्षुष नहीं हैं, वे तो स्वस्थित हैं। ऐसी स्वस्थित दशा का वर्णन आचार्य भगवान् कुन्दकुन्द देव कर रहे हैं।

हे जीव ! दर्शन, ज्ञान, चारित्र। वो दर्शन क्या है ? दर्शन क्रिया निज में ही हो। वो ज्ञान क्या है ? ज्ञप्ति दशा निज में ही है। चरित्र क्या है ? चरित्रानुभूति स्वयं में ही है। जहाँ स्वयं को ही निहारे, स्वयं को ही जाने, स्वयं में ही रमण करे। इसका नाम स्वसमय है। जहाँ व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्र पर भी लक्ष्य है, परसमय है। तो कैसे अपने आप में स्थिर रहते होंगे वे परमयोगीश्वर ? अब पकड़ना है उस योगी की दशा

को योग करनेवाले योगी तो बहुत सरल हैं। मूलगुणों के पालनहार योगी बनना बहुत सरल है, पर मूलगुणों के विकल्पों से शून्य होकर रहनेवाले योगी बहुत कम हैं, कठिन हैं। तूने क्या किया कि जब तू गृहस्थी में लिप्त था, तो भवन, वाहन आदि के कर्त्तव्य में लीन था और योगीमुद्रा को प्राप्त करके तू पुण्य क्रियाओं में लिप्त हो गया। आखिर में कर्त्तव्य भाव का अभाव तूने कहाँ किया ? जब तू गृहस्थ था, तो रागादि के संस्कार तुझे सता रहे थे, वहाँ भी तूने आस्रव ही किया, और यहाँ आकर धर्मोपदेश आदि क्रिया में लीन हो गये, यहाँ भी पुण्य आदि कर रहा है। आखिर में कर्त्तापन कहाँ छोड़ा ? जब तक प्रवचन-उपदेश आदि का भी विकल्प, भाव सतायेगा, तब-तक स्थूल समाधि भी नहीं हो पायेगी, सूक्ष्म समाधि तो दूर है। और यह स्वसमय की धारा एक समय से लेकर असंख्यात समयकाल प्रमाण है। स्वसमय में कब तक रहे ? एक समय को आदि करके अड़तालीस मिनट तक यदि तुम स्वसमय में रह लिये तो, ज्ञानी! तू निर्वाण को प्राप्त कर लेगा। अन्तर्मुहूर्त तक स्वसमय में रह लिया तो निर्वाणश्री ही मिलेगी, और कोई श्री नहीं मिलेगी। इसलिए जब तक प्रतिक्षण/प्रतिपल श्वास-श्वास में निर्विकल्प स्वसमय को प्राप्त नहीं हुये, तब-तक सविकल्प स्वसमय की आराधना को नहीं भूल जाना। क्योंकि जैसी चिन्तन की धारा रहेगी, वैसी परणति बनेगी और जैसी परिणति बनेगी, वैसी पर्याय बनेगी। इसलिए चिन्तन स्वसमय का ही रखना। परसमय को हेयदृष्टि से निहारना, स्वसमय को ही उपादेयदृष्टि से निहारना। हे मुमुक्षु ! कर्मबन्ध की प्रकृतियों (आठ कर्म जो आत्मा में बद्ध हैं) के छटने का विकल्प लाना भी जब पर-समय है, तो पर के शरीरों के श्रृंगारों में निज की परिणति को ले जानेवाला स्वसमयी कैसे हो सकता है ? जो नोकर्म तेरा शरीर है, उस स्वयं के शरीर की रक्षा के भाव रखना भी परसमय है, तो परिवार की रक्षा का भाव रखनेवाला स्वसमय में कैसे आयेगा ? स्वसमय की धारा तो है, जहाँ तन को स्यालनी भख रही हो, तब भी चेतन उस स्यालनी को नहीं देखता। जहाँ व्याधी (बाधिन) अंग-अंग को चबा रही हो, वहाँ अंगी (आत्मा) अनंग (आत्मा) में लीन हो जाये। इसका नाम स्वसमय है। अंग के चबाने पर भी अनंगी को निहारे इसका नाम स्वसमय है। और अंग के चबाने में चला गया कि एक चबा रही थी वो पर समय में था तो एक चबाते देख रहा था, सो परसमय में था। परमस्वसमय, कारण स्वसमय, कार्य स्वसमय। अरहंत अवस्था (तेरहवाँ गुणस्थान) में कारण स्वसमय है और चौदहवें गुणस्थान में भी कारण स्वसमय है, तो सिद्ध भगवान् कार्य-स्वसमय हैं। टीकाकार आचार्य-भगवंत अमृतचन्द्र स्वामीजी लगता है कि ज्यादा गहराई में चले गये और इतने गहरे में चले गये, कि जगत की सम्पूर्ण अनुभूतियों को भूलकर टीकामय हो गये, और इतने तल्लीन हो गये कि यथार्थ में समयसार का सार तो आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी पी गये, पान कर गये।

एक-एक शब्द पर ध्यान देना।

“योऽयं नित्यमेव परिणामात्मनि” जो नित्य ही परिणमन कर रहे हैं। किसमें ? अपनी आत्मा में, स्वभाव में ठहरते हुये, परभाव से निज को हटाते हुये, निजस्वभाव में अवतिष्ठित होते हुये, किंचित भी परसमय के भाव को न रखते हुए, सामायिक में ही लीन हैं। पर समसामायिक से भी दूर है आपकी भाषा में। मैं समता में जाता हूँ, आर्त्तरौद्र ध्यान को त्यागता हूँ ये समसामायिक है। उस समसामायिक की विषमता से जिन्होंने अपने आपको दूर कर लिया है ऐसा ‘मैं आर्त्त रौद्र ध्यान का त्याग करता हूँ, क्योंकि सामायिक करने जा रहा हूँ’। जब तूने इन शब्दों का प्रयोग किया, तब त्याग करने के पहले तूने आर्त्त व रौद्र दोनों ध्यान का

स्पर्श कर लिया। तू अपनी बुद्धि में दोनों दुर्ध्यान को लाया पहले। मैं आर्त्त-रौद्र ध्यान का त्याग करता हूँ। अरे ! धर्म्यध्यान में लीन हो जाता। आर्त्त, रौद्र ध्यानों का नाम लेकर एक क्षण को तूने खोटा नाम लिया क्यों ? हे ज्ञानियो ! किसी रागी का नाम लेना मात्र भी सामायिक भंग करना है। 'मैं रावण का नाम नहीं लेना चाहता हूँ', जितने क्षण तूने ये बोला उतने क्षण तूने 'रावण' का नाम ले लिया। बस, विकल्प को हटाने का विकल्प भी हटा दीजिए, निर्विकल्प हो जाइये। मत कहो कि मैं आर्त्त रौद्र ध्यान का त्याग करता हूँ। आप तो धर्म्यध्यान में लीन हो जाइये।

मैं उस योगी के स्वभाव की बात कर रहा हूँ जिस योगी ने आर्त्त रौद्र शब्द को ही अपने कोश से निकालकर फेंक दिया। वे परम सामायिक में लवलीन, निर्विकल्प सामायिक में विराजते वे परमेश्वर, जहाँ पर तन-पिंजड़े का भी विकल्प समाप्त हो चुका है और यहाँ तक कि चैतन्य तत्त्व का विकल्प भी समाप्त हो गया है, चैतन्य तत्त्व में लीन हो गये हैं, ऐसे परमयोगीश्वर स्वसमय में विराजते हैं।

हे मुमुक्षु ! ध्यान दो, इस तत्त्व को सुनने से आपको अनुभूति में आना चाहिए कि जडधर्म करने की अपेक्षा चैतन्य धर्म करने में कितनी ताकत चाहिए। दस मंदिरों की वंदना करना, और एक णमोकार की माला फेरना, बराबर कर्म की निर्जरा है। ध्यान देना, बात को गहरे से समझना। क्योंकि मंदिर में तो तन साथ जायेगा, बोलने आदि के भाव रहेंगे, पर जाप करते समय परभावों से मन को हटाना और मंत्र में ही मन को लगाना होता है। उस मंदिर में चलने की अपेक्षा से जाप में ज्यादा निर्जरा हो रही है। और एक सौ मंत्रों की माला कर लेना और पाँच मिनट अपने वश में मन को करना, निर्विकल्प ध्यान की ओर ले जाना, बराबर निर्जरा हो रही है। मंत्रजाप की अपेक्षा निर्जरा का साधन 'ध्यान' ज्यादा है। जिनका ध्यान न लगे, उन्हें मंत्रजाप अधिक करना चाहिए, और भगवान की वंदना भी करना चाहिए।

परन्तु गहरी बात यह है कि वे परम योगीश्वर वन व भवन के विकल्पों से शून्य होकर जब विराजते हैं, तब आत्म-उद्यान में निमग्न होते हैं। अनात्मदर्शी विकल्प में आता है कि मैं जंगल में ध्यान करूँगा, भवन में ध्यान करूँगा, दुर्ग में ध्यान करूँगा, खंडहर में ध्यान करूँगा। हे ज्ञानी ! ध्रुव सत्य यह है कि अभी तेरा ध्यान है ही नहीं, इसलिए ध्यान को भगा रखा है। ऐसा परम ध्रुव शुद्ध चिद्रूप का अनुभव करनेवाला वह समरसी योगी है, जिसने भव के अभिनंदन को विराम दे दिया हो, लोकाचार से परे जिसकी परिणति है। लोकोत्तराचार में लवलीन हो, ये सब प्रारंभ के लिए है। निष्णात हो जाये, तो विकल्पों से भी दूर हो जायेगा। प्रारंभ में कहेंगे कि व्यायामशाला, मल्लशाला, मदिराशाला आदि-आदि स्थानों में बैठकर ध्यान नहीं होता है, एकान्त स्थान चाहिए। शून्य एकान्त स्थान, जहाँ दंशमशक आदि की बाधा न हो, स्त्री नपुंसक और बच्चों का गमनागमन न हो, जहाँ तिर्यचों की आवाज न आ रही हो, ऐसा स्थान ध्यान करने का स्थान है। पर ध्यान रखना, स्थान के खोजने में स्थान मत खो देना। मालूम चला कि स्थान खोजते-खोजते पूरा दिन ही निकल गया, लेकिन एक क्षण भी नहीं बैठा। हाँ ऐसा ही है।

एक प्रश्न है हमारा आपसे - हे मुमुक्षु ! तूने जैनेश्वरी दीक्षा ले ली, और सोचा कि मेरा मन कहता है कि मैं ध्यान करूँ और ध्यान करने के लिए एक "ध्यानकेन्द्र" बना लूँ। हे ज्ञानी ! तूने क्या किया ? 'ध्यानकेन्द्र' बनाने के पीछे तू ध्यान ले गया सेठों के पीछे। फिर जिसका तूने केन्द्र बनाया, वह ईट-चूने का ही बनेगा। ईट चूने का केन्द्र बनाने तू चला, भूल गया था कि एक ईट के पकने में कोटी-कोटी जीवों को

हिंसा होती है। अब तू ध्यान कब करेगा ? इसके पहले ही पलायन हो गया। न ध्यान केन्द्र पर पहुँच पाया, न ध्यान पर पाया, ध्यान तेरा ईंट-चूने में चला गया। हे ज्ञानी ! तूने ध्यान कहाँ किया ? इसलिए वही ध्यानकेन्द्र है, जहाँ तू बैठ जाये, जहाँ तेरा चित्त लग जाये। कोई केन्द्र के पीछे ध्यान को भंग मत कर लेना। इसलिए द्रव्य-क्षेत्र की विशुद्धि बनाना है, तो छोड़ देना शहरों की गलियों को, चले जाना एकान्त पहाड़ी पर, जाकर बैठ जाना। और केन्द्र में शायद तेरा चित्त केन्द्रित न हो पाय, लेकिन जो प्राकृतिक स्थान होगा, वहाँ ध्यान लग ही जायेगा। पहले तूने भवन बनाने में चित्त को लगाया, फिर सुन्दर बन गया तो देखने में चित्त चला गया और फिर मन ने कहा कि अपने चित्र और खिचवा के लगवा दो, सो अब तो हो गया पूरा ध्यान। विश्वास रखो, परमध्यान में लीन योगियों ने सम्पूर्ण भूमि का परित्याग करके, इन विकल्पों से शून्य होकर निर्विकल्प ध्यान को प्राप्त किया।

हे ज्ञानी ! तेरे द्रव्य का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तो अखण्ड अविराम है और तेरी पर्याय का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य भिन्न अखण्ड अविराम है। पर हमने भूल कहाँ की ? पर्याय के उत्पाद-व्यय में लिप्त होकर द्रव्य के उत्पाद-व्यय को भूल गया। असमान जाति पर्याय में, इसकी जीर्णता-शीर्णता में आकर परिणामों को जीर्ण-शीर्ण करता रहा, जबकि पर्याय की जीर्णता-शीर्णता से मेरे परिणामों की जीर्णता-शीर्णता में मेरे परिणामी को कोई अन्तर आता नहीं। जिनके तन में अग्नि लगाई जा रही हो, उस समय वे परमेश्वर क्या चिन्तन कर रहे थे ? मुनिराज बनाकर आपको कोई भी बैठा सकता है, पर मुनिरूप में तो आपको ही बैठना है। तो इस विषय को भूलकर भी भूल मत जाना। जब शरीर को कोई पीड़ित कर रहा हो, तब इस पंक्ति का ध्यान करना, अहो ! मेरे द्रव्य का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तो त्रैकालिक है। इस तन का उत्पाद-व्यय इस तनरूप है। मैं इसे रोक भी कब पाऊँगा ?

लोक तत्त्व को नहीं समझ पाते तो तत्त्व का विपर्यास कर बैठते हैं। बोले- महाराज ! कहाँ से बोल रहे हो ? ज्ञानी ! कहीं से नहीं। जो वस्तुस्वरूप है, वह यही है। तूने अपनी पर्याय के ७०-८० वर्ष कैसे निकाल डाले। क्या इन्होंने घी, दूध का सेवन नहीं किया होगा ? जब भी दूध-घी का सेवन किया है, तो आयुर्वेद कहता है कि घृत आयु को बढ़ाता है, दुग्ध शरीर को पुष्ट करता है। जगत के सम्पूर्ण आहारों में श्रेष्ठ आहार कोई है तो दुग्धाहार है। लेकिन जन्म से ऐसे दुग्धाहार को करनेवाला भी बूढ़ा होता देखा जाता है। हे मुमुक्षु ! ध्यान दो, तेरे सबकुछ करने के बाद जो परम सत्ता है उसे तू बदल नहीं पाता है। पर्याय का उत्पाद व्यय त्रैकालिक चल रहा है, इसे आप रोक नहीं पाओगे। तो इधर पर्याय में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य चल रहा है, उधर अन्तरंग में तेरे ज्ञानादि गुणों में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य चल रहा है। किसी को समझ पाओ, मत समझो, लेकिन अन्दर के उत्पाद-व्यय को समझ लो। इसके बिना योगी कहाँ ? योगदीक्षा तो अनंत बार ले सकते हो, पर योग में लीन अनंत काल तक नहीं रह सकते। यह ध्रुव सत्य है, बड़े विश्वास के साथ समझना।

ये द्रव्यानुयोग है। इस पर दृष्टि नहीं जायेगी तो विश्वास रखना, थोड़ा भी मुनिपना पूरी पर्याय में नहीं बन पाया। गुणस्थान को तो गौण कर दो। मुनि का गुणस्थान बनाने के लिए मुनित्व के अन्दर ही निवास करना पड़ेगा। क्या करूँ ? मैं जब यहाँ बैठता हूँ, तो सत्य ही नजर आता है, बाहर की बात किंचित भी पसंद नहीं आती। बराबर मानिये कि आप इस ध्यान का लोप कर देंगे तो पंचमकाल में वीतरागधर्म का लोप हो जायेगा। जबकि पंचमकाल के ३ वर्ष ८ माह १५ दिन पूर्व तक वीतराग शासन जयवंत रहेगा।

इसलिए अश्रद्धा में मत चले जाना। पर ध्रुव सत्य है, जब भी आप मुनीश्वर बनेंगे, तो सबसे पहले समयसार को ही देखना। जितने दिन समयसार को निहार पाओगे, उतने ही दिन मुनिराज बनकर रह पाओगे, और जिस दिन समयसार को छोड़ देंगे, उस दिन काँच रह जायेगा, पर 'पारा' निकल जायेगा। थर्मामीटर का पारा निकल गया तो काँच किस काम का? हे मुमुक्षु! जिस मुनि की आत्मा से समयसार की भावना निकल गई, उस आत्मा में काँच तो रहा आयेगा, लेकिन पारा चला जायेगा। यह परम सत्य, ध्रुवसत्य परम भूतार्थ है। कई व्याख्यायें की हैं लोगों ने समयसार पर, प्रवचनकार ने प्रवचन किये हैं, लेकिन यथार्थ बताऊँ, उन प्रवचनों को भी हमने निहारा। अपनी बात ही कह पाये, लेकिन समयसार नहीं कह पाये। और यह वह आलोकित ग्रन्थ है, जिस ग्रन्थ में आचार्य कुन्दकुन्द देव की कारिका में 'गुणस्थान' शब्द नहीं मिलेगा, क्योंकि समयसार तो गुणस्थानातीत है।

**मग्नण-गुणठाणेहि य, चउदसहि हवति तह असुद्धणया ।**

**विण्णेया संसारी, सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ॥द्रव्य संग्रह॥१३॥**

मार्गणा व गुणस्थान की विशेष प्ररूपणा तो सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र देव ने की है। आयुकर्म स्वतंत्र है, बुढापा स्वतंत्र है। निश्चयनय से कहूँ, व्यवहारनय से कहूँ, दोनों नयों से कह लेता हूँ। व्यवहारनय से तूने मनुष्य जाति नामकर्म का बंध किया। उस मनुष्य जातिनामकर्म से तुझे मनुष्य जाति मिली। उस मनुष्य आयुकर्म से मनुष्य आयु मिली है। जीव इन दो कर्मों से प्रेरित होकर यहाँ बैठा है। पर इन दो के बीच में भी तुझे साता नहीं मिली। उसमें पहले से ही जन्म, जरा, मृत्यु रूपी घुन लगा कर आये थे। ये तीन रोग साथ में लेकर आया और इन तीन रोगों का जब तू वेदन करता है तो बूढा भी होता है, युवा भी होता है, शिशु, किशोर भी होता है, तब इन तीनों को जब ज्ञायक भाव से निहारता है, तो तू परभाव है। भावश्रुत निजभाव है फिर तू यों कहना -

**न मे मृत्युः कुतो भीति, न मे व्याधिः कुतो व्यथा ।**

**नाहं बालो न वृद्धोऽहं, न युवैतानि पुद्गलेः ॥२६॥इष्टोपदेश॥**

हे ध्रुवपिण्ड चेतन भगवान् आत्मा! जब तू द्रव्यत्व को निहारता है, तो मैं न बाल हूँ, न वृद्ध हूँ, न युवा हूँ। ये पुद्गल की धाराएँ हैं। मैं तो चित्त चैतन्य पिण्डरूप भगवान् आत्मा हूँ। मेरी मृत्यु ही नहीं है, तो भय किस बात का? ऐसा ध्यान करेगा, तो शब्दों की अनुभूति ले रहा है। जब अन्दर में यथार्थ में बैठ जायेगा, तब सबकुछ होते हुए भी तुझे सबकुछ नहीं दिखेगा, शिव ही दिखेगा। और जब-तक सबकुछ दिखता रहेगा, तब तक सब ही दिखेगा, शिव नहीं दिखेगा। शिव देखना है तो सब देखना बन्द करो, और सब देखना है तो शिव देखना बन्द हो ही जाता है। अब तो जबलपुर की आत्माओं के भाग्य हैं कि भले वहाँ नहीं पहुँच रहे, परन्तु सुन रहे हो, तो इतना तो समझ रहे हैं, कि योगी का धर्म और ही है। इस तत्त्व को नहीं समझते हो न, तो विश्वास रखना, तूझे मुनि के एक पक्ष से शून्य ज्ञान था, क्योंकि शरीर के मुनिराजों को हमने हमेशा से जाना, हमेशा से देखा है, पर चिद्स्वरूप मुनि के दर्शन का मानस अब तूने बनाया है।

एक सज्जन बोले- आपने 'तत्त्वसार' पर प्रवचन किया। लगता नहीं कि 'तत्त्वसार' है, वह तो 'समयसार' लगता है। हमने कहा- ज्ञानी! ऐसा है कि 'तत्त्वसार' की व्याख्या सामान्य श्रोताओं के बीच में नहीं हुई, जहाँ मुमुक्षुओं का परमरथान हो, वे अपने आपको समयसार के अलावा कुछ सुनना ही नहीं चाहते

हों, ऐसे विदिशा के किले के मंदिर में इस ग्रंथ की वाचना हुई। ध्रुव सत्य है, जब सभी मुमुक्षु वहाँ विराजते हों तो श्रोता को देखकर वक्ता की परिणति वैसी बनती है। समयसार की वाचना, योग का विषय योगियों के बीच में से विद्वानों के बीच में जाता तो आज समयसार के पीछे विसंवाद न होता। योग का विषय योगियों की धारा से होकर निकलना चाहिए था। योग का विषय भोग में मिश्रित नहीं हो सकता है। ये योगी की भाषा है। 'तारणतरणस्वामी' का ग्रन्थ है 'ज्ञानसार समुच्चय।' तारणतरण समाज ने भी विदिशा में हमें निमंत्रण दिया। 'समैयासमाज' के विद्वानों के मुख से निकला 'योगियों की भाषा आज योगी के मुख से सुनने को मिली है। हम तो व्यर्थ में विसंवाद में पड़े हैं, तत्त्व तो ये है।' तो विश्वास रखो कि वस्तुस्वरूप तो अपने आप में ध्रुव सत्य है, लेकिन प्रतिपादन करनेवाले की शैली अपनी होती है। अपनी शैली में तुम क्या कह गये, ये बाद में सोचते हैं। इसलिए श्रोता कैसे ही हों, पर वक्ता को परिपूर्ण नय, न्याय से सुसज्जित होना चाहिये। विश्वास रखो, गुड़ियाँ तो मावे की बनती हैं, पर आकृति वैसी आती है जैसा साँचा होता है। ज्ञानी ! साँचा-साँचा है। खाने में आनंद दे वह विषय अलग है, देखने में आनंद आना चाहिए। साँचा साँचा होना चाहिए और साँचा ही साँचा नहीं है तो गुड़िया कैसे बनेगी ? इसलिए, मनीषियो ! ये ध्रुव आत्मा साँची है, तो साँची बात को कहनेवाला हृदय भी साँचा ही चाहिए। वक्ताओं को सुरक्षित कीजिए और साँचे वक्ता को बना के चलो। परन्तु वक्ता वही करुणाशील है, जो उभयपक्ष का कथन करें।

**मिथ्या समूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति नः ।**

**निरपेक्षनया मिथ्या सापेक्षा वस्तुतेऽर्थकृत ॥१०८॥आप्त मीमांसा॥**

मिथ्या का समूह मिथ्या है। जो सापेक्ष कथन है, वह वस्तु के अर्थ, क्रिया, कारक को कह सकता है, और जो निरपेक्ष है, उसमें वस्तु की अर्थ, क्रिया, कारक बनता नहीं है।

'आप्त मीमांसा' ग्रन्थ में अमृत है। जब भी नियोग बने, तब उस पर प्रवचन या सामूहिक उपदेश होना चाहिए। चैतन्य कभी चैतन्य से भिन्न होता नहीं। चैतन्य का उत्पाद-व्यय चैतन्य में ही होता है 'अनुस्यूत' रूप है, जो नित्य प्रकाशमान है। जाज्वल्यमान है आत्मा। किंचित भी पुद्गल की चर्चा नहीं चल रही है। इतना ही समझना, जैसे कि मशीन के माध्यम से आज दुग्ध में कितना पानी है, यह ज्ञान हो जाता है। दुग्ध, दुग्ध सार, सार नजर आता है। ऐसे ही समयसार कह रहा है कि आत्मा में कितना कर्म का नीर है, उसे भिन्न करके निहारो। आत्मा तो चिद्रूप मात्र ही है।

कैसी है आत्मा ? इस आत्मा का दृशीज्ञप्ति स्वभाव है। स्वभाव है यानी ज्ञान-दर्शन स्वभाव है। दृशी यानी दर्शन-ज्ञानादि। ज्ञानियो ! जिनवाणी के रहस्यों को समझना है तो मेहनत तो करना पड़ेगी, लेकिन बाद में बड़ा आनंद आता है। जितनी मेहनत आज कर लोगे, भविष्य उतना ही आनंदित होगा।

आत्मा कैसी है ? 'स्वपराकारभासन' ज्ञान-भासन है। ज्ञान साकार होता है, इसलिए भासन शब्द का प्रयोग किया है। यह आत्मा उत्पाद-व्यय रूप होने पर भी इससे भिन्न विशिष्ट है। गति, स्थिति, अवगाहना और वर्तना आदि में जो सहकारी कारण है, इन सबसे भिन्न (असाधारण) आत्मद्रव्य है। इनसे जो भिन्न द्रव्य हैं, वे चिद्रूप नहीं हैं, अचेतन हैं। आत्मा चिद्रूप है।

आकाश, धर्म, अधर्म, पुद्गल काल द्रव्य से आत्मा अत्यन्त भिन्न है और अनंतद्रव्यों के मध्य में रहते हुए भी, अनंत आकाश में एकसाथ निवास करते हुए भी, अपने स्वरूप का त्याग नहीं करता है। अनंत

अखण्ड आकाश में ये आत्मा अखण्ड है। धर्म, अधर्म, काल आदि भी आत्मद्रव्य के साथ निवास कर रहे हैं, फिर भी आत्मा अपने चिद्रस्वरूप का परित्याग नहीं करता है। जो टंकोत्कीर्ण, चित्स्वभाव जीवनाम का पदार्थ है, वही समय है। सभी द्रव्यों के मध्य रहकर भी सभी द्रव्य निज-द्रव्य नहीं हो जाते हैं और परद्रव्य कभी निज द्रव्य नहीं हो जाते हैं, निजद्रव्य कभी पर-द्रव्य नहीं हो जाता। यही तो द्रव्यजीव की असाधारण शक्ति है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणामन नहीं करता, जैसे - ध्रुव सूत्र त्रैकालिक है। परिणामाने में सहकारी कारण तो हो सकता है, पर पररूप परिणामन नहीं करता है। ज्ञान ज्ञेय को जानता तो है, परन्तु जैसे तन्मयीभूत होकर स्वयं को प्रमाता है स्वयं की प्रमिति से, वैसे अन्य द्रव्य को तन्मयभूत होकर नहीं जानता। इसलिए ध्यान दो, जितनी मेहनत पुद्गल की परिणति में लगा रहे हैं, उतनी चेतन में लगाते तो भगवान् बन गये होते। कुछ जीव शाब्दिक पुद्गलों में चिपके हैं, कुछ जीव समयसारभूत के शब्दों के पुद्गल में चिपके हैं। पर रत्नत्रय से मण्डित समयसारभूत आत्मा से जो चिपक जायेगा, उसे समयसार के कागजों में चिपकने की आवश्यकता नहीं है। रहना एकान्त में है और एकान्तदृष्टि को दूर करना है।

“आत्मस्वभावं परभाव भिन्नं।” आत्मा का स्वभाव परभावों से भिन्न है, वही स्वसमय है। जो समय को एकत्व से युगपत् जानता है, यही केवली भगवान् का समयसार है। जानना, देखना एकसाथ होता है, वही समयसार है। हे मुमुक्षु ! ध्यान दो। शब्द में नहीं डूबना, अब स्वभाव पर दृष्टिपात करो। तू क्यों नहीं स्वसमय को भज पाया, क्यों नहीं स्वसमय को प्राप्त कर पाया ? क्योंकि अनादि अविद्या कंदली के मूलकन्द है, जड़ है, वह मोह है। कभी तूने रमणी में राग किया, तो कभी रमणी के राग से हटने का राग किया। पर राग बराबर किया। एक ने रमणी में रमने का राग किया, दूसरे ने रमणी से हटने का राग किया, तीसरे ने ‘समय’ शब्द के रंग में रमने में राग किया। तीनों ही रागी मोहपंक में फस कर निज रमणी को भूल कर परसमय में लीन हो गये। ‘समयसार’ शब्द का राग भी परसमय ही है, क्योंकि समयसार तो अवक्तव्य है।

**अरसरूपमगंधं अक्त्तं चेदणागुणमसददं ।**

**जाण अलिंगहणं जीवमणिद्धिसंठाणं ॥४६ नि.सा.॥**

ये समयसार हैं। अनुभूति अवक्तव्य है। मैं समयसारी, ये व्यवहारी ये विवाद ही तुझे परसमय में डुबाये है। समयसार को जाननेवाला तो मध्यस्थ होकर जीता है। ‘पज्जय मूढा परसमया’। कोई शब्दों की पर्याय में लिप्त हो रहा है, कोई पोथियों की पर्याय में लिप्त हो रहा है। हे ज्ञानियो ! न पोथी काम में आयेगी, न शब्द काम में आयेगे। भगवान्-आत्मा शब्दातीत है। यही स्वसमय है। जहाँ परद्रव्य का प्रत्यय आता है, परद्रव्य का सहकारी कारण आता है, वहाँ मोह रागादि में भाव आते हैं। जब मोहरागादि भाव से वर्तन करता है, तब पुद्गल प्रदेश में स्थित होकर परम एकत्व भाव को जानता हुआ परसमय की प्रतीति लेता है।

**॥ भगवान महावीर स्वामी की जय ॥**

१ १ १

**एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुन्दरो लोए ।**

**बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होई ॥ ३ स.सा.॥**

पर्याय व्यतिरेकी या क्रमवर्ती होती है, जैसे आत्मा में हर्ष और विषाद। ध्यान दो, यह तो स्थूल विषय है। यह समझ में नहीं आया, तो यह विडम्बना है कि सूक्ष्म कैसे समझेगा ? जिसे आज तक पर्याय समझ में



नहीं आई और पर्याय को बद्ध कह दिया, 'बद्ध' शब्द पर्याय के लिए दिगम्बर आम्नाय के किसी भी आगम ग्रन्थ में नहीं आया। व्यतिरेकी, क्रमवर्ती, क्रमभावी, क्रमनियमित ये तीन शब्द का प्रयोग ही जिनागम में है। अब मुझे समझना है कि कल जो सूत्र दिया आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने क्रमप्रवृत्ति, अक्रमप्रवृत्ति। ज्ञान की दृष्टि से देखें तो मति श्रुत ज्ञान की धारा क्रम प्रवृत्ति है और कैवल्य की धारा अक्रम प्रवृत्ति है। मति-श्रुतज्ञान क्रमभावी ज्ञान है, क्रम-क्रम से ही प्रवृत्ति होती है और केवलज्ञान युगपत् होता है। आत्मा में हर्ष-विषाद दो गुण हैं। जब प्रसन्नता होती है, उसी समय में उसी काल में आपके अन्दर में क्या विषाद भी होता है ? ध्यान दो, जिस क्षण में विषाद है, उस क्षण में हर्ष भी है क्या ? तो जिस क्षण में हर्ष नहीं है, तो हर्ष परिणाम आत्मा के अन्दर है कि बाहर है ? हर्ष-विषाद परिणाम आत्मा के ही अन्दर हैं। अरे ! कितना स्पष्ट विषय है। जब आत्मा के अन्तस् में विषाद पर्याय का उद्भव होता है, उस काल में हर्ष पर्याय नहीं रहती है और जिस क्षण में हर्ष पर्याय होती है, उस क्षण में विषाद पर्याय नहीं रहती है, क्योंकि पर्याय की प्रवृत्ति क्रमवर्ती होती है। एक साथ दो पर्याय नहीं रहती हैं। आत्मद्रव्य में हर्षभाव व विषादभाव एक समय में दोनों नहीं होते। जब विषाद पर्याय होगी, तो हर्ष पर्याय का व्यय होगा। इसी प्रकार से आत्मा में शुभोपयोग की अवस्था होगी, तो अशुभोपयोग नहीं होगा और जब अशुभोपयोग की धारा होगी, तब शुभोपयोग नहीं होगा। जब शुभ या अशुभ में से कोई भी एक होगा, तब शुद्धोपयोग नहीं होगा। जब शुद्धोपयोग होगा, उस काल में शुभ व अशुभ भी नहीं होगा। क्योंकि एक समय में एक ही पर्याय रहेगी। परिणामी भोक्ता अशुभ भाव का वेदन करेगा, तत्क्षण में शुभभाव का वेदन नहीं करेगा और जब शुभभाव का वेदन करेगा, तब अशुभ भाव का वेदन नहीं करेगा। क्यों कहा जा रहा है? तब तू स्वसमय में लीन होगा, जब परसमय में लीन नहीं होगा और जब परसमय में होगा, तब स्वसमय में नहीं होगा। जब पौद्गलिक औपाधिक भावों में स्थित है, तब परसमय में स्थित है, और चैतनस्वभाव में स्थित है, तब तू स्वसमय में स्थित है। यानी कि आत्मा, आत्मा ही है और उस आत्मा की ही धारा बन रही है, लेकिन उस आत्मा के अन्दर में अनंतधाराएँ हैं, अनंतगुण हैं। जिस गुण का एक बार भी वेदन कर रहा होगा, उस गुण का ही वेदन करेगा, अन्य गुण का वेदन उस क्षण नहीं करेगा, क्योंकि उपयोग सत्ता में अनंत रह सकते हैं, परन्तु उपयोग में एक ही रहेगा। ऐसा कभी नहीं होगा कि हमारी दो धाराएँ एकसाथ चल रही हों।

आज तीसरे नम्बर की मधुर गाथा है। उस गाथा को समझें, इसके पहले आचार्य जयसेन स्वामी की टीका को देखें।

शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध-बुद्ध स्वभाव निश्चय प्राणों से युक्त है, वह जीव है तथा अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से क्षायोपशमिक अशुद्ध भावप्राणों से, असद्भूत व्यवहारनय से यथासंभव द्रव्यप्राणों से जीता है, जियेगा और जिया था, उसका नाम जीव है। ये व्यवहार जीव है। निश्चय से शुद्ध चैतन्य प्राणों से युक्त जो है, वह त्रैकालिक जीव है। ऐसा जीव जो द्रव्यप्राण और भावप्राण चैतन्य प्राणों से जो जिया था, जी रहा है, वही जीव चारित्र, दर्शन, ज्ञान में स्थित होता है। उस काल में वही जीव निश्चय से स्वसमय जानो। जिस समय आत्मा की परिणति अभेद रत्नत्रय से मंडित है, यह है वही स्वसमय है। लेकिन बिना भेद-रत्नत्रय के अभेद-रत्नत्रय में लीन होता नहीं है इतना विश्वास रखना, नहीं तो आप सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्र का चिन्तन कर रहे थे, उस चिन्तन में ही आपने अपने आपको स्वसमय मान लिया। देखो, मुझे इस धारा का भी

ज्ञान है। वे क्या कर रहे हैं ? मैं दर्शनस्वभावी हूँ, मैं ज्ञानस्वभावी हूँ, मैं चारित्रस्वभावी हूँ। हे ज्ञानी ! ऐसा चिन्तन करने से चिंतनधारा तो बनती है, लेकिन स्वसमय में स्थित नहीं होते हैं। यह तो शुभोपयोग की चिंतनधारा है। मैं दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाव से भिन्न हूँ, ऐसा जो कथन कर रहा है, यह तत्त्वज्ञान का ज्ञान तो सत्य है, लेकिन तत्त्वज्ञान की लीनता नहीं है। जब तू स्वसमय में लीन होगा, उस काल में दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीन के विकल्प से भी भिन्न होगा। पर इतना भी ध्यान में रखकर चलना कि जब तक दर्शन-ज्ञान स्वभाव का चिन्तन नहीं करेगा, तब तक स्वसमय में जाने का मार्ग भी नहीं खुलेगा। भूल यह भी है कि व्यवहार पक्ष में जीनेवाला जीव तत्त्व के बारे में सोचना भी पसंद नहीं करता। अरे ज्ञानी ! जब तक तत्त्व का चिन्तन नहीं लायेगा चित्त में, तब तक तत्त्व की प्राप्ति का उपाय कैसे करेगा ?

पुनः ध्यान दो, सम्यक् लीनता, ज्ञानानुभूति, चारित्र के प्रति दृष्टि। मैं मिथ्यात्व रहित हूँ, मिथ्या प्रकृति रूप अशुद्धि मेरे में नहीं है, मिथ्यात्व सम्बन्धी आस्रव भाव मेरे में नहीं है, मिथ्यात्व सम्बन्धी बंधधारा मेरी आत्मा में नहीं है, मिथ्यात्व सम्बन्धी अचारित्र भाव मेरी आत्मा में नहीं हैं, मैं मिथ्यात्व-शून्य हूँ। क्या करोगे? सामायिक में मैं पच्चीस दोषों के आस्रव से रहित हूँ, मैं पच्चीस दोषों के संवर से युक्त हूँ। मैं सम्यक् सम्बन्धी, सम्यक्त्वाचरण से युक्त हूँ, मैं मिथ्या ज्ञान संबंधी अध्यवसाय भाव से रहित हूँ। मैं मिथ्या ज्ञान संबंधी असंयम भाव से रहित हूँ। मैं मिथ्या संबंधी कुभाव से रहित हूँ। हे सम्यग्दृष्टि ! जब तुझे इस बात का भान नहीं हो रहा है, तो तुझे व्यवहार सम्यकत्व की अनुभूति नहीं हो रही है। इतना समय आपको देना पड़ेगा बुद्धिपूर्वक, इससे काम नहीं चलेगा कि मैं सुबह-शाम मंदिर में सिर टेककर आ गया। सुबह-शाम मंदिर में सिर टेककर आने के साथ, उस मंदिर में जो आप विराजे थे, वहाँ से लेकर क्या आये ? अनुभव का विषय कुछ बनाया कि नहीं बनाया ? क्रिया की अनुभूति में जीवन निकल गया, लेकिन क्रिया करने वाले की अनुभूति को प्राप्त ही नहीं हुआ। मिथ्यात्व-दर्शन-ज्ञान से रहित, आस्रव भाव से मैं रहित हूँ। आस्रव निजभाव नहीं, आस्रव तो परभाव है। तत्संबंधी परभाव से मैं शून्य हूँ, इसलिए मैं तत्संबंधी निजभाव से युक्त हूँ। मैं स्वसमय में हूँ। मिथ्यात्व परसमय है, सम्यकत्व स्वसमय है। अचारित्र से शून्य हूँ, चारित्र से युक्त हूँ। हे जीव ! ये स्वसमय वाला जीव कहीं अन्यत्र से नहीं आता। परसमय में विराजा जीव ही स्वसमय को प्राप्त होता है। परसमय भाव की पर्याय को बदलना तेरी परिणति का कर्त्तव्य है। चिंतन से चित्त में परिणमन होता है, और चित्त के परिणमन से चारित्र की ओर झुकाव होता है। जो-जो बदले हैं, वे सब चिंतन की धारा से ही बदले हैं। आप विश्वास रखना, गृहस्थ भी बने थे, तो आपको निर्णय करना पड़ा था, कि गृहस्थी कैसे संभाल पाऊँगा। पर कोरा चिंतन स्वसमय नहीं है। स्वसमय की प्राप्ति का लक्ष्य स्वसमय होता है। चिंतन तो मिथ्यात्व के मंद उदय में भी बनता है। जब मिथ्यात्व के मंद उदय में ऐसा चिंतन करता है, तब सम्यकत्व के सन्मुख होता है। पर वह चिन्तन भी विफल नहीं गया, उस चिंतन ने भी तुझे सम्यकत्व के पास खड़ा किया है। जीवन की धारा वैसी ही बढ़ती है, विश्वास रखना, जैसी चिन्तन की धारा होती है। जब स्व में लीन होगा, तब चिन्तन में नहीं जायेगा, चैतन्य में जायेगा। परन्तु चैतन्य की प्राप्ति के लिए चिन्तन में अवश्य जायेगा। आप अनुभव तो करो, चिंतन का ही अनुभव करो, दोनों चिन्तन तो करो। पर एक बात बता दूँ, जो इक्कीस वर्ष का एक नवयुवक ज्ञान की धारा में चिन्तन कर रहा था, उसे विषयकषाय की कोई अनुभूति नहीं आ रही है। इन्द्रियाँ वही थीं उसके पास। न इन्द्रियविषयों का लोप हुआ, न इन्द्रियों का विनाश हुआ; पर जैसे

ही चिंतन विकृत हुआ, कि शरीर की इन्द्रियों में विकार उत्पन्न हो गये, और जो विशुद्ध धारा बह रही थी, उस व्यक्ति का संयम डगमग होने लगा। जो प्रभु को निहार रहा था, उसने किसी स्मणी को देखना प्रारंभ कर दिया। चिन्तन की धारा है। चित्त नहीं जाता, चिंतन जाता है। जैसा चिंतन बनेगा, वैसा चित्त बनेगा और जैसा चित्त बन गया, वैसा चारित्र होगा। इसलिए चिंतन पर जोर देना चाहिए। भारतीय तत्त्व मनीषा में चारित्र जीवन्त उन्हीं का रह पाया है, जिनके चिन्तन विशुद्ध रहे। जिनके चिन्तन विशुद्ध रहे, उनके चित्त विशुद्ध रहे। और जिनके चित्त विशुद्ध रहे, उनके चारित्र विशुद्ध रहे। सतत चिन्तन के लिए प्रेरित किया गया है। इसलिए जब तक निश्चय अध्यात्म में प्रवेश नहीं होता, तब तक चिन्तन के अध्यात्म से दूर मत हो जाना। अब पुनः कहना,

### चिदानंद स्वरूपोऽहं, ब्रह्मानंद स्वरूपोऽहं।

जब ब्रह्मानंद स्वरूप पर धारा जायेगी, तब कामादिक विकारों पर दृष्टि नहीं जायेगी और आँखों से जिस द्रव्य को अलग नहीं किया जाता, आत्मा से उस द्रव्य को अलग किया जाता है। आप वैद्य हैं। आँखों से तो आप त्रिफला को एकरूप देख रहे हो, और उसे चूर्ण बोलते हो। खानेवाला भी अज्ञानी एकरूप में देख ले, खरीदने वाला अज्ञानी भी एकरूप में देख ले, पर तूने बनाया है तो तुझे मालूम है कि एक-एक फल भिन्न है। हे ज्ञानी ! मिथ्यात्व को देखनेवाला भले एकरूप देखे, एकरूप जाने, पर मिथ्यात्व का अनुभव मैंने ही किया है, इसलिए आँखें तो एकरूप देख सकती हैं, पर आत्मा भिन्नरूप देखती है। मिथ्यात्व आत्मा नहीं है। त्रिफला, त्रि-फला है। जिसने बनाया, उसने खाया। उसे स्वाद एकरूप नहीं आता, भिन्न रूप आता है। आँवला, हर्र, बहेरा अलग-अलग है। ऐसे ही सम्यक्त्व सम्यक्त्व गुण है, ज्ञान ज्ञानगुण है, चारित्र चारित्रगुण है। तीनों गुण एक में तो हैं, परन्तु एक नहीं है। एकीभाव नहीं है। एकत्व में हैं। अन्य, अन्य है, अनन्य नहीं है, फिर भी अन्य ही है। सम्यक्त्व अन्य है, ज्ञान अन्य है, चारित्र अन्य है; पर अनन्य (अभिन्न) एक है। आत्मा अधिकरण एक है, आधेय तीन हैं। इसलिए ध्यान अवस्था में भी जब लीन होगा तो, एकीभूत होगा। फिर नहीं कहेगा कि नीबू भिन्न है, शक्कर भिन्न है, पानी भिन्न है। न शक्कर पीता है, न बूरा पीता है; वह शिकंजी पीता है। ऐसे ही जब ध्यान में लवलीन होता है, तो चारित्र को नहीं पीता, दर्शन को नहीं पीता, ज्ञान को नहीं पीता; वह तो स्वानुभव को पीता है। अनुभूति युगपत् लेता है, इसलिए उसे ही स्वसमय जानो।

निज परमात्मा में जो चिद्रूप है, वह सम्यक् दर्शन है। जो रागादि रहित संवेदन है, जो निश्चय अनुभूति है, वह वीतराग चारित्र है। निश्चय रत्नत्रय से परिणत जो जीव-पदार्थ है, उसे ही आप स्वसमय जानो। यहाँ दर्शन, ज्ञान, चारित्र की अभेद दशा है। जहाँ वीतराग चारित्र होगा, वहाँ सम्यक् वीतराग ज्ञान ग्रहण करना। यहाँ पर वीतरागता से तात्पर्य है कि बीत गया है मिथ्यात्व का राग, तद्गुण स्थान संबंधी असंयम भी बीत गया है। इसलिए 'वीतराग' संज्ञा ग्रहण करना, लेकिन पूर्ण वीतरागता की बात करोगे, तो ग्यारहवें गुणस्थान से पूर्ण वीतरागता प्रारंभ होगी, क्योंकि वहाँ कषायों का पूर्ण उपशम है, और परिपूर्ण वीतरागता यदि प्रगट हुई है, उसका नाम है बारहवाँ गुणस्थान।

बारहवें गुणस्थान में प्रकट हुई वीतरागता कभी सरागता में बदलती नहीं है। अभेद रत्नत्रय की अनुभूति तभी होगी, जब अपने स्वसमय पर लक्ष्य जायेगा। पालने और करने के भाव हैं जब तक, उस समय

में उसे पालने की ही अनुभूति होगी। एक समय में एक ही संवेदन होगा; क्योंकि आपने पहले ही तो सुना था कि जब आत्मा में हर्ष-विषाद पर्याय होगी, एक समय में एक ही होगी। इसलिए वर्तमान में जो पूर्वाचार्य की वाणी आपके पास विद्यमान है, यदि उसके अनुकूल आपकी प्रवृत्ति है, तो वैसा समझना। यदि इसके विपरीत किंचित भी आपकी धारा जा रही है, तो कितने ही शास्त्रों के ज्ञाता हो जाना, पर सम्यक्ज्ञानी नहीं हो। तो ज्ञानी ! पौद्गलिक कर्म में स्थित है जो १४८ कर्म प्रकृति है, उसमें स्थित वीतरागी भी है। उसमें स्थित होने का मतलब समझना, उनमें दृष्टि ले जाना। जितने योगी हैं, जितने स्वसमय में विराजते हैं, वे कर्म में स्थित ही हैं। जो स्वसमय के फल को प्राप्त कर चुके होते हैं, अशरीर भगवान् वे ही कर्म से दूर हैं। कर्मस्थित का अर्थ यहाँ ग्रहण करना, कि कर्म के विकारी भावों में निज को विकारी करना, स्त्री पुत्र आदि के सेवन की अनुभूति।

ज्ञानियो ! इधर निहारना जरा, देखो यह कितना अच्छा लग रहा है। देखो इसके चेहरे पर तेरी दृष्टि गई, तू सोच रहा था कि मैं तो समयसार को विराजमान किये हूँ, परन्तु तू पर समयी है, व्यभिचारी है, क्योंकि आपने ज्ञानगुण को दूसरे के चेहरे पर टेक दिया और आपने चक्षु इन्द्रिय से उसके चेहरे के पुद्गल परमाणु को भोग डाला, तू तो व्यभिचारी था। स्निग्ध पुद्गल स्कंध ग्रहण कर रहा था कि नहीं कर रहा था ? जब तू देख रहा था, तो अन्दर गुदगुदी छूट रही थी, देखने के बाद फिर से देख रहा था, भोग करके भोग रहा था, अब्रह्म में लीन था और ब्रह्मधर्म की बात कर रहा था। विश्वास रखना, सुसमय की स्थिति बड़ी विचित्र है। अभी तो अपने पुद्गल कर्मस्कन्ध में तू बंधरूप था, परन्तु परके कर्मस्कन्ध में तू भोगरूप में था, तो और बन्ध कर रहा था। तूने नारी को तन से ही नहीं भोगा, मन से ही नहीं भोगा, पाँचों इन्द्रियों से तूने स्पर्श कर डाला। और एक को नहीं, तूने जगत के कितने जीवों को मन में बसा डाला। फिर भी सोच रहा था कि मैं धर्मात्मा हूँ। समयसार का धर्मात्मा भी अभी कोटि-कोटि दूर बैठा है। अभी पूजन-पाठ वाले धर्मात्मा थे, पिच्छि-कमण्डलु वाले धर्मात्मा थे। स्व में स्थिति वाले धर्मात्मा जिस दिन होंगे न, उस दिन यह आँख नाक पर ही रह पायेगी, उस दिन दूसरे की आँख पर आँख नहीं जायेगी। बिना राग के पलक ऊपर उठती ही नहीं है। आपने देखकर दृष्टि अलग की, वह भी तो राग था। दृष्टि डालने के बाद हटाई है, इसका मतलब तेरा मन कह रहा था कि अच्छा नहीं देखा। साम्यभाव नहीं था तेरी दृष्टि में, मैं तो इतना बताना चाहता हूँ आपको। वीतरागी स्वसमयी का योगी बनने के लिए आपको जगत से आँख बन्द करना पड़ेगी। यह समयसार का योगी बनने की बात कर रहे हो न, तो मैं जिनवाणी को भी कहूँ कि जीवों को व्यवहार जिनवाणी का ज्ञान नहीं होता है, तब भी कहोगे कि ऐसा कैसे ? तब लगता है कि इन्हें सत्य जिनवाणी का भी ज्ञान नहीं है। भोजन कर रहा था, आप ग्रास मुख में रख ही रहे थे, अचानक भैय्या जी दिख गये आपको, आपने कहा- आओ, भैय्या ! भोजन कर लो। बताओ, धर्म किया, कि अधर्म किया ? हे ज्ञानी ! भोजन करते समय मौन होना चाहिए था, धर्म था, परन्तु आप बोलने लगे, तो श्रुत का अविनय कर दिया। जूटे मुख से कहा 'भैया ! आओ, भोजन कर लो', तो राग के वशीभूत होकर जिनवाणी का अविनय कर बैठा। यदि नहीं कहता, 'आओ, भैय्या ! भोजन कर लो', तो अतिथि संविभाग नाम का व्रत कहाँ गया ? अब बोलो क्या करोगे ? यदि आप कहोगे कि बोलना ही पड़ता है, तो मुनिराज को भी बोलना चाहिए। इसलिए ध्यान दो, बड़ा गंभीर विषय है। मैं तो एक बार चर्चा करके आ गया। आप आये, मैंने पूछ लिया कि भोजन हो गये ? तो मेरे महाव्रत में दोष लग गया। और यदि हम नहीं पूछें

तो आप कहोगे कि वैसे हमें यहाँ कोई जानते नहीं हैं और महाराज हमें पूछते नहीं हैं। लेकिन जिनवाणी क्या कहेगी? हे मुनिराज! तुम साढ़े ग्यारह बजे चर्चा करके आये थे, आपने वहाँ पर ईर्यापथ प्रतिक्रमण किया था और तत्क्षण प्रत्याख्यान कर लिया है। नौ कोटी (प्रकार) से तुमने भोजन का त्याग किया है। अब तुम पर के भोजन में भोजन का आद्यव क्यों कर रहे हो? श्रावक को खुद सोचना चाहिए कि मुनिराज तो त्यागी है, उनके मुख से हम भोजन की व्यवस्था क्यों बनवायें? भूख लगे, तो साथ लेकर आओ। दिन में कितने ही लोग आयेंगे तो दिन भर महाराज का पूछने में ही निकल गया। कोई सतना से भक्त आया, नमोस्तु किया, तो हमने दे दिया आशीर्वाद। हमारा काम हो गया। अगर मैंने कह दिया कि आओ बैठो तो मैंने एक समिति में दोष लगा लिया। आदान निक्षेपण समिति मेरी थी। मैं जब भी बैठता हूँ तो इस पिच्छी से मार्जन करके बैठता हूँ, परन्तु क्या ये मार्जन करके बैठेंगे? हमने इनके बैठाने में अनुमोदना कर दी तो मेरी एक समिति में दोष लग गया। पर आप ज्ञानी क्या कहोगे घर जाकर? महाराज के पास नहीं जाना, वे बैठने की भी तो बोलते नहीं हैं, कोई वात्सल्य नहीं है महाराज का।

हे ज्ञानी! आपने मात्र बाहर का वात्सल्य देखा। अरे! तुम ये क्यों नहीं कहते हो कि उनका करने योग्य वात्सल्य उन्होंने कर लिया था। तुमने नमोस्तु किया, तो मैंने आशीर्वाद दे दिया था। ये महाराज का वात्सल्य हो गया। अब आगे समाज का वात्सल्य था कि बाहर से आये अतिथि का ध्यान रखे। अब बताओ कि कितना कठिन व्यवहार है। निश्चय की बात शुरू करूँ तो आप अभी घबड़ाने लगोगे। ठीक है, आप जितना शक्य हो उतना पालन करो, पर जरूर कहो कि सत्य क्या है। तुम नहीं कर पाओ, इसका मुझे खेद नहीं है। खेद तब आता है, जब तुम करते भी नहीं हो, और वैसा प्रतिपादन भी नहीं करते हो। तब खेद होता है कि असत्य ही सत्य के मुँह पर खड़ा रहता है। कथन तो जिनवाणी का वही करना चाहिए जैसा है वैसा।

**अन्यूनमनतिरिक्तं, याथातथ्यं विना च विपरीतात् ।**

**निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञान- भागमिनः॥४२ र.क.श्रा.॥**

यह सम्यक् ज्ञान है। इसमें यह मत देखना कि हम कह देंगे तो इतने सारे लोग नाराज हो जायेंगे। नहीं, वे नाराज नहीं होंगे। वे इसमें अपना हित समझेंगे। एक क्षण को बुरा जरूर लगता है, लेकिन द्वितीय क्षण में आनंद देता है। अपन अपनी भूल को समझ गये। लोग कहते हैं कि जैनसाधु में व्यावहारिकता नाम की वस्तु नहीं होती है, बड़े शुष्क होते हैं। बिल्कुल सही है। ये इस व्यावहारिकता से बहुत ऊँचे चले गये हैं। उनको वहाँ देखो। नीचे-नीचे क्यों देखते हो? वे दर्शन, ज्ञान, चारित्र की व्यावहारिकता में लीन हैं, और तुम विषयों की व्यावहारिकता की बात करोगे, तो कैसे काम बनेगा? अब हम जब समयसार के मुनि की बात करते हैं, तो पिच्छे उठाना भी परसमय है। पिच्छे उठाई तो परसमय, रखी तो परसमय। इन दोनों से अभिन्न निज में लीन हो गये तो स्वसमय। जितना प्रवृत्तिरूप धर्म है, निश्चय से सब परसमय है, क्योंकि -

**जीवो चरित्त दंसण णाणड्डिउ तं हि ससमयं जाण ।**

**पुगल कम्मपदेसड्डियं च तं जाण परसमयं ॥२॥समयसार॥**

दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थिर होना स्वसमय है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र से भिन्न जो भी है, सब परसमय है। तुम्हें कठिन लग रहा है। अरे! कठिन जो है, उसे तू सरल बनाये है और जो सरल है, उसे तूने कठिन बना डाला है। ये करना-करना कितना कठिन है, लेकिन स्व में स्थिर होना कितना सरल है। पर, जहाँ कुछ नहीं

करना पड़ता, वो सबसे कठिन है। जहाँ घसीटना पड़ता है, सबसे सरल है। कुट रहा है, पिट रहा है, फिर भी रह रहा है।

**ब्रूवन्नपि हि न ब्रूते, गच्छन्नपि न गच्छति ।**

**स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु, पश्यन्नपि न पश्यति ॥४१॥ इष्टो॥**

यह अध्यात्म की नीति है। कदाचित् किंचित् बोलना भी पड़ जाये, तो वे बोल लेते हैं और बोलकर भूल जाते हैं, इसलिये बोलते हुये भी नहीं बोलते। कदाचित् गमन भी करना पड़े, तो गमन भी करते हैं, पर गमन होने के उपरान्त कहाँ गये थे, आदि विकल्प को छोड़ देते हैं, इसलिये गमन करते हुये भी गमन नहीं करते हैं। कदाचित् देखने की भी इच्छा हो जाये, तो देखते भी हैं, पर देखने की व्याख्या नहीं करते, इसलिए देखते हुए भी नहीं देखते, क्योंकि उन्हें तो प्रिय है अपना स्थिर स्वरूप। यह यथार्थ मानो।

जब आपका चित्त निज स्वरूप में लगा होता है, तो आँख बाहर जाती भी है, तो तुरन्त लक्ष्य पर वापस पहुँच जाती है।

प्रवृत्ति में ही निवृत्ति है, निवृत्ति में ही प्रवृत्ति है। अन्तर इतना है कि अज्ञानी जीवों की निवृत्ति में प्रवृत्ति है और ज्ञानी जीवों की प्रवृत्ति में निवृत्ति है। अन्नती की प्रवृत्ति अन्नत में है और व्रती की प्रवृत्ति व्रत में है। और जहाँ प्रवृत्ति व निवृत्ति से शून्य दशा है, उसका नाम स्वसमय है। निश्चय शुद्धात्मा ही उपादेय है, और कर्मबन्ध के साथ जो आत्मा है, वह हेय है।

जितने जीवद्रव्य होते हैं, स्वानुभूति उन सबको होती है। यदि स्वानुभूति नहीं स्वीकारेगा, तो जीव-तत्त्व का अभाव हो जायेगा और जो-जो अनुभूति होती है, वह सभी अनुभूति स्वानुभूति ही होती है।

स्वानुभूति स्वसंवेदन है। संवेदन जो धर्म है, वह जीवद्रव्य का मुख्य धर्म है। वेद-वेदक भाव का अभाव यदि हो गया, तो जीवत्व का अभाव हो जायेगा।

**घटमहमात्मना वेदि ॥८॥ परीक्षामुख सूत्र ॥**

‘मैं घट को अपनी आत्मा से वेदता हूँ’, आप जो बोल रहे हैं, उस काल में यंत्र से प्रेरित थे कि आत्मतंत्र से प्रेरित थे? तंत्र यानी ज्ञान, यंत्र यानी मशीन। अपने समधी से बोल रहे थे कि परतंत्र से बोल रहे थे? अपने समधी से बोल रहे थे। जीवद्रव्य को ही जीवत्व का भान नहीं। जैसे इस पेन को आपने स्व से जाना, कि पर से जाना? आपने इस पेन को ज्ञेयाकार में जाना, कि ज्ञानाकार में जाना? हे ज्ञानी! ज्ञेयाकार तो मिटता है, पर ज्ञानाकार बनता है। ज्ञेय को ज्ञानाकार में नहीं लायेगा, तब तक ज्ञान ही नहीं होगा। मेरा चेहरा तेरी आँखों में झलक रहा है, नहीं मानो तो पड़ोसी की आँख में अपना चेहरा देख लो। जो ज्ञेय है, हमने ज्ञेयों को नहीं जाना, हमने तो ज्ञान को ही विषय बनाया है। हमारा जो ज्ञान है, वही ज्ञेयों को पकड़ता है। मैं तो ज्ञान से ही जानता हूँ, और ज्ञान को ही जानता हूँ। मैंने आज तक ज्ञेयों को जाना ही कहाँ है? ज्ञेय को तो विषय बनाया है। यह पेन का ज्ञान तुझे हुआ कि नहीं? किसके ज्ञान से जाना? स्वयं के ज्ञान से जाना। अब बताओ कि क्या जाना था? पेन आपके पास है। क्या, नहीं है? अब जो तेरा ज्ञान था, वो ज्ञेयाकार हो गया है, इसलिए तूने अपने ज्ञान से ज्ञान को ही जाना है। पेन आलंबन था, पर यथार्थ में ज्ञान से ज्ञान को ही जाना था।

**ज्ञानियो ! जितना क्षयोपशम करणानुयोग में लगाना पड़ता है, उससे कई गुना द्रव्यानुयोग में**

लगाना पड़ता है। करणानुयोग में तो प्रकृतियाँ जैसी हैं, वैसी हैं और लोक जैसा है, वैसा है। इस द्रव्यानुयोग में तो द्रव्य, गुण, पर्याय के बारे में अन्दर प्रवेश करना पड़ता है भिन्न जानने के लिए।

अपने विषय पर आ जाओ। जगत में ऐसा कोई जीव नहीं होता, जो स्वसंवेदी न होता हो। स्वानुभूति जो विषयानुभूति है, इन्द्रियों की लोलुपता में लिप्त है, जो विषयानुभूति ले रहा है, वह विषयानुभूति विषय की नहीं। विषय से स्वानुभूति पकड़ो। विषयों का सेवन करते हुए भी इन्द्रियों में विकलता है, तो वो विषय स्वाद नहीं देता है। जुकाम हो जाये, फिर खिलाओ खड़ी, मिटाइयाँ। अब स्वाद नहीं आ रहा आपको। क्यों ? तेरे क्षयोपशम में विकलता चल रही है। और यदि क्षयोपशम निर्मल है, विकलता नहीं है, तो आपको दूकान पर रखी मिठाई का स्वाद चलते हुये भी आता है। खाई नहीं, ज्ञान से ही जान लिया। ज्ञान ही ज्ञान का काम करता है। पहले दोनों मानो, श्रुत से श्रुत ज्ञेय है ज्ञान भी है। दोनों कहीं से लाये नहीं गये, ज्ञेय भी मौजूद है, ज्ञान भी मौजूद है। हमने दोनों का संबंध लगाया अन्य कुछ नहीं किया।

सब विद्यमान रहता है। उपयोग में ज्ञान का विषय हम जिसे बनाते हैं, वह ज्ञेय बनता है। इस पेन का दृष्टान्त मैंने दिया, सबकी दृष्टि पेन पर थी। क्या पेन पहले से नहीं था ? था, पर उपयोग नहीं बनाया था। जिसे हम विषय नहीं बनाना चाहते, वह विषय नहीं होता है। योगी निमित्तों को नष्ट करके नहीं बनता है। निमित्त मौजूद रहते हैं, पर निमित्तों पर उपादान को नहीं ले जाता है। तब वह योगी बनकर जी पाता है। इसलिए जो-जो जीव हैं, स्वसंवेदी हैं।

अब ध्यान दो, वह स्वानुभूति आपकी कैसी है ? विषयानुभूति, मिथ्यादृष्टि की मिथ्यानुभूति, सम्यग्दृष्टि की सम्यक्त्वानुभूति, और जो निर्विकल्प स्वात्मा में लीन है, उसकी निश्चयस्वात्मानुभूति। जहाँ मात्र आत्मा ही ज्ञान, ज्ञेय, प्रमाता है, वहाँ यह कहना -

**स्वः स्वं स्वेन स्थितं, स्वस्मै स्वस्मात्स्वस्यविनश्वरम् ।**

**स्वस्मिन् ध्यात्वा लभेत्, स्वोत्थमानंदमामृतं पदम् ॥२४॥ स्वरूप संबोधन॥**

पानी तो पानी था, आप हाथ डालकर धो सकते थे। पर किसी का हाथ पानी में नहीं जाता, तो पानी अपना काम करता है कि नहीं ? पानी अपने शीतल धर्म का प्रयोग अपने में करता है कि नहीं ? षट् कारक विराजते हैं। किसी ने नहीं पिया, किसी ने हाथ नहीं धोये, तो क्या पानी का शीतल धर्म नष्ट हो गया ?

ज्ञानी ! जब हमारे ज्ञेय में दूसरे के हाथ नहीं आते, तब हमारा ज्ञान स्वयं को ही ज्ञेय बना कर स्वयं में ही ज्ञाता बनकर स्वयं ही वेदन करता है। यह निश्चयानुभूति है। इसलिए अब ऐसा प्रश्न करिए कि निश्चयानुभूति कब आयेगी ? स्वानुभूति मत बोलो। स्वानुभूति प्रतिक्षण में आयेगी, निश्चयस्वानुभूति सप्तम गुणस्थान में आयेगी।

चतुर्थ आदि गुणस्थान में अपने गुणस्थान सम्बन्धी अनुभूति पर ध्यान देना, नहीं तो सम्यक्त्व नहीं बन पायेगा। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण, मन की आवाज बन्द करो। आवाजों में ही अशांति है। नीरवभाव है शांति, खभाव है अशांति। तब किंचित भी ख किया, तो स्वात्मानुभूति से भिन्न हुआ। आवाज बन्द कर दो, बर्तनों को दूर-दूर वर्तन कराओ। बर्तन स्पर्शित हो जायेगा, तो आवाज आ जायेगी। चेतन! तेरा बर्तन पर वर्तनाओं से रहित है। अपने आपको हटा लो, बर्तनों को दूर-दूर रख दो, कोई खटकेगा नहीं, आवाज नहीं आयेगी।

योगी! घर नहीं छोड़ा जाता। बर्तनों को दूर करने के लिए हम दूर आ गये हैं, जिससे खटके न। घर, कुटुम्ब से दुश्मनी नहीं थी, पर स्पर्श हो जाता है तो आवाज आने लगती है। आवाज आती है तो हमें भिन्न आवाज को सुनना पड़ता है। मैं जिसे सुनना चाहता था, वह शून्य हो जाता है। आपको हर पक्ष सुना सकता हूँ, पर शांति किसमें मिली थी? इस पक्ष में शांति मिली।

आपको आवाज में शांति मिली थी कि मौन में शांति मिली थी? तो ज्ञानी! शुद्ध समयसार समझना है तो अब मौन से सुनो। किंचित भी हमारी आँख की पलक झपकने की आवाज भी मेरे समयसार में बाधा डालती है। वो तो शुद्ध वर्तन है, वह बरतनों का वर्तन नहीं है। जब में दो सिक्का रखोगे तो आवाज आयेगी, तो चोर जब काट लेगा। क्यों? आवाज आ रही थी।

ज्ञानी! जहाँ द्वैत भाव लेकर मोक्षमार्ग में चलोगे, वहाँ चैतन्य स्वानुभव की जब तो कटेगी। संकल्प-विकल्प के दो सिक्के हैं, इन दोनों सिक्कों को अलग-अलग कर दो, फिर आप दौड़कर भी चलना, तो पता नहीं चलेगा चोर को कि जब में क्या है। एकत्व विभक्त स्वरूप वही कह रहा है। रत्नत्रय के रत्नों को लेकर चलते हैं योगी, तब भी कोई लुटेरा लूट नहीं पाता, क्योंकि उसने आवाज करना बन्द कर दिया है।

### एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए ।

एकत्व जो भाव है, लोक में सबसे सुन्दर कोई है, तो एकत्व विभक्त चिदानन्द आनन्दकन्द ज्ञानघन स्वरूप है। इस ज्ञानघन की चर्चा कितना आनन्द देती है, तो उसकी अनुभूति कितना आनन्द देगी? जिस अध्यात्म विद्या के शब्द में ही इतनी शांति है, उस अध्यात्म विद्या की चर्चा में कितनी शांति होगी? एकत्व में बंध की कथा विसंवादणी होई, यही विसंवाद है। ज्ञानियो! स्वतंत्र कक्ष में रह रहा है, वह बात करेगा किससे? अपने चेतन भवन में अकेले रहना सीखो। क्रोध, मान को भी मत बुलाओ और माया की सखी को भी नहीं फटकने देना, अकेले ही रहना। अकेले रहोगे तो अपने से बात कर पाओगे।

### ॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

प प प

यह भी आत्मा का एक स्वभाव है, मार्गणस्थान, गुणस्थान इत्यादि। लेकिन इन सब सापेक्ष स्वभाव से कोई निरपेक्ष स्वभाव है, तो गुणस्थानातीत, मार्गणातीत। यह आत्मा का ध्रुव स्वभाव है। समयसार में समिश्र आत्मा का वर्णन नहीं है, समयसार ग्रन्थ में अमिश्र आत्मा के स्वभाव का वर्णन है। समिश्र (पुद्गल से युक्त) जो दशा आत्मा की है, वह संसारी आत्मा का कथन है। पुद्गल पिण्ड से शून्य जो आत्मा के स्वभाव का कथन है, वह अशरीरी सिद्ध परमात्मा का कथन है। वह सिद्ध कैसा है? सिद्ध स्वरूपी आत्मा शरीर में रहते हुये भी शरीरभूत नहीं होता है। इस पर आचार्य-भगवान् जोर दे रहे हैं। शरीर में रहते हुए संसारी अवश्य होता है; फिर भी, शरीर में रहते हुए भी शरीरभूत नहीं होता है, शरीर में अवस्थित होता है। शरीर से युक्त तो है, शरीरभूत नहीं है। स्वर्ण किट्ट कालिमा से युक्त तो है, इसमें कोई विकल्प नहीं है, लेकिन स्वर्ण किट्टिमा किंचित् भी नहीं है। संसारी आत्मा कर्म कालिमा से युक्त तो है, इसलिए संसारी है, लेकिन विश्वास रखना, कालिमा से युक्त ही है, पर कालिमा नहीं है। जो होता है, वह कभी भिन्न नहीं किया जा सकता है। आत्मा से कर्मों को भिन्न किया जाता है, इसका मतलब है कि आत्मा कर्म नहीं है। आत्मा में कर्म तो हैं संसार दशा में, लेकिन आत्मा कर्म नहीं है। ऐसा भान जो करा दे, उसका नाम समसयार है। अरे ज्ञानी



! जो सिद्धि को साध चुके हैं, उनके लिए सिद्धि की भी आवश्यकता नहीं है। जो सिद्ध नहीं हुये हैं, उन असिद्ध - सिद्धों के लिए ही कथन है। सिद्ध-सिद्धों के लिए आगम में कोई उपदेश नहीं होता, वे तो स्वयं में सबकुछ होते हैं। जिनवाणी असिद्ध के लिए है। सिद्धों की तो यहाँ वंदना है, सिद्धों के लिए आगम नहीं है। जो सिद्ध नहीं हुए उन प्रसिद्ध असिद्ध के लिए समयसार ग्रंथ है। जो प्रसिद्ध सिद्ध हैं, वे स्वयं समयसार हैं। ग्रंथों को बाँच कर जो सिद्ध बने, वे प्रत्येकबुद्ध हैं। जो बिना ग्रंथ वाँचे सिद्ध बन जाये, वे स्वयंसिद्ध हैं।

तो चलें प्रसिद्ध सिद्ध की बात करें। उसे नहीं जानना, जिसे हम जानते हैं। जानना उसे है, जिसे हम पहचानते हैं, पर जानते नहीं हैं। आप अशरीरी सिद्ध आत्मा को ग्रंथों से पहचानते तो हो, लेकिन अनुभूति से जानते नहीं हो। जानोगे तब, जब तुम स्वयं सिद्ध हो जाओगे। ये सब पहचानना चल रहा है। पहचानने वाले को पहचाना ही जाता है, उसकी अनुभूति नहीं होती। आप विदिशा से आये, आपने यहाँ पाँच मुनिराजों को जाना-पहचाना। पहचान तो लिया कि दिगम्बर मुनि ऐसे होते हैं, पर दिगम्बर स्वरूप को जानना चाहते हो। दिगम्बर रूप तो दुनियाँ जानती है, पर दिगम्बर रूप को जाननरूप जानना है, तो उसे दिगम्बर ही होना पड़ता है। इसलिए आपने आज तक तत्त्व को जाना नहीं है, पहचाना है। जानना है, तो तत्त्वमय होना होगा। जो सिद्धालय में विराजते सिद्ध हैं, वे जाननेवाले सिद्ध तो सिद्ध के स्वरूप में हैं। जो संसार में प्रसिद्ध सिद्ध हैं, वे सिद्धों को पहचानने वाले सिद्ध हैं। पर पहचानने वाले बन जाओगे, तो जाननेवाले भी बन जाओगे। अध्यात्म शास्त्र यह नहीं कहता कि आत्मा को जानो। अध्यात्म शास्त्र कहता है कि आत्मा को पहचानो। जब पहचान जाओगे, तब जानने का पुरुषार्थ करोगे। सामान्य शब्दों में लोगों को शब्द एकसे लगते हैं, पर शब्दों की भी शल्यक्रिया की जाये तो शब्दों के अर्थ भिन्न-भिन्न होते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी तीसरी गाथा का अर्थ कर रहे हैं। सम्पूर्ण गाथा का सार एकत्व विभक्त चिद्रूप है। शुद्ध, बुद्ध, चिद्रूप समझना सरल है, परन्तु एकत्व-विभक्त स्वरूप समझना कठिन है। शुद्धोऽहं, बुद्धोऽहं कहना सरल है। ये तो शब्दजाल है। जो कि ग्रन्थ में लिखा है, इसलिए कह लेंगे। इस शुद्धोऽहं, बुद्धोऽहं से शुद्ध-बुद्ध की सिद्धि नहीं होती है। कठिन है तो पृथक्त्व भिन्न स्वरूपोऽहं कठिन है। स्वरूपोऽहं, जो तू परभावों में लिप्त है और परद्रव्यों को समझते हुये भी परद्रव्य से भिन्न द्रव्य को भिन्न नहीं कर पा रहा है, कठिन तो है। शुद्ध, बुद्ध शब्द से शुद्ध-बुद्ध नहीं बनेगा। अपने आपको भिन्नत्व भाव में ले जाकर परभावों से भिन्न करके वेदन करेगा, वही शुद्ध-बुद्ध बनेगा।

ज्ञानियो ! अभी आपको अपनी गृहस्थी की व्यवस्था व्यवस्थित दिख रही है, इसलिए आप शान्त बैठे हो। गृहस्थी अव्यवस्थित हो जाये, फिर कहना "भिन्नोऽहं"। मकान गिरने लगा, दुकान पर कब्जा कर लिया, बेटा अशुभ शब्द बोलने लगे, पत्नी भी बेटे के साथ बदल गई, जिसके कारण तूने माँ-पिता को छोड़ा, वह भी तुझे छोड़ने लग गई, अब कहना कि गलत क्या किया है ? बहुत अच्छा हुआ। जो मरने के बाद छूटता, वह पहले ही छोड़ दिया, तो कम-से-कम वैराग्य का स्वरूप समझ में आ गया। यह ज्ञान हो जाये कि हम चिपके थे, या वे हमसे चिपके थे ?

हे ज्ञानी ! ध्रुव सत्य यही है कि जो राग की चासनी में चिपके होते हैं, तब इनको मालूम नहीं चलता कि चासनी भिन्न है और जो चिपका, वह भिन्न है। जब चासनी को कोई उठा ले जाता है, तभी तो मालूम चलता है कि भिन्न थी। विषयों की चासनी में चिपकी आत्माओ ! मक्खी के तो चासनी में पंख ही टूटते हैं,

परन्तु तेरा तो मोक्षपथ टूट रहा है विषयों की चासनी में। अभी पुरुषार्थ ढीला है। जिसे आप पुरुषार्थ मान रहे थे, वह तो पुरुषार्थ के नजदीक की बातें थी, पुरुषार्थ नहीं था।

पुरुषार्थ तो उसका है, जो पहली प्रतिमा से ग्यारहवीं प्रतिमा लेकर चलना प्रारंभ कर देता है। पुरुषार्थ उनका है, जिन्होंने जैनेश्वरी दीक्षा ले ली हो। बाकी की तो बातें हैं। पुरुषार्थी वही है जिसने मिथ्यात्व का विगलन किया हो। पुरुषार्थी वही है, जिसने सम्यक्त्व की सीढ़ी पर पैर रखा हो; क्योंकि अब तीसरी गाथा की विस्तृत व्याख्या मैं प्रारंभ करूँ, इसके पहले इतना ध्यान दो कि सब पुरुषार्थ की चर्चा बहुत नीची थी।

जो एकत्व-विभक्त, शुद्ध चिद्रूप अवस्था है, उस पर दृष्टिपात करो। हे ज्ञानी ! तेरे से तेरे में अत्यन्ताभाव है, फिर मेरे से मेरे में अविनाभाव कैसे ? दुनियाँ को बदलने की बात करता है, कि मैं दुनियाँ को बदल दूँ। तू एक भी बाल को तो बदल नहीं पाया, उसने तेरी एक नहीं मानी, कितना तेल लगाया, पहले काले थे, सफेद हो गये, फिर झड़ गये।

एकत्व-विभक्त कह रहा है कि लोक में सबसे सुन्दर एकत्व-विभक्त है। मैं हूँ, मैं ही हूँ। मैं तो मैं से अभिन्न हूँ। मैं तो मैं के लिए अभिन्न हूँ। मैं पर को भिन्न देखता हूँ। मैं पर से भिन्न हूँ। मैं पर के लिए भिन्न हूँ। मैं पर से अत्यन्त भिन्न हूँ। मैं तो मैं के अलावा सबसे भिन्न ही हूँ। मैं राग-द्वेष भाव से भी भिन्न हूँ। ये मेरे में होता, तो सिद्धों में होता। मेरे में नहीं होता, मेरे विभावों में होता है। यह रागादिक भाव मेरे में नहीं होते, मेरे कर्म की दशा में होते हैं। कर्म चला जाये, तो राग-द्वेष चला जाये। राग-द्वेष चला जाये, तो कर्म चला जाये। पुरुषार्थ कर्मों पर नहीं, रागद्वेष पर करना है। कर्म तो चले जायेंगे, तुम रागद्वेष को विदा कर दो। बेटी की बिदा कर दी जाती है, तो बेटी-संबंधी घर का व्यापार बंद हुआ कि नहीं ? हे मुमुक्षु ! मन के विकारों को विदा कर दो, तो कर्मों का व्यापार अपने आप बन्द हो जायेगा। कर्मों को द्रव्य कर्म ने सजाकर नहीं रखे हैं, कर्मों को तेरे भावकर्म समहाल कर रखे हैं। पुरुषार्थ तुम कर्मों पर कर रहे हो कर्म करके ही। अरे ! कर्मों पर पुरुषार्थ छोड़ो, धर्म करके भावकर्म पर पुरुषार्थ करो। कर्म करके कर्मों पर पुरुषार्थ कर भी लोगे, लेकिन कर्म छोड़कर नहीं जायेंगे।

इसलिए 'समय' (स्व) को प्राप्त करना है, तो 'समय' शब्द के राग को भी छोड़ना पड़ेगा। एकत्व-विभक्त ही द्रव्य का स्वरूप है। गगन ने धूल को पकड़ा नहीं है, परन्तु गगन में चलनेवाली आत्माओ ! तुमने कर्मधूल को क्यों पकड़ा ? आकाश निर्लिप्त है, तो तपोधन का समयसार भी निर्लिप्त है। योगी को किसी भी आगम में कर्म की उपमा नहीं दी जाती। योगी को आगम में गगन की उपमा दी जाती है। हे योगी ! कर्दम का कार्य है स्वयं काला रहना, दूसरे को भी काला कर देना। गगन का कार्य है स्वयं शुद्ध रहना, पर दूसरे को अपने में नहीं लगाना। गगन के समान जो निर्लिप्त हैं, वे ही समयसार के समान निर्लिप्त तपोधन हैं। ऐसा तपोधनी समयसारभूत है।

'समय' शब्द से यहाँ पर सम्पूर्ण पदार्थों को (छः द्रव्यों को) ग्रहण करना सामान्य से। विशेष से सिर्फ आत्मतत्त्व को ग्रहण करना। सामान्य से सम्पूर्ण द्रव्यों को ग्रहण करना। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल अपने चतुष्टय में ही विराजते हैं। सभी द्रव्य एकत्व-विभक्तभूत हैं। जीव की ही विडम्बना है, जो रागादि भाव करके, पर द्रव्यकर्म को स्वीकार करके एक भी द्रव्य को स्वीकार किया, तो अनंत कर्मों में लीन हो गया। यहाँ पर आप बैठे सुन रहे हो, इन्द्रियाँ आपकी पाँच हैं, फिर विषयों में मन क्यों नहीं जा रहा

है ? क्या कारण है ? विषयों का अभाव हो गया। हे मुमुक्षु! इन्द्रियाँ किसी को विषयों में प्रेरित कभी नहीं करती। लोग गलत बोलते हैं, कि इन्द्रियाँ प्रेरित करती हैं। इन्द्रियाँ किसी को प्रेरित नहीं करती। पाँच इन्द्रियाँ मन सहित नहीं होंगी, तब तक निर्वाण नहीं मिलेगा। पंचेन्द्रिय जीव का ही निर्वाण होता है, एकेन्द्रियादिक जीवों का नहीं। इन्द्रियाँ संसार का निर्माण नहीं करती, वह तो मोक्ष/निर्वाण की ओर ले जाती हैं। लेकिन जो इन्द्रियों का दुरुपयोग करता है, ऐसी आत्मा ही संसार का भोग करती है। इन्द्रियों ने भोगी बनाया, संज्ञा इन्द्रियों की है कि आत्मा की ? इन्द्रियों में संज्ञा नहीं होती है, संज्ञाओं से इन्द्रियाँ संचालित होती हैं। इन्द्रियों में संज्ञा हो जायेगी तो संज्ञाओं से हमें काम करना ही पड़ेगा, तो किसी भी काल में सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं होगी। जो संज्ञाओं को संज्ञान से पकड़ लेता है, वह संज्ञातीत होकर अशरीरी भगवान्-आत्मा होता है। इन्द्रियों में विषय नहीं है। इन्द्रियाँ विषयों की भोक्ता नहीं हैं, इन्द्रियों से विषयों को भोगा जाता है। इन्द्रियाँ कर्त्ता नहीं, इन्द्रियाँ करण हैं। आँख देखती नहीं, आँखों से देखा जाता है। अक्ष से भोगा नहीं जाता, अक्ष भोगता नहीं, अक्ष पर लक्ष्य चला जाता है तो अक्ष के भोग विवश हो जाते हैं। अक्ष पर लक्ष्य नहीं गया तो अक्ष में लिप्त हो गया। जो-जो अक्ष में लक्ष्य ले गये, वे अलक्ष्य में चले गये। अक्ष को अलक्ष्य बनाओ तो तू अलक्ष्यातीत हो जायेगा।

आत्मा सातों तत्त्वों से संबंध रखती है एक समय में। पाँचों ही इन्द्रियाँ भोक्ता नहीं, पाँचों इन्द्रियों से भोगा जाता है। और एक भी इन्द्रिय कम हो गई तो मोक्ष नहीं मिलेगा। पाँच इन्द्रियों की सत्ता में ही हम पाँच समितियों का पालन करते हैं। प्रत्येक इन्द्रिय का एक ही विषय नहीं है। संसार का विषय भी है, परमार्थ का विषय भी है। जो आँख किसी नारी को निहारती थी, आज जिनवाणी को निहारती है। नारी को निहारे तो संसार की ओर ले जा रही है आँख और जिनवाणी को निहारे तो मोक्ष की ओर ले जा रही है आँख। ये ज्ञानी पूछ रहा है कि स्पर्श इन्द्रिय का क्या महत्त्व है ? स्पर्शन इन्द्रिय हल्का, भारी, ठण्डा, गर्म, रूखा, चिकना, कडा, नरम वेदन करती है। ये आँख विषयों पर जा रही थी, वहीं स्पर्श इन्द्रिय कह रही है, ज्ञानी ! निहारो, शरीर पर जीव तो नहीं है, वेदन कर लो, उसकी हिंसा न हो जाये। स्पर्शन इन्द्रिय काम करना बन्द कर देगी तो तेरा किसी जीव पर लक्ष्य नहीं जायेगा, कि स्पर्श का राग कर सकूँ। माँ जिनवाणी कह रही है कि निर्ग्रन्थ योगी रात्रि में, कदाचित् शरीर की बाधा पड़ जाये तो, हाथों को नीचे करके अनुभूति लेते हैं, कि कोई जीव तो नहीं है, क्योंकि हाथ बड़ा स्पन्दनशील स्थान है। शीत की अनुभूति की तो पिच्छी से मार्जन कर लिया, और उष्णता की अनुभूति की तो पिच्छी से मार्जन कर लिया। यदि ये स्पर्शन इन्द्रिय अनुभूति नहीं लेती, तो आप शीत और उष्णता के समय जीवों की रक्षा नहीं कर पाते। यहीं देखो, आप स्पर्शन इन्द्रिय का दुरुपयोग करते हो, भोगों, रागों, अब्रह्म में लिप्त होने में स्पर्शन इन्द्रिय ही काम आती है। पाँचों इन्द्रियों के साथ ये हो रहा है। कर्ण इन्द्रिय गीत संगीत में लिप्त होती है तब कर्मों में लिपटती है। जब तू प्रभु-भक्ति की संगीत में लीन होता है, तो कर्मों से मुक्ति होती है। कानों को संभाल कर रखना। कान बिगड़ गये, तो समाधि बिगड़ जायेगी। और यदि कान सजग रहे, संभावना रखो, तो समाधि बिगड़ने नहीं पायेगी।

हे मुमुक्षु ! पर की आलोचना सुनने में कान खड़े रहे तो समाधि बिगड़ जायेगी और कानों से नहीं सुनाई नहीं पड़ी जिनवाणी, तो समाधि बिगड़ जायेगी। इन आँखों को संभाल कर रखना। आँखें पर में चली गई, तो नरक में भेज देगी और आँखें परमात्मा में चली गई, तो सिद्ध बना देगी। इसलिए पाँचों इन्द्रियों को

संभाल कर रखो। घ्राण इन्द्रिय के बिना भी तेरा मोक्षमार्ग नहीं बनता। क्या शुभ है, क्या अशुभ है, इससे पाँचों इन्द्रियों की भोगों की अनुभूति लेता है। काम-विकार बाद में सताते हैं, पहले तू घ्राण इन्द्रिय से सूँघ-सूँघ के विकारों की वृद्धि करता है। तब तेरी घ्राण इन्द्रिय ने नीचे गिरा दिया। और यही घ्राण इन्द्रिय कहती है कि कहीं सुगन्धित वायु बह रही है, कहीं जिनालय से पूजन की गंध आ रही है, भगवान् के दर्शन करने चलो।

आचार्य कुन्द-कुन्द के 'समयसार' को कुछ शब्दशास्त्रियों ने सुधारने की कोशिश की तो आचार्य विमलसागर महाराज ने स्पष्ट मना कर दिया। आप व्याकरण से शुद्ध तो कर लो, लेकिन व्याकरण से कुन्द-कुन्द की मधुरता को नहीं भर पाओगे। व्याकरण से आचार्य कुन्द-कुन्द की गाथा में कुछ अशुद्धि नहीं है। जब वैदिक ऋचाओं का एक भी वर्ण, एक भी स्वर न बदला गया, न बदला जा सकता है तो प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग ये हमारे वेद-वचन हैं, फिर इनमें परिवर्तन कैसे किया जा सकता है। आपको शुद्ध करना है, तो आप अपना स्वतंत्र ग्रन्थ बनाकर खूब शुद्ध बनाओ, लेकिन कुन्दकुन्द की गाथा पर कलम चलाने का अधिकार तुम्हें नहीं है। अब नया बनाओगे क्या? पिसे को ही पीसोगे। जितने भी बना रहे हैं वे पिसे को ही पीस रहे हैं। क्योंकि जो तुम अपना बनाओगे, उसे हम अपना मानेंगे नहीं। ऐसा जिनेन्द्रदेव का उपदेश है।

निश्चय से प्रत्येक द्रव्य निज द्रव्य गुण, पर्यायरूप परिणमन करता है। जगत में कोई भी द्रव्य अपने 'समय' से भिन्न नहीं होता। समय यानी काल। जो समय है, वह भी अपने समय पर कार्य कर रहा है। लगता है कि पर कर्त्ता है, परन्तु होता वही है, जो होना होता है। भटकना नहीं। घड़ी अपने चतुष्टय में सुसमय में चल रही थी, वह उतरकर नहीं आई कि चलो, रोटी सिका दो। अग्नि ने रोटी कब बनाई? अग्नि अपने स्वभाव धर्म में जल रही थी, उसने रोटी बनाई कब है? अग्नि अपने चतुष्टय में थी, उसने कुछ नहीं किया। तवा ऊपर रखा था। आपने आटे में पानी डाल दिया था, परन्तु पानी आटा बना ही नहीं, वह भी अपने चतुष्टय में था। कुछ भी कोई कर नहीं रहा था, फिर भी हो रहा था। रोटी बन गई, बताओ रोटी बनाई किसने? हे रागियो! प्रत्येक द्रव्य अपना ही कार्य कर रहा था, कार्य किसी ने किया नहीं, परन्तु परनिमित्तों के बिना कार्य हुआ नहीं। पर ने किसी का कार्य किया नहीं, अग्नि ने अपने धर्म को छोड़ के रोटीरूप कार्य किया नहीं। वो घड़ी कभी रोटी बनी नहीं। कार्य होता स्वयं में है, तुम कर्त्ता बनते पर में हो। ये भूल तेरी है। कार्य होता निज में है, पर कर्त्ताभाव निज में है। तुम कर्त्ताभाव के ही कर्त्ता हो सकते हो, परद्रव्य के कर्त्ता नहीं होते।

आप रोटी के कर्त्ता थे, कि आप रोटी के रागभाव उपयोग के कर्त्ता थे? जब तू अपने उपयोग का कर्त्ता था, तो फिर क्यों रोटी-रोटी चिल्लाता है? उपयोग को ही खा लेता।

तत्त्व सोनगढी नहीं होता है, तत्त्व सभी गणों का होता है। परमागम कोई गणों का नहीं है, ये परमागम आत्मगण का है। आपको शुद्ध दूध नहीं दे रहा हूँ, क्योंकि पचाना कठिन होता है। इसलिए शुद्ध समयसार पचाना कठिन है। अपने अन्दर की बात बता न पाये, पर स्वाद तो आता है। गुँगा व्यक्ति पेड़े खाये, बता नहीं पा रहा, पर स्वाद तो ले रहा है। एकीभाव से अपनी गुण-पर्याय में गमन करते हैं। यहाँ पर एक-एक धातु के दो-दो अर्थ लेकर चलना। गम धातु ज्ञान अर्थ, गम धातु भिन्न अर्थ। यहाँ एकीभाव पर्याय को प्राप्त होते हैं, ऐसा अर्थ होता है।

शब्द बोलते नहीं कि मेरा यह अर्थ है, यह नहीं है। रागी-द्वेषी जैसा अर्थ निकाल देते हैं, वैसा कथन हो जाता है, परन्तु शब्द अपने आपमें मौन होते हैं।

शब्द तो कुलवंती कन्या है। जिसके हाथ में पिता ने सौंप दिया है, जीवन उसके हाथ है। शब्द कुलवंती कन्या है, जैसा अर्थ वक्ता ने निकाल दिया, वैसा सामने है।

**शब्दानामनेके ऽर्थाः, धातुनामनेके ऽर्थाः ।**

एक शब्द धातु के अनेक अर्थ होते हैं।

मोक्ष जाने के लिए कुछ नहीं सीखना पड़ता, पर जिनवाणी का अर्थ करने के लिए, तत्त्वों को स्फुटित करना है, तो आपको बुद्धि को विकसित करना पड़ेगा। एक समयसार को पढ़ाने के लिए कई बार समयसार को पढ़ना पड़ता है। समयसार प्रासाद है, आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी की टीका कलश है और आचार्य जयसेन स्वामी की टीका-ध्वजा है। कलश के बिना, ध्वजा के बिना मंदिर शोभा नहीं देता, और नींव ही नहीं होगी तो कलश किस पर चढ़ाओगे ?

जैन कुल में जन्म लेकर वस्तु की स्वतंत्रता को नहीं समझे, तो आपका जन्म लेना व्यर्थ है। आपने पूजा की, स्वाध्याय किया, गुरुओं की सेवा की, पर वस्तु की स्वतंत्रता को नहीं समझा तो सब व्यर्थ है। आज घर-घर में झगड़े क्यों हो रहे हैं? मैंने अनुभव किया कि वस्तु-स्वतंत्रता का भान नहीं है। जिसे वस्तु स्वतंत्रता का भान हो जाये, वह झगड़ता नहीं है।

**॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥**

५ ५ ५

**सुदपरिचिदाणुभूया सव्वस्स वि काम भोगबंध कहा ।**

**एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥४ स.सा. ॥**

आचार्य भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी 'समयप्राभृत' ग्रन्थ में परम तत्त्व की व्याख्या कर रहे हैं। वह परमतत्त्व परभावों से पूर्ण भिन्न है। लोक में अनेक तत्त्वों की व्याख्या है। किसी ने पच्चीस तत्त्व को कहा, किसी ने सोलह, किसी ने नौ की व्याख्या की। वीतराग जिनशासन में सात तत्त्व हैं, उनमें परम तत्त्व कोई है तो जीवतत्त्व है। मोक्ष भी ध्रुव तत्त्व नहीं है, क्योंकि वह उत्पन्न होता है। शाश्वत तत्त्व कोई है तो जीव है, जो संसार में भी रहता है, मोक्ष में भी रहता है। मोक्ष तत्त्व तो परभावों से भिन्न निजभावों में होना है। निजभाव त्रैकालिक है। जो पर भावकर्म है, वे हमारी आत्मा में "अनादि सम्बंधे च" अनादि से बद्ध है। उनको निज पुरुषार्थ से भिन्न या पृथक् कर देना मोक्ष है। पर जब बन्ध का विच्छेद नहीं हुआ, तब भी हमारी आत्मा के ध्रुवत्व का विनाश तो नहीं है। मेघों के आच्छादित होने से सूर्य का विनाश नहीं होता है। आपको विश्वास होता है कि मेघ हटेंगे और सूर्य का प्रकाश होगा। मनीषियो ! कर्म-मेघ हटेंगे, तो कैवल्य-सूर्य प्रकट होगा, इसमें संदेह नहीं करना। वह ध्रुव सत्ता स्फुरायमान है, जाज्वल्यमान है; पर जलती नहीं, जलाती नहीं। वह ध्रुव सत्ता तेरे चित् पिण्ड चैतन्य की है। उस सत्ता को निहारने के लिए ही सब संतों का प्रयास है। उस निज सत्ता को भूल गया तो तेरा सत्यानाश है। बुरा तो नहीं लगा ? इसलिए छोड़ दीजिए, आ जाइये अपने निज चैतन्य पर। नेत्रों के विषयों को देखना बन्द कर दीजिए। नेत्रों से तो वर्ण ही दिखेगा। नेत्र नीले, पीले, लाल आदि को ही देखेंगे। उससे अलग है तेरा ध्रुव चैतन्य आत्मा। छः द्रव्यों से रहित लोक नहीं, लोक से रहित निज लोक नहीं, निज लोक से रहित यह लोक नहीं। निज लोक का अवलोकन करना ही लोक

में रहना है। परन्तु लोक का अवलोकन करना परभाव में रहना है। लोक में रहना कष्टप्रद नहीं, परन्तु लोक में रहकर लोक को नहीं देखना कष्टप्रद है। लोक यानी लुक् धातु, दृश्यन्ते। जिसमें छः द्रव्य देखे जाते हैं, उसका नाम लोक है। छः द्रव्यों में तू भी एक द्रव्य है। सम्हल कर सुनना। जिसे आप लोक कहते हैं, वह लोक नहीं, आकाश है। छः द्रव्यों का नाम लोक है। वे द्रव्य जिस आकाश में रहते हैं, उसका नाम लोकाकाश है।

“लुक्यन्ते, दृश्यन्ते, यस्मिन् स लोकाः”

जिसमें देखा जा रहा है, जिसमें दिख रहे हैं छः द्रव्य, उसका नाम लोक है। ज्ञानियो ! लोक छः द्रव्यों का समूह है। आधार में आधेय का उपचार होने से जहाँ छः द्रव्य रहते हैं, उसको लोक कहा जाता है। ध्यान रखना, छः द्रव्यों में मेरी आत्मा ही निज लोक है निश्चय से 'राजवार्तिक' ग्रन्थ में आचार्य अकलंक देव लिखते हैं। लोक में द्रव्य व्यवस्थित हैं। लोक में द्रव्य प्रतिष्ठित ही हैं, ऐसा सर्वदा सत्य नहीं है। लोक में ही प्रतिष्ठित हो जायेंगे द्रव्य, तो अनवस्था का प्रश्न उठेगा। लोक वातवलयों में हैं, तो वातवलय आकाश में हैं, आकाश स्वप्रतिष्ठित है। ये जो 'स्वप्रतिष्ठित' शब्द है, यदि इसकी सत्ता जिनआगम से निकाल दें, तो अनवस्था दोष आ जायेगा।

आचार्य अकलंकदेव कह रहे हैं कि व्यवहार से लोक में द्रव्य हैं, निश्चय से स्वयं में ही स्वद्रव्य है। प्रत्येक द्रव्य स्वचतुष्टय की अपेक्षा से स्वचतुष्टय में ही है। पर, परभाव अधिकरण की अपेक्षा से लोक में है। आप कहाँ विराजते हो, ढाई द्वीप में, मध्यलोक में, भारत देश, मध्यप्रदेश में, जबलपुर नगरी में, बोर्डिंग मंदिर में, कि एक हाल में, कि प्रवचन भवन में, कि तीन फुट में, कि साढ़े तीन हाथ के शरीर में ? शरीर में कहाँ हो, मैं तो स्वयं में हूँ। यही स्वप्रतिष्ठित दशा ही निज स्वभाव है। बाहर में कहीं भी रह लो, परन्तु ध्रुवसत्य यह है कि तू जहाँ है, वहीं है। कहाँ हो ? स्वयं में। आँखों से नहीं दिखेगा, जो मैं यहाँ सुना रहा हूँ, जिसे आप सुन रहे हो, आँखों का विषय नहीं है। वह ज्ञान का, ज्ञानमय ही विषय है। अन्दर समझता है, अनुभव में आता है कि मैं कहाँ हूँ। जगत में रहकर जगत को अपना मान रखा है, परन्तु जगत मेरा कभी हुआ नहीं। मैं तो स्वयं का स्वयम्भू त्रैकालिक था, त्रैकाल रहूँगा; लेकिन मोह राजा के चक्कर में पड़कर तुम पर को अपना कह रहे हो।

आत्मा तो आत्मा का विषय है। यह आँख बन्द करने या खोलने से नहीं दिखती। कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा अनुभव में नहीं आती। अरे ज्ञानी ! जो जगत का अनुभव कराये, यदि वह न कर पाये, तो वह जीव कैसा ? जगत अनुभवकर्त्ता जो है, वही अनुभव करने योग्य है। उसके अनुभव के लिए न माला चाहिए, न वनिता चाहिए। जब तक वनिता के पीछे लगे रहोगे, तब तक निज वनिता का मिलन नहीं होगा। निज वनिता ही स्वानुभव है। उस वनिता पर लक्ष्य चलेगा चौथे गुणस्थान से, और उस वनिता से पूर्ण मिलन होगा सातवें गुणस्थान से। आज मुजफ्फर नगर से एक विद्वान् आये, कहा कि महाराज जी ! आप अपनी कलम से समयसार लिख दो, गुणस्थान क्रम से कथन हो जाये, तो जो ग्रन्थियों की गुत्थियाँ लगी हैं, वे सब सुलझ जायें। ध्रुव सत्य है, आचार्य कुन्दकुन्द देव को गुणस्थान कहने की आवश्यकता नहीं पड़ी थी, पर उन्होंने स्वानुभव से कथन किया। आपको विवेक लगाना चाहिए कि किस गुणस्थान का कथन कहाँ पर है ? ध्रुव सत्य क्या है, उस योगी को समझा रहे हैं, जो गुणस्थानों से स्वमण्डित था पहले से ही। वह कहते हैं, हम गुणस्थान के बरतन में नहीं डालना चाहते हैं, हम धिदानंद के बरतन में ले जाना चाहते हैं। बरतन और वर्तन में अन्तर ध्यान देना।

हम आपको गुणस्थानों के पात्रों में नहीं रखना चाहते हैं। हम आपको निजानंद के बरतन में वर्तन कराना चाहते हैं। गुणस्थान न भी कहूँगा, तो जो गुणस्थान सुननेवाले होंगे, वे गुणस्थान में ही होंगे। जब

तक कारण-समयसार है, तब-तक गुणस्थान है और जब कार्य-समयसार होगा, वह गुणस्थानातीत है। चौदहवें गुणस्थान तक कारण-समयसार है और अशरीरी सिद्ध परमात्मा कार्य समयसार है। यह कारण कार्य भाव, सर्वत्र लगाकर चलना। क्योंकि व्याख्या एक बार हो जाये, फिर पुनः पुनः नहीं होती, लेकिन जो हो जाये वह ऐसी हो जाये, कि व्याख्या में फिर किसी को टिप्पणी की व्याख्या न करना पड़े।

प्रत्येक गुणस्थान कारण-कार्य भाव है। मिथ्यात्व गुणस्थान कारण-भाव है। भद्र मिथ्यादृष्टि का प्रथम गुणस्थान भी चतुर्थ गुणस्थान के लिए कारण है और चतुर्थ गुणस्थान कार्यभाव है। पारा चढता है, उतरता है, नम्बर बताने के लिए कि कितना तापमान (टेम्परेचर) है। पर नम्बर से न चढता है, न उतरता है; चढता-उतरता परिणामों से है।

आचार्य जयसेन स्वामी की टीका ने आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी की टीका के शब्दों को सरल किया है। पर यह सत्य है कि आचार्य जयसेन ने जो कह दिया है, वह प्रवृत्तिकारक होने से अकाट्य हो गया है। कितनी सुमधुर प्रौढ भाषा है। जब तक भेदरत्नत्रय नहीं होगा, तब तक अभेदरत्नत्रय नहीं होगा, यह भी ध्यान में रखना। बीच में एक बात बताऊँ। जो सर्वत्र में रत्नत्रय मानते हैं, वह वीतराग आम्नाय में नहीं है। क्योंकि जहाँ तक नियोग बना, हम लोगों ने जैनों के जितने साहित्य हैं, सभी को पढ़ा। धागे सहित धागे में ही जुड़ जाये, यह धागे वाले का भी सिद्धांत है। और धिरधागे में वह जुड़ता है, जो धागे को छोड़ देता है। अभेद रत्नत्रय हो जाये, और भेद रत्नत्रय न हो, यह त्रैकालिक सम्भव नहीं है। फल लगे कि फूल लगे, क्यों ? फल के लिए पुष्प लगते हैं, कि पुष्प के लिये फल लगते हैं ?

**णिच्छय व्यवहारणया, मूलम भेयाणयाण सत्त्वाणं ।**

**णिच्छय-साहण-हेऊ, दव्वय-पज्जत्थिया मुणह ॥४ आलाप पद्धति ॥**

निश्चय का हेतु, निश्चय का साधन व्यवहार है। व्यवहार का साधन निश्चय नहीं होता है। जो यह कहने लग जाये कि निश्चय रत्नत्रय तो मुझे हो गया है, व्यवहार हो जायेगा, ज्ञानियो ! ऐसा दिग्म्बर आम्नाय का सिद्धांत किंचित् भी नहीं है। जिसे आप निश्चय कह रहे हो, वह निर्णय है। पहले निर्णय होता है, फिर व्यवहार होता है। व्यवहारपूर्वक निश्चय में जाता है। आप यहाँ आये, कि पहले विचार किया ? पहले विचार किया। हम उस विचार को व्यवहार की भाषा में निश्चय बोलते हैं। हमने निश्चय कर लिया कि हमको प्रवचन सुनने जाना है। हकीकत में जो निश्चय है, वह पर्यायार्थिकनय से व्यवहार की भाषा का निश्चय है, सिद्धांत की भाषा का निश्चय नहीं है। यह यथार्थ में निर्णय था। निर्णयपूर्वक प्रवृत्ति की है, ये व्यवहार है। प्रवृत्ति का फल मिल गया है, इसका नाम निश्चय है।

माँ मरुदेवी अपने भवन में विराजती है, पोता (इस भरतक्षेत्र का चक्रवर्ती) अपने सिंहासन पर विराजता है। दादी माँ नयनों को सजल करती हुई कहती है, बेटे ! तू यहाँ पर राज्यवैभव का अनुभव कर रहा है, पर मेरा लाल, तेरा पिता जंगलों में भटक रहा है। 'माँ ! मेरे पिता प्रथम तीर्थेश जंगलों में नहीं भटक रहे हैं, वे कैलाश पर समवसरण में सुशोभित हो रहे हैं।' बेटे ! मेरे लाल को कैवल्य हो गया ? 'हाँ, दादी माँ ! प्रथम तीर्थकर को कैवल्य हो गया। यह आपका सौभाग्य है कि आपका बेटा तीर्थकर, पोता भरत चक्रवर्ती एवं अन्य पोते कामदेव व गणधर पद को सुशोभित कर रहे हैं।'

बेटा ! तुम मुझे समवसरण में नहीं ले जाओगे ? 'ले जाऊँगा।' सुबह चक्रवर्ती अपने दल-बल के साथ जैसे ही दूर से समवसरण को निहारता है, बेटा तो देख ही नहीं पाया, माँ ने देखते-ही-देखते कैवल्य को प्राप्त कर लिया। (कल्पसूत्र से बोल रहा हूँ। स्त्री को केवली बना रहे हैं।) जब दादी को कैवल्य हो गया, तो उन्होंने विचार किया। केवली विचार कर रहे हैं। एक-एक शब्द को पकड़िये। आपके साथ यही हो रहा है

। एकसाथ विषयभोग व स्वानुभूति । इस सिद्धांत का उद्भव कहाँ से हुआ है, आप सब समझते हो । आया कहाँ से है ? कुन्दकुन्द देव तो नहीं कह गये, विश्वास रखिये । जहाँ से आप सिद्धांत लेकर बैठे हो, ज्ञानी ! मुझे अच्छे से मालूम है । मैं कर्नाटक में था, कर्नाटक में बुन्देलखण्ड का ज्ञानी पहुँचा, उन्होंने 'हओ' कहना नहीं छोड़ा । सभी एक-से दिख रहे थे । मैंने पूछा- क्यों, ज्ञानी ! बोले - हओ महाराज ! मैं समझ गया कि ये बुन्देलखण्ड के हैं । विश्वास रखो, जो जीव जिस सिद्धांत से आता है, वह वैसा ही कहता है ।

**“पराभिप्रायनिवृत्यशक्यत्वात्” ॥७॥राजवार्तिक ॥**

दूसरे का अभिप्राय बदलना बड़ा कठिन होता है । कहीं-न-कहीं अपनी 'हओ' रख देता है । भले ही समयसार का अध्ययन किया हो, पर जो सिद्धांत चला आ रहा था, 'वस्त्रधारी को मोक्ष, स्त्री पर्याय में मोक्ष', वह कहीं-न-कहीं स्पर्श कर रहा था । मैं श्वेताम्बर ग्रंथ कल्पसूत्र से कह रहा हूँ - 'माँ ने विचार किया कि मुझे कैवल्य हो ही गया, अब तो मुझे जैनेश्वरी दीक्षा ले लेना चाहिए ।' अब आप बताओ कि दीक्षा की आवश्यकता क्या है ? आप दिगम्बर हो, इतने तो समझदार हो, कि कार्य के लिये कारण तो खोजे जाते हैं, पर कार्य होने पर कारण की खोज ? पुत्र होने के बाद गर्भाधान नहीं किया जाता है, संतान के लिए गर्भाधान किया जाता है । जब बिना गर्भाधान के संतान होने लगी, तो पाप करने की क्या आवश्यकता है ? हे मुमुक्षु ! ध्यान दो, जब कैवल्य हो गया, फिर दीक्षा की आवश्यकता क्या थी ? इसी प्रकार से जब निश्चय रत्नत्रय हो गया, अब व्यवहार रत्नत्रय की क्या आवश्यकता है ?

“मूर्च्छा परिग्रह” सूत्र है न, इस सूत्र के साथ खिलवाड़ किया गया है । कुछ भी स्वीकार करते जाओ, और धीरे से कह दो कि मेरी मूर्च्छा नहीं है । यानी सेवन कर रहा है, मरत है, और कहता है कि मेरी मूर्च्छा नहीं है । हे मुमुक्षु ! जहाँ-जहाँ परद्रव्य को स्वीकारेगा, वहाँ-वहाँ मूर्च्छा होगी । जहाँ-जहाँ द्रव्य होगा, वहाँ-वहाँ मूर्च्छा होगी । जहाँ-जहाँ द्रव्य नहीं हैं, वहाँ मूर्च्छा हो भी सकती है, नहीं भी हो सकती है । कपडे को स्वीकार किया कि कपडे ने स्वीकारा है ? इन वस्त्रों को इस तन ने स्वीकार किये हैं, कि चैतन्य ने किया है? तन ने स्वीकार किया, यानी मुर्दा भी स्वीकार करता है? इन वस्त्रों को तन ने स्वीकार नहीं किया, चैतन्य ने स्वीकार किया है । तन स्वीकार करने लग जायेगा, तो मुर्दे को भी अशन, वसन चाहिए पड़ेगे । और शुद्ध चैतन्य भी स्वीकार नहीं करता । यदि शुद्ध चैतन्य स्वीकार करेगा, तो सिद्धों को भी करना पड़ेगा । तन स्वीकार नहीं करता, शुद्ध चैतन्य स्वीकार नहीं करता ? तन व चैतन्य की मिली-जुली सरकार स्वीकार कर रही है । ये मिश्र धारा है, यानी जीव की विभावदशा । आप अच्छे से जानते हैं, कि दो पार्टियों की सरकार कभी भी भंग हो जाती है । इसलिए मेरी बात मान लो, एक को छोड़ो, दूसरे को पकड़ लो । तन को छोड़ दीजिए, चैतन्य को पकड़ लीजिए । दो की भंग होगी । समान जाति व असमान जाति कहाँ एकसाथ रह पाते हैं । स्वजाति में निवास करो, विजाति को छोड़ दो । देखो ! मैं आपको प्रेम से बताये देता हूँ । विजाति के साथ कितना भी प्रेम हो जाये, लेकिन मन में कसक रहती है, कि यह मेरी जाति का नहीं है ।

तुम कितने ही सुंदर रह लेना, लेकिन जब जाति की बात आयेगी तो कहोगे, ये तो पुद्गल की जाति का है । क्यों ? इसका धर्म स्पर्श, रस, गंध, वर्ण भिन्न है, जबकि मैं ज्ञानदर्शन स्वभावी हूँ । इसलिए इतना ध्यान रखो, वाहन पर बैठ लो, पर उस पर बैठे नहीं रहो । वाहन पर ज्ञानी पुरुष बैठने नहीं जाता, वाहन पर बैठकर आता है । ऐसे ही तन-पिंजडे पर बैठकर साधना कर लो, पर इसकी यानी शरीर की साधना के लिये साधना मत करना । अशरीरी आत्मा की साधना के लिए शरीर की साधना करना ।

विश्वास रखना, एक दिन भी तत्त्व समझ में आ जाये तो अनंतकाल का अतत्त्व चला



जायेगा। शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से सम्पूर्ण संसारी जीव सिद्ध के समान शुद्ध आत्मा हैं। आप विपरीत श्रद्धा नहीं कर लेना। मिश्री तो मीठी ही होती है, लेकिन हुआ ये कि जिसको खाने को दी गई थी, देनेवाले को ध्यान नहीं रहा कि घर में कड़वी तुम्बी रखी थी, उसमें मिश्री को रख दिया। कड़वी तुम्बी का रस मिश्री में लगेगा, तो मिश्री कड़वी लगेगी। आपको पित्त ज्वर हो, तो आपके मुख के पित्त ज्वर से मिश्री कड़वी लगती है। मिश्री कड़वी थी, कि तुम्हारा मुख कड़वा था, कि तुम्बी कड़वी थी ?

ध्यान दो, मैं निश्चयनय का कथन कर रहा हूँ, आप सब जी रहे हो व्यवहार में। कदाचित् आपको यह महसूस न होने लग जाये कि मैं अनुभूति ले रहा हूँ, और महाराज कह रहे हैं कि आत्मा भिन्न चिदस्वभाव में है। उसकी अनुभूति कैसी है ? मिश्री तो मीठी ही है, आत्मा तो शुद्ध चिदस्वरूपी ही है। लेकिन कर्मों की कड़वी तुम्बी का सहयोग है, उसके कारण तू विषयों के विषय में लीन है। इसलिए तुझे औपाधिकभाव में आनंद आ रहा है। निरुपाधिक देखे, तो मिश्री मीठी है। इसलिए ध्यान दो, जो यह कथन है, वह कर्मों को गौण करके सुनिये, जैसे कि आप शैवाल से युक्त तालाब को देखकर भी शैवाल को गौण कर देते हो, और पानी को पी लेते हो। इसी प्रकार से कर्मों की शैवाल को गौण करके चैतन्य नीर को निहारिये, तब समझ में आयेगा कि तत्त्व क्या है। जहाँ आपने मिश्र धारा में जिया, और सुन रहे निश्चय को, तो आपको तत्त्व असत्य नजर आयेगा, जबकि तत्त्व असत्य नहीं होता, तुम्हारी मिश्र धारा असत्य थी।

कर्मजनित गुणस्थान आदि जो पर्याय है, ये बंध की कथा है। ज्ञानियो ! एक कन्या बैठी थी, न कोई उसे अपनी पत्नी कह रहा था, न बहू कह रहा था। हे कन्ये ! जब-तक तू पर-संबंध को प्राप्त नहीं हुई, तब तक तू कन्या है और जगत में स्वच्छ है। हे कन्ये ! जब तक तूने किसी का कर नहीं पकड़ा, तब तक कन्या है। जैसे-ही कर पकड़ लेगी, वैसे-ही संबंध लग जायेगा। हे भगवती ! कुंवारी कन्या ! कौन ? आत्मा। जब मैं तुझे कन्या के रूप में देखता हूँ, तो तू मुझे पूज्य दिखती है, क्योंकि भारत में कन्या को पूज्य माना जाता है। और जब तू कर्मों से सम्बन्ध जोड़ लेती है, तब तू व्यभिचारिणी नजर आती है। इसलिए तू कर पकड़ना छोड़ दे। कर नहीं पकड़ेगी, तो 'कर' नहीं देना पड़ेगा। 'कर' नहीं देना पड़ेगा तो निज कर में ही लवलीन होकर पाणिपात्र में तू ग्रास ले लेना, पर अपना पाणि किसी को मत देना। हे कुंवारी कन्ये ! तू निर्ग्रन्थ मुनि बनकर पाणिपात्र में ग्रास ले लेना, पर अपने पाणि को किसी के पाणि में मत दे देना। पाणि यानी हाथ जो पाणि ग्रहण करता है, वह गृहस्थ होता है और जो पाणिपात्र में लेता है, वह दिगम्बर मुनि होता है। "पाणिपात्र दिगम्बरः" दिगम्बर योगी पाणिपात्री होते हैं। जबसे संबंध हुआ, तब से विसंवाद हुआ। जब कन्या कुंवारी थी, तो तुम्हारे सिर में दर्द नहीं था। जब से सम्बन्ध किया, तो तुम्हारे सिर में दर्द हो गया। दर्द का कारण संबंध है। संबंध हटा लो, संबंधों से हट जाओ, वो जैसा है वैसा ही है। विसंवाद का क्या अर्थ है? विसंवाद मिथ्या तथा कषाय होने से असत्य होता है। जो संवाद से रहित हो, वह विसंवाद है। तत्त्व पर, सत्य पर कोई विसंवाद नहीं होता। विसंवाद तो तत्त्वाभास/सत्याभास पर होता है। जब भी विसंवाद होता है, असत्य से होता है। इसलिए परभाव शुद्धजीव का स्वभाव नहीं है। विसंवाद जीव का स्वभाव नहीं है। आत्मा तो अविस्वादी है। इसलिए स्वसमय ही आत्मा का स्वरूप है, ऐसा जानो।

कन्या कुंवारी होती है। भगवान्-आत्मा तो अविस्वादी कुंवारी कन्या है। जिसे आप सुन रहे हैं, वह सहेतुक है कि अहेतुक है ? भगवती आत्मा तो कुंवारी कन्या है, यह स्वघर की है, परघर की नहीं है। कुंवारी कन्या से मेरा प्रयोजन ? आत्मा ही कुंवारी कन्या है। आठ अंगुल के पीछे अष्टम भूमि को खो रहे हो। चार अंगुल की रसना, चार अंगुल की स्पर्श, इन ये आठ अंगुल को वश में कर लो तो अष्टम वसुधा में विराजित

हो जाओ। आप कहो कि मैं परिवार की सेवा कर रहा हूँ। तो चार अंगुल पर विजय होती तो मेरे जैसा बैठता और कहता कि कौन किसका ? ये चार अंगुल के वशीभूत होकर पूरी पीठ-की-पीठ छिल गई, पेट व पीठ एक हो गया, कितनों के मान-अपमान को सहन करना पड़ा। ब्रह्मलीनता की दृष्टि बन गई होती तो, विश्वास रखो, रोटी के टुकड़ों के पीछे पर की सेवा इतनी नहीं करनी पड़ती, जितनी अब्रह्म के पीछे पर की सेवा करना पड़ती है। रोटी तो साधुओं को मिलती ही है सब जगह, आपकी अपेक्षा पूजा के साथ मिलती है। मत निहारो मुझे। अपने मन से पूछो कि मैं भूतार्थ कह रहा हूँ कि अभूतार्थ, सत्यार्थ है कि असत्यार्थ है। ब्रह्मधर्म को स्वीकार कर लिया होता, तो आज ये दशा नहीं होती। कोई किसी की सेवा नहीं करता है, अपनी विषयों की पूर्ति के लिए जगत की सेवा करना पड़ती है, और जब छूटने का समय आता है तब तक तुम अधमरे हो जाया करते हो। जब-तक सुध आई, तब-तक सुध गई, सुधा-जैसी पर्याय गई। सुधा यानी चूना काली दीवाल को भी सफेद कर देता है। तेरी क्या सुधा अवस्था थी, जिस सुंदर अवस्था में काले कर्म को भी सफेद कर सकता था। पर सुध गई तो सुधा गयी, पर यहाँ बैठे हो। जो भक्तिपूर्वक जिनवाणी सुनता है, वह भावी भगवान्-आत्मा है। अन्तिम श्वास भी रत्नत्रय धर्म में लगा दी, तब भी निर्वाण तेरी मुट्टी में है। मैं आपको हताश नहीं करूँगा। हम तो आपको ज्ञानी ही कहते हैं। आज चौथी गाथा को निहार लो और पूछो हृदय से कि हम कितने ज्ञानी हैं।

भगवन् ! क्या दोष कहूँ, क्या दोष दूँ। न दोष कहने का है, न दोष देने का है। जिनवाणी सुनी दिनभर, पर शाम को भूल जाते हैं; पर जिसे किसी ने सुनाया भी नहीं था, फिर भी याद आते हैं। जब योगी एकान्त में बैठकर निजानंद का रस चखता है, तब भोगी विषयों की नाली में अपने द्रव्य को खोता है। हे माँ ! इतनी मेहनत करके दूध लगाकर लाया, तब तूने पाँच लीटर में पाँच सौ ग्राम घी निकाला और निकालने के बाद कौन-सी समझदार होगी जननी, जो घर की नाली में फेक दे घी को। हे मुमुक्षु ! तुमने जीवन भर खाया-पिया और अनेक भवों से इस पर्याय को निकालकर लाये हो और भोगों की इस गंदी नाली में अपनी द्रव्य को बहा डाला। अबुद्धिपूर्वक नहीं, बुद्धिपूर्वक बहाया। जब बहा रहा था, तब प्रज्ञा बंद हो गई थी; जब बह गया, तो प्रज्ञा खुल गई। फिर रो रहा है कि मैंने सब बहा डाला। जो विवेक पाप करने के बाद आया, उस विवेक को धिक्कार दे देते, कि तू पहले आ जाता तो मैं पापी न कहलाता, महात्मा बन जाता। क्यों, भूतार्थ है कि अभूतार्थ है ? भूतार्थ है, सत्यार्थ है, यथार्थ है। ये समयसार आज नहीं सुनना, आज रख लेना। जब मन अशुभ में जाये, तब खोलना। समयसार यही है। हे मुमुक्षु ! आज के लिए नहीं सुनना। जिस दिन अंतिम हिचकियाँ आ रही हों, जब हाय-हाय कर रहा हो, तब कहना कि चिद्रूप को देख। पर्याय की हिचकियाँ अरसी, नब्बे साल के बाद भर पाती हैं, पर तेरे शुभ कर्म की हिचकियाँ उसी दिन भर गई, जब तू ब्रह्म को छोड़ने जाता है। किसी को मत निहारो, पूछो हृदय से। पर्याय की हिचकियाँ अंतिम दिन निकलेंगी, पर शुभ परिणामों की हिचकियाँ उसी दिन निकल गई जिस दिन तूने शील भंग किया था। चेहरा खोखला हो गया है।

काम-भोग-बंध-कहा है। पाँच इन्द्रियाँ विभक्त हैं। स्पर्शन व रसना ये दो काम-इन्द्रियाँ हैं, और चक्षु, घ्राण, श्रोत्र ये भोग-इन्द्रियाँ हैं। दो काम इन्द्रियाँ, तीन भोग इन्द्रियाँ हैं। काम-भोग बड़ा सुलभ है। आत्मनिंदा करो, किसी को मत निहारो, गर्हा करो। किसी को पढ़ाना भी नहीं पड़ा, सिखाना भी नहीं पड़ा। तीन के कारण विलख रही मेरी आत्मादृष्ट, श्रुत, अनुभूत। तीनलोक का नाथ पंचपरावर्तन कर रहा है। क्यों ? दृष्ट, श्रुत, अनुभूत। देखा तो वही देखा। धिक्कार हो। आँखें फोड़ी, पैसे दे देकर फिल्म देखने जाता है। अपने जीवन को बरबाद करने के लिए, कैसे खोटे-खोटे चित्र निहारते हो। चारित्र को

चलायमान करने के लिए दृष्य देखा। आँखें बन्द हो गईं तो कान से सुनने लगा। आँख बन्द हो गई, कान भी बन्द हो गये, पर अनुभव करना बन्द नहीं हुआ। अस्सी साल के बूढ़े हो गये, पर अनुभूति का मन अभी भी बूढ़ा नहीं हुआ। तन से भोग नहीं पाता तो भोगों को याद करता है। विश्वास रखो, भोग तो बन्ध के कारण हैं ही, पर भोगभावना भी बन्ध ही का कारण है।

आचार्य बट्टकेर स्वामी 'मूलाचार' में कहते हैं -

**कंरिवदकलुसिदभूतो कामभोगेसु मुच्छिदो संतो ।**

**अभुंजंतोवि य भोगे परिणामेण णिवज्झेइ ॥ ८१॥**

वह भोग न भी करे, परन्तु परिणामों से भी बन्ध होता है, तन्दुल मच्छ जैसे। महामच्छ एक हजार योजन लम्बा, पाँच सौ योजन चौड़ा, ढाई सौ योजन मोटा, छः माह सोता, छः माह जागता है। जब सोता है, तो मुख खुल जाता है। अनेक जीव आ रहे, अनेक जीव जा रहे, जबकि कान में बैठा तंदुलमच्छ खाता है कान के मल को, पर सोचता है कि ये कैसा पागल है? में होता तो एक को भी नहीं छोड़ता। जबकि वह एक को भी नहीं खा पाता, पर खाने के परिणाम करके सातवें नरक को जाता है। केवल सुनना ही नहीं है, संभलना भी है। घर की व्यवस्था बदली कि नहीं बदली? उस घर की न बदले, पर आत्म-घर की जरूर बदल लेना।

**॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥**

५ ५ ५

आचार्य-भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी जीव को समझा रहे हैं। आज तक तूने किया तो क्या किया? इस लोक में एकत्व-विभक्त दुर्लभ है। विषय, काम, भोग की कथायें अनादि से सुनी हैं। इनसे ही परिचित है। इनका ही अनभुव किया है। वे बड़ी सुलभ महसूस होती हैं। लेकिन ध्यान रखो, राग के वश होकर अपने स्वभाव से भ्रमित होना तत्त्वज्ञानी का स्वरूप नहीं है। जिस दिन ज्ञान होगा, उस दिन सम्बन्ध छूट सकता है, लेकिन धर्म नहीं छूटता। पहले संबंध छूटता हो तो, अभी ही छूट जाये; लेकिन जिस दिन धर्म का ज्ञान हो जायेगा, उस दिन हम पर संबंधों में आकर अपने वीतराग स्वभाव से च्युत नहीं हो पायेंगे। ज्ञानियो! विश्वास रखना, ऐसी जगत् की लीला है। समझता है, जानता है, फिर भी पर के राग में लीन होकर अपने आपको चारित्र से भ्रष्ट किये हैं। पर राग में बना होने के कारण यहाँ तक होता है जीव के साथ कि उसे इन्द्रिय-विकार भी नहीं सता रहे, तब भी इन्द्रिय-विकारों की परिणति को छोड़ नहीं रहा है। क्यों? पर के कारण। हे ज्ञानी! पर का कारण निमित्त मात्र है। वासनाएँ हो गईं, पर वासना नहीं गई। यानी भोगने की शक्ति तो गई, पर भोगने के जो संस्कार थे, वे नहीं जा रहे हैं। जो निज में वास न होने दे, उसका नाम है वासना। एकत्व-विभक्त स्वरूप में वास होना चाहिए था, ध्रुवत्व अखंडत्व में वास होना चाहिए था, चिद्रूप में निवास होना चाहिए था। उन सब से हटकर वासना में वास है, और चिदानंद में वास नहीं है। इसी बात को आचार्य भगवान् अमृतचन्द्र स्वामी टीका में समझा रहे हैं कि, मुमुक्षुओ! ध्यान दो 'सुलभां विहितरस .....

एकत्व विभक्त्य सुलभ नहीं है। परन्तु जो संसार में भटकानवाले साधन हैं, वे सुलभ हैं; जबकि एकत्व-विभक्त्य की प्राप्ति के लिए कहीं जाना नहीं पड़ता। एकत्व-विभक्त्य त्रैकालिक सिद्धान्त है उसका कभी विनाश न हुआ, न होगा, परन्तु राग के संस्कार इतने प्रचुर हैं, कि एकत्व-विभक्त्य दशा पर दृष्टि ही नहीं जा रही है। और यथार्थ बताऊँ, यह भी सत्य है कि इस जीव ने चिंतन भी नहीं किया और चिंतन करानेवाला कोई मिलता भी है तो हमारे ऐसे अनादि के खोटे संस्कार थे कि जैसे कोई बालक के बीमार

होने पर माँ उसको कड़वा चिरायता पिलाती है, पर वह अज्ञानी बेटा चिरायते के कड़वेपन को तो जानता था, पर चिरायते के फायदे को नहीं जानता है। माँ पिलाना चाहती है, वह मुख बन्द करता है। ऐसे ही माँ जिनवाणी ने आपके एकत्व-विभक्त स्वरूप को बताने का बहुत पुरुषार्थ किया है, गुरुओं ने भी समझाया, लेकिन आपने विषयों की मिठाइयाँ अनादि से खाई थीं, तो चिरायता देखकर आपको डर लगता है। वो सुनना भी पसंद नहीं करता, समझना भी पसंद नहीं करता। वो तो काललब्धि आ गई, सो तुम सुन रहे हो, अन्यथा आप तो समयसार का नाम सुनते ही यों कहते कि ये निश्चयवालों का ग्रन्थ है। जबकि ये निश्चय शुद्धात्मा की प्राप्ति का ग्रन्थ है, निश्चयनय वालों का नहीं है। ये चैतन्यस्वरूप की प्राप्ति का उपाय बतानेवाला ग्रंथ है। और यहाँ तक भूल हो गई, कि निर्ग्रन्थों ने इसे पढ़ना बन्द कर दिया जबकि आचार्य कुन्दकुन्द देव ने स्वयं लिखा है। 'जिनलिंग को स्वीकार किया, पर निजलिंग पर भाव नहीं गया' देहाश्रित लिंग में ही अपने आपको मोक्षमार्गी मान लिया और जिसने चिद्रस्वरूप की बात की, उसे आपने निश्चयाभासी कह दिया। पकड़ो तत्त्व को। ऐसा आपके बीच में होता है, और हो रहा है, इस ग्रन्थ को पढ़ने के लिए निर्ग्रन्थ मुद्रा धारण करने के उपरान्त भी। एक ऐसा ज्ञानी जीव मिला, कहता है कि, महाराज ! मैं आपकी बात को समझता तो हूँ, लेकिन मैं आप जैसी बात करूँगा, सुनूँगा, अध्ययन करूँगा, तो ध्रुव सत्य यह है कि जिसे मैं करना चाहता हूँ, वह छूट जायेगा। मुझे एक संस्था चलानी है। यदि मैं समयसार की संस्था में लग जाऊँगा तो उस संस्था को मैं चला नहीं पाऊँगा। क्यों ? इसमें राग चाहिए है, और समयसार एकत्व-विभक्त स्वभाव की बात है। कितना भोला जीव था?

संस्था चलाओगे तो, विश्वास रखना, वहाँ समयसार बहुत दूर है। बस ध्यान दो, लिंग तो लिंग है, लिंग 'लिंगी' नहीं है, अलिंगी की प्राप्ति के लिए लिंग धारण करना पड़ता है। पर लिंग में लिप्त हो गया तो लिंगी मिलनेवाला नहीं है। यह जिनलिंग जिन बनने के लिए है, जिनलिंग ढोने के लिए नहीं है। जिनलिंग स्वीकार करके देह आश्रित क्रिया में ही मोक्ष मान लिया, मोक्षमार्ग मान लिया। तू भेषों को तो ढोता रहेगा, लेकिन जिनलिंग को प्राप्त करके जिन नहीं बन सकेगा।

'वासना' शब्द का जब भी प्रयोग होता है, तो ये जीव स्त्री-पुरुष के संबंध पर पहुँचते हैं, इसके आगे नहीं जाना चाहते हैं। वासना का अर्थ पशुवृत्ति मात्र नहीं है।

यदि पूजा, प्रतिष्ठा की भावना है, वो भी वासना ही है। वासना यानी विषयों की आशा। पाँच इन्द्रिय के विषय सत्ताईस हैं। उसमें मन और जोड़ दीजिए तो अट्ठाईस हैं। देखने की इच्छा भी वासना, सुनने की इच्छा भी वासना, सूँघने की इच्छा भी वासना, स्पर्श की इच्छा भी वासना है। मेरे पुद्गल का प्रकाशन हो रहा है, ये भी है वासना। मेरे पुद्गल का नाम लिख जाये, ये भी है वासना। किसी पर दृष्टि नहीं डालना है, मात्र तत्त्व समझना है। आप जब निर्ग्रन्थ बनें, इतनी बातों का ध्यान रखें कि वासना का अर्थ स्त्री-पुरुष का संयोग मात्र नहीं है। वासना का अर्थ है विषयाशा, और विषयाशा यानी जितने पाँचेन्द्रिय के विषय बनते हैं वे सभी विषयाशा हैं। अब हृदय से पूछो कि आशा गई या नहीं गई। आशा को छोड़कर आये, फिर भी आशा को लेकर आये। निराशा भी आशा ही है, क्योंकि आशा की पूर्ति नहीं हो पाई, इसलिए निराशा है। मोक्षमार्ग निराशाओं का मार्ग नहीं है, मोक्षमार्ग आशा का मार्ग नहीं है। आशावान जिसकी पूर्ति होती है, वह हंसता है; निराशावान जिसकी पूर्ति नहीं होती, वह रोता है। हे ज्ञानी ! ये आशावादियों या निराशावादियों का मार्ग नहीं

है, ये तो माध्यस्थ्याभावी (वीतरागियों) का मार्ग है। ये उपेक्षा का मार्ग है। अच्छा बताओ जिसकी मैंने आशा की और मालूम चल गया, कि पूरी होगी नहीं। जैसे आप भजन बोलने आये, परन्तु दूसरे ने सुना दिया, अब आपको अंतरंग से कैसा लग रहा है ? बताओ कि भजन 'करना' था, कि भजन 'बोलना' था ? भजन करना होता, तो निराशा नहीं आती। चूँकि भजन सुनाना था, अतः चेहरा उतर गया।

मंगलाचरण तो कोई करता नहीं है, भूल गये सब। मंगलाचरण का अर्थ होता है कि किसी-न-किसी परमेष्ठी की बंदना आना चाहिए, तब मंगलाचरण होगा और जब तक परमेष्ठी का मंगलाचरण नहीं किया, तब-तक भजन तो हो जायेगा, पर मंगलाचरण नहीं होगा। भले णमोकार पढो, पहले णमोकार पढ लो, फिर भजन सुना दो।

ध्यान दो, मोक्षमार्ग में आशा नहीं होती, भावना होती है, और विषय-कषायों में आशा होती है। सम्यग्दृष्टि जीव मोक्षमार्ग की सराग अवस्था में भावना (वारह भावना, सोलहकारण भावना, वैराग्य भावना) तो भाता है, आशा नहीं करता। वीतराग अवस्था में भावना नहीं भाता है, वीतराग अवस्था की अनुभूति लेता है। निराशा भी आशा है। जब निराशा आती है तो अंतरंग में निरीह भाव आता है, सरसता समाप्त हो जाती है। निरीहता तो आई है, पर निरसता के साथ आई है। ज्ञानियो ! वीतरागता निरीह तो होती है, पर निरस नहीं होती। इसमें निज का रस चलता है। आपको भजन बोलने की इच्छा थी, पर बोलने को न मिले, उस दिन कितना संक्लेशित होता है कि मैंने कल ही नाम लिखा दिया था, फिर भी मेरे से आज बोलने को क्यों नहीं कहा गया। यह बोलने की आशा ही तो विषयाशा है। इस आशा ने तेरा विश्वास हटा दिया, एक क्षण को संचालक के प्रति कुभाव आ गये। जो जीवद्रव्य था, उस जीवद्रव्य के प्रति अशुभ भाव आ गये। आप समझ रहे थे कि मात्र भजन कहने को नहीं मिला, सो सोच रहा हूँ, पर उस समय तेरे वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम का दुरुपयोग हुआ, तेरे ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम का दुरुपयोग हुआ, तेरे दर्शनावरणी कर्म के क्षयोपशम का दुरुपयोग हुआ, तेरी आयु का किस तरह व्यय हो रहा था, उस पर ध्यान ही नहीं दिया। जब तुम ये सोच रहे थे, कि मेरे से बोलने को क्यों नहीं कहा गया, उस काल में तेरी आयु नष्ट हो रही थी कि नहीं ? एक रुपये को तो संभालकर चलता है कि उसका प्रयोग कहाँ करना है, परन्तु तू भूल गया था इस आयुकर्म के निषेकों को। उसका उपयोग तूने कहाँ कर डाला विषयाशा में ? मोक्षमार्ग में आना, लेकिन मोक्षमार्गी का चिन्तन लेकर आना। बड़ा कठिन है। कितना क्षयोपशम चाहिये परिणामों को विशुद्ध रखने के लिए। प्रशस्त अध्यवसाय भाव रहें, अप्रशस्त अध्यवसाय भावों का अभाव हो, उसके लिए आपको प्रज्ञा चाहिए।

दो साधु के पुण्य-पाप में अंतर होता है कि नहीं? जो जीव यतिसंघ में आकर भी यतिसंघ में नहीं रह पा रहा है। भैया ! मन से प्रश्न करो, मन में। उसकी प्रज्ञा का विवेक नष्ट हो गया है। क्यों ? उसने मुनि बनने की आशा की थी, उस मुनिलिंग के भेष की आशा ने इसे मुनि बनाया है। ये भी राग था। अच्छा लगता है। मुनिलिंग पर विश्वास होता तो ज्ञानी यह कहता कि पुण्य-पाप-प्रकृति पुद्गल की है, इसमें यश और अयश आत्मा के धर्म नहीं हैं। संघ में आकर भी तुम संग में क्या लाये हो, ये तो बताओ। जहाँ भी जाओगे, किसी भी संघ में, पर तुम्हारे संग में जो होगा, फलित होगा। आप मुनिसंघ में आये थे, पर ये क्यों भूल गये थे कि मैं संघ में पूर्व का अयश लेकर आया हूँ तो यहाँ भी मुझे अयश ही मिलेगा, यश नहीं मिल पायेगा। और

यदि तुम यश कीर्ति लेकर आये हो, तो यहाँ पर भी यश मिलेगा। यतिसंघ में वैरागी बनकर आता, तो यह कहता, कि मैं विषयों की आशा का विसर्जन करने के लिए मुनिराज बना हूँ, अब मैं यह आशा भी नहीं करता हूँ, कि कौन कैसा कर रहा है। मैं तो इसलिए आया हूँ कि मुझे करना क्या है? जो ऐसा विचार करेगा, वह कभी बाहर नहीं भागेगा, उसको गुरु भेजेंगे। और जो ऐसा विचार करके नहीं आयेगा, उसने भीतर देखा ही नहीं, बाहर ही देखा। विश्वास रखना, जगत में तनाव नाम की कोई वस्तु नहीं है। तनातनी नाम की वस्तु आ जाती है, तो तनाव आ जाता है। जब मन में आशा की तनातनी तन जाती है, तो तनाव की बस्तियाँ बसना प्रारंभ हो जाती हैं हृदय ग्राम में।

स्वच्छ चित्त वैराग्य से भरा होगा, तो चास्त्रि की अनुभूति आयेगी। नहीं तो विषयों की आशा है। सर्प को आपने बामी में प्रवेश करते देखा है। बिल में जाने से पहले वह इधर-उधर सिर मारता है, मुख मारता है, पर बिल मिल जाते ही वह सीधा बिल में जाता है। ज्ञानी ! तुम इधर-उधर मुख पटक रहे हो, तुमको बिल नहीं मिला, और चलना शुरू कर दिया। बिल नहीं मिला, इसलिए बिलबिला रहे हो। बिल मिल गया होता, तो कहाँ बिलबिलाता मिलता, सीधा अपनी बामी में निवास करता। ये चैतन्य बामी है, और सर्प इसलिए कहा - कि ये नाग केंचुली छोड़ने से निर्विष नहीं हो जाता है। हे मुमुक्षुओ ! वस्त्रों को उतारने से कोई निर्ग्रन्थ नहीं हो जाता है। जब-तक जहर की थैली नहीं निकलेगी, तब-तक सर्प निर्विष नहीं होता है। और जब तक विषय-कषाय रूप, वासना की थैली नहीं निकलेगी, तब-तक वह निर्ग्रन्थ नहीं हो पाएगा। पंचमकाल है, नहीं तो आप गलत अर्थ लगा लो। लोग अंगुली उठाने लग जायेंगे। गहरा तत्त्व है। 'समाधितंत्र' में भी आचार्य पूज्यपाद कह रहे हैं, कि केंचुली के निकलने से सर्प निर्विष नहीं हो जाता, ऐसे ही वस्त्रों को खोल देने मात्र से कोई निर्ग्रन्थ नहीं हो जाता है। सामान्य तपस्वियों को पंचाचार नहीं होते, विशिष्ट तपस्वी को ही होते हैं। अवधिज्ञान भी ऋद्धि है। तपस्वी को आदर्श है कि एकान्त में रहना, गृहस्थों से दूर रहना।

'यशस्तिककचम्पू' में आचार्य सोमदेव लिखते हैं, क्या मैं नये साधु को श्मशान में ठहराऊँ ? नहीं, नये साधु हैं, भयभीत हो सकते हैं। उपवन में ठहराऊँ ? नहीं, बसंत का मौसम है, पुष्पों की सुगन्ध से मन चल जायेगा, तो संयम छूट जायेगा। तो नगर के समीप ले जाऊँ ? नहीं, नगर में कोलाहल है, ध्यान भंग होगा। तो नगर से दूर ठहराऊँ ? नहीं, नगर से दूर ठहराओगे तो ये हमारे बालमुनि हैं, शिक्षाशील हैं, ये भयभीत हो गये तो शिक्षा में बाधा आ जायेगी। फिर कौन-से स्थान में ठहराऊँ ? जो स्थान नगर से अधिक दूर न हो, नगर से अधिक पास न हो, ऐसे स्थान पर ठहराना। गृहस्थों के भवनों से दूर रखना, खाली भकान में रह सकते हैं।

जगत की टीका छोड़ो, टीका में आओ। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि इस जीवलोक में, संसारचक्र के मध्य में आरोपित हुआ, कोई विश्राम नहीं लिया, यानी निरन्तर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव पंच परावर्तन किया।

एक परावर्तन कितना विशाल है। एक बार नहीं किये, अनंतबार किये ये पंच परावर्तन। यदि समयसार सुन रहे हो, तो इतनी-सी बात सुनकर चले जाना कि खाने-पीने को लेकर पुद्गल के टुकड़े के पीछे झगड़ा मत करना। रोटी के टुकड़ों पर घर में क्लेश हो रहा हो तो कहना कि ये श्वान भाव कब आ गये? रोटी के टुकड़े के पीछे तो कुत्ते लड़ते हैं।

**भुक्तोज्जिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः ।**

**उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य, मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥ ३० इष्टोपदेश ॥**

हमने बार-बार भोगा है, पुद्गल का एक परमाणु भी ऐसा नहीं बचा जिसे हमने भोगकर न छोड़ा हो। क्यों वमन पर मान कर रहा है? कोई माँगे, तो दे देना कि ले जाओ, पर मेरे धर्म को नहीं ले जाना। क्योंकि अभी लगता है कि ले जा रहा है परन्तु ये कुछ नया नहीं कर रहा है। दिया होगा, तभी माँगने आया है। प्रेम से दे देना, कि ले जाओ। सुनने में कितना अच्छा लगता है? सुनने में अच्छा लगता है, तो छोड़कर देखो, कि कितना अच्छा लगता है। इस भूमि पर ऐसा कोई प्रदेश नहीं बचा, जहाँ तूने जघन्य अवगाहना से उत्कृष्ट अवगाहना तक जन्म-मरण न किया हो। क्यों एक-एक अंगुल के पीछे भाई-भाई का सिर फोड़ रहा है? क्या तुम यहीं रहनेवाले हो? अरे! मृत्यु के बाद चले जाना है। ध्रुव/अटल सत्य है कि यहीं छोड़कर जाना है। मोह का नशा उतार लो, उस दिन तुम संसार से थकने लगोगे। ऐसा कोई द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव नहीं जिसमें भ्रमण न किया हो। भावों का तो कहना ही क्या, असंख्यात लोकप्रमाण परिणाम किये हैं। 'लब्धिसार' या 'क्षपणासार' देख लो, और कुछ नहीं कह सकता, भावों की बात देखना हो तो वहाँ देख लो।

हे मुमुक्षु! चारों ओर से भ्रान्त हुआ तू। तू सारे विश्व पर चक्रवर्ती- जैसे छः खण्ड पर राज्य करता है। चक्रवर्ती से बोल देना, कि तू क्या राज्य करेगा, तू तो पृथ्वी के राज्य को अपना राज्य कहता है। विश्व का महान सम्राट है जो, उसका नाम मोह है। जिसने हृदय-हृदय पर राज्य किया है। कितना बड़ा राजा है? एकछत्र राज्य कर रहा है, सब उसकी प्रजा बनी बैठी है। मोह राजा के शासन में चल रहे हो। जैसा वह कहता है, वैसा ही कर रहे हो। तुम स्वतंत्र हुए कहाँ हो? मोह का एकछत्र राज्य चल रहा है। जैसे- बैल को नकेल डाल दो तो, जिधर खींचो, उधर चलता है। वैसे ही मोह राजा ने बैल बना डाला है। हम नहीं कह रहे, आगम कह रहा है। किनसे भ्रमित हो रहा है? तृष्णा से। जैसे मृगतृष्णा में भागता है, वैसे ही संसार की तृष्णा में ये भाग रहे हैं। मृग तो मृगमरीचिका को देखकर दौड़ता है। आप मृग नहीं हो? पर मृग से कम कहाँ हो? पर्याय में भले मृग न हो, पर तृष्णा में मृग से कम नहीं हो। मोह का छत्र लगा है, विषय ग्राम में मृग दौड़ रहा है। दिगम्बर आचार्य इन योगीश्वरों से कहते हैं- हे योगियो! तुम ऐसा आचरण करो, मोक्ष को प्राप्त कर लो।

यहाँ पर मोह के सब आचार्य बैठे हैं, जो अपने बेटों को दूकानदारी आदि सिखाते हैं, पर यह नहीं सिखाते कि कषाय मत करना, मोह मत करना, मुनि बन जाना। 'समयसार' पढ़ना सरल है, पर 'समयसार' पर जीना बहुत कठिन है। अत्यन्त विसंवाद का कारण होने पर भी काम, भोग, बंध की कथा अनंतवार की, नित्य चिद्ज्योति जाज्वल्यमान चिर सत्ता विराजती थी, तब भी कषाय चक्री प्रकाशमान हुआ है। प्रदीपवत् ज्ञान जो होता है, वह स्व-पर का प्रकाशी होता है। यहाँ प्रकाश से ज्ञातृत्व भाव लेना। स्वयं को भी जानता है, पर को भी जानता है, ऐसा प्रकाशवान ज्ञान होने पर भी ज्ञान तेरा कभी नष्ट नहीं हुआ आज तक; पर कषायचक्र के सहकारी होने के कारण इसे अत्यन्त तिरोहित कर दिया, उस पर ध्यान ही नहीं दिया। जैसे- मेहमान आ जाये, और विशेष ही आ जाये, पत्नी का भैय्या आ गया, तो सामान्य रिश्तेदार को तुम देखते भी नहीं हो, जबकि वे भी थे। यही तेरे साथ हो रहा है। ज्ञान ज्योति तेरे साथ त्रैकालिक है।

आत्मा में ज्ञान की उपासना न करते हुये, न जिसे तूने पूर्व में सुना, न तू उससे परिचित हुआ, न

कभी तूने अनुभूति ली, जो लोक को विभक्त करनेवाला, आलोकित करनेवाला कैवल्य-शक्ति-सम्पन्न, जो एकत्व-विभक्त स्वरूप था, वही तेरा निज रूप था। परन्तु ऐसा एकत्वभाव सुलभ नहीं है, इस प्रकार से जानना। घर जाओगे? जाओ। बैल हो, तो जाना पड़ेगा, क्योंकि मोहग्राह पिशाच से तुम्हें खींचा जा रहा है बैल बनाकर। पर बैल फिर भी श्रेष्ठ है, क्योंकि वह मौका पाकर खूँटा तोड़ता है। पर ये कैसे हैं, कि अभी हम इन्हें छोड़ रहे और ये घर को जा रहे हैं। फिर भी ध्यान दो, जितना आप छोड़ रहे हो, उतना ही अच्छा, कम-से-कम सुन तो रहे हो, इतना जानना।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

१९९

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण ।

जदि दाएञ्ज पमाणं चुक्किञ्ज छलं ण घेत्तव्वं ॥ ५ स.सा. ॥

आचार्य परम वीतराग भाव से तत्त्व-उपदेश दे रहे हैं। 'समय प्राभूत' ग्रन्थ अपने आप में अध्यात्म विद्या का अद्भुत ग्रन्थ है। जैसे-कि दही को जितना मथा जाता है, वैसे-वैसे मक्खन निकलता है; ऐसे-ही इस वीतराग स्याद्वाद वाणी का जितना मंथन किया जाये, उतनी तत्त्व की गहराइयों प्रकट होती हैं। लोक में मोह की गहराई का एकछत्र राज्य है। उस राजा के वशीभूत होकर यह जीव बैल की भाँति घूम रहा है। आचार्य कुंदकुंद स्वामी की - "सुद परिचिदाणुभूदा" की टीका करते हुए आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने कहा है कि -

ये विषय लोक में सुलभ हैं, पर एकत्व-विभक्त विषय कठिन है। आचार्य जयसेन स्वामी अपनी टीका में उसी बात को स्पष्ट कर रहे हैं। अनंत बार इस जीव ने सुना है, अनंतकाल से परिचित होता आ रहा है, अनंतकाल से अनुभूत है, किसका कौन? सम्पूर्ण जीवलोक किससे अनुभूत है, किससे परिचित है, किससे सुना है? कामरूप भोग को। स्पर्शन, रसना ये दो इन्द्रियाँ कामेन्द्रिय हैं। अपने अन्तस् में पहुँचकर समयसार को समयसार से पूछो। अनंत पर्यायों को हमने काम, भोग की कथाओं की बलिपीठ पर बलिदान किया है। यदि एक पर्याय को ब्रह्मस्वरूप में लगा लेता, तो आज इस खोटे काल में जन्म न लेना पड़ता, जिस काल में संयमित स्वभाव की प्राप्ति करना अति कठिन हो रहा है। संयत मुद्रा धारण करके भी संयत मुद्रा न रख पाये, ये किसका दोष है? दोष कुछ नहीं है, दोष कहना ही दोष है। दोष इतना मात्र है, कि कर्म सिद्धांत पर दृष्टि नहीं ले जा रहे हैं। कैसे? मेरे लिए इन्होंने सताया। हे ज्ञानी! यदि कोई तुझे कष्ट का निमित्त है, तो जगत में जितने भी जीव हैं, उन्हें कष्ट होना चाहिए। वही व्यक्ति अपनी पत्नी को सुख का साधन दिख रहा है, वही अपनी बेटी को सुख का साधन दिख रहा है, इसका मतलब क्या था? कि वह व्यक्ति दुःख का साधन नहीं था, मेरे कर्म का विपाक मेरे दुःख का साधन था। वह हमारे लिए निमित्त क्यों बना? क्योंकि उसके साथ मैंने पूर्व में अशुभ किया था। यदि वह व्यक्ति दुःख का कारण होता, तो उसे देखकर जगत के जीवों को दुःखी होना चाहिए था। आपने वर्तमान की पर्याय को तो देखा, परन्तु भूत की पर्याय में नहीं झाँका। भूत की पर्याय को देख लेता तो उस व्यक्ति को दोष नहीं देता। तेरा कितना प्रशस्त काल आया था, आँख खुले-खुले तेरा कर्म आया था। इस उदयकाल में आँख अन्दर की खोलकर देख लेता, तो अभिनव कर्मों को नहीं आने देता,



और जीर्ण कर्मों की निर्जरा कर लेता। पर तूने क्या किया ? तूने भूत की पर्याय को नहीं देखा, वर्तमान की पर्याय को झाँकता रहा।

गुरुदत्त स्वामी के शरीर पर कपिल ब्राह्मण ने आग लगा दी, ये तो दुनियाँ देख रही है। तुम्हें गुरुदत्त महाराज पर करुणा तो आ रही है, पर जिस पर उनकी करुणा छूट गई थी, उस पर करुणा क्यों नहीं आ रही है ? हे स्वामिन् ! वर्तमान की पर्याय में कपिल रुई लपेटते दिख रहा है, अग्नि लगाते दिख रहा है, लेकिन जब आप थे सम्राट हस्तिनापुर के, तब आये थे ससुराल में। वह द्रोणगिरि गुरुदत्त की ससुराल है। प्रायः करके देखा जाता है कि अपने घर में जो चूहे से भी डरते हैं, वे ससुराल में धीरता जरूर दिखाते हैं। जिस गुफा में वर्तमान में गुरुदत्त की चरण चिन्ह हैं, उस गुफा में एक सिंह विराजता था। चन्द्रनगर नाम का नगर था। पर्वत की चोटी के नीचे आज भी उसके खंडहर हैं। पहले द्वार से नीचे उतर जाना, नीचे खंडहर मिलेंगे। हम लोगों ने चातुर्मास में देखा है। ससुराल में लोगों ने चर्चा की कि सिंह परेशान कर रहा है। युवावस्था क्या नहीं करा देती ? मैं वीर हूँ। वह शेर जब अपनी गुफा में सो रहा था, तब इन्होंने जाकर, लकड़ी और कंडे भर दिये, और आग लगा दी। वही सिंह का जीव आर्त्तध्यान से मरण कर कपिल ब्राह्मण हुआ। फिर भी देखो कि इनको वैराग्य हो गया। कालान्तर में वह शिशु युवा हुआ। अपने खेत में हल चलाना था। ये हस्तिनापुर से विहार करते-करते वहीं आ गये, उसके खेत पर विराज गये। विराजने के उपरान्त वह कपिल ब्राह्मण सोचता है- साधु है, बैठे रहने दो। वह जब दूसरे खेत पर जाने लगा, तो मुनिराज से कहने लगा- महाराज ! हमारी पत्नी भोजन लेकर आयेगी, आप कह देना कि दूसरे खेत पर गये हैं। वह ब्राह्मणी आती है। जब अपने स्वामी को नहीं देखा, तो पूछा कि महाराज ! मेरे स्वामी आये थे क्या, कहाँ गये हैं ? पर दिग्म्बर साधु एकांत में एक स्त्री से बात नहीं करते, चाहे दीक्षित हो चाहे अदीक्षित हो, चाहे आर्यिका, क्षुल्लिका, ब्रह्मचारिणी हो या सामान्य स्त्री हो। दिग्म्बर तपोधन एकान्त में किसी एक स्त्री से बात क्या, धर्म की चर्चा भी नहीं करते। कैसे उत्तर देते ? महाराज मौन रहे। ये निमित्त तो बाहर के थे, अन्दर का निमित्त तो कोई और बैठा था। पत्नी घर चली गई, भूखा किसान और भूखा शेर बराबर होता है। घर पहुँचता है, पत्नी से कहता है कि आज भोजन लेकर क्यों नहीं आई? और भूख के कारण गुस्से में पत्नी की पिटाई कर दी। पूछा- क्यों नहीं गई थी ? पत्नी ने कहा कि मैं गई थी, पर आप नहीं थे खेत पर। 'वहाँ पर कोई और नहीं था ?' पत्नी ने कहा- 'एक महाराज थे, उनसे पूछा तो उन्होंने कुछ बोला ही नहीं।' किसान को भूख के कारण गुस्सा बहुत आ रहा था। उसने भोजन तो किया नहीं और जिससे बैलों को हाँकता था वह चाबुक लेकर मुनिराज के पास पहुँच गया और कहता है- 'मैंने आपके कारण अपने खेत का काम छोड़ा और आपने पत्नी को बताया नहीं कि मैं दूसरे खेत पर हूँ। हे ज्ञानी ! पूर्व की अग्नि के संस्कार जागृत हो गये। वी सेमर का वृक्ष वही था, जिससे रुई होती है। उस वृक्ष से रुई को निकालकर जो लकड़ी कंडों से ढका था, संस्कार वे जाग्रत हो गये। उस कपिल ने रुई से मुनिराज को लपेट दिया और अग्नि लगा दी। दहक-दहक कर योगीराज का शरीर झुलसने लगा। तन जल रहा था, पर चेतन ध्यान की अग्नि से कर्मों को झुलसा रहा था। ये था समयसार देखते-ही-देखते कैवल्य-सूर्य प्रगट हो गया, लगी हुई अग्नि के फोले क्षण मात्र में विलीन हो गये और परम औदारिक शरीर हो गया। कपिल सामने बैठा था, उधर स्वर्ग से देव वंदना करने आ गये और केवली की वाणी खिरी, सौधर्म इन्द्र ने पूछ लिया- प्रभु ! इस कपिल ने ऐसा क्यों किया ? तब अरहंत की देशना में उस क्षण खिरा- 'दोष इसका नहीं, दोष मेरा पूर्व जन्म का ही था। यह तो वर्तमान की पर्याय में

निमित्त बन गया, पर जब ये सिंह की पर्याय में था, तब मैंने इसे इसी गुफा में जलाया था।' जब केवली की वाणी को कपिल ब्राह्मण ने सुना, और सिर टेक दिया, तो उसका मिथ्यात्व विगलित हो गया और सम्यक्त्व को प्रगट कर लिया।

**“न मे शत्रुः न च मे प्रियः”**

किसको कहूँ शत्रु, किसको कहूँ प्रिय ? दोनों से कर्म बंधे हैं, दोनों ही संसार के साधन हैं। सुकृत का विपाक ये भोग दिला रहा है और दुष्कृत का विपाक रोग दिला रहा है, पर दोनों रोग ही हैं। भोग भी रोग है।

**“भोगारोगाद्वापदि”**

भोग रोग के तुल्य है, आपत्ति का घर है। इसलिए ध्यान दो। इन्द्रियों की प्राप्ति होना दीर्घ संसार नहीं है, इन्द्रियों की प्राप्ति में मरत हो जाना संसार है। अब चलिये समयसार पर। इन्द्रियों की प्राप्ति संसार नहीं, क्लेश की प्राप्ति बन्ध नहीं, इन्द्रियों और क्लेश में हर्ष-विषाद करना, वह बन्ध और संसार है। इन्द्रियाँ तो तीर्थकर को भी मिलती हैं। जब तक पाँचों इन्द्रियाँ सशक्त नहीं होंगी, तब तक जितेन्द्रिय कैसे होंगे ? इन्द्रियों को कुचलकर मुनि नहीं बना जाता, इन्द्रियों का उपशमन करके मुनि बना जाता है। प्रश्न किया- आचार्य श्री ! आज इतनी सहन करने की सामर्थ्य कहाँ है मुनि बनने के लिए ? जब घर में संतान होता है, जन्म भी होता है, मरण भी होता है, तो उस सुख-दुःख को सहन करने की सामर्थ्य कैसे आ गई ? जब शादी हुई थी, तब विचार नहीं बना था, कि संतान होगी तो मृत्यु भी होगी ? फिर कैसे धैर्य आ गया, आपको मालूम ही नहीं होगा। आप तो चन्द्रमुखी लेने गये थे, पर घर में आकर ज्वालामुखी बन गई, उसे कैसे झेल रहे हो ? धन्य हो आपकी सामर्थ्य को। हे ज्ञानी ! तेरी ज्वालामुखी की ज्वाला से कम ज्वाला है, ये ज्वाला नहीं है, यह चिन्तन की अग्नि है। इससे तो ऊष्मा चमकती है। धैर्य चाहिये, गंभीरता चाहिये और तत्त्व का निर्णय चाहिए। मूल बात पकड़िये।

ज्ञान का उतावलापन व्यक्ति को भ्रमित करता है और जीव सोचता है, कि मैं शास्त्र-ज्ञान से ज्ञानी हो गया, लेकिन वास्तव में तू अज्ञानी रहा, क्योंकि तुझे देव-गुरु-धर्म की चिन्ता नहीं है। तू ज्ञानी था कहाँ ? ज्ञान का उतावलापन, ज्ञान का उपयोग यदि भेदज्ञान में होता है तो वीतरागता का जन्म होता है। ज्ञान का प्रयोग जब विषयान्धता में होता है, तो संसार का कारण बनता है। 'समयसार' जैसे ग्रन्थ को भी उतावलेपन में नहीं समझना, नहीं तो यह समझ बैठो कि अब तो मैं ज्ञानी हो गया। ये शब्दों का ज्ञान है, वो ब्रह्मज्ञान है। ब्रह्मज्ञान जब होता है तो बाह्य निमित्त कुछ भी नहीं कर पाते। पूर्णतः मैं अनुभव की कसौटी पर बोल रहा हूँ। अन्दर का निर्णय जिस दिन हो जाता है, उस दिन कितनी भी दुर्घटनाएँ घट जायें, तब भी लगता है कि ये तो जगत का स्वभाव है, नया कुछ भी नहीं है। मैं आपको बता नहीं सकता, तत्त्व के निर्णय में कितनी कठोरता आती है। कभी बिलखते लोग दिखते हैं, तो कभी आग उगलते लोग दिखते हैं। तब भी बिलखनेवाला सत्य नहीं है, अग्नि उगलनेवाला भी सत्य नहीं है। एक का राग रो रहा है, एक का द्वेष, अग्नि उगल रहा है। ये दोनों भगवान् आत्माएँ हैं। इसका राग उपशमित हो जायेगा, तो बिलखना समाप्त हो जायेगा। इसका द्वेष उपशमित हो जायेगा, तो अग्नि उगलना बन्द कर देगा। वही नमोस्तु कहेगा, क्योंकि दोनों भगवान्-आत्मा हैं। अनुभव करो, जिसने अग्नि लगाई थी, उसने शीश झुकाया कि नहीं ? जिसने गोदी में खिलाया था, उसने बेटे के पेट को खाया कि नहीं ? माँ सहदेवी का जीव, ही खा गई। जो राग था, वो द्वेष में बदल गया; जो द्वेष था, वह भक्ति में बदल गया।

माताओ ! संतान को जन्म तो देना, पर स्वभाव नहीं मानना । अधिक लाड़-दुलार करोगे, वही तुम्हारा बैरी बनता है, एक मुनि की पर्याय में माँ अपने ही बेटे को भख गई । इसलिए जगत में कुछ सीखना है तो समयसार के ग्रन्थ से मध्यस्थ होना सीखो । अन्य कुछ नहीं सीखो, केवल सुख-दुःख में मध्यस्थ होना सीखो, अन्यथा रोष-तोष में किसी का कुछ बिगड़े या न बिगड़े, आपका चेहरा तत्क्षण बन्दर-जैसा होता है । तत्क्षण आयुर्कर्म का बन्ध आ गया तो सब कुछ बदल जायेगा । वे परम योगीश्वर कैसे समय निकालते थे ? ऐसे ही समय निकालते थे, न कोई मेरा अपमान कर पायेगा, न सम्मान दे पायेगा । चित्त में विक्षेप है, तो सम्मान-अपमान है, और चित्त में विच्छेप नहीं तो न सम्मान है, न अपमान है । छत पर गड्ढा है तो काई लगेगी, पानी रुकेगा । और समतल है तो पानी नहीं रुकेगा । तुम्हारे मन में काई लगी है, इसका मतलब है कि तुम्हारे चेतना में गड्ढा है । तुम्हारे मन में कोई बात लग गई, कि इन्होंने ऐसा क्यों कह दिया ? इसका मतलब है तेरे मन में गड्ढा है, जिसमें बात रुक गई । समयसार ऐसा नहीं है । शब्दों का समयसार तो जगत में उपलब्ध है, दृष्टान्त को समझकर दाष्टान्त पर जाइये । बर्तन में पिचकन है, तो पानी रुक जाता है और पिचकन नहीं है, तो पानी निकल जाता है । जिसका चित्त पिचक गया है, वहाँ विषयकषाय रुक जाते हैं और जहाँ चित्त निर्मल है, वहाँ पानी गिरता तो है परन्तु बह जाता है । योगियों पर उपसर्ग-परीषहों के नीर तो गिरते हैं, वे स्फटिक के समान बनकर रहते हैं । स्फटिक पर कितने ओले-शोले पानी गिरे, सब बह जाता है । स्फटिक-स्फटिक रहता है, 'स्फटिक स्वरूपोऽहम्' जो किसी के परभाव को स्वीकार नहीं करता ।

समयसार जैसे ग्रन्थ की अनुभूति लेना है, तो पहले कर्मसिद्धांत की अनुभूति लीजिए । तब समयसार में टिक पाओगे । और कर्मसिद्धांत का ज्ञान नहीं है तो समयसार की चर्चा तो कर लो, लेकिन समयसार की चर्चा में टिक नहीं पाओगे । भूत की पर्याय पर भी जाइये, वर्तमान पर ही दोष नहीं दीजिए । धैर्य चाहिए, धैर्य चाहिए, सब सहन करने के लिए धैर्य चाहिए । परिणति एकदम/बिल्कुल शुष्क चाहिए, बिल्कुल सूखी । आर्द्र परिणति में न वैराग्य टिकता है, न राग टिकता है । भ्रमित तो नहीं हो रहे हो ? शुष्क परिणति चाहिए । शुष्क परिणति को आगम की भाषा में बोलता हूँ, परम उपेक्षा भाव चाहिये । शुक्ल लेश्या जो होती है न, द्रव्यभाव के अंशों में जीव जब जाता है, तब आते हो तो आइये, जाते हो तो जाइये, कुछ नया नहीं है । आना भी तुम्हारा स्वभाव था, जाना भी स्वभाव है, और शान्त रहना मेरा स्वभाव है । इसमें नयापन क्या है ? आपसे द्वेष नहीं है, राग भी नहीं है । एक एलक महाराज, मेरे साथ उन्नीस दिन तक रहे और पुनः हम आचार्यश्री के पास गये, बोले- आचार्यश्री ! इनके साथ नहीं जाना । पूछा- क्यों ? आप तो भेजो, पर मैं नहीं रह सकता हूँ । पूछा- बात क्या है ? बोले- ये न रोने दें, न हँसने दें, ऐसी बातें करते हैं, आचार्य श्री ने कहा रोयेंगे तो असाता वेदनीय कर्म का आस्रव होगा, हँसोगे तो चारित्रमोहनीय कर्म का आस्रव होगा । हारस्य भी कषाय है, शोक भी कषाय है, तो क्या करूँ ? मध्यस्थ हो जाओ । इसके लिए साधना चाहिये । ज्ञान का प्रयोग ज्ञान में कीजिए ।

प्रश्न किया - फिर वात्सल्य कैसे रहेगा ?

हे मुमुक्षु ! समयसार का वात्सल्य कहेगा कि निज गुण ही मेरे गुण हैं, निज गुण ही मेरा धर्म है । गुणों में अनुराग होना वात्सल्य है, रत्नत्रय में लीन होना परम वात्सल्य है । किसी का नाम लेना वात्सल्य नहीं है, राग है । ये राग मिश्रित वात्सल्य हो सकता है, पर शुद्ध वात्सल्य तो तेरा धर्ममय जीवन है, धर्ममय जीवन मेरा है । किसका नाम लूँ, किससे बात करूँ ?

यन्मया दृश्यते रूपं, तन्न जानाति सर्वथा ।

जानन् न दृश्यते रूपं, ततः केन ब्रवीम्यहम् ॥१८८ समाधि तंत्र ॥

जो रूप दिखाई दे रहे है, वे बोलते नहीं, जानते नहीं और जो जानन-देखनहार है वह दिखाई देता नहीं तो मैं किससे बात करूँ ? जो दिख रहे हैं, वे देखनहार नहीं हैं और जो देखनहार है, वह दिखाई देता नहीं, इसलिए मैं मौन रहता हूँ ? रागियों से बात करोगे भी तो यही मिलेगा। कोई रस की बात करेगा, तो कोई स्पर्शन की बात करेगा, तो कोई कर्ण की करेगा, तो कोई अन्तस्करण की करेगा, कोई चक्षु, श्रोत, घ्राण की करेगा। विश्वास रखो, जीव इनके अलावा कोई अन्य बात करते दिखाई देते नहीं है। धर्मात्माओं के पास भी जाओगे, तो धर्म के लिए कितने जाते हैं ? अरे ! तुम तो साधु के पास जाकर भी भोग ही माँगते हो, महाराज ! ऐसी परेशानी है, कोई उपाय बता दो। अरे ! सबसे सुन्दर उपाय है कि सबकुछ छोड़ दो, सब परेशानी समाप्त हो जायेगी। वह आप छोड़ता नहीं चाहते, और घर में परेशानी न हो, यह कभी संभव होता नहीं, क्योंकि संसार का स्वभाव ही ऐसा है। संयोग-वियोग, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ ये तो संसारीभूतों का काम है।

संजोगविप्पजोगं लाहालाहं, सुहं च दुक्खं च ।

संसारे भूदाणं होदि हु माणं तहावमाणं च ॥ ३६ वारसाणुपेक्खा ॥

इससे मुक्त कोई है, तो भूतनाथ तीर्थकर भगवान् हैं। आपको समयसार सुनाना तो बहाना है, आप सब के बीच में आकर समयसार को सुनता हूँ, क्योंकि बोलने वाली शब्दवर्णणायें हैं। हिल रहे है ओष्ठ, दंत, तालू। ये पुद्गल की परिणति है। बोलने का रागभाव भी पौद्गलिक है, पर मैं तो मात्र स्वयं को सुननेवाला ही हूँ। कोई बात नहीं। स्थिरता का काल कोई अल्प क्यों न हो, तब भी वैद्य से पूछो, शुद्ध स्वर्ण की भस्म कितनी देना पड़ती है ? अच्छा नियोग मिला है, जो लोगों को अनुभूति करना सीखना पड़ती थी, वह देखने को मिल रही है। स्वर्ण भस्म को सभी नहीं पचा पाते, क्योंकि स्वर्ण भस्म बहुत गर्म होती है। ऐसे ही समयसार शुद्ध भस्म है, अभ्रक भस्म है, ये तो धीरे-धीरे थोड़ी-थोड़ी देना पड़ती है, और जब उसको पचा लेता है, तो एक मुहूर्त में ही अशरीरी-सिद्ध-भगवान् बन जाता है। पर उसको पचाने की क्षमता भद्र मिथ्यात्व से प्रारंभ करना पड़ती है, तब कहीं चौदहवें गुणस्थान को प्राप्त करता है। हे भद्र ! तू क्यों अभद्र होता है, भद्रता की ओर चल।

स्पर्शन और रसना ये दो कामेन्द्रियाँ हैं। रसना वश में हो जाये, तो स्पर्शन इंद्रिय की कोई ताकत नहीं बचती। स्पर्शन को वश करना चाहते हो, परन्तु रसना को रस चखाते हो, अतः संभव नहीं होता। स्पर्शन को वश करना है, तो रसना पर नियंत्रण कीजिए। पानी देना बन्द नहीं कर रहे हो, परन्तु पत्र सुखाना चाहते हो, तो ध्यान दो, समयसार जैसे महान ग्रन्थ में कितना सुन्दर चरणानुयोग है। कोई कहना नही चाहता है, कह दूँगा तो त्यागी बनना पड़ेगा। जिसको त्यागी बनने से डर लग रहा है, उसको सिद्ध बनने से डर लग रहा है, क्योंकि शिव का मार्ग यही है।

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश ये चार बन्ध के भेद हैं। उनका फल क्या है ? नर और नारकी आदि। सत्य तो प्रगट है, छुपाकर कितने ही बैठ जाओ, परन्तु छुपेगा नहीं। मुट्टी बन्द करके बीज तो बोया जा सकता है, पर मुट्टी में फसल छुपाई नहीं जा सकती। फसल आयेगी, तो पूरे खेत पर लहलहायेगी। पाप तो छुपकर किया जा सकता है, पर पाप की फसल तो दुनियाँ को दिखेगी। कितनी गोदामें भर लो, नाली में

फिनायल छिड़कवा देना। सबका फल तुम्हें भोगना पड़ेगा। चाहे ज्ञातभाव से करो, चाहे अज्ञातभाव से करो, पर फल को तो सब ज्ञात है।

हमसे मत मिलो, अपने से मिलो। यहाँ तो हाथ जोड़ते हो, जहाँ करते हो वहाँ मिलो। मैं बीच में बार-बार पूछ लेता हूँ, जिनवाणी सत्य है कि असत्य है? सत्य है तो जिनवाणी में जो लिखा, हमारे कर्मों का क्या होगा? धर्म कितना हो रहा है, कर्म कितना हो रहा है, हृदय से पूछो। टटोल लीजिए, जिनवाणी सत्य है, परिपूर्ण सत्य है, अकाट्य सत्य है। जो आज हैंस रहे हो, कल गंगा जमुना बहाओगे। उपाय एक ही है, पानी बहने से रोक सको तो बाँध बाँध लो। संयम का बाँध बाँध लो। भावों की विशुद्धि की ओर चलो, जगत में रहकर जगत से हटकर चलो, जगत में रहकर जगत से बंध करना बंद करो, जगत के बीच रहकर जगत में रहना बंद करो। बंध को बंद करना है तो, मैं तो किसी से नहीं कहता कि, मुनि बन जाओ, क्योंकि मैं भरना पसंद नहीं करता हूँ। जो भरा जाता है, वह खाली जाता है। मैं पाताल तोड़ चाहता हूँ। ध्यान दो, मैं क्या बोल गया, टंकी में पानी भरा जाता है तो सूख जाता है, टंकी खाली हो जाती है, क्योंकि इसमें भरा गया था। जो पाताल से सीधा आता है, वह भरा नहीं जाता, वहाँ से निकलता है। भेदविज्ञान का स्रोत फूटेगा, वो त्यागी बनेगा, तो मिटेगा नहीं। और जिसे भर-भर के त्यागी बनाया जायेगा, तो सूख जायेगा, फिर मिट जायेगा। इसलिए भेदविज्ञान का स्रोत होना चाहिए। दूसरे के भरेभराये वैराग्य से साधु नहीं बनना। अन्दर का वैराग्य का स्रोत फूटेगा, फिर ये काम, भोग, बंध की कथायें तुझे अरुचिकर लगना प्रारंभ हो जायेंगी। खुदाई करो, भराई मत करो। कब तक लेते रहोगे दूसरे के घर से पानी? क्यों? चिन्तन में मग्न हो क्या? जितने क्षण रहते हैं यहाँ, उतने क्षण भावों में निर्मलता रहती है। ये निर्मलता भर नहीं रही है, खोद रही है, इसकी रक्षा करो। किससे, किसकी? अपने से, अपने की।

हे ज्ञानियो! स्वयं ही विषयों की आग उठाई है, स्वयं ही झुलस रहे हैं, अब रक्षा कौन करे? अग्नि लगी है, तो तेरे पास कुँआ भी है, उस पानी से सिंचित करना प्रारंभ कर दो। भेद-विज्ञान के नीर को निहार लीजिए, तो विषय-कषाय की अग्नि शांत हो जायेगी। इसलिए कामभोग बंध की कथा नर, नरक आदि देनेवाली है। यह कथा जो सुनी है, परिचित है, अनुभव की है, इसलिए जगत में वह दुर्लभ नहीं है। अगर जगह-जगह कामभोग नजर आता है, तो भेद-विज्ञान की यदि दृष्टि है, तो प्रदेश-प्रदेश पर समयसार नजर आता है। दो पर्यायें तो आपको दिख रही हैं न, एक तीर्थञ्च एक मनुष्य। एक श्वान गाडी में घूम रहा है, एक के सिर में कीड़े पड़े हैं सड़क पर पड़ा है, पर कोई देखनेवाला नहीं है। यह क्या है?

जो एकत्व-विभक्त स्वरूप आत्मा का है, वह सुलभ नहीं है। एकत्व-विभक्त यानी राग आदि से सहित व रहित है। जैसे- भोगों को सुना व अनुभव किया, वैसा तूने एकत्व-विभक्त को अनादि से न सुना, न अनुभव किया, न परिचित हुआ, न कभी अनुभूत हुआ है। इसलिए तत्त्व उपदेश कितना ही होता रहे, शीघ्र ही भूल जाता है। और किसी ने एक वर्ष पहले भी गाली दी हो, तो याद रखता है। हम ऐसा नहीं करते। क्यों? उन्होंने ऐसा बोल दिया था। धिक्कार हो, उस क्षण की पर्याय को अभी तक रखे है। तीर्थकरों ने उपदेश दिया था, परन्तु वह वहीं भूल गया था।

था कोटि सा उपदेश हमें सुनाया, धिक्कार है पर मैंने सुना न।

मानो सुना, पर गुना न।

कई उपदेश सुने, पर भूल गया। हाँ अच्छा उपदेश हुआ, यह कहकर चला गया। पर कैसा हुआ, इस

पर ध्यान ही नहीं दिया। अचार के मटके फोड़ दिये घर जाकर, अच्छा हुआ। घर में ऐसा होना शुरू हो गया है, तब लगता है कि उपदेश मन से सुना है, मुझे अभी प्रमाण-पत्र मिल गया। ऐसा प्रयोग अनुभूति में लाने लग जायेगा, तो भवावलियाँ चुल्लुभर रह जायेगी। छिद्र से युक्त चुल्लू में भरा पानी अधिक समय तक नहीं टिकता। ऐसे ही वीतरागी के कर्म का नीर अधिक समय तक नहीं टिकता, वो निकल जायेगा।

पाँचवीं गाथा में कह रहे हैं, एकत्व-विभक्त स्वरूप हैं वह आगम से कहता हूँ, अनुभव से कहता हूँ, गुरु उपदेश से कहता हूँ। तीन बातों को ध्यान दो, आगम से जाना, गुरु से सुना, अनुभव में जाना, वो भी ध्रुव है। बिना गुरु उपदेश के आगम नहीं जाना जाता, बिना आगम के अनुभव में नहीं उतरा जाता।

**तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण ।**

**जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घेत्तव्वं ॥५ समयसार॥**

हे ज्ञानियो ! ऐसे महान योगी, चौरासी पाहुड के कर्त्ता, महान अध्यात्म आचार्य, वे भी क्या कह रहे हैं। “चुक्किज्ज छलं ण घेत्तव्वं ।” वे क्या चूक करेगे ? फिर भी लिखते हैं। ऐसे महान आचार्य को भी लिखना पड़ा। क्यों ? भगवान् वर्द्धमान के समवसरण में मस्करी था। पार्श्वनाथ के साथ भी कमठ था। इन दोनों ने सोचा था कि बुरा कर रहा हूँ, पर उनके प्रभाव से वे महान बन गये। विरोध शक्ति से शक्ति बढ़ती है। तेरा काम तू कर, मेरा काम मैं कर रहा हूँ। अच्छे काम बन जाते हैं। कोई देखनेवाला दिख जाये, तो पूजा करने में जोश आ जाता है, छल भले ही हो जाये। छात्र का, तुम सभा के बीच में सम्मान करते हो, क्यों ? शक्ति बढ़ती है, पर शक्ति से उत्साह, उमंग बढ़ती है। इसलिए पंचमकाल में दीक्षा भीड़ में ही देना चाहिए, एकांत में नहीं देना चाहिए। भीड़ में पूछ लेना कि तू वैराग्य से भरकर आया है, कि भागकर आया है ? पंचपरमेष्ठी की साक्षीपूर्वक, गुरु की साक्षीपूर्वक और समाज की साक्षीपूर्वक आपको दीक्षा दी जा रही है, आपने स्वयं प्रार्थना की है, अब उसका पालन करो, क्योंकि सबके बीच ली है। और एकान्त में दे दें, तो कभी वह कह सकता है कि हम नहीं चाहते थे, इन्होंने जबरदस्ती दे दी। पंचपरमेष्ठी की साक्षी पर गुरु की साक्षी में लेता है, तो वह छोड़ने से पहले सोचेगा कि कोई क्या कहेगा ?

ऐसे महान योगी भी कह रहे हैं कि चूक जाऊँ तो छल को ग्रहण नहीं करना। कहीं मेरे अन्दर अहं/दम्भ न आ जाये, कि विश्वविख्यात समयसार मैंने लिखा है, उसके निरसन के लिए यहाँ आचार्य महाराज ने लिखा है। मैं भी बहुत ज्ञानी नहीं हूँ। मैंने भी गुरु, आगम, अनुभव से कहा है। जो यहाँ एकत्व-विभक्त स्वरूप है, उसे बताता हूँ। उसको बताने में चूक हो जाये तो छल ग्रहण नहीं करना। हे प्रभु ! आपके समयसार की वंदना बाद में, पहले आपको प्रणाम है। यही समयसार है, अपने आपको इतना ऋजु कर लेना। फिर भी आचार्य भगवान् चूक नहीं करेगे। अरे ! तुम इसमें भी छल ग्रहण मत कर लेना। आजकल लघुता को दीनता समझते हैं। सरलता को जाना कहाँ ? तुम्हारी कठोरता तो कठोरता ही दिलायेगी, सरलता प्रीति ही दिलायेगी। बिल्कुल भयभीत मत होना, कोई कितना ही कठोर व्यवहार करे, फिर भी सरलता मत छोड़ना। मुझे कई लोग सलाह देने आये कि अब आप आचार्य बन गये हो, कुछ तो कठोर बनो। मैंने कहा कि काठ कठोर होता है, हृदय कठोर नहीं होता। अपनी चर्या में कठोर रहना, पर किसी के प्रति कठोरता नहीं बरतना।

आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी कह रहे हैं कि जिस एकत्व-विभक्त को मैं कह रहा हूँ, वह एकत्व-विभक्त निश्चय से सकल तत्त्व को प्रकाशमान करनेवाला स्याद् पद से चिह्नित है, जिसका शब्दब्रह्म की

उपासना से जन्म होता है। स्याद पद समस्त तत्त्व का प्रकाशन करनेवाला है और स्याद्वाद है कथंचित्वाद। ये विवादवाद नहीं, ये साम्यवाद है। स्याद्वाद सम्पूर्ण विवादों का निरसन करनेवाला है। ये कथंचित रूप है। स्याद् निपात है, जो कि हेय-उपादेय की शंका का उपशमन करनेवाला है। ऐसे स्याद्वाद चिह्न से लक्षित जो तत्त्व का उपदेश है, वही शब्दब्रह्म है। जो शब्दब्रह्म अरहंत ब्रह्म से प्रगट हुआ है, लोक के चतुर्मुखी ब्रह्मा से नहीं। समयसरण में जिनका चारों ओर मुख झलकता है, वे परमब्रह्म तीर्थकर सर्वज्ञ देव हैं। ऐसे परमब्रह्म से उद्घाटित ये शब्द बहुत हैं और शब्द जो है, वह आत्मब्रह्म को उद्घाटित करता है। इतने सारे लोग शांत बैठे हैं, ये शब्दब्रह्म का वेदन है। शब्दब्रह्म तब बनता है, जब आत्मब्रह्म का स्पर्श करके निकलते हैं। अनुभवपूर्वक आप कहेंगे तो लोग विभ्रमित होते हैं। शब्द को कंठ से कहोगे तो कानों में सुनाई पड़ता है, पर अन्तकरण में सुनाई नहीं पड़ता। इसलिए जो भी कहें, आप ब्रह्म से मिश्रित करके कहें। समझ रहे हैं न? कंठ का बेटा, कि पेट का बेटा? ये शब्दब्रह्म तब बनेगा, जब पेट का बेटा होगा, कण्ठ का बेटा नहीं। कण्ठ का बेटा, तो पड़ोसी के बेटे को कह देते हैं, लेकिन वो दुलार नहीं होता। पर पेट के बेटे से अशुभ शब्द भी बोलो, तब भी हृदय प्रेम का होता है। ये जिनवाणी कण्ठ का पूत नहीं है, ये जिनवाणी शब्दब्रह्म, परमब्रह्म, आत्मपेट का पुत्र है, जो आत्मा से अनुभव करके कहेगा। आचार्य कुन्दकुन्द ने इस शब्द का प्रयोग क्यों किया? मैं शब्दों मात्र से नहीं कहूँगा, आत्मअनुभव करके कहूँगा। आत्मवेदन करके कहोगे, तो आत्मा में विद जायेगा। आत्मवेदन क्षायोपशमिक ही है।

जो स्वानुभव है, वह प्रत्यक्ष अनुभव है। वह कैसा है, इसे समझना है। यहीं लोग भ्रमित हैं, भले ही श्रुतज्ञान से हो। श्रुतज्ञान भी आत्मा का गुण है, वह प्रत्यक्ष है। ज्ञान 'गुण' है, आत्मा 'गुणी' है। गुण गुणी से भिन्न होता नहीं है। इसलिए जो स्वानुभव है, वह परोक्ष नहीं, प्रत्यक्ष प्रमाण है। दर्शनशास्त्र की भाषा में सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष-प्रमाण है। सिद्धांत की भाषा में परोक्ष-प्रमाण है। अध्यात्म की भाषा में स्वसंवेदन प्रत्यक्ष-प्रमाण है। कितनी सारी बातें हैं। अध्यात्म शास्त्र को बिना 'न्याय शास्त्र' के समझना संभव नहीं है।

बिना गुरुभक्ति के स्वानुभव की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि श्रद्धापूर्वक ही श्रद्धेय की प्राप्ति होती है। और जब तक श्रद्धा नहीं जमेगी, तब तक श्रद्धेय सर्वज्ञ भी बैठे रहेंगे तो वे सर्वज्ञ भी दिखाई नहीं देंगे।

**॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥**

प प प

यहाँ पर आचार्य भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने परम अध्यात्म शास्त्र 'समय प्राभूत' में समरसीभूत, एकीभाव जो परम तत्त्व है, उस परम तत्त्व को बताने की प्रतिज्ञा की है। कह रहे हैं कि जो कुछ भी मैं कहूँगा, वह स्वानुभव से गुरुप्रसाद से ओर आगमप्रमाण से कहूँगा, इससे हटकर मैं कुछ भी नहीं कहना चाहता हूँ। परम समरसी भाव को मैंने शब्दब्रह्म से जाना है। शब्दब्रह्म से जाना है आत्मब्रह्म की प्राप्ति के लिए। पर जो शब्दब्रह्म है, वह आत्मब्रह्म नहीं है। आत्मब्रह्म की सिद्धि का साधन तो शब्दब्रह्म है, लेकिन शब्द परमब्रह्म नहीं है। समयसार शब्दब्रह्म तो है, लेकिन जो शुद्धात्मा है, वही आत्मब्रह्म है। जिसने आत्मब्रह्म को छोड़ दिया हो और शब्दब्रह्म में लग गया हो तो यही मानना कि वह जड़ को छोड़कर पत्तों व पुष्पो में नीर दे रहा है, आत्मब्रह्म से शून्य होकर शब्दब्रह्म के नीर में डूब रहा है।

एक ध्रुवसत्य को समझना। कोई श्वास को खींच रहा है, कोई श्वास को छोड़ रहा है, ये शरीर की

क्रियाएँ हैं, ये शुद्धात्मा की धारा नहीं है। शरीर के स्वस्थ होने के साधन तो हैं। पर ध्यान दो, आत्मब्रह्म श्वास खींचना-छोड़ना नहीं है। आत्मब्रह्म स्व में लीन होना है तो ध्यान दीजिए, श्वास खींचना-छोड़ना आत्मस्वभाव नहीं है, ये तो शरीर की क्रिया है, लेकिन निज स्वभाव में लीन होना, ये आत्मा का धर्म है। ऐसे परम धर्म को छोड़कर कोई विपश्यना को निहार रहा है, तो कोई प्राणायाम में जी रहा है। पर प्राणों पर जीना भर ही व्यवहार है, तो प्राणायाम स्वभाव कैसा है? द्रव्य प्राणों को धारण करना आत्मा का स्वभाव नहीं है। द्रव्यप्राण भी संसार में व्यवहारदशा है। चेतन-प्राण आत्मा का शुद्धगुण स्वभाव है। प्राण धारण करना मेरा प्रण नहीं, तो प्राणायाम स्वभाव कैसा? ये तो शरीर को स्थिर करने का साधन है। स्वभाव में लीनता निज में चिरलीन में होने से ही होगा। योगा करनेवालों से पूछता हूँ कि तुम शरीर को इतना घुमाना-फिराना जानते हो, ये तो बताओ कि तेरा अब्रह्म भाव नष्ट हुआ कि नहीं? अगर नहीं हुआ, तो ये तुम्हारी खोखली क्रिया हमें उपयोगी नहीं है। जब तक अब्रह्म भाव का अभाव नहीं है, ज्ञानी! पेट को चाहे अन्दर ले जाओ, चाहे बाहर कर लो, पेट के अन्दर-बाहर होने से परम-ब्रह्म-भाव प्रगट नहीं होता। परमब्रह्म की सिद्धि चाहिये तो विषयों से अन्दर चले जाओ, साधना से बाहर मत जाओ, कछुआ बन जाओ। अपने शत्रुओं को देखकर वह अपने पाँचों अंगों (दो हाथ, दो पैर, एक सिर) को संकुचित कर लेता है। ऐसे ही शुद्ध उपयोगी, समरसी भावों से युक्त, परमभाव की ओर जानेवाला परम योगी वह होता है, जो कर्मों को निहार कर अपनी पाँचों इन्द्रियों को कछुआ के समान छुपा लेता है, उसको निर्वाण की सिद्धि होती है। यह सब जड़ की ही क्रिया है। इससे शरीर स्वस्थ कर लो, पर आत्मा का कुछ नहीं होगा। आत्मा अनात्मा ही रहेगी।

प्रारंभ अवस्था में चित्त को साधने का साधन तो हो सकता है, पर चेतन की प्राप्ति का साधन नहीं है। इसलिए ध्यान दो, बाहरी सिद्धि के लिए यह समयसार नहीं है। स्वात्मोपलब्धि की सिद्धि के लिए समयसार है। वर्णन भिन्न विषय है। वो तो श्रुत है, जिसमें जो जो द्रव्य होगा, सबका वर्णन होगा, पर सब का वर्णन शिव का कारण नहीं होता है। शिव का कारण तो सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य है। वर्णन सबका है, द्वीप, समुद्र, ग्रह, नक्षत्र आदि का है। लोकव्यवहार में सब लिखा है। पर इनको जानने के बाद परमभूत जो सत्ता है, वो चैतन्य भगवान् आत्मा है, और सब परगत हैं। जब तन में विराजे आत्मा को मैं तन से भिन्न ही स्वीकारता हूँ तो परिग्रहों को निज गृह में कैसे स्वीकारूँगा? आचार्य श्री पदममलधारि देव 'नियमसार' ग्रन्थ में लिखते हैं - दिग्म्बर तपोधन अगर किसी परिग्रह को स्वीकारते हैं, तो गात्र-मात्र परिग्रह को स्वीकारते हैं। वह भी क्यों? जब तक निर्वाण की प्राप्ति न हो जाये। स्वात्मोपलब्धि के लिए स्वीकारते हैं, उसकी सिद्धि-प्रसिद्धि के लिए नहीं स्वीकारते। योगी को तन व मन भी परिग्रह दिखता है। मन जितना बड़ा परिग्रह है, उतना बड़ा तो तन भी नहीं है। सारे जगत को संचित करने का स्थान इसमें है। कारण में कार्य का उपचार करने से रागभाव से युक्त मन भी परिग्रह है। जब मन पर में जाये, तो परिग्रह है। स्व में जाये तो स्वात्मोपलब्धि का साधन है। बहिरंग परिग्रह पर ही नहीं अन्तरंग परिग्रह पर दृष्टि डालो। जितने अन्तरंग परिग्रह बढ़ रहे हैं, इन सबका सहयोगी मन है।

इन्द्रियों की प्रवृत्ति या निवृत्ति में कोई स्वामी है, तो मन है। जिसने मन को जीता है, वह जितेन्द्रिय है। जिसने मन को नहीं जीता, वह जितेन्द्रिय होता ही नहीं है। क्योंकि वीतराग संस्कृति में इन्द्रियों को कुचला नहीं जाता है। आँखों को फोड़नेवाली संस्कृति नहीं है, निज अन्तर की आँखों को खोलनेवाली संस्कृति है। सबकुछ खुला हो पर विषय का द्वार न खुले, इसका नाम जितेन्द्रिय है। भावइन्द्रिय, भावमन



आत्मा में ही है। आचार्यश्री कहते हैं, एकत्वविभक्त को निहारो। आत्मा की धारा नाना रूप बदलती है तो नाना स्वरूप धारण करती है।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं, सम्पूर्ण पदार्थों को प्रकाशित करनेवाला स्याद् शब्द है। जगत में शब्दशक्ति में प्रचण्ड शक्ति है। स्याद् पद विश्व के सम्पूर्ण विवादों को समाप्त कर देता है। स्याद्वाद शब्द सबके मान को गला देता है। चक्रवर्ती की पटरानी व सौधर्म इन्द्र की पटरानी चौक पूरती है तो स्तन को चूर कर देती है। उसी प्रकार स्याद्वाद सूत्र मिथ्यादृष्टि के वज्र हृदयों को चूर कर देता है। सिद्धांत का कोई कर्त्ता नहीं होता। जिसका कर्त्ता होता है, वह सिद्धांत नहीं होता। स्याद्वाद शब्द न ऋषभदेव का है, न महावीर का है। सिद्धांत में, स्याद्वाद में जिये हैं वर्द्धमान महावीर सिद्धांत अनादि है। क्यों ? क्रिया बदल सकती है, पर सिद्धांत कभी नहीं बदलता। सिद्धांत और दर्शन में परिवर्तन नहीं होता है।

ब्रह्म वही शब्द है जो स्याद्वाद से चिह्नित है। जो शब्द स्याद्वाद से शून्य है, वह शब्द 'जिनवाणी' नहीं है। स्याद् पद से युक्त शब्द ही जिनवाणी है। शब्द मात्र जिनवाणी हो गई तो फिर जितने विपरीत स्याद्शून्य शब्द हैं, वह जिनागम हो जायेगा। कोई जैन भी पुस्तक लिखे, वह स्याद्पद से शून्य होकर लिखता है, तो उसे जिनवाणी घोषित मत कर देना। जैन शब्द से कोई जिनवाणी नहीं, जिनेन्द्र की वाणी जिनवाणी होती है। अभी सुन रहे हो, भविष्य में सुनने को मिले या न मिले, इसलिये संजोकर रखना। जैन शब्द से जिनवाणी है।

कई अजैन बन्धु जैनमुनि बने। आचार्य समन्तभद्र क्षत्रियवंश के, पूज्यपाद स्वामी ब्राह्मण थे। जितने बड़े-बड़े प्रकाण्ड साधु हुए, वे ब्राह्मण थे ! भगवान् महावीर के गणधर ब्राह्मण थे। जो मैं स्वानुभूति का वैभव दिखानेवाला हूँ। उसके लिये स्याद्पद से चिह्नित शब्दब्रह्म को मैंने भावआगम से जन्म दिया है। भावश्रुत की प्राप्ति द्रव्यश्रुत से होती है। द्रव्यश्रुत की उपासना नहीं करोगे, तो भावश्रुत नहीं बनेगा। इसलिए बड़ी विनय से जिनागम का पान करो। कैसे करो ? कर्ण अंजुलि लगाकर। जैसे प्यासा पुरुष अंजुली लगाकर पानी पीता है, ऐसे ही तत्त्वपिपासु जीव कानों की अंजुली लगाकर जिनवाणी को पीता है। पीयो जब तक नीर है, छठवें काल में नहीं मिलेगा। ये जिनवाणी का स्वाद पंचमकाल तक ही है, छठवें काल में नहीं मिलेगा।

और कैसा है ? सम्पूर्ण विधर्म की सेना को नष्ट करने में यह स्याद्पद समर्थ है। अनेकान्तरूप से जिसका जन्म हुआ है। वैभव कैसा है ? निर्मल विज्ञान से। चैतन्य का भेदविज्ञान है, वही निर्मल विज्ञान है। धान्य से कंकणों को कैसे बीना ? एक भी कंकण पिस जायेगा तो पूरा आटा किसकिसायेगा। तूने धान्य को शोध कर फिर पीसा। तू भेदविज्ञान की आँख से देह-आत्मा को भिन्न निहार। किंचित भी चैतन्य भाव तन में आ गया, तो तेरा पूरा आटा किसकिसायेगा। मुख से शब्द तो निकलते रहेंगे कि मैं भिन्न हूँ; तन भिन्न है, पर राग तेरा अभिन्न है। श्रृंगार किसके लिये ? चेतन का श्रृंगार तो संयम है। तन का श्रृंगार तो वही करते हैं, जिसकी शील की शील खो गई है। जिनका शील खोया नहीं है, वे संयम से भगवान्-आत्मा का श्रृंगार करते हैं। जो दूसरे के दिखाने के लिए करता है, वह व्यभिचारी होता है, क्योंकि पर को भ्रमित करने के लिए तूने श्रृंगार किया है। इतना ध्यान रखना कि यहाँ व्यवहार पक्ष लाना नहीं, यहाँ परमब्रह्म दशा को निहारना। मैं तो नहीं चाहता कि श्रृंगार करूँ, पर किसी को बुरा न लगूँ, इसलिए श्रृंगार करता हूँ। हे ज्ञानी ! पर को तो तेरा संयम रूप ही अच्छा लगता है, पर तेरा मन का विकार पर के मन में विकार खड़ा कर रहा है। यदि संयम रूप अच्छा न होता, तो निर्ग्रन्थों को, सिर न टिकाता होता। जितना शुद्ध संयमी होता है, असंयमी के भाव उतने

ही श्रद्धावान् होते हैं। जो निरन्तर सुन्दर, आनंद से मुदित, मंद कषाय से उत्पन्न हुआ है। जो कुछ भी प्रगट किया है, वह मेरे द्वारा स्वयं की आत्मा के वैभव के अनुभव से सम्पूर्ण रूप से, एकत्व-विभक्त आत्मा के स्वरूप को यहाँ दिखाता हूँ। कैसे ? मेरा सभी से कहना है, कि वह काम हाथ में न लो जो न कर सको, अगर लो तो उसे पूर्ण करो। मोक्षमार्ग में आया है, तो पीठ दिखाकर मत जाना, समाधि करके चले जाना। क्या कह रहे हैं, मैं एकत्व-विभक्त का बद्ध व्यवसायी हूँ, उसे छोड़ूँगा नहीं। एक बार जो निर्णय लिया है तत्त्व का, उसे मैं छोड़ूँगा नहीं। किन्तु उसे मैं स्वानुभव से परीक्षण करके कहूँगा। उसे आप भी स्वानुभव से परीक्षण करना, उसको प्रमाणित करना कि जो मैं कह रहा हूँ वह भूतार्थ है कि नहीं।

शुद्धात्मा स्वानुभव-प्रत्यक्ष से ही जानी जाती है। जब स्वानुभव-प्रत्यक्ष हो जाता है, तब दृढता आती है। अपने निज ज्ञाता से, ज्ञायक भाव से, निज ज्ञाता को भी, निज में जानना ही स्वानुभव-प्रत्यक्ष है। जो औदयिकभाव आ रहे हैं, वे आत्मा का धर्म नहीं है। उन औदयिक भाव को स्वानुभव-प्रत्यक्ष से जानते हैं। मनुष्यगति औदयिक भाव है। मैं मनुष्यगति के विपाक को अपने ज्ञान से देख रहा हूँ, भिन्न के ज्ञान से नहीं देख रहा हूँ ? मैं मनुष्य हूँ, मैं इसे ज्ञायकभाव से जान रहा हूँ, वेद रहा हूँ। जब आपके परिणाम चलते हैं, तब आत्मा का ज्ञान भी चलता है, उस आत्मा के ज्ञान से कहना कि, हे ज्ञान ! तुम आत्मा के परिणामों को जानो तो, पर इनके साथ मत चलो। देखो तो ब्रह्मभाव आ रहा है, अब्रह्मभाव आ रहा है, देखो तो जैसे नदी के तट पर बैठा जीव पानी में जाता नहीं है, तट पर बैठ कर पानी को आते-जाते तटस्थ होकर देखता है, इसी प्रकार चैतन्य सरिता में भावों का नीर बह रहा है, इसको तू तटस्थ होकर निहार। कौन से भाव आ रहे हैं, कौन से जा रहे हैं, उन भावों के साथ मत जाना तेरा ज्ञाता-दृष्टा भाव है। सड़क पर चलते लाखों को देखते हो, पर अपनी चैतन्य की सड़क पर अपने भावों को देखो जानो परन्तु उनके साथ तुम नहीं जाना। इस सड़क से कितने वाहन निकलते हैं, उन्हें देखते रहते हो छत से, पर एक के भी साथ नहीं जाते। जो परिणामों के साथ जाता है, वह स्वरूप पर नहीं रहता है, परस्थान पर जाता है। जो अपने स्थान पर बैठकर मात्र निहारता रहता है, वह ज्ञातादृष्टा स्वरूप स्थान पर होता है। बहुत मेहनत लगती है, तत्त्व के अनुभव में। जब स्व में आता हूँ, तब महावीर भी नहीं दिखते, क्योंकि महावीर की अनुभूति भिन्न है और स्व की अनुभूति भिन्न है, विश्वास रखो। घर में मेहमान आता है तो उसका सम्मान करते हो, पर घर में बेटा है, उसका सम्मान नहीं करते हो, फिर भी उसके प्रति श्रद्धा विशेष होती है। मेहमान तो चला जायेगा, यह आप जानते हो, पर बेटा हमारे साथ रहेगा, रोटी तो यही खिलायेगा। ये पर्यायों की पर्याय आ रही है, जा रही है, इनका सम्मान तुम कर लो, राग-द्वेष से, पर ध्रुव सत्य है कि आत्मपुत्र ही तेरा साथ देगा, मेहमान साथ नहीं देंगे।

जब वर्द्धमान आयेंगे, तब वर्द्धमान जैसा बन पायेंगे। जब तक वर्द्धमान नहीं आयेंगे, तब तक वर्द्धमान जैसा नहीं बन पायेंगे। आपने नदी को पार किया, नदी से पार होने के लिए ? ऐसे ही पंचपरमेष्ठी के पास रहूँ नौका से पार होने के लिए, अपने को पंचपरमेष्ठी बनाने के लिए। श्रद्धा में यही लेकर चलना पड़ेगा कि नौका को छोड़ना है तट के आने पर। वैसे ही पंचपरमेष्ठी भी ज्ञेय हो जाते हैं तट पर आने पर। हे महावीर स्वामी ! मैं आपका भक्त तो हूँ, पर आपरूप नहीं हूँ। भेददृष्टि, अभेद दृष्टि। पंचपरमेष्ठी मेरे आराध्य हैं, मैं आराधक हूँ। भेददृष्टि, अभेददृष्टि। लक्ष्य पर दृष्टि डालो। तब तक ही पंचपरमेष्ठी उपादेय हैं, जब तक हमारी सरागदशा है। पर श्रद्धा में परगत तत्त्व ही मानना पड़ेगा। पंचपरमगुरु हेय, उपादेय हैं; पर निज तत्त्व

शुद्ध आत्मा उपादेय ही है, हेय नहीं है। इस हेय को तुच्छाभाव से मत देखना। गृहस्थ तत्त्व निर्णय तो करता है, शुद्धोपयोग नहीं होता गृहस्थ को। दूध में पानी मिला पी रहा है गृहस्थ, पर श्रद्धा में दूध में पानी को देख रहा है। शुद्ध दूध तो शुद्ध अवस्था है। मैं यहाँ कह रहा हूँ कि जब भगवान् को भी अपना स्वगत नहीं कह रहा है, फिर परगत विषय आदि हमारे कैसे हो सकते हैं ?

दुनियाँ में सबसे न्यारा, ये आत्मा हमारा

भीगे नहीं पानी में, जले नहीं अग्नि में, सूखे नहीं पवन के द्वारा।

श्रमण संस्कृति का मूलसूत्र है, 'कण-कण स्वतंत्र है।'

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

व प प

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो ।

एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सोउ सो चेव ॥ ६ स.सार ॥

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने पाँचवीं गाथा में अपनी लघुता को व्यक्त करते हुए और ग्रन्थ की प्रामाणिकता को प्रधान करते हुए बड़ी सुंदर बात कही कि जो भी मैं कह रहा हूँ, वह स्वानुभव, आगम-प्रमाण और गुरु के प्रसाद से कह रहा हूँ। इसमें कदाचित् चूक हो जाये, तो छल को ग्रहण नहीं करना। गुरु प्रसाद और आगम-प्रमाण इन दो शब्दों ने ग्रन्थ की प्रामाणिकता को प्रमाणित कर दिया है और स्वानुभव से कह रहा हूँ, यह उनकी भेदविज्ञान की दशा का द्योतक है और 'चुक्किज्ज छलं ण घेत्तव्वं' यह लघुता का प्रतीक है कि ऐसे महान योगी जहाँ चूक की कल्पना संभव ही नहीं है, वहाँ पर चूक कहाँ हो सकती है।

उस एकत्व-विभक्त शुद्ध चिद्रूप का व्याख्यान यहाँ आचार्य-भगवान् कर रहे हैं। आचार्य जयसेन स्वामी की टीका देखें, फिर छठवीं गाथा पढ़ेंगे। इस गाथा में शुद्ध समयसार का व्याख्यान है, उस पर दृष्टिपात करो और तन्मय होकर समझना है कि समयसार क्या है, वस्तुस्वरूप क्या है ? एक ओर चरणानुयोग दिखता है तो दूसरी ओर द्रव्यानुयोग की दृष्टि है। पर ध्यान रखना, जब तक चरणानुयोग समझ में नहीं आता है, तब-तक द्रव्यानुयोग की गहराइयों को सुनने का आनंद तो आ सकता है, लेकिन अनुभवन का आनंद नहीं आता। जो चरणानुयोग है, वह तो चरणानुयोग है ही, लेकिन समयसार भी चरणानुयोग ही है। ध्यान दो, अध्यात्म भी चरणानुयोग है। वह कैसे हो सकता है ? भो ज्ञानी ! ब्रह्म-आचरण चरणानुयोग है, तो आत्माचरण द्रव्यानुयोग है। समयसार निश्चय चरणानुयोग है और मूलादार ब्रह्म चरणानुयोग है। क्योंकि 'समयसार' साध्यभूत चरणानुयोग है और 'मूलाचार' साधनभूत चरणानुयोग है। अपेक्षा लगाते जाइये, कहीं कोई विकल्प ही नहीं आते हैं। जो पूर्व में कहा हुआ एकत्व-विभक्त, अभेद रत्नत्रय से परिणत, मिथ्यात्व व रागादि से रहित परमात्म स्वरूप है, ऐसा अर्थ समझना। मैं उसे कहता हूँ, दिखाता हूँ, अपनी मति के वैभव से और आगम, तर्क, परम गुरु के उपदेश से, अपने स्वात्म वैभव से। स्वकीय संवेदन, स्वकीय अनुभूति, स्वकीय अनुभव उसी का प्रामाणिक है, जो आगम सम्मत है। कोई ये न मान ले कि आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने अनुभव से कहा है, अन्यथा जैसा उनको अनुभव में आया वैसा कहा, तो जैसा हमारे अनुभव में आ रहा है वह मैं कह रहा हूँ। ध्यान दो, आज की लीला विचित्र है। ऐसे भी जीव मिले, जो कि आगम कुछ कहता है और वे धीरे से बोलते हैं, लगा लेना चाहिए। पूछा कि कैसे लगाऊँ, तो बोले कि कुछ विषय अपनी आत्मा से 'लगा लेना चाहिए।' हे ज्ञानियो ! आत्मा से वही विषय लगता है, जो आगम में होता

है, और जो आगम में नहीं होता है, वह आपका विषय स्वीकार नहीं होता है।

आप उन जीवों की बात को कभी नहीं स्वीकारना जो "देवता" के नाम से बताये। एक सज्जन को देव आया। पूछा- कहाँ से आया? 'सर्वार्थसिद्धि से आया हूँ।' में मानता हूँ, कि आप नहीं मानोगे, क्योंकि आपने शास्त्रों में पढ़ रखा है कि सर्वार्थसिद्धि से देव नहीं आते हैं। मुझे आश्चर्य यह हुआ कि देश का ख्याति प्राप्त विद्वान् विशुद्धसागर को बता रहा था। मैंने कहा- सर्वार्थसिद्धि का देव तीर्थकर के कल्याणक मनाने में नहीं आता, तो तुम्हारे यहाँ कैसे आ गया? और सर्वार्थसिद्धि का देव किसी का सिर हिलाने नहीं आता, इतना तुच्छ नहीं होता। जो तुच्छ लोग होते हैं, जो क्षीण पुण्यवान् होते हैं, निम्न जाति के होते हैं, वे ही ज्यादा घूमने की भावना रखते हैं। व्यन्तरादि ही विचरण करते हैं। पर उत्कृष्ट जाति का देव गति, शरीर, परिग्रह, अभिमान से हीन-हीन होता है। यहाँ सिद्धांत पकड़ना। अभिमान भी उन्हें आता है, जो क्षीण पुण्यवान् होते हैं। जिनका पुण्य प्रबल होता है, वे तो शिव पर बैठे हैं, उन्हें अभिमान की क्या आवश्यकता? जिनको अभिमान आ रहा हो, वे समझें कि वे पुण्यात्मा नहीं हैं। पुण्यात्मा जीव को अभिमान नहीं आता, जो निम्न स्तर के होते हैं, वे ज्यादा उचकते हैं। जो महापुरुष होते हैं, वे भद्रपरिणामी होते हैं। लोक में सबसे बड़ा कोई महापुरुष है, उसका नाम तीर्थकर है। तीर्थकर-जैसी आत्मा को गुणस्थानपरक कषाय तो रहेगी, लेकिन उस गुणस्थान में होने पर भी कषाय का उपशमन करके चलते हैं, प्रगट नहीं होने देते।

आप अपने आसपास ही देख लीजिए। गर्दन बहुत ऊँची दिख रही है, हाथ बहुत छोटे-छोटे दिख रहे हैं, नाक चपटी दिख रही है, माथा संकुचा है अब इनके स्तर का क्या पूछना है। न पुण्यात्मा है, न बुद्धि मान है। यदि गर्दन लघु है, माथा चौड़ा है, कान दीर्घ हैं, सुंदर नाक है तोते जैसी लम्बी और जिसके शरीर में रोमावली अल्प है, तो वह दीर्घ आयु भाग्यवान जीव है। यह आयुर्वेद बोल रहा है, लक्षणशास्त्र बोल रहा है, यह सामुद्रिकशास्त्र बोल रहा है। जिसके बोलने में लगे कि घर-घर की आवाज आ रही है, वह क्षीणपुण्य वाला जीव है। और जो सोचने के पहले बोल पड़ता है, सोचता बाद में है, वह प्रज्ञाहीन है। जो पुरुष प्रज्ञावान् होता है, वह बोलने के पहले विचारता है। आवाज जोर-जोर से करता है, ये पुण्य की क्षीणता बोल रही है। जिसकी आवाज भारी हो, गंभीर हो और मंदमंद बोलता हो, यह विशिष्ट जीव का लक्षण है। आप अपने आसपास निहार लो। विशिष्ट योगी मिलेंगे, उनकी आवाज को देखना। आपने आचार्य विद्यासागर मुनिराज को कभी चिल्लाते देखा? नहीं देखा। वो डाँटते भी हैं तो चेहरा नहीं बिगाडते और धीमे बोलते हैं। जिस पर दृष्टि पड़ जाये, वह नीचे से ऊपर गर्दन नहीं कर पाता। शिष्य को समझाया तो जाता है, पर अपने को बिगाड़कर नहीं। तुम समझो या न समझो, पर अपने भाव क्यों बिगाड़ना।

आचार्य शांतिसागर महाराज की कैसिट की आवाज आ रही थी। वे प्रवचन के बीच में भी 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' उनके लक्ष्य में था। अपने को नहीं भूल रहे थे। शुद्धोपयोग पर बहुत सुंदर कथन किया। शुद्धोपयोग की धारा सप्तम गुणस्थान के पहले होती नहीं। कुछ समय पहले एक मुनिराज कुंथलगिरि में चतुर्थ का पट लगाने लग गये। देखना कि कितनी विषमता थी। उस समय मुनिराज चिन्मयसागर वहीं थे। उन्होंने कहा- एक क्षेत्र में दो धाराएं कैसे रहेंगी? ऐसा कर लो आप आचार्य शांतिसागर के पट को निकाल दो और इसे लगा दो। अब किसकी ताकत थी शांतिसागर के पट को निकालने की?

दीक्षा देना और दीक्षित होना, इन दोनों में बहुत अन्तर है। जब तक दीक्षार्थी के अन्तस् स्वभाव को न नाप लिया जाये, तब-तक मुनिराज नहीं बनाना, क्योंकि मुनिराज एक परमेष्ठी पद है। जैनदर्शन में

सबसे प्रमाणिक कोई पद है तो मुनिपद है, क्योंकि हमारे आगम में सर्वत्र लिखा है "नान्यथामुनिभाषणं"। हम लोग मुनि के वचनों को भगवान् के वचन मानते हैं। और कोई ऐसा-गैरा मुनिपद को प्राप्त हो गया, जिसने मुनिवेश तो धारण किया, पर अपने पूर्व संस्कारों को नहीं छोड़ा, वह समाज में आयेगा तो ध्यान रखना, विद्वान् से इतना भ्रमित नहीं होंगे, क्योंकि सबको मालूम है कि विद्वान् तो विद्वान् है, गृहस्थ है, ऐसा बोल देंगे। पर महाराज ने जो कहा है उसे मानेंगे। आज सम्मेलन मुनि बनाना है। आज सबसे ज्यादा एकांत जो फैला है, वह एकांतपक्ष में चलनेवाले मुनिराजों से फैला है। उन्होंने बहुत पुष्टि की, क्षेत्र बदल दिये। जाओ सोलापुर तरफ, वहाँ एकान्त का प्रचार मुनिराजों ने किया है। इसलिए फिर मुझे लगा कि जिन्होंने इन्हें दीक्षा दी, उन्हें पता करना चाहिए था कि इनकी पुरानी धारा क्या है, नहीं तो समाज भटक जाती है, क्योंकि हम "नान्यथामुनिभाषणं" पर चलते हैं और हमको डर लगता है, दिगम्बर समाज को बड़ा डर लगता है, इस बात का कि मेरे द्वारा मुनिराज की अवहेलना न हो जाये, और लगना ही चाहिए। ज्ञानी! मुनिराज की अवहेलना न हो जाये, इतना तो ध्यान रखना, पर आगम की अवहेलना न हो जाये, इसका भी ध्यान रखना। उनकी आराधना बराबर करना, पर यह देख लेना कि उनके वचन आगम अनुसार ही हैं कि नहीं। अन्यथा ये समय है, इस पर ध्यान नहीं दिया, तो अट्टारह हजार वर्ष तक वीतराग शासन को सुरक्षित लेकर कैसे चलेंगे? आप क्या करते हो, क्या कहते हो, इससे मेरा प्रयोजन नहीं है। पर बताओ कि पूर्वाचार्यों ने क्या कहा, उसके अनुसार कहिए। विश्वास रखना, एक अज्ञानी-से-अज्ञानी भी जीव होगा, आप वक्ता होंगे, पर सच्चा श्रोता भी है। वह कहना जाने या न जाने, लेकिन आप किंचित भी चूक करोगे, तो वह टोकना जानता है। यहाँ कुछ गड़बड़ किया है, समझता है वह, क्योंकि उसने कई वक्ताओं को सुना है। आप जिनवाणी को कठोर शब्दों से भी बोल रहे हो न, तब भी लोग शांति से सुनते रहेंगे, क्योंकि ठीक है, मेरे अनुसार नहीं बोल रहे, पर आगम तो बोल रहे हैं। इसलिए आचार्यों ने कहा वाचनिक परीक्षा, शारीरिक परीक्षा और मानसिक परीक्षा। मानसिक परीक्षा कैसे व्यक्ति की सिद्धि करता है? जिसका स्तर निम्न है, उसका चिन्तन भी निम्नता की ओर जाता है। आपगा यानी नदी। नदी का नाम निम्नगा भी है और निम्ना भी है। नदी जहाँ से निकलती है, वह छोटी जगह है। ऊँचे से नीचे गिरती है, इसलिए इसका नाम निम्ना है। ज्ञानियो! जिसका मन निम्ना है, वह खारे समुद्र में ही मिलता है। जो ऊँची चोटी से गिरे, वह नीचे बहकर समुद्र में मिले। जिसका मन निम्ना है, वह नीचे ही सोचता है।

आपने आज तक गौर नहीं किया है कि जैन साधु, जैन तीर्थकर पर्वतों की चोटी पर तपस्या करते मिले हैं। नदी के किनारे जैनतीर्थ बहुत कम मिलेंगे। वैसे बहुत होते नहीं हैं। क्यों? यह वीतरागता का धर्म है, इसमें बहने का मार्ग नहीं है। ये तो तपस्या से शुष्क होते हैं। जिनको जल ढारने की आवश्यकता होती है, वे नदी के किनारे बसते हैं। कर्मों को गीला करना है, कि सुखाना है? यही कारण है कि तीर्थकरों ने पर्वतों की चोटी पर तपस्या की है, क्योंकि हमें गीले नहीं होना, हमें सूखना है। ये निम्नगा मार्ग नहीं है, वह शिखर-शेखर का मार्ग है। समझते जाओ। त्रैलोक्य चूड़ामणि (तीनलोक के चूड़ामणि) बनना है तो निम्नगा होकर नहीं बन पाओगे। उत्कृष्टता की ओर जाने के लिए तीन हेतु दिये आचार्यों ने (१) साम्यभाव (२) गुरुप्रसाद (३) आगम। तुम्हारे वचनों की प्रामाणिकता यह कि जिसे आप कह रहे हो, उसका स्वयं आचरण कर रहे हो कि नहीं। स्वानुभव करना।

जो तुम आचरण कर रहे हो, वैसा और किसी ने किया क्या? गुरुप्रसाद, जो तुम्हारे गुरु ने कहा है

वह प्रमाण किया क्या ? एवं आगम ये तीन बातों का ध्यान रखना। क्योंकि हम अपनी कन्या को भी किसी के कर में सौंपते हैं तो कुल को पहले देखते हैं। नीतिग्रन्थों में लिखा है कुलवंत पुरुष को चाहिए कि कन्या को कुएँ में डाल दे, पर कुलहीन विधर्मी के हाथ में नहीं दे। यह नीति बोल रही है, पर आप कुएँ में डाल मत देना। हे ज्ञानी ! तुम कन्या का कर भी कुलवंत के हाथ में देते हो, तो तीर्थकर कह रहे हैं कि हम जिनवाणी भी कुलवंत के हाथ में ही सौंपते हैं, हीनकुल वालों को नहीं देते हैं।

### “देसेकुल-जाई-सुद्धा”

यह आचार्य कुन्दकुन्द की गाथा है। इधर-उधर मत कर देना। ध्रुव सत्य है, वंश का प्रभाव पड़ता है। गोम्मटसार-कर्मकाण्ड में हिन्दी टीका में एक कथा दी है, पंचतंत्र से ली है। वंश का कैसा प्रभाव है ? श्यालनी की मृत्यु हो गई, सिंहनी को करुणा आ गई, उसने बच्चे को अपना दूध पिलाकर पाल लिया। सिंहनी का भी बच्चा था। जब दोनों बड़े होने लगे, एक दिन जंगल में क्रीड़ा कर रहे थे। वंशस्वभाव से हाथी को देखा सिंहनी के बच्चों ने तो वे दौड़ पड़े, पर श्याल ने पकड़ लिया ‘नहीं! बहुत बड़ा है। अपन को कुछ नहीं करना।’ दोनों बच्चे रोते हुए माँ के पास पहुँचे, बोले - ‘माँ ! मेरे भइया (श्याल के बच्चे) ने मेरी वीरता को छीन लिया।’ माँ को दया आ गई, कि मैं अभी कुछ कहती हूँ तो ये सिंह के बच्चे हैं, श्याल के बच्चे को मार दोगे। बोली- आप जाओ, मैं समझा दूँगी। बुलाती है श्याल के बच्चे को एकान्त में। ‘बेटे ! अब तुम यहाँ से भाग जाओ।’ क्यों, माँ ? ‘जिस कुल में तुम जन्मे हो, उस कुल में दन्ति (हाथी) के गंड स्थल का भेदन नहीं होता है। तो माँ जिनवाणी कह रही है वेटे ! तुम भाग जाओ, जिस कुल में दन्ति यानि इन्द्रियों का दमन नहीं होता है, वे कुल वाले भगवान् नहीं बनते हैं। जिन कुल में दन्ति का दमन होता है, उस कुल वाले ही भगवान् बन पाते हैं। हीन कुल वाला इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं कर पाता, ये विश्वास रखना। निम्न वर्ग के लोग अशुभ करते ज्यादा देखे जाते हैं। अपवाद मार्ग सब जगह है, लेकिन प्रचुरता निहारिये। इसी प्रकार से जिसका वंश शुद्ध होगा, वह शुभ ही ज्यादा करेगा। रक्त की शुद्धि जीव के चित्त को प्रभावित करती है। ये दृष्टान्त क्यों दिया गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) में ? क्यों कर्मकाण्ड में कर्मप्रकृति का वर्णन है। उच्च गोत्र व नीच गोत्र का वर्णन किया जा रहा था। सिद्धांत शास्त्रों में उच्च गोत्र उसे ही कहा है, जिस गोत्र में जैनेश्वरी दीक्षा ली जाती है। जिस गोत्र में जैनेश्वरी दीक्षा लेने की पात्रता नहीं है, वही नीचगोत्र है।

इस प्रकार दो बातों पर विशेष ध्यान रखना। आगम और तर्क यहाँ दो शब्द क्यों रख दिये ? आगम, तर्क इनको और समझ लो। आगम के साथ तर्क शब्द का प्रयोग किया है। पहले तर्क शब्द का प्रयोग क्यों नहीं है, पहले आगम शब्द का प्रयोग क्यों किया ? युक्ति अनुसार आगम अर्थात् आगम के अनुसार तो तर्क होना चाहिए, पर तर्क के अनुसार आगम नहीं लगाना। आगम के अनुसार तुम्हारा तर्क स्वीकार है। और जिस तर्क में आगम न हो, वह तर्क नहीं, तर्काभास है। हमारे जिनागम में तर्क प्रमाण है, मुझे तर्क से तर्काभास का निर्णय करना चाहिए, न कि तर्क से आगम को तोड़ना चाहिए। आज विपरीत हो रहा है, हम तर्कों से आगम को तोड़ना सीख रहे हैं। पहले तर्कशास्त्र तो पढ़ो। जिनको तर्क का ज्ञान नहीं है और कलम चलाना सीख रहे हैं, उनका हर लेख विवाद से ग्रसित है। क्योंकि तर्क से आगम को बैठाया जाता है और जो तर्क नहीं जानते वे आगम को बैठा नहीं पाते हैं, इसलिए तुम्हारा लेख विवाद में आ जाता है। हमारा तर्क आगम की सिद्धि के लिए होता है, पर हम अपने ही तर्कों से अपने ही आगम को तोड़ देते हैं। आचार्य-भगवान् वीरसेन स्वामी ने ‘धवला’ जी में लिखा है-

### आगमोऽतर्कगोचरा ।

आगम पर तर्क नहीं चलते है (तर्क के लिए आगम चाहिए पड़ता है ।) तो आचार्य भगवान् समन्तभद्रस्वामी 'देवागमस्तोत्र' में आगम में लिखते है, जो कथन होता है, वह वस्तुस्वभाव का ही होता है । यदि विभाव का भी कथन है तो वह भी विभाव-स्वभाव का ही कथन है । विभाव भी वस्तु का स्वभाव है । कौन-सा विभाव ? विभाव स्वभाव । स्वभाव वस्तु का स्वभाव है । कौन-सा ? स्वभाव-स्वभाव ।

स्वभाव पर तर्क नहीं लगता -

**शुद्धयशुद्धी पुनः शक्ति ते पाक्यापाक्यशक्तिवत् ।**

**साधनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचरः ॥१०० आप्त मीमांसा ॥**

जैसे पाक्य-अपाक्य दो शक्तियाँ है, भव्य-अभव्य । अभव्य यानी अपाक्य । शुद्ध शक्ति, अशुद्ध शक्ति ये जीव में दो शक्तियाँ हैं । भव्य जीव में शुद्ध शक्ति होती है और अभव्य जीव में अशुद्ध शक्ति ही होती है । कैसे ? जैसे पकने की शक्ति है, वह मूँग और जिसमें पकने की शक्ति नहीं है, वह ओना (तुर्रा) मूँग । ऐसा क्यों ? अब प्रश्न करो, क्या भव्य कभी अभव्य होगा ? नहीं । अभव्य कभी भव्य होगा ? नहीं । क्यों ? 'स्वभावोऽतर्क गोचराः' ये स्वभाव ही है । अग्नि गर्म क्यों ? पानी शीतल क्यों ? अरे, ये तो स्वभाव है । आगम पर तर्क नहीं चलता, क्योंकि आगम में स्वभाव का कथन होता है । स्वभाव में तर्क नहीं चलता । आचार्य कुन्द-कुन्द ने प्रवचनसार ग्रन्थ में लिखा- तीर्थकर का गमन व टहरना, स्वभाव से होता है, किसी से प्रेरित होकर नहीं होता । कैसे ? जैसे कि स्त्रियों का मायाधर्म । बताओ, कुन्द-कुन्द स्वामी आपसे रूठे थे क्या ? नहीं । कुन्द-कुन्द देव आपसे रूठे नहीं थे । जैसा स्वभाव था, वैसा ही व्याख्यान कर दिया है । आप बताओ ऐसा होता है कि नहीं ? घर में दस दिन का नमक रखा है, फिर भी कहती हैं कि खत्म हो गया, लेकर आओ । एक नमक की डली के पीछे अपने सत्यधर्म को नष्ट कर रहे हो । ऐसी गृहस्थी न चले, परिवार के पीछे कर्मों का परिवार क्यों बसा रहे हो ? लेकिन पुरुषों को भी चाहिए कि आपके निमित्त से कोई कर्म का बन्ध न करें, पहले से ही लाकर रख देना चाहिए ।

प्रश्न किया- अभिप्राय तो अच्छा है ।

आपने ठीक कहा, पर अभिप्राय ही अच्छा नहीं है, क्योंकि अभिप्राय तेरा गड़बड़ हो गया । जब बोला था, तब तुम्हारे ज्ञान में रखा था कि शक्कर रखी है । परद्रव्य के पीछे तू अपने धर्म से दूर हो रहा है । अभिप्राय बरती का है, निज की बरती का नहीं है, इसलिए अभिप्राय अच्छा नहीं है । बड़ा गंभीर है । अच्छा-सा लगता था, पर फल अच्छा कहाँ था ।

**प्रश्न- साधु की वैयावृत्ती के हिसाब से मायाचारी करना पड़े तो दोष लगेगा ?**

**उत्तर-** ध्यान दो, व्यवहारिकता भिन्न विषय है, परमार्थता भिन्न विषय है । पाँच पाण्डवों में दो का अभिप्राय कितना अच्छा था, लेकिन फिर भी उनके उस अच्छे अभिप्राय ने भी उनका अच्छा नहीं होने दिया । विकल्प 'पर' का हो गया । हमें परमात्म दृष्टि को स्पष्ट करना है । किसी के मायाचारी का निमित्त भी नहीं बनना, और मायाचारी भी नहीं करना । घर में पहले से ही व्यवस्था बना देना, जिससे झूठ न बोलना पड़े । आपने आचार्य अमितगति स्वामी का 'योगसार प्राभृत' पढ़ा होगा । उसे जरूर निहारना ।

**प्रश्न- लोकाचार तो मायाचारी का पिण्ड है ?**

**उत्तर -** इसमें किंचित भी संशय नहीं है । आचार्य अमितगति ने लोकाचार और लोकोत्तराचार दो

शब्दों का प्रयोग किया है। यह मोक्षमार्ग लोकाचार का नहीं है, लोकोत्तराचार का है। लोकाचार में क्या करना पड़ता है ? पंडित जी पधार गये, आपने चंदन से तिलक लगावा दिया, ये लोकाचार है। क्यों ? तूने चंदन का जो टीका किया है, वह टीका किसने किसका किया है ? ये अभिनंदन किसका ? अभिनंदनीय तो त्रैकालिक था। अभिनन्दन तो भव से भव का है। हे मुनीश्वरो ! तुम मत चाहो इस तन की ख्याति। भव का अभिनंदन करते-करते आज तुम आ गये इस अवनि पर। भव का अभिनंदन करोगे, तो कैसे मिलेगी सिद्धालय की माटी ? मुनिधर्म लोकाचार नहीं, ये लोकात्तराचार है। इसलिए व्यवहार और परमार्थ दो शब्दों पर ध्यान देना। ये 'समयसार' ग्रन्थ परमार्थभूत है। बस, इतना ध्यान रखना। जो व्यवहार धर्म है, उसका नाम रत्नत्रय भेदरूप है। जिसके लिए पाला जा रहा है, वह निश्चय अभेद रत्नत्रय है। लेकिन मूसल पूजो, पेड़ पूजो, मिथ्या का व्यवहार है, धर्म नहीं। कुछ ऐसी व्यवस्था है जिसमें सम्यक् भी बहुत दूर है, और कभी लोकाचार इतना बड़ा हो जाता है कि लोकोत्तराचार का टिकना बंद हो जाता है। जैसे कि दो पुरुष बड़े लम्बे हैं। इन लम्बे पुरुषों को महल की छत पर खड़ा कर दो। लम्बे हैं, तो वैसे-ही ज्यादा दिखेगा, और महल पर खड़ा कर दो, और उनसे बोलो देखो, एक व्यक्ति को विमान में बैठा दिया और विमान ने उड़ान भरना प्रारंभ कर दिया, अब आप दोनों बताओ कि विमान दिख रहा कि नहीं ? तो वह कुछ क्षण तक कहेंगे, हाँ। फिर कहेंगे हाँ, न; दो बोलेंगे। क्यों ? क्योंकि दूरी बढ़ती है, तब पहले तो दिखता है, फिर नहीं दिखता। फिर कहेंगे हाँ, न। जैसे ही दूरी बढ़ जाती है, फिर कहता न, न, न। हे ज्ञानियो ! लोकाचार में इतने बढ़ गये हो तुम कि उसमें लोकात्तराचार कहता न, न, न। फिर लोकात्तराचार कहता है, कि मेरी तो झलक भी नहीं आ रही है। इतना लोकाचार आ चुका है, कि मेरी दूरी बहुत आगे हो चुकी है। परमात्मदृष्टि कहेगी कि लोकाचार में इतने मत चले जाना, जिससे कि विमान का दिखना न, न, न हो जाए। हाँ, न में फिर भी कुछ झलक थी, पर न में तो पूरा चला गया। परमार्थ है, लोकोत्तराचार है।

हे मुमुक्षु ! तू कब तक लोकाचार में रहेगा ? लोकोत्तराचार की ओर चलो। हे भवाभिनंदी ! भव का अभिनंदन कब तक करते रहोगे ? भवातीत पर दृष्टिपात करो। किंचित भी भव पर दृष्टि है, तो भव का सुधार कैसे ? भव का ही अभिनंदन है।

हम किसी का सत्कार/सम्मान करते हैं तो उसमें छिपा रहता है स्वयं का सत्कार। मैं इनके नगर जाऊँगा, तो ये भी सम्मान करेंगे। इसलिए वह व्यवहार स्वीकार है, जो परमार्थ का साधन है। पर वह धर्म व्यवहार स्वीकार नहीं जो परमार्थ से शून्य है। वह लोकाचार है। व्यवहार धर्म तो परमार्थ का साधन है। अन्तर डालना। धर्म-व्यवहार वही है, जो परमार्थ का साधन है। जो परमार्थ का साधन नहीं है, वह लोक व्यवहार परमार्थ निश्चय धर्म होने से तुलना नहीं। सभी जगह एक ही शब्द प्रयोग मत करना। सुअर के केशलोच कब होना? ऐसा कभी नहीं कहते। क्योंकि सुअर के बाल खींचते हैं, साधु के केशलुंचन होते हैं। क्यों ? स्वाधीनता है केचलुंचन में, खींचने में पराधीनता। जिसमें स्वाधीनदशा है, वह व्यवहार 'परमार्थ' है, और जिसमें पराधीनता है, वह व्यवहार 'लोकाचार' है। व्यवहार के विभाग करो, वह भी तो व्यवहार है। बेटी की शादी में ग्यारह रुपये पड़ोसी दे गया था, तो आपने भी इक्कीस रुपये व्यवहार पहुँचा दिये। ये समयसार का व्यवहार नहीं है। हे ज्ञानी। ये संसार चलाने का व्यवहार है। समयसार का व्यवहार सातवीं गाथा में कहेगा, अभी छठवीं गाथा पढ़ना है। पंचपरमेष्ठी के चरणों का स्पर्श करना, ये व्यवहार धर्म है। माता-पिता के चरण स्पर्श करना लोक-व्यवहार है। इतना अन्तर है। अन्तर डालना, नहीं तो विनय-मिथ्यात्व में पहुँच



जाओगे।

गोमटेश्वर में प्रश्न किया- माँ-पिता के चरणस्पर्श करना सम्यक्त्व, है कि मिथ्यात्व। न सम्यक्त्व न मिथ्यात्व/सम्यक्त्व इसलिए नहीं है, कि वे देव-शास्त्र-गुरु नहीं हैं। मिथ्यात्व इसलिए नहीं है कि वे कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु नहीं हैं। माँ-पिता के चरणस्पर्श लोकाचार है। धर्म व्यवहार में अन्नती भी देशव्रती ब्रह्मचारी तक चरण स्पर्श नहीं करता या उत्कृष्ट श्रावक पूर्व तक किसी की वंदना नहीं।

आचार्य-भगवान् कह रहे हैं, कि मैं जो कह रहा हूँ उसमें चूक हो जाये तो छल ग्रहण नहीं करना। जैसे कि दुर्जन पुरुष, कई गुणों को नहीं देखता है, पर एक गलती को पहाड़ बना देता है।

प्रश्न किया - शुद्धात्मा क्या है ?

मनीषियो ! आचार्य भगवान् कुन्दकुन्द देव कह रहे हैं कि मिश्रधारा को गौण कर दीजिए, स्वभावधारा की ओर चलिए। स्वभाव में ज्ञायकभाव है, मिश्र में परभाव है। ज्ञायक, ज्ञायक है। मैं ज्ञायकस्वभावी हूँ। मैं प्रमत्त नहीं हूँ, मैं अप्रमत्त भी नहीं हूँ। जो ज्ञायकभाव न प्रमत्त है, न अप्रमत्त है। वह ज्ञायकभाव मात्र है, शुद्ध भाव।

मैं क्या हूँ ? मैं जो हूँ, सो हूँ। मिश्री मीठी है। मिश्री मीठी कैसी है ? जैसी है, वैसी है, नहीं मानो तो खा कर देख लो, कि कैसी है। आत्मा प्रमत्त नहीं है, आत्मा अप्रमत्त नहीं है, गुणस्थान की सोपाधिक दशा है। आत्मा तो 'जो सो दु सो चेव'। पानी में अग्नि की उपाधि है, इसलिए पानी गर्म दिख रहा है। पर यथार्थ बोलिए कि गर्मी पानी की है, कि अग्नि की है ? अग्नि गर्म है, कि पानी गर्म है ? अंगुली डालो तो पानी जला रहा है। फिर भी सत्य बताओ कि अंगुली को जला कौन रहा है ? उष्णता पानी का धर्म नहीं, अग्नि का धर्म है। भले ही उसके संयोग से पानी गर्म है, पर स्वभाव अग्नि का है, पानी का नहीं है। मैं प्रमत्त हूँ, मैं अप्रमत्त हूँ, यह दशा कर्मों के कारण है या स्वयं के अज्ञान के कारण? आत्मा तो ज्ञायकस्वभावी है। ऐसा चिंतन चतुर्थ गुणस्थान से ही करना होगा। उसके बिना ऊपर के गुणस्थान पर पहुँचेगा नहीं। चतुर्थ गुणस्थान से ज्ञायकभावी बनना पड़ेगा। ज्ञायकभावी बनना नहीं पड़ता, ज्ञायकभावी होता है। अग्नि उष्ण है, कि पानी उष्ण है ? उष्णता तो पानी की है। क्रोधादि दशाएँ हैं। ये पानी की नहीं, अग्नि की हैं। विभाव न होता तो कर्म-उपाधि न होती। कर्म उपाधि न होती, तो विभाव न होता। विभाव न होता, तो कर्म-उपाधि न होती। ये परस्पर का सौपाधिक संबंध है। और निरुपाधी दशा। आत्मा तो शीतल स्वभावी है। इसलिए सत्यार्थ बात को समझिये। वर्तमान में तेरी आत्मा स्वभाव से त्रैकालिक शुद्ध है। भटकना नहीं। नय लगा दो तो न्याय होगा। हे मनुष्य ! जिसे मैं पुकार रहा हूँ, वह सुननहार मिश्रधारा है। हे पुरुष ! जो तू है, वह अमिश्रधारा है।

अस्तिपुरुष चिदात्मा .....

जो अस्तिपुरुष है, वह स्पर्श-रस-गंध-वर्ण से शून्य है। इसलिए जब हम 'पुरुष' को देखते हैं तो त्रैकालिक शुद्ध है। जब हम 'मनुष्य' को देखते हैं, तो अशुद्ध है। हे मुमुक्षु ! स्वर्ण को निहार। किट्टिमा से युक्त होकर भी सोना त्रैकालिक शुद्ध है, क्योंकि किट्टिमा मल है, किट्टिमा सोना नहीं है। कर्म मल है, कर्म सोना नहीं है। सोना भगवती आत्मा है, जो त्रैकालिक शुद्ध है। लेकिन उस शुद्धि को ज्ञायकभाव से जानना। पर जो किट्टिमा लगी है, उसको हटाना। उसके लिए चरणानुयोग चाहिए। समयसार से जानो, त्रैकालिक शुद्ध है। जैसे मंद धौकनी से किट्टिमा अलग कर दी जाती है सोने से, ऐसे ही मंद ध्यान की धौकनी से कर्मकिट्टिमा पृथक् कर दी जाती है आत्मा से। पर आत्मा कैसी है? जैसे हस्तिनी का मूत्र, सीसा, जस्ता, ताँबा और

नागफनी का रस, इन द्रव्यों का मिश्रण कर दीजिए और मन्द धौकनी से धौकिये, तो स्वर्ण धातु निर्मित हो जाती है। वह भी कब ? इतने द्रव्यों का मिश्रण करने से मन्द अग्नि द्वारा तपाने पर सोना बनता है। पर बनता तभी है, जब पुण्य होता है। ऐसे ही सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के गुणों का मिश्रण कीजिए, धर्मध्यान/शुक्लध्यान की अग्नि की उपयोग रूप आँच पर तपाइये, काललब्धि होगी तो नियम से तेरी भगवान्-आत्मा प्रगट हो जायेगी।

ज्ञानी ! अशुद्ध ही शुद्ध को प्रगट करता है। तू अशुद्ध कभी था ही नहीं। अशुद्ध सौपाधिक दशा है। शुद्ध को तू जो जान रहा था वह तो शुद्ध था। जो शुद्ध को निकाल रहा था वह अशुद्ध था। शुद्ध था, तो अशुद्ध से शुद्ध को निकाला। लेकिन टोकरी में लड्डू थे, तभी तो कपड़ा ढँका था। कपड़े को हटाने से लड्डू नहीं निकले। लड्डू थे, इसलिए कपड़ा खोलकर तुमने लड्डू निकाल लिये। हे मुमुक्षु ! आत्मा शुद्ध सत्तावान् शक्तिवान् है, इसमें कर्मों का कपड़ा पड़ा है। ये कपड़ा हटा दो, तो भगवान्-आत्मा विराजित है। यदि सोपाधिक दशा को गौण कर दे, तो तू शुद्ध त्रैकालिक है। घी का स्वाद कैसा है ? जैसा है, वैसा है। आप हमसे पूछते हो, कि महाराज ! निर्ग्रन्थ दशा का स्वाद कैसा है ? जैसा है, वैसा है। जानना ही है, समझना ही है, तो बनकर देख लो। आत्मा का स्वभाव "जो सो दु सो चेव"

## ॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

प प प

आचार्य-भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने महान अध्यात्म ग्रन्थ 'समय प्राभूत' में जीव के परम-शुद्ध स्वरूप की व्याख्या की है। जो जीव झलक रहा है, वह मिश्रधारा है, और जो जीव का शुद्धस्वरूप है, वह अमिश्रधारा है। पर्यायगत जो अवस्थायें हैं, वह पुद्गल सम्बन्ध है। आत्मा जो है, वह सम्पूर्ण पुद्गल द्रव्य से शून्य है। छठवीं गाथा की आचार्य अमृतचन्द्र की टीका नय और न्याय से परिपूर्ण और अध्यात्म की गहराई से समन्वित है। एक-एक शब्द पर ध्यान देना। आत्मा की कर्मातीत धारा को निहारो, चिद्रूप अनुभूति की ओर निहारो। मिश्र दूध की धारा में जल के होने पर भी प्रत्येक ज्ञाता को ज्ञात रहता है। आँखों से तो दूध का वर्ण ही दिखता है, पर श्रद्धा में मालूम है कि पानी कितना है। फिर भी रंग तो क्षीररूप ही है। रंग क्षीररूप अवश्य है, पर परिपूर्ण क्षीर नहीं है। ऐसे ही संसार अवस्था में एक वैद्य नाडी देखकर 'जीव है' यह ज्ञान कर रहा है। पर 'नाडी' जीव नहीं है। आत्मा की अनुभूति आत्मा से ले रहा है, पर आत्मा का वेदन तेरी आत्मा ले रही है। पुद्गल के सहयोग से वैद्य ने नाडी को पकड़ा है और उसकी चाल का अनुभव कर रहा है। अनुभवनकर्ता कौन है ? जो यह कहते हैं कि मैं आत्मा का वेदन नहीं जानता हूँ। जो नाडी पकड़कर आपने अंगुली रखी है हाथ पर, उसका वेदक कौन है ? जो रखा है, वह भी पुद्गल है; जिस पर रखा है, वह भी पुद्गल है। पुद्गल से ही पुद्गल के माध्यम से ज्ञानी आत्मा ने मिश्र अवस्था का वेदन किया है। क्योंकि आप जो नाडी से निहार रहे हो, वह नाडी को निहार रहे हो कि जीव को जान रहे हो ? सत्य बताना, किसको निहार रहे हो ? चाल नाडी की है, पर चाल किसकी रही है ? वह चलनेवाला दूसरा ही है। जैसे आप नाडी की चाल से अनुमान लगा लेते हो, कि नाडी है। अनुमान भी प्रमाण है, वह परोक्ष प्रमाण है। सिद्धांत से वह अनुमान भी आत्मा से ही किया जाता है।

“साधनात्साध्यविज्ञानमनुगानम्”

नाड़ी साधन है, साध्य नहीं है। साधन से साध्य का जो ज्ञान है, उसका नाम अनुमान है। वह अनुमान भी प्रमाण है। वह कौन-से ज्ञान का विषय है ?

**मतिः स्मृतिः संज्ञाचिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥ १/१३ त.सू.॥**

मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध इन नामों से जो अनुमान है, वह कौन-सा है ? जो पूर्व संस्कार का निबंधन है, वह स्मृति है। स्मृति-ज्ञान भविष्य का नहीं होता है, भूत का होता है। जातिस्मरण भूतकाल के होते हैं। जो कहता है कि मुझे जातिस्मरण हुआ है कि मैं भविष्य में ऐसा बनूँगा, वह सफेद झूठ कहता है। आगम कह रहा है कि जो जाना था, उसकी स्मृति होगी। भविष्य की निबंधक अनभ्यस्त दशा की स्मृति नहीं होती है, पृच्छना होती है। इसलिए हमारा जो स्मृतिज्ञान है, वह भूतकाल का होता है, भविष्य का नहीं होता है। इसलिए कोई यह कहे कि मुझे जातिस्मरण हुआ है, कि मैं भविष्य में ऐसा होऊँगा हे ज्ञानी ! 'होऊँगा' जो विषय है, वह अवधिज्ञान का विषय है, जातिस्मरण का नहीं है। ज्योतिष का या, निमित्तशास्त्र का विषय हो सकता है, परन्तु यह स्मृति का विषय नहीं है। जो जातिस्मरण होता है, वह मृत्यु के पहले का होता है, पूर्व पर्याय का होता है, भविष्य की पर्याय का नहीं होता है। आप इतने ज्ञानी हो, फिर भी कोई कुछ भी बोलकर चला जाये, उसकी हाँ में हाँ भर देते हो। इसलिए कहता हूँ कि बिना तर्कशास्त्र के व्यावहारिक ज्ञान भी व्यवस्थित नहीं होता है। ज्यादा मत पढो न्यायशास्त्र। बस, 'परीक्षामुख' का अध्ययन कर लो। इसका अध्ययन कर लिया तो जैनन्याय में बहुतकुछ पढ़ लिया। इसमें सम्पूर्ण शंकाओं का समाधान है। इसमें प्रमाणों का और, प्रमाणाभास का कथन है। और जो विद्वान इस ग्रन्थ का अध्ययन नहीं कर पाता, वह सिद्धांत और अध्यात्म को व्यवस्थित नहीं बैठा पाता है। न्याय के पढ़े बिना अध्यात्म की गहराई को समझना बड़ा कठिन है। आप आत्मा व पुद्गल को तो बोल सकते हो, पर गहराई में नहीं बता सकते हो। 'परीक्षामुख सूत्र' स्मृति के लिए कह रहा है -

**संस्कारोद्बोध निबंधना तदित्याकारा स्मृतिः । ३/३ परीक्षामुख ॥**

जो हमने पूर्व में संस्कार डाल दिये थे, उन संस्कारों का बोध हो जाने का नाम 'स्मृति' है। जातिस्मरण के लिए 'कल्याणकारक' ग्रन्थ में लिखा है कि हर व्यक्ति को जातिस्मरण नहीं होता। जो मृत्यु के काल तक परिणामों से विशुद्ध रहते हैं और निर्मल अध्ययन में लीन रहते हैं, मंद कषाय व भद्र परिणाम से जिन जीवों का मरण होता है, ऐसे जीवों को पूर्व पर्याय का स्मरण रहता है। हेतु क्या है ?

कोई विषय याद न आता हो तो उसे याद करने का प्रयास न करना। जो प्रयास करता है, उसे संक्लेशता बढ़ जाती है तनाव (टेंशन) हो जाता है। फिर क्या करना चाहिए? परिणामों को शान्त रखना चाहिए परिणाम शांत हो जायेंगे, आप हल्के हो जायेंगे, तो अपने आप याद आ जायेगा। परिणामों की मंदता से और कषाय की विशुद्धि से क्षयोपशम बढ़ता है। आगम अनुभव से बोल रहा हूँ। मुझे याद नहीं होता था, श्रेयांशगिरि में था तो सामायिक में टेंशन होता था। मैंने सोचा कि ऐसा ज्ञान किस काम का, जो सामायिक न करने दे? मैंने टेंशन छोड़ दिया। सामायिक जरूरी है, ज्ञान नहीं। सामायिक अच्छे से की, बाद में याद किया तो याद हो गया। ध्यान रखना, परीक्षा के पहले छुट्टियाँ दे देते हैं। कालेज/स्कूल में पढाई बन्द कर देते हैं। क्यों ? विश्राम करो। अधिक समय तक पढोगे तो मशीन गर्म हो जायेगी। जो आप पढ़ चुके हो, उसे आने दो। चकरी होती है न, जिसमें किसान रस्सी बाँधते हैं, जैसे बच्चों को खेलनेवाला भौंरा होता है। उसे जमीन पर न गिरने दो तो वह उल्टा घूमना शुरू कर देगा। ज्ञानी ! आपने जो भरकर रखा था, उसे आने दो। शांति से

बैठ जाओ, अपने आप आयेगा। यही कारण है कि स्वाध्याय के समय में जो भरा है, उसे सामायिक में उकेलो। जातिस्मरण सबको नहीं होता। मंदकषाय से, मंद परिणामों से जो मृत्यु को प्राप्त होता है, उसे होता है। मृत्यु के समय जो तीव्रराग के संस्कार थे, वह पर्याय की प्रत्यासत्ति कारण बन गई जातिस्मरण में।

मूल विषय था 'अनुमान'। वह अनुमान मतिज्ञान का विषय है। परोक्ष-प्रमाण के भेद हैं- स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम। अनुमान-प्रमाण के बिना प्रत्यक्ष-प्रमाण भी घटित नहीं होता। बौद्ध दर्शन में अनुमान और प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते हैं। चार्वाक तो केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को मानते हैं। तो उनसे कहना है कि आपका जो प्रत्यक्ष है वह बिना अनुमान के होता नहीं है। क्यों? ये पेन है, यह आपने कैसे जाना? इस पेन से लिखना पड़ता है। अभी तो आप लिखने को कहाँ देख रहे थे, फिर कैसे कह दिया? प्रत्यक्ष-प्रमाण परोक्ष-प्रमाण के साथ ही घटित होता है। प्रत्यक्ष की प्रमाणिकता की सिद्धि में अनुमान सहायक है। ऐसा कोई कार्य था, इसलिए आप कर रहे हो। मैं इस तत्त्व को आगम से, तर्क से, अनुमान से कह रहा हूँ। अनुमान कह रहा है साधन से साध्य का ज्ञान।

नाड़ी बता रहा था मैं। वात, पित्त, कफ ये विषम हो जायें तो अस्वस्थ है। एक भी कम हो जाये तो मृत्यु होती है। डॉक्टर आपकी नाड़ी को देखकर आपका भविष्य बता रहा है। वात-प्रकृति है तो इससे बात नहीं करना, मंदबुद्धि है। मंदबुद्धि बातें ज्यादा करते हैं और सम्मान चाहते हैं। पित्त-प्रधान है तो बुद्धि तेज है, परन्तु कषायी है, बहुत क्रोधी है। करणानुयोग से बोलो तो क्रोधकषायप्रधान पित्तप्रकृति, नीललेश्या से युक्त है। वातप्रधान नीललेश्या वाला मंदबुद्धि। कफ प्रकृतिवाला शीतल-परिणामी है। कफ और पित्त ये दो मिल जायें तो साधुपुरुष है, प्रखर बुद्धि, भद्रपरिणामी, स्वस्थ शरीर और मन्द कषाय। जो साधुस्वभावी होता है, उससे कभी भी मिलना, आँखों से नहीं रोता है, हृदय से रोता है। वह मिलनसार व तर्कशील होगा। यह कौन बोल रहा है? अनुमान ज्ञान। आप आत्मा का वेदन करते हो कि नहीं करते हो? अनुमान से जानते हो। नाड़ी 'करण' है। मैंने नाड़ी से नर को देखा, यह कर्मकारक नहीं है। आपने आत्मा का वेदन किससे किया? भिन्न आत्मा का? अब करण लगाइये। ये जी रहा है, आपने अपनी आत्मा के ज्ञान से भिन्न आत्मा को जान लिया है। हे मुमुक्षु! जो भिन्न आत्मा को अपनी आत्मा से जानता है, तो मैं अपनी आत्मा को नहीं जानता? नहीं मानता तो तू नैयायिक हो जायेगा। क्योंकि नैयायिक व मीमांसक आत्मा को स्वसंवेदी नहीं मानते। इसलिए ध्यान दो, स्वसंवेदन स्वानुभूति आप में है, कि नहीं है? पर जैसी करना चाहो, वैसी है। कैसी है? जैसा विषय है, वैसी है। किसी को काम, भोग, बंध की अनुभूति चलती है, तो किसी का संयमाचरण है, सम्यक्त्वाचरण है, तो किसी को स्वरूपाचरण है, उनकी अनुभूति वैसी है। ज्ञान आत्मा ही का गुण है। जो ज्ञान से वेदन कर रहे हो, वह कौन ले रहा है? आत्मा। किससे ले रही है? स्वयं के ज्ञान से अनुभूति ले रही है। ज्ञान 'ज्ञान' होता है, ज्ञान 'ज्ञेय' नहीं होता है। इसलिए जो ज्ञानानुभूति है, वह स्वानुभूति है। बस, विषयभेद है। अनुभूति है। इस टीका में इसी को सिद्ध कर रहे हैं। आप समझते जाना। आप लगा लेना।

ज्ञानानुभूति से शून्य जगत में कोई जीव नहीं रहता। मिथ्यादृष्टि की अनुभूति मिथ्यानुभूति है, स्वानुभूति नहीं है। मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत किंचित भी नहीं है। सम्यग्दृष्टि की अनुभूति और पंचपरमेष्ठी की भक्ति परम्परा से मोक्ष का कारण है और विषयकषाय की अनुभूति संसार का कारण है।

**येनां शेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति ।**

**येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति ॥ २१२ ॥ पु.सि.उ.॥**

जितने अंश में राग है, उतने अंश में बन्ध अवश्य है। रत्नत्रय से मोक्ष मिलता है, फिर भी सभी रत्नत्रयधारी मोक्ष नहीं जाते। यह रत्नत्रय का दोष नहीं है, रत्नत्रय तो मोक्ष ही का कारण है। जो स्वर्ग जाते हैं, वह रत्नत्रय की असमग्रता से जाते हैं, रत्नत्रय से नहीं। जब तक असमग्र है, तब तक मोक्ष नहीं। रत्नत्रय के बिना शुद्धोपयोग नहीं है। रत्नत्रय की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान में होती है।

**सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिससेसआसवो जीवो ।**

**कम्मरयविप्पयुक्को गयजोगो केवली होदि ॥ गो.सा. जी.कां. ॥ ६५१ ॥**

जहाँ अड्डारह हजार शील की पूर्णता होती है, वहाँ रत्नत्रय की पूर्णता होती है। ज्ञान से या ज्ञान की पूर्णता से मोक्ष नहीं होता है, चारित्र की पूर्णता से मोक्ष होता है। क्योंकि ज्ञान की पूर्णता तेरहवें गुणस्थान में होती है, पर चारित्र की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान में होती है। इसलिए ज्ञान की पूर्णता से मोक्ष मान लो, तो केवली की वाणी कभी सुनने को नहीं मिलेगी। ज्ञान होते ही मोक्ष हो गया तो, अहो जैनियो ! तुम जैन भी नहीं बचोगे। क्यों ? वीतराग शासन में क्षणिकवादी कहाँ से आ गया, जिसने ज्ञान से मोक्ष मान लिया। ज्ञान होते ही मोक्ष होता है, बोधि तो हो गई, फिर बोधि देनेवाला कौन बचेगा ? इसलिये ज्ञान की पूर्णता से मोक्ष नहीं होता, चारित्र की पूर्णता से मोक्ष होता है। इसलिए ग्रंथों में लिखा है "चारितं खलु धम्मो"। जहाँ चारित्र की पूर्णता होगी, वहाँ पहले ही ज्ञान की पूर्णता हो चुकी होगी।

अब ध्यान दो, जो परमब्रह्म है, वह स्वतः सिद्ध है, अपने आप में सिद्ध है, ज्ञायक-भाव है। सिद्ध पर्याय सिद्ध नहीं है। केवलज्ञान सिद्ध नहीं है, मतिज्ञान सिद्ध नहीं है। जो अनादि से अनन्त-काल तक सिद्ध है वह ज्ञायक भाव है। सिद्ध पर्याय होगी, केवलज्ञान पर्याय होगा, क्षयोपशम होगा, पर जीवद्रव्य को ज्ञायकभाव होता ही है। ज्ञायकभाव में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होता है। पर ज्ञायकभाव का उत्पाद नहीं होता है, व्यय नहीं होता। ज्ञायकभाव होता है, उस ज्ञायकभाव में उत्पाद भी है, व्यय भी है, इसलिए कथंचित् ज्ञायकभाव ही है। इसलिए ये सब ज्ञायकभाव की पर्यायें हैं, ज्ञायकभाव तो अकेला ही है। ज्ञायकभाव दर्पण है, उसमें जो भी दिखेगा वह झलकेगा ही। वह त्रैकालिक जैसा स्वभाव है, वैसा ही रहेगा। मैं तो हूँ, मेरे में हो रहा है, फिर भी मैं तो हूँ ही। मेरे में हो रहा है, मेरा भी हो रहा है, पर का भी हो रहा है, फिर भी मैं पर से अभिन्न नहीं हूँ, भिन्न ही हूँ। मैं तो ज्ञायकस्वभावी हूँ। दर्पण में चेहरे आ रहे, जा रहे, फिर भी दर्पण का झलकन स्वभाव नहीं जा रहा। ज्ञान की पर्याय आ रही है ज्ञेयों के अनुसार, पर ज्ञायकभाव अविनाशी है। वह निगोदिया से लेकर सिद्धों तक चलता है। यह त्रैकालिक ध्रुव है। इसलिए ध्यान दो, आपको चरणानुयोग में रहना चाहिए, मैं क्यों कहूँ। मैं तो ज्ञायकभाव कह रहा हूँ। यह परम योगी की दशा है। यह भूल आपकी है जो आप चरणानुयोग को खोकर बैठे हो। चरणानुयोग के अनुसार अपने को लेकर आइये और ज्ञायकभाव को निहारिये।

जैसे - ये करतल है। विश्वास कीजिये, इसके कई रूप आपके ज्ञान में हैं। भाई को भाई का हाथ दिख रहा है, शिष्य गुरु का हाथ कहेगा, गुरु शिष्य का हाथ कहेगा, और किसी रागी को राग का हाथ दिखेगा। ये तो करतल है। इसमें कोई संबंध नहीं है, अपने आप में असंबंधी है। पर्याय परिणामों में आ रही है। करतल अपने परिणामी में परिणामन कर रहा है। तेरे परिणामों की पर्याय इसको देखकर परिणामन कर रही है। मैं तो ज्ञायकस्वभावी हूँ। ज्ञायकस्वभाव ज्ञेयरूप होता नहीं। पर वे ज्ञानी अल्पज्ञ हैं, जो ज्ञेय को ज्ञायकरूप

में निहारते हैं, कभी ज्ञायक को ज्ञेयरूप में निहारते हैं। ज्ञायक ज्ञेयरूप में ऐसे ही है, जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब है। पर प्रतिबिम्ब कभी दर्पण होता नहीं, दर्पण में प्रतिबिम्ब होता नहीं, पर दर्पण में प्रतिबिम्ब झलकता है। इसी प्रकार से ज्ञेय ज्ञानमय तन्मय होते नहीं, ज्ञान ज्ञेय में तन्मय होता नहीं, पर ज्ञान के बिना ज्ञेय जाने जाते नहीं।

प्ररूपणा को सुरक्षित रखना अपने हृदय कोष में। इसलिए ज्ञायकभाव सिद्ध है। कब से ? अनादि से। कब तक रहेगा ? अनंतकाल तक। हे जीव ! तेरी बात नहीं कर रहे, ज्ञायकभाव की बात कर रहे हैं, तेरी बात तो हो गई। जहाँ ज्ञायकभाव है, वहीं जीवत्वभाव है और जहाँ जीवत्वभाव है, वहाँ ज्ञायकभाव है। सादृश्य-अस्तित्व से एकत्वभाव है। स्वरूप-अस्तित्व से विभक्त भाव है। लेकिन सादृश्य भाव सरागभाव है। सादृश्य अस्तित्व सबको लेकर चलता है। स्वरूपभाव वीतरागभाव है। यह सबको छोड़कर चलता है। सादृश्य अस्तित्व से हम सभी में जीवत्व जीवत्व समान हैं। इसलिए किसी से द्वेष नहीं करना। जब तुझे किसी से द्वेष आये, तो सादृश्य अस्तित्व का चिन्तन करना। जैसा तेरा चिन्मय स्वरूप है, वैसा चिन्मय जगत का स्वरूप है। तो किसी से द्वेष नहीं करना। जब तुझे राग सताने लगे तो स्वरूप अस्तित्व का चिन्तन करना। नहीं, मेरा स्वरूप, मेरा चतुष्टय पर से अत्यन्त भिन्न है। मैं पर में नहीं, पर मेरे में नहीं। मैं एकत्व-विभक्त स्वरूप हूँ।

मैं इस समय 'परीक्षामुख' से बोल रहा हूँ, लेकिन 'समयसार' में बोल रहा हूँ। स्वरूप अस्तित्व, सादृश्य अस्तित्व पर ध्यान दो, तो ज्ञान ऐसे बरसेगा तेरे आँगन में, जैसे जबलपुर में पानी बरसता है। सादृश्य अस्तित्व से परिवार की लड़ाई बंद हो जायेगी। स्वरूप अस्तित्व से राग की लड़ाई बंद हो जायेगी। अध्ययन करो। न्याय पढ़ना, अध्यात्म के साथ पढ़ना। करणानुयोग भी पढ़ना, तो अध्यात्म के साथ पढ़ना, नहीं तो करणानुयोग वाले शुष्क देखे जाते हैं। कभी समय मिला तो मैं करणानुयोग में अध्यात्म रस भरके बताऊँगा। मैंने प्रवचन किया इन्दौर में पं. रतनलाल जी बड़े भद्रपरिणामी जीव हैं। सभी भैया लोग वह सुन रहे थे। वे लोग बोल पड़े- आपको तो कोई भी अनुयोग रख दो, आत्मा ही दिखती है। हमने कहा- ध्रुव सत्य है। अनुयोग में जो भी वर्णन है, आत्मा ही का है। द्रव्य, गुण, पर्याय के अलावा कोई कथन है ही नहीं। यदि करणानुयोग में अध्यात्म-जैसा रस भर दिया, तो इतना आनंद आयेगा जितना समयसार में भी नहीं आयेगा। पर जो शुष्क रूप से शुष्क बनकर पढ़ते हैं, वे कर्मप्रकृति तो गिनते हैं, पर अपनी प्रकृति नहीं गिनते।

आप बुरा नहीं मानना, पर बुरा मानना, इसलिए कह रहा हूँ। आपने रटा दर्शनावरण की या ज्ञानावरण की इतनी प्रकृतियाँ है। तो रट लिया, पर अपनी प्रकृति नहीं बदली, तो प्रकृति बदलेगी कैसे? उमास्वामी को कहना पड़ा- "स यथानाम्" जो जैसी प्रकृति है, वैसा नाम है। स्त्री का नाम स्त्रीरूप, पुरुष का नाम पुरुषरूप। प्रकृति बदले बिना भेष बदलकर बैठ गया, तो चोटी के भेष में भी खोटी ही मिलती है। क्यों ? प्रकृति नहीं बदली। प्रकृतियाँ भी पढ़े प्रकृति बदलने के लिए, तो ज्ञायकभाव की प्रकृति बन जायेगी। फिर प्रगति होगी। ज्ञायकभाव सिद्ध नहीं, असिद्ध नहीं, वह अनादि सिद्ध है। सिद्ध को सिद्ध करना पड़ता है। ज्ञायकभाव तो जगत-प्रसिद्ध है। ज्ञायकभाव क्या है ?

'चेतना लक्षणो जीवा'। कारण कह दिया, कार्य लगा लो। ज्ञायकभाव प्रसिद्ध है। क्यों ? जो धर्म होता है, वह प्रसिद्ध होता है। जहाँ ज्ञानदर्शन बोल दिया, वहाँ जीव समझते कि नहीं ? जहाँ स्पर्श, रस,

गंध, वर्ण बोल दिया जाये, वहाँ पुद्गल समझते कि नहीं? स्पर्श-रस-गंध-वर्ण धर्म हैं, धर्मी नहीं है, और पुद्गल धर्मी प्रसिद्ध होता है। आप बड़े पुण्यात्मा हैं। क्यों? हमने कई ग्रन्थ पढ़े, तब समझा। तुम एकसाथ कई ग्रन्थ सुन रहे हो, बड़े पुण्यात्मा हो। एक निर्णय कर लीजिए, धर्मी को सिद्ध नहीं करना पड़ता, धर्मी को असिद्ध नहीं करना पड़ता, धर्मी तो प्रसिद्ध होता ही है। इसलिए ज्ञायकभाव मेरा प्रसिद्ध है। कैसा है? नित्य प्रकाशमान है, इसलिए अब नहीं कहेंगे कि प्रगट हुआ है ज्ञायकभाव, अप्रगट हुआ है ज्ञायकभाव। वह तो त्रैकालिक विद्यमान है, इसलिए निर्मल ज्योति है। वह ज्ञायकभाव एक है। विशेषण क्यों लगाये? इन विशेषणों के लगने से विशेष नहीं बना, वह तो विशेष था ही, इसलिए विशेषण लगे हैं। धर्मी तो प्रसिद्ध होता है। धर्मी से पहचान तो की जा सकती है, पर धर्मी तो होता है। यहाँ प्रकाश से प्रयोजन चेतन का ज्ञायकभाव ही है। इसलिए अमृतचन्द्र स्वामी की टीका नहीं पढ़ोगे, तो समयसार के हृदय को नहीं पढ़ पाओगे? आचार्य जयसेन स्वामी की टीका नहीं पढ़ोगे, तो हृदय किसमें है, यह नहीं जान पाओगे। दोनों योगियों का बहुमान रखो। क्या कह रहे हैं? संसार अवस्था में अनादि बंध पर्याय की प्ररूपणा से व्यवहार आ गया। ज्ञायक स्वभाव चिद्रूप त्रैकालिक है, लेकिन संसार में जीव अनादि से कर्मबन्ध की पर्याय के वश हुआ है। जैसे क्षीर में उदक/नीर है, वैसे ही आत्मा पुद्गल में है। फिर भी नीर, नीर है और क्षीर, क्षीर है। नीर में क्षीर हो जाये और क्षीर में नीर हो जाये, फिर भी नीर कभी क्षीर नहीं होगा। यह दृष्टान्त है। यह नीर-क्षीर दोनों पुद्गल हैं। पुद्गल में परस्पर में अत्यन्ताभाव नहीं होता, अन्योन्याभाव है। ये नीर, क्षीर तो एक हो जायेंगे। नीर को पीती है गाय, वही परिवर्तित होकर क्षीर हो जाता है। लेकिन कर्म और आत्मा कभी एक नहीं होंगे, इनमें अत्यन्ताभाव है। मैंने स्पष्ट इसलिए कर दिया कि कहीं नीर-क्षीर की तरह आत्मा पुद्गल को न समझ ले। नीर-क्षीर तो एक हो जाता है। अग्निकायिक व जलकायिक जीव की दोनों योनी स्वतंत्र है। एक होना असंभव है उदाहरण कार्य कारणभाव से जलकाय, अग्निकाय में कारण है। प्रत्यक्ष है। जल से विद्युत बना रहे हैं। चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त मणि से भी जल निकलता है। इनमें अन्योन्याभाव है। ऐसा समझना।

## ॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

५ ५ ५

आचार्य-भगवान् 'समयप्राभूत' ग्रन्थ में ज्ञायकभाव का कथन कर रहे हैं और अमृतचन्द्र स्वामी ने छठवीं गाथा की टीका में जो ज्ञायक स्वभाव का कथन किया है, वह अभूतपूर्व है। ध्यान दो, जो पुण्य-पाप प्रकृति है, वह कषाय का कारण है। कषायी जीव ही पुण्य-पाप करता है। कषाय के मन्द उदय में पुण्य होता है तथा कषाय के तीव्र उदय में पाप होता है। पुण्य-पाप की धारा कर्तृत्व दृष्टि से अकषायी सम्यग्दृष्टि जीव कभी नहीं करता है। कर्तृत्वदृष्टि से पुण्य-पाप की धारा कषायी जीव ही करता है। जब वह अकषायी होगा, तो स्वभाव में लीन होगा। वह परतत्त्वों से अपने आपको पृथक् अनुभव करेगा। इसलिए शुभाशुभ परिणाम हैं, वह बंध हैं। अशुभ परिणाम तो बंधभाव है ही। अशुभ परिणाम को बंधभाव कहनेवाले जगत में बहुत हैं, पर शुभभावों को बंध कहनेवाले विरले ही हैं। पर ध्यान दो, बंधभाव तो बंध ही है, अंतर इतना ही है कि अशुभभाव नरक/तिर्यञ्च में ले जाता है और शुभभाव देवगति/मनुष्यगति में ले जाता है। लेकिन दोनों भाव सिद्ध नहीं बनाते हैं। जब भी सिद्ध बनेगा तो शुभाशुभ भाव से शून्य होगा। इसलिए ज्ञायकभाव स्वभाव से अपरिणामी है, यद्यपि जगत में ऐसा कोई भाव नहीं जो परिणामी न हो। प्रत्येक द्रव्य में, प्रत्येक भाव में, षट्गुण हानि-वृद्धिरूप परिणामन चल रहा है। प्रत्येक अवस्था में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यदशा है। यदि परिणामी

नहीं स्वीकारोगे, तो द्रव्यत्व घटित नहीं होगा। जहाँ द्रव्यत्व ही नहीं, वहाँ वस्तु क्या होगी ? द्रव्य का लक्षण सत् है। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सत् है। गुण व पर्यायों से युक्त द्रव्य है। इन सबके होने के बाद भी द्रव्य परिणामी नहीं है। द्रव्य अपरिणामी भी है, हमने आपको पहले भी समझाया था। द्रव्य में भव्यत्व भाव भी है, द्रव्य में अभव्यत्व भाव भी है और यह भव्यत्व-अभव्यत्व भाव जीवद्रव्य में है। यहाँ भव्यत्व-अभव्यत्व से जीव भव्य-अभव्य है, वह ग्रहण नहीं करना। भव्यत्व यानी परिणामनशीलता और अभव्यत्व यानी अपरिणामनशीलता। द्रव्य कभी निजभाव से परभाव में नहीं बदलता, इसलिए अपरिणामी है। प्रत्येक द्रव्य निजस्वभाव में प्रतिक्षण बदलता है, नित्यकूटस्थ नहीं है, इसलिए परिणामी है। लेकिन यहाँ तो ज्ञायकभाव को ध्रुव अपरिणामी कह रहे हैं। आत्मा त्रैकालिक ज्ञायकस्वभावी ध्रुव अपरिणामी है। अपितु यँ कहना चाहिए कि ज्ञायकभाव ध्रुव परिणामी है। ज्ञायकभाव का कभी अभाव नहीं होगा, इसलिए ध्रुव है। ज्ञायकभाव कभी परभावरूप नहीं होगा, इसलिए अपरिणामी है। परन्तु ज्ञायक-भाव में प्रतिक्षण नानारूपता का परिणामन है, अतः वह भी परिणामी है। इसलिए परिणामी भी है, अपरिणामी भी है।

जब मैं था निगोद में, तब भी मैं वेदक था, यह विषय भिन्न है। शुद्ध चेतना का न सही, अशुद्ध चेतना का वेदक था। कर्मफल चेतना, कर्मचेतना का भोक्ता तो था, वेदक तो था। वह वेदक भाव किससे था ? ज्ञायकभाव था। जब मैं निगोद से निकला, पायी त्रस पर्याय, तब भी मैं ज्ञायकस्वभावी था। मेरे ज्ञायकस्वभाव में किंचित भी विपर्यास नहीं हुआ। जब मैं पंचेन्द्रिय असंज्ञी बना, तब भी ज्ञायकभाव था। वहाँ से निकलकर संज्ञी पंचेन्द्रिय हुआ, तब भी ज्ञायकभाव था और मनुष्य हुआ, तब भी ज्ञायकभाव था। जब तू बना योगी, उस समय भी ज्ञायकभाव था। उस योग दशा से उपयोग तेरा अयोग की ओर गया, तब भी ज्ञायकभाव था। लेकिन ध्यान रखना ज्ञायकत्व को निहारना। सामान्य अपेक्षा ज्ञायकत्व समान था, लेकिन विशेष अपेक्षा सबका ज्ञायकत्व भिन्न-भिन्न था। निगोदिया का ज्ञायक भिन्न है, क्योंकि विशेष धर्म है। वह पर्यायों को पकड़ता है और सामान्य तो धर्मद्रव्य को पकड़ता है। द्रव्य में दो परिणामन नहीं, द्रव्य में अनंत परिणामन हो रहे हैं, क्योंकि ये आत्मा अनंत गुणों का पिण्ड है, हर गुण अपने-अपने में परिणामन कर रहा है। इसलिए तेरे में उत्पाद-व्यय अनंतरूप हो रहा है, फिर भी एकरूप है। जब हम सातवीं गाथा पढ़ेंगे, इसका समाधान स्पष्ट मिलेगा। आत्मा में ज्ञान है, आत्मा में दर्शन है, आत्मा में चारित्र है। त्रिभेद है, पर त्रिभेद संज्ञालक्षण की अपेक्षा से है। परन्तु तीनों ज्ञायकभूत हैं। सम्यक् भी आत्मा में है। अनंत धर्म जो हैं, वह तो मुझे शिष्यो को समझाना पड़ता है, लेकिन धर्मी तो एक है। धर्मी समझ में आ जाये, तो धर्म समझाने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु, ज्ञानियो ! जगत् के लोग धर्मी को नहीं समझ पा रहे हैं, इसलिए विसंवाद कर रहे हैं। जिन्हें अनंतधर्मों का स्वामी वह धर्मी समझ में आ जाये, तो विसंवाद समाप्त हो जाये। जैसे कान को देख रहा है तो सूपा कह रहा है, सूँढ़ को देख रहा है तो मूसल कह रहा है, पूँछ को देख रहा है तो रस्सी कह रहा है। पैर को देख रहा है तो स्तंभ कह रहा है, पीठ को देख रहा है तो चबूतरा कह रहा है, पेट देख रहा है तो दीवाल कह रहा है। ये सब धर्म हैं, कि धर्मी हैं ? ये धर्म हैं। पर जब-तक हाथी का ज्ञान नहीं, तब-तक धर्म समझाना पड़ता है। लेकिन धर्मी समझ में आ जाये, तो धर्म कहने की आवश्यकता नहीं है।

### “प्रसिद्धो धर्मी”

धर्मी ही सत्य है, पर सत्ता में है। इसलिए धर्मों का पिण्ड जो है, उसका नाम धर्मी है। आत्मा ‘धर्मी’ है, ज्ञान-दर्शन ‘धर्म’ है। ज्ञान-दर्शन, धर्मी से भिन्न नहीं है।



ये सब पर्यायभेद से अलग-अलग परिणमन कर रहे हैं, लेकिन परिणामी की दृष्टि से एक है। पुण्य भी आत्मा में है, पाप भी आत्मा में है। और सब धातुओं की मिश्रत्व में प्रत्येक धातु भिन्न-भिन्न है, परन्तु प्रतिमा एक है। इसलिए जहाँ हम प्रतिमा को निहारते हैं, वहाँ धातुओं को गौण कर देते हैं, अभाव नहीं करते हैं। ऐसे-ही जब हम ज्ञायकभाव को निहारते हैं, तो पुण्य-पाप आदि को गौण करते हैं। गौण किये बिना, अभेद का आनंद आता नहीं है। जब बेसन का लड्डू खाते हो, तो बेसन का लड्डू कहते हो। अलग से घी, बूरा, बेसन नहीं बोलते। अगर बोलोगे तो खाते समय स्वाद में, अनुभूति में किर-किरापन आ जायेगा। इसलिए जब लड्डू खा रहा था, तब तूने लड्डू मात्र को देखा है। उसमें बूरा, बेसन, घी नहीं देखा। जब-तक बेसन, बूरे, घी को गौण नहीं करोगे और लड्डू को प्रधान नहीं करोगे, तब-तक लड्डू का आनंद नहीं आता है। ऐसे ही जब-तक ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य, पुण्य-पाप, सुख-दुःख आदि को गौण नहीं करोगे, तब-तक ज्ञायक स्वरूप की अनुभूति नहीं आयेगी। यह सब है, पर यह सब मैं नहीं हूँ। पुण्य है, पाप है, शरीर है, शरीर में रक्त है, पीप है, माँस है, मज्जा है, ये सबकुछ हैं, परन्तु मैं इनसे भिन्न हूँ। ये सबकुछ हैं, पर मैं इनका कुछ भी नहीं हूँ। यह ध्रुव सत्य है। जिस तन में मैं निवास कर रहा हूँ उसकी सत्ता है, अभाव नहीं है, लेकिन मैं तन नहीं हूँ। पुण्य है, पाप है; पर दोनों पुद्गल की पर्याय ही हैं, वे चेतन के धर्म नहीं हैं। मैं तो ज्ञायकस्वभावी हूँ। आठ कर्म की १४८ प्रकृतियाँ हैं, चौदह गुणस्थान हैं, चौदह मार्गणस्थान हैं, चौदह जीव समास हैं, विशुद्धि स्थान हैं, संक्लेश स्थान हैं; पर मैं ये नहीं हूँ। मैं तो ज्ञायकस्वभावी हूँ। ज्ञान कभी धर्मीस्वरूप परिवर्तित नहीं होगा। धर्मी त्रैकालिक रहेगा, धर्म उसमें रहेंगे। ज्ञान 'धर्मी' नहीं है, ज्ञान 'धर्म' है। धर्म त्रैकालिक रहेगा धर्मी में। धर्मी धर्म से रहित होता नहीं। वह तो जगत को समझाने के लिए कहना पड़ता है कि धर्म भिन्न है, धर्मी भिन्न है, अग्नि भिन्न है, उष्णता भिन्न है। लेकिन अग्नि से अलग उष्णता होती नहीं और चेतन से भिन्न ज्ञानदर्शन होता नहीं। पर गुण-गुणी का भेद किये बिना गुणी को समझा जाता नहीं, इसलिए गुण को बताना आवश्यक है। आवश्यक तो है, अनिवार्य नहीं है। जो बोल रहा है, वही धर्मी है। जो पकड़ने को कह रहा है, उसे ही पकड़कर बैठ जाओ, वही धर्मी है। 'ज्ञान' शब्द ज्ञान नहीं है, 'धर्म'-शब्द धर्म नहीं है, 'धर्मी' शब्द धर्मी नहीं है। ये तो पुद्गल की पर्याय है। शास्त्र में लिखा 'ज्ञान'-शब्द ज्ञान नहीं है। पुरस्तकों में जो ज्ञान समझते हैं, वे परम अज्ञानी हैं। ग्रन्थों में ज्ञान होता, तो अलमारी बोलती मिलती। ग्रन्थों में ज्ञान होता, तो ग्रन्थ बोलते मिलते। ज्ञान ग्रन्थों में नहीं, निर्ग्रन्थों में है। ग्रन्थ द्रव्यश्रुत है, लेकिन द्रव्यश्रुत निमित्त मात्र है। ज्ञान तो चेतन ही का धर्म है। चेतन से भिन्न 'ज्ञान' नाम की कोई वस्तु होती नहीं है। इसलिए सम्पूर्ण द्रव्यों से द्रव्यान्तर का भाव भिन्नत्व भाव ही उपास्य है।

बिल्कुल स्थिर हो जाओ, पिछले विषय पर पहुँच जाओ, करतल पर। ज्ञेय में निष्ठित होने पर भी ये करतल है, जो ज्ञेय है, पर तू ज्ञानी है। हे ज्ञानियो ! इस करतल को निहारते जाइये। तेरा ज्ञान ही करतल रूप होगा, कि करतल ज्ञेय जो है, वह ज्ञान होगा ? तेरा ज्ञान ज्ञेय को जानेगा, या ज्ञेय ज्ञान को बनायेगा ? यदि ज्ञेयों से ज्ञान बनता होता, तो सभी ज्ञाताओं को एक-जैसा ज्ञान होना चाहिए था। फिर यूँ कहूँ कि आपकी पत्नी के बेटे को, अथवा यूँ कहूँ कि आपके बेटे को अपनी माँ का जैसा ज्ञान होता है, वैसा ही तुझे भी होना चाहिए ? पकड़िये मैं क्या कह रहा हूँ। गहरी बात है। जैसा तेरे बेटे को अपनी माँ का जो ज्ञान है, आपके बेटे के ज्ञान में जो माँ ज्ञेय है, वह एक जीवद्रव्य है। वह बेटे के ज्ञान में माँ है, तेरे ज्ञान में भी माँ होना चाहिए ? तेरे ज्ञान में माँ हो जाये तो तेरे बेटे की माँ कौन होगी ? ज्ञेयों से ज्ञान नहीं होता, ज्ञान से ज्ञेय जाने जाते हैं और

जैसी ज्ञाता की परिणति होती है, वैसा ज्ञेय जाना जाता है। ज्ञेयों से ज्ञान नहीं होता। ज्ञेयों से ज्ञान होता तो सभी को एक-सा ज्ञान होना चाहिए था। ज्ञाता की दृष्टि जैसी होती है, ज्ञेय उसको वैसा फलित होता है।

हे ज्ञानी ! अर्थ से ज्ञान होता है, कि आलोक से ज्ञान होता है ? पदार्थ से ज्ञान होता है, कि प्रकाश से ज्ञान होता है ? यदि पदार्थ ज्ञान कराता है, पदार्थ ज्ञान देता है, तो जब जगत में पदार्थ अनंत है, ज्ञाता अनंत हैं, उन सभी के क्षयोपशम एक-से होना चाहिए, क्योंकि पदार्थ सबको दिख रहे हैं ? अर्थ से ज्ञान नहीं होता, तो आलोक से ज्ञान होता है ? प्रकाश से ज्ञान होता है, तो उल्लू को भी प्रकाश में दिखना चाहिए, दिवान्ध चमगादड़ को भी दिन में दिखना चाहिए, इसलिए कि उसके पास प्रकाश है, पदार्थ है ?

हे मुमुक्षु ! न तो प्रकाश से ज्ञान होता है, न ही पदार्थ से ज्ञान होता है। स्वावरण क्षयोपशम लक्षण जिस जीव का जैसा है, ज्ञानावरणी कर्म के आवरण का क्षयोपशम जैसा होगा, उस जीव को वैसा ज्ञान होगा। आप पर-के ज्ञातृत्वपने में कर्तृत्व भाव ही ला पाओगे, पर विश्वास रखना, किसी को ज्ञाता नहीं बना पाओगे। आप ज्ञातृत्व के कर्ता तो हो सकते हो, लेकिन किसी के ज्ञाता नहीं हो सकते। आप पर-को ज्ञानी बनाने के भावों के कर्ता तो हो सकते हो, परन्तु पर-को ज्ञानी बनाने के कर्ता आप नहीं हो सकते। यदि आप पर को ज्ञानी बनाने के कर्ता हो जायेंगे, तो स्वयं का क्षयोपशम क्या करेगा ? हे ज्ञानियो ! आप पर के निमित्तकर्ता तो हो सकते हो, लेकिन उपादानकर्ता किंचित भी नहीं होते। साधकतम् करण और साधकतम् साधन उपादान दशा है। मैं पर-का ज्ञाता तो हूँ, पर-का कर्ता नहीं हूँ। परन्तु जैसा मैं निज का ज्ञाता हूँ, वैसा पर का ज्ञाता नहीं हूँ। मैं पर-का ज्ञाता ज्ञेयभूत हूँ, मैं निज का ज्ञाता तन्मयभूत हूँ। मैं पर-का ज्ञाता ज्ञातामात्र हूँ, परज्ञेय ज्ञेय मात्र है। परज्ञेय 'ज्ञेय' ही है, परज्ञेय 'ज्ञान' नहीं है। निज ज्ञेय ज्ञाता भी है, निज ज्ञेय ज्ञान भी है, निज ज्ञेय ज्ञप्ति भी है, निज ज्ञेय प्रमिति भी है, निज ज्ञेय प्रमाण भी है, प्रमाता भी है।

अब निहारना त्रैकालिक शुद्ध दशा। भटकने के लिए नहीं, सुलझने के लिए समझा रहा हूँ। त्रैकालिक शुद्ध। कर्म की उपाधि को छोड़ दीजिए, अखण्ड ध्रुवत्व को निहारिये। क्रियायें चलती भी रहें, क्रियावान् को देखिए। एक पुरुष है, उसे ससुर की बेटी पति बोल रही है, बहिन की बेटी मामा कह रही है, उसे भाई की बेटी ताऊ कह रही है, जमाई की बेटी नाना कह रही है, पिता की बेटी भाई कह रही है। हे पुरुष ! यह सब कह रहे हैं, तुम उनमें रह रहे हो, पर तुम उनके नहीं हो, और तुम उनमें भी नहीं हो। तुम तो निज के ही हो। तुम तो निज में ही हो। यह संबंध बोल रहे हैं, स्वभाव मौन है। वह पुरुष कुछ भी नहीं है, वह तो एकमात्र ध्रुव जीवद्रव्य है। परन्तु प्रत्येक ज्ञाता अपने ज्ञेय में उस पुरुष को नाना रूपों में जान रहा है। पर वह एक ध्रुव जीवद्रव्य है, एकरूप है। वह ज्ञाताओं की भावनाओं के अनुसार चलता है, तो अपने आपको नानारूप निहारता है, और उन्मत्त-जैसा भटकता है। वह पुरुष उन पर-ज्ञेयों को, पर-ज्ञाताओं को, निज के ज्ञेय बनानेवालों को छोड़कर निज का ज्ञाता बन जाये, निज को ही ज्ञेय बना डाले, तो वह पर से भिन्न एक ज्ञायकस्वरूप है। अत्यन्त भिन्नत्व में निहारिये। जैसे मैं परदेश गया। परदेशियों की बस्ती में मैं अकेला एक था। वहाँ किसी से मेरी मित्रता भी नहीं, शत्रुता भी नहीं थी, कोई रिश्तेदार भी नहीं था। मैं एक था। वहाँ शुद्ध का ज्ञान हो रहा था कि मैं अकेला हूँ। हे ज्ञानी ! जैसे परदेश की बस्ती में तुझे राग-द्वेष नहीं होता है, वैसे ही स्वदेश की बस्ती को निहार, तू परदेशी ही है। परदेश में भी रहने लग जाओ, तो सम्बन्ध स्थापित होने लगते हैं। मैं जबलपुर आया था तब कोई अपना नहीं था, परन्तु अब सब अपना-अपना कहते हैं। मैं किसी का नहीं हूँ। आप अपना मान भी मत बैठना। मैं तो परदेशी ही हूँ, कब उठकर चला जाऊँ, तुम्हें पता भी नहीं चल

पायेगा। इसलिए भटक मत जाना। अपना मान मत लेना। इस नगरी से उठूँगा और इस शरीर-नगर से भी जाऊँगा। मैं परदेशी ही हूँ, क्योंकि मेरा ध्रुव-धाम किसी को मालूम नहीं। पता नहीं है, मकान का नम्बर नहीं है। मेरा ध्रुव धाम अखण्ड चेतन शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है। मेरा ध्रुवधाम सिद्धत्व नहीं, वह तो पर्याय है। मेरा ध्रुवधाम असिद्धत्व नहीं। मेरा ध्रुवधाम तो एक ज्ञायकस्वरूप है। वहाँ से कभी मैं जाता नहीं हूँ। लोग समझते चले गये कि मेरा ध्रुवधाम तो सौधर्म इन्द्र की विक्रिया है। हर क्षेत्र का श्रावक कहता है, कि सौधर्म इन्द्र मेरे क्षेत्र में पंचकल्याणक मनाने आया है। पर किसी को पता ही नहीं कि सौधर्म इन्द्र अपने विमान से कभी गया ही नहीं है। मैं तो ध्रुवधाम हूँ। ज्ञेयों में मेरे ज्ञान की तरंगें गई हैं, मैं तो परज्ञेय में गया ही नहीं। मेरा ज्ञान पर में तन्मय भाव से चला जायेगा जिस दिन, उस दिन मैं जड़ हो जाऊँगा, और वह चेतन हो जायेगा। मेरा ज्ञान इस माइक में चला जाये, मेरा ज्ञान कैमरे में चला जाये, तो मैं जड़ हो जाऊँगा और ये ज्ञानी हो जायेंगे। मैं ऐसा ज्ञाता नहीं हूँ, जो अपनी चेतना को दे बैदूँ। मैं तो ध्रुवधाम हूँ। मैं अपनी चेतना कभी किसी को दूँगा नहीं, मैं परम लोभी हूँ। जो चेतना को नहीं देता, वह ध्रुवद्रव्य ज्ञायकभाव होता है। जो अपने चित्त को भी पर को नहीं देता, उसका नाम ही साधुस्वभाव होता है। और जो अपने चित्त को पर को देता है, वह व्यभिचारी-बुद्धि होता है। बेटे की माँ से क्या कहता है? हे ज्ञानी! इसने अपने चित्त को बेटे की माँ को दे डाला, सो ये यहाँ बैठा है। और चित्त अपने बेटे की माँ को नहीं देता, तो यहाँ पिच्छि-कमण्डलु लिए बैठा होता। चित्त यानी मन परिणति। चित्त यानी चेतन अवस्था की पर्याय 'भावमन'। आपने अपने गुरु को चुना, तो चित्त की श्रद्धा को समर्पित कर दिया, इसलिए आप शिष्य बन गये। अपने को पति कहते हैं यह सभी, लेकिन हैं दास। चित्त मालूम कैसे दिया? माँ की प्रीति भी छोड़ दो। जिस दिन से पत्नी को चित्त दिया, उस दिन से चारित्र खिंच गया।

इस कैमरे से कैसिट भरती चली जा रही है। हे ज्ञानी! तेरे आत्मा के प्रदेश में ऐसी कैसिट फँसी हुई है जो सम्पूर्ण कर्मों को रखती चली जा रही है। जब यह कैसिट भरकर टी.वी. पर आयेगी तो चित्र दिखेंगे। ऐसे ही अगली पर्यायों में वह सब दिखेगा जो पूर्व पर्याय में किया है। कोई भरनेवाला नहीं बैठा है। आपने भोजन किया। आपके मुख में ग्रास आया, या ग्रास मुख में दिया? सही बताना-मुख में ग्रास आ जाता, यदि मुख न खोलते तो? मुख को ग्रास दिया, कि ग्रास को मुख दिया? ग्रास को मुख में न देते, तो ग्रास जमीन पर न गिरता। पकड़ो बात। भिन्न भिन्न है। मुख में ग्रास तभी दिया जाता है, जब ग्रास को मुख दे दिया जाता है। ग्रास तो बहुत देर बाद मुख की ओर आता है, पर पहले थाली की ओर मुख करता है। देखकर उठाते हो, या कि बिना देखे? पहले मुख नीचे करना पड़ता है, फिर ग्रास दिया जाता है।

ज्ञानी! मुख यानि आत्मा। आत्मा की परिणति ग्रास में न जाती, तो ग्रास मुख में कैसे जाता? तो आपने ग्रास को चित्त दिया है, तब ग्रास आपके मुख में आ गया। अब आपकी भाषा में बोल देता हूँ कि ग्रास में चित्त दिया है। ग्रास में चित्त न दिया होता, तो मुख में घास न आ जाती। इसलिए बेटे की माँ को चित्त दिया है। आपकी घर-गृहस्थी की बातें ही मैं करूँ तो एक 'समयसार' बन जाये। जो मैं यहाँ कह रहा हूँ, उसे आँखों से दिखा नहीं सकता। जो मैं यहाँ कह रहा हूँ, उसे आप अन्दर की आँख से देख लीजिए। जो मैं बोल रहा हूँ, मुझे आँख से दिख रहा है प्रत्यक्ष-प्रमाण से। एक विद्वान् को किसान हल जोतते दिखाई दे रहा है, क्योंकि आँखों से देख रहा है। पर किसान खेत की मेढ़ पर बैठकर रोटी खा रहा है बड़े आनंद से। विद्वान् को किसान रोटी खाते दिख रहा है, पर किसान को प्रत्यक्ष रूप में हरी-भरी खेती दिख रही है। यह सोच रहा है

कि इस खेत में यह बोऊँगा और फिर गोदाम भरूँगा। यानी यह किसान को मालूम न हो, तो किसान पागल है। जब बिना द्रव्यदृष्टि के खेती नहीं होती है, तो बिना द्रव्यदृष्टि के मोक्ष कैसे होगा? विश्वास रखो, द्रव्यदृष्टि के अभाव में खेती नहीं होती है। बीज पौधा नहीं होता है, पर उस किसान को बीज में पौधा दिखता है। बिना द्रव्यदृष्टि के, हे माँ! तू रोटी नहीं बना सकती; क्योंकि आटा होता है हाथ में, रोटी नहीं होती। जीव के योग उपयोग बिना रोटी का निर्माण नहीं। जब तेरे ज्ञान में रोटी आती है, तब चौकी पर बिलती है। ज्ञान में न आये, तो रोटी बनेगी कैसे? ज्ञान में पहले आती है, या कि बन जाती है? पहले ज्ञान में आती है। मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। जो मैं आपको बता रहा हूँ, मुझे वह दिखाई दे रहा है। मैं चाहता हूँ कि आप भी देखना शुरू करो। अभी आपको दिखता है, इसलिए द्रव्यदृष्टि है। वह ज्ञायकभाव नहीं है। ज्ञायक भाव जो है वह द्रव्यदृष्टि को भी जान रहा है, और पर्यायदृष्टि को भी जान रहा है। ज्ञायकभाव तो ज्ञायकभाव है। द्रव्यदृष्टि तो वस्तु के अन्दर व्यक्त पर्याय को देख रहा है। यानी अव्यक्त पर्याय को वस्तु में देख रहा है, और ज्ञायकभाव जो है, व्यक्त व अव्यक्त को त्रैकालिक देखता है, एकसाथ देखता है। द्रव्यदृष्टि, लक्ष्यदृष्टि, परादृष्टि। पर्यायदृष्टि यानि अपरा दृष्टि। इस रूप में नहीं देखोगे, यही तो भूल कर रहे हो। बीज खेत में डालते हो तो दाना देखते हो, कि बालें देखते हो? हाथ में बीज दिखता है, दृष्टि में बाल दिखती है। बाल न दिखती होती, तो मुट्टी का दाना मिट्टी में क्यों डालते होते? बस, भूल यहीं कर रहे हो कि अपनी दृष्टि का प्रयोग परदृष्टि में कर रहे हो। योगी निज की द्रव्यदृष्टि का प्रयोग निज में करता है, सो 'समयसार' बन जाता है। और आप, आप सोचो-समझो। बिना द्रव्यदृष्टि के संसार में कोई मनुष्य नहीं है। कोई है क्या? पर वह द्रव्यदृष्टि पर में जा रही है। एक सज्जन पुरुष धर्मात्मा ज्ञानीजीव यदि संतान की दृष्टि से गर्भधारण भी करता है तो उसे भोगदृष्टि नहीं दिख रही है, संतान नजर आ रही है। अभी तो बेटा कलकल के रूप में था, फिर भी घर के आँगन में बेटा किलकारी करता दिखता है। यह है द्रव्यदृष्टि। और समाज से पूछो, बेटे की शादी की चर्चाएँ प्रारंभ होती हैं तो इनको बहू की पायल की आवाजें सुनाई पड़ने लगती हैं। और कभी-कभी माँ आँगन में रुक जाती है, क्योंकि उसे बहू दिखने लगती है। हे मुमुक्षु! जैसे बेटे की शादी की चर्चाएँ पुत्रवधू की याद दिलाती हैं, ऐसे भगवती जिनेन्द्र की वाणी में भगवान् की आवाज सुनाई पड़ने लग जाये तो तू परमात्मा बन जाये। क्या करूँ, लगाते ही नहीं हो। जानते सब हो।

आचार्य कुन्दकुन्द देव ने 'समयसार' ग्रन्थ में जगत के बाहर की कोई बात नहीं लिखी। उन्होंने अनादि संस्कार मिटाने के लिये लिखी हैं। आप समझ नहीं पा रहे। हकीकत यह है कि घर-घर की बातें लिखी हैं। ये घर-घर की बातें सभी की निज-घर की हैं, पर घरों की नहीं हैं।

ज्ञायकभाव मेरा स्वरूप है और ज्ञायकभाव जगत का वेदकभाव है। फिर भी जगत में जानेवाला भाव नहीं है और जो जगत का वेदन करेगा, वह स्वयं का वेदन नहीं करेगा तो परोक्ष-प्रमाण माननेवाला मीमांसक होगा। जब ज्ञाता पर को जाने परन्तु निज को न जाने तो वह ज्ञाता है, या कि उन्मत्त पुरुष है? वह तो मीमांसक है, वह अर्हत्दर्शन में जीनेवाला मुमुक्षु नहीं है। परोक्षप्रमाण ज्ञान को परोक्ष कहनेवाला कोई दर्शन है तो वह मीमांसक है।

ध्यान दो बेटे ने पानी में पीला रंग मिला दिया। आपको पानी कैसा दिख रहा है? हे ज्ञानी! इन आँखों से देखोगे तो पानी पीला है, और अन्दर की आँख खोलकर देखेगा, तो रंग पीला है, जबकि पानी तो अपने स्वभाव में जैसा है, वैसा ही है। पीला पानी है। ध्रुव सत्य बोलिए पानी पीले होने पर भी पीलापन पानी

का किंचित भी नहीं है। पीलापन तो डाले हुये रंग का है।

हे मुमुक्षु ! मेरी आत्मा तो त्रैकालिक ध्रुवधाम ज्ञायकरवभावी है। जो पीले-लाल दिख रहे हैं, ये कर्म की उपाधि हैं। इनको गौण करके निहारो। मैं तो त्रैकालिक शुद्ध ही हूँ। क्यों, भटक तो नहीं रहे ? क्योंकि एक सज्जन बोले- महाराज ! आप दो-तीन दिन से जो बातें कर रहे हो, आपकी बात में व सोनगढ़ की बात में क्या फर्क है ? मैंने कहा- तू गढ़ को पहचानना जानता है, तत्त्व को पहचानना नहीं जानता। तत्त्व पहचानने वाले होते, तो गढ़ न बन पाते। ये तत्त्व नहीं पहचान पाये, तो दोनों ने गढ़ बना लिये। एक ने व्यवहार तत्त्व को नहीं समझा, दूसरे ने निश्चय तत्त्व को नहीं समझा। अरे ज्ञानी ! पानी को एक क्षण के लिए पीला कहने में क्या जा रहा था ? कारण में कार्य का उपचार कर देते कि वर्ण पीला गिरने से पानी पीला दिखने लग गया है। फिर धीरे से कहते- 'ज्ञानी ! पानी तो पानी है, रंग ही पीला है।' तो ये गढ़ न बनते। न व्यवहार के पक्ष बनते, न निश्चय के पक्ष बनते। ध्यान दो -

**घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत् ।**

**जीवो वर्णादिमज्जीव जल्पनेपि न तन्मयः ॥ 40॥ स.सा. कलश ॥**

घड़े में घी रखा होता है। ये बताओ कि कौन-से देश में घी का घड़ा बनता है ? लेकिन मैं सही न कह रहा हूँ तो बताओ, घी का घड़ा है ? हे ज्ञानी ! उन घड़ों में घी रखा होने से वे घी के घड़े कहला रहे हैं, पर घड़ा तो मिट्टी का ही है, यह व्यवहार है। घृत तो घृत है, कुंभ तो मिट्टी का है, यह निश्चय है। ऐसे ही

**हऊ गोरो, हऊ साँवलो, हऊ पीलो .....**

मैं गोरा हूँ, मैं साँवला हूँ, मैं मोटा हूँ, मैं दुर्बल हूँ, अरे अज्ञानी ! ये तन की दशा को देखकर चेतन को गोरा, पीला क्यों कर रहा है ? कौन गोरा ? आप वेदी का शिलान्यास करते हो, तो सोने की ईंट, चाँदी की ईंट। अरे ! ईंट तो मिट्टी की है, पर पैसा किसका ले रहा है ? सोने की ईंट का। अरे ! पीली पन्नी लगा दी, तो कहते कि सोने की ईंट बन गई, और चाँदी का बरक लगा दिया, तो चाँदी की ईंट बन गई। ज्ञानी ! ईंट किसकी है ? मिट्टी की है। ऐसे हमारी आत्मा का ध्रुवधाम ज्ञायकरवरूप है। यही समयसार है।

अब आचार्य अमृतचन्द्र का दृष्टान्त सुनो ! ज्ञेय में निष्ठ, ज्ञायक में प्रसिद्ध। ये लकड़ी है, इसमें आग लगा दी, आप देख रहे हो कि लकड़ी जल गई। हे ज्ञानी ! लकड़ी में अग्नि लगी अवश्य दिख रही है, पर लकड़ी अग्नि नहीं है, अग्नि लकड़ी नहीं है, पर अग्नि लगी है लकड़ी में। आप बोलते हो कि लकड़ी में आग लग गई, आप शुद्ध बोलते हो। यह नहीं बोलते कि अग्नि लकड़ी है। जो लगती है, वह होती है कि आती है ? आती है। अगर लकड़ी में अग्नि होती है, तो पकड़ो, हाथ जल रहे हैं ? जो भी लकड़ी को छुयेगा, उसके हाथ जल जायेंगे। दाहक स्वभाव लकड़ी का है कि अग्नि का है ? अग्नि लगती है, अग्नि होती नहीं है लकड़ी में। कषाय लगती है, कषाय होती नहीं है। आत्मा में कर्म होते नहीं हैं, आत्मा में कर्म लगते हैं। अग्नि होती है, लकड़ी अग्नि नहीं होती है। ऐसे ही ज्ञेय ज्ञान में होते नहीं, ज्ञेय ज्ञान में आते हैं। परन्तु ज्ञायकभाव होता है। ताकत किस पर लग रही है, सिद्धि किसकी चल रही है ? मात्र ज्ञायकभाव की। यही कारण है कि योगी ज्ञायकभाव मात्र को निहारते हैं। जब वे ज्ञायकभाव को नहीं देखते थे, तब वे विकल्पों में डूबते थे। जब वे ज्ञायकभाव को देखते थे, तब भगवान्-आत्मा में डूबते थे। जो आप प्रश्न कर रहे हो, यही परभाव है। निजभाव में प्रश्न होते नहीं हैं। ज्ञायकभाव तो है। इसे पूछा नहीं जाता, पहचाना जाता है। और जब हम पूछते हैं, तब ज्ञायकभाव की परिभाषाएँ समझते हैं, पर ज्ञायकभाव को नहीं समझते, क्योंकि ज्ञायकभाव का

उत्तर होता ही नहीं है। वह जो होता है, तब ये बुद्धि बगैरह सब गई। ये बुद्धि भी परभाव है। ज्ञायकभाव स्वभाव है। मैं ध्रुवसत्य बोल रहा हूँ। बुद्धि तो एकत्व वितर्क, शुक्ल ध्यान (बारहवें गुणस्थान) तक चलती है, परन्तु ज्ञायकभाव त्रैकालिक ध्रुव सिद्दालय में रहता है। इसलिए आप इतना समझ लो कि किसके पास जाना पड़ता है, श्रेष्ठ के पास कि अश्रेष्ठ के पास ? जो जिसके पास जाये, जो जाता है, वह छोटा होता है, यह मैं जानता हूँ।

आचार्य विद्यासागर ने प्रवचन किये, वह प्रवचन इतने मधुर हैं। क्या है कि दक्षिण में यह प्रश्न चल रहा है कि शांतिसागर बड़े हैं कि आदिसागर बड़े हैं। आचार्यश्री ने इतना सुंदर बोला, वह दक्षिण के लोगों ने सी.डी. मंगा कर रख ली है। आचार्यश्री बोले 'मैं यह नहीं जानता कि कौन छोटे थे, कौन बड़े थे, पर मैं इतना अवश्य जानता हूँ कि कौन किसकी समाधि में गया था। जिसकी समाधि हो रही थी, वह बड़ा था। अब-आप समझ जाओ कि समाधि किसकी हो रही थी। वह महायोगी न होता तो सल्लेखना में आचार्य शांतिसागर क्यों जाते ?

अपने विषय पर आइये क्या प्रश्न था कि बुद्धि बड़ी है कि ज्ञायकभाव बड़ा है ? हे ज्ञानी ! बुद्धि जाती है ज्ञायकभाव के पास परम ज्ञायकभाव की सिद्धि के लिये। बारहवें गुणस्थान तक बुद्धि को दौड़े-दौड़े जाना पड़ता है। लेकिन ज्ञायकभाव कहीं किसी के पास जाता ही नहीं है। कौन बड़ा ? ज्ञायकभाव।

### “ज्ञायकभाव स्वरूपोऽहम्”

मैं कैसा हूँ ? परम पारणामिक, टंकोत्कीर्ण, परम ज्ञायकस्वरूप, आनंदकन्द, चेतन पिण्ड, अविस्वादी, ज्ञानघन, भगवती-आत्मा। और कैसा हूँ ? अखण्ड अपरिणामी ध्रुव स्वरूप हूँ। परभाव से अपरिणामी, निज स्वभाव में परिणामी, मैं तो आनंदकन्द चेतन पिण्ड हूँ। क्यों, मुमुक्षु! ये शब्द सुने थे ?

जैसे अग्नि जलने पर भी ईंधन तोईंधन है और अग्नि भी अग्नि है, ऐसे ही ज्ञेय आने पर भी ज्ञाता तो ज्ञाता है, और ज्ञेय भी ज्ञेय है। ज्ञाता ज्ञेय नहीं ज्ञायक होता है। इसलिए उसी अवस्था में जो ज्ञाता है, वह स्वरूप की दशा में है। जैसे दीपक परद्रव्यों को प्रकाशित करता है, परन्तु दीपक पररूप नहीं होता है। जो दीपक परप्रकाशी है, वह दीपक स्वप्रकाशी भी है। इसलिए ज्ञायकभाव स्व पर प्रकाशी है। कैसा ? प्रदीपवत्। आत्मा कैसी है ? ज्ञायक स्वभावी है। जैसे कर्त्ता व करण अन्य होता है, कर्त्ता भिन्न है, करण भिन्न है, ऐसे ही कर्त्ता, करण, कर्म अभिन्न भी होता है। हम कर्म को जानते हैं, करण से जानते हैं, कर्त्ता जानता है। पर को एवं स्वयं को जानता है। मैंने घट को जाना। घट 'कर्म' है, मैं जानने वाला 'कर्त्ता' हूँ, जानन 'क्रिया' है और ज्ञान से जाना 'करण' है। मैं 'प्रमाता' हूँ, घट 'प्रमेय' है, जानना 'प्रमिति' है, ज्ञान 'प्रमाता' है। तो प्रमाता ने प्रमाण से प्रमेय को प्रमिति से जाना। एक भी शब्द अध्यात्म का नहीं है, धर्म का नहीं है, साहित्य का नहीं है। ये सम्पूर्ण शब्द न्याय के हैं। प्रमात, प्रमेय, प्रमाता, प्रमिति, ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता, ज्ञप्ति ये अध्यात्म के हो गये। तो जब मैंने पर को जाना, तो क्या स्वयं को नहीं जाना? तो फिर आचार्य माणिक्यनंदि स्वामी क्या कहेंगे? अब मैं कहता हूँ अकलंक स्वामी महोदधी से रत्न को निकालकर, क्या कह रहे है? ये देखो प्राचीन आचार्यों को विनयभाव। बस, मैं यही निहारता हूँ। आज लोगों को डर लगता है कि मैं उनका नाम ले दूँगा, तो उनकी ख्याति फैल जायेगी। अरे ! उसकी फैले या न फैले, पर तुम्हारी जरूर फैल जायेगी। अरे, तेरे नाम लेने से ख्याति नहीं फैलती, यशः कीर्ति के होने पर फैलती है। अगर तेरे नाम लेने से ख्याति फैल जाये, तो दूसरे का नाम भले न ले, रोटी-पानी का नाम लेता है कि नहीं ? उनकी ख्याति क्यों नहीं

फैलती ? अपने भक्त का, माता-पिता का नाम लेते नहीं। तेरे नाम लेने से ख्याति फैलती तो जगत के सम्पूर्ण द्रव्यों की ख्याति फैल गई होती। इस भ्रम को निकाल देना। किसी के नाम लेने से ख्याति नहीं फैलती, यशः कीर्ति नामकर्म के उदय से ख्याति फैलती है, विश्वास रखो। जीवों को हर विषय पर अज्ञानता है। आत्मा ने आत्मा से जाना कि नहीं जाना ? आत्मा ने 'कर्त्ता' आत्मा को 'कर्म', आत्मा से 'करण', जाना 'क्रिया'। इसलिए मैं जैसे पर को जानता हूँ, वैसे ही निज को जानता हूँ। इसलिए ज्ञायकभाव ही ध्रुवस्वभाव है। इस प्रकार समझना है। सातवीं गाथा को बड़े मनोयोग से समझना है।

## ॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

१५५

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तं दंसणं णाणं ।

णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥७ स.सा. ॥

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी 'समयप्राभृत' ग्रन्थ में ज्ञायक स्वरूप की बात कर रहे हैं। मेरी आत्मा का शुद्धस्वरूप ध्रुव नहीं है। मेरी आत्मा का असिद्धस्वरूप ध्रुव नहीं है। त्रैकालिक अपरिणामी ध्रुवस्वरूप कोई है तो ज्ञायकरूप है; क्योंकि सिद्ध होते हैं, अशुद्ध नष्ट होते हैं, परन्तु ज्ञायकरूप प्रसिद्ध होता है। 'प्रसिद्धोधर्मी', धर्मी प्रसिद्ध होता है। धर्मी अशुद्ध नहीं होता है, धर्मी शुद्ध नहीं होता, धर्मी तो प्रसिद्ध ही होता है। धर्मों के कारण बिडम्बना है, धर्मों को समझ लें तो विडम्बना किंचित भी नहीं है। कोई आत्मा को चिद्रूप कहता, कोई आत्मा को अचिद्रूप कहता, कोई मूर्तिक कहता, कोई आत्मा को अमूर्तिक कहता है। हे ज्ञानियो ! ये धर्म हैं, धर्मी नहीं। ठण्डपना धर्मों में दिखता है, ठण्डपना धर्मों में नहीं है। सम्यग्दृष्टि मुमुक्षु जीव धर्मों को समझकर धर्मों को जानता है, मध्यस्थ होकर चिद्रूप में मुस्कराता है, परन्तु विसंवाद नहीं करता। अज्ञ प्राणी धर्मों को जाने बिना धर्मों में विसंवाद करता है, और धर्मों के विसंवाद में आकर अविसंवादी भगवान्-आत्मा को भूल जाता है। धर्मों को पकड़कर, धर्मों को छोड़कर, धर्मों में ही झगड़ रहा है। धर्मों को जान लेता तो, तुझे समझ में आता कि धर्मों में नानत्व है, धर्मों में एकत्व है। नानत्व वहीं है, जहाँ एकत्व है। एकत्व को जानकर एकत्व को देखता, तो ज्ञानी कभी झगड़ता नहीं, क्योंकि शरीर एक है। कोई नाक को मनुष्य कहे, कोई मुख को मनुष्य कहे, कोई आँख को मनुष्य कहे, अरे ज्ञानियो ! अंगों को देख-देख कर आप विसंवाद कर रहे हो। अंगी को देख लेता तो एक है। अंगी के लिए अंग है, कि अंगों के लिए अंगी है ? प्रमाण के लिए नय है, कि नय के लिए प्रमाण है ? संभल कर सुनना। नय समझने के लिए प्रमाणों की बलि नहीं देनी पड़ती है। प्रमाण को समझने के लिए नयों का आश्रय लेना पड़ता है। नयों को समझने के लिए प्रमाणों की ओर नहीं जाना पड़ता। प्रमाण अवक्तव्य होता है।

धर्मों नानत्वपने से युक्त है, पर धर्मों नानत्व नहीं है। धर्मों नानत्व हो जायेगा तो धर्म हो जायेगा, धर्मों नहीं रहेगा। प्रसिद्धौ धर्मी (परीक्षा मुख सूत्र)। देह में अंग हैं, देह अंग नहीं है। देह अंग हो गई, तो देह नहीं होगी। नय तो नय है, नय प्रमाण नहीं है। प्रमाणों को जानने के लिए नय तो लेना चाहिए, परन्तु नयों को प्रमाण नहीं सौंप देना चाहिए। भगवती आत्मा को जानने के लिए क्षयोपशम का आश्रय लेना चाहिए, पर क्षयोपशम के लिए भगवती आत्मा को नहीं सौंपना चाहिए। क्योंकि क्षयोपशम विनाशीक है। क्रम से चलना। आत्मा को समझने के लिए क्षयोपशम का प्रयोग तो करना चाहिए, पर क्षयोपशम के पीछे आत्मा को संक्लेषित नहीं करना चाहिए। आप उपदेश के लिए जा रहे हो, कि आत्मा को उपदेश देने जा रहे हो ? यदि

उपदेश के लिए जा रहे हो, तो बहिरात्मा हो और उपदेश आत्मा के लिए देने जा रहे हो, तो अन्तरात्मा हो। उपदेश शब्द है, शब्द पुद्गल की पर्याय है। वे अच्छे भी निकलते हैं, बुरे भी निकलते हैं। उनमें रागात्मक या द्वेषात्मक भाव भी आ सकता है। परद्रव्य में दृष्टि जाना ही तो बहिरात्मा भाव है। उपदिष्टा उपदेश के लिए नहीं जा रहा है, उपदिष्टा आत्मा के लिए उपदेश देने जा रहा है। क्षयोपशम के लिए आत्मा नहीं है, आत्मा को समझने के लिए क्षयोपशम चाहिए और इतना ज्ञान चाहिए आत्मा को समझने के लिए। जब क्षयोपशम - ज्ञान आत्मा को समझने में सक्षम हो जाता है, तब केवलज्ञान प्रगट होता है। विश्वास रखना, बाहर की भाषा कितनी भी बोल लेना, कि जगत को जानने के लिए कैवल्य प्रगट हुआ है। भूतार्थ नहीं है। जगत के पदार्थों को जानने के लिए कैवल्य हो, इससे बड़ा अज्ञानी कौन होगा? जगत को जानने के लिए इतना पुरुषार्थ किया जाये कि मिथ्यात्व का भंग न करके, सम्यक्त्व का मंडन करके, सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करके, यथाख्यात में लीन होकर जानने गये तो परद्रव्य को। हे मुमुक्षु! केवलज्ञान परद्रव्य को जानने के लिए नहीं होता। केवलज्ञान निश्चय से निज शुद्धात्म की गहराई को प्रगट करने के लिए होता है। इसलिए भटक नहीं जाना। आपका कहना भी सत्य है, मेरा कहना भी परम सत्य है। क्यों?

**जाणदि पस्सदि सव्वं व्यवहारणण केवली भगवं ।**

**केवलणाणी जाणदिपस्सदि णियमेण अप्पणां नियमा ॥१५९॥नियमसार**

व्यवहारनय से केवली सर्वज्ञ जगत् के चराचर पदार्थों को जानते-देखते हैं, परन्तु निश्चयनय से निज की आत्मा को देखते और जानते हैं। केवली जगत् के किसी द्रव्य को जानते नहीं, देखते नहीं, क्योंकि जाननेवाला, देखनेवाला सर्वज्ञ नहीं होता। सर्वज्ञ जो होता है, वह वीतरागी होता है और जो जानने-देखने की इच्छा रखता है, वह वीतरागी नहीं होता है, वह सरागी ही होता है। कैवल्य में झलकता है, दिखता है, दर्पण इव, "दर्पण तल इव सकला"। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब झलकता है, दर्पण झलकाता नहीं है, ऐसे ही सर्वज्ञ जानता नहीं है, देखता नहीं है। सर्वज्ञ के ज्ञान में स्वतः जनता है, दिखता है। वह कैवल्य की निर्मलता है। जो निर्मलता है, वही प्रत्यक्षता है। आपको लगता होगा कि मैं कुछ हटकर सुन रहा हूँ। यह हटकर नहीं है, यह बिल्कुल सटकर है। हटकर क्षयोपशम होता है।

ज्ञानियों के ज्ञान का प्रयोग ज्ञान में नहीं हो रहा है। ज्ञानियों के ज्ञान का प्रयोग अज्ञान में हो रहा है। इतने बल्व जल रहे हैं, वे प्रकाश दे रहे हैं। एक हीटर जला दीजिए तो जितनी विद्युत ये सभी इतने सारे बल्व खींच पाते हैं, वह एक हीटर खींच लेता है। हीटर विद्युत तो अधिक खींचता है, पर प्रकाश नहीं देता, जलाता है। और बल्व विद्युत न्यून ग्रहण करता है, पर प्रकाश पूरे कमरे को देता है। आपका क्षयोपशम जो विषयों में जा रहा था, वह हीटर में जा रहा था, वह प्रकाश नहीं देगा, ज्ञानी! तेरे चिद्रूप को जलायेगा। पर जो क्षयोपशम ज्ञान ज्ञायकभाव को देगा, वह क्षयोपशम कम लेगा, लेकिन तेरी आत्मा को कैवल्य प्रकाश से जाज्वल्यमान करेगा।

ध्यान दो क्षयोपशम के लिए भी क्षयोपशम का नाश होता है। ज्ञानीजीव विराज गया कि 'मुझे ज्ञान नहीं होता है', यह किससे बोल रहा है? 'मुझे समयसार की गाथा याद नहीं हो रही है', यह क्षयोपशम से बोल रहा है कि नहीं? उसी में क्षयोपशम लगा रहा है कि मुझे याद नहीं हो रहा है। तू क्षयोपशम के पीछे क्षयोपशम का ही नाश कर रहा है। जितने में तू हल्ला कर रहा था कि मुझे याद नहीं हो रहा, उतने में याद करने बैठ जाता तो याद हो जाता। क्षयोपशम स्वभाव नहीं है, विभाव है। ज्ञायकभाव स्वभाव है, क्षायोपशमिक



भाव विभाव है। जब तक क्षयोपशम रहेगा, तब तक कैवल्य नहीं होगा। कैवल्य की भाव में क्षयोपशम बैठा है। कैवल्य की सत्ता प्रगट हो जायेगी, उस दिन क्षयोपशम स्वतः चला जायेगा। क्षयोपशम विभाव है। क्षायिकभाव मेरी आत्मा का ध्रुवधाम स्वभाव नहीं है। आत्मा का ध्रुव स्वभाव है। क्षायिक भाव प्रगट हुआ है, पर ज्ञायकभाव कभी प्रगट नहीं हुआ, वह तो है। जो ध्रुव स्वभाव होता है वह न कभी उत्पन्न होता है, न कभी विनशता है। क्षायिक भाव उत्पन्न हुआ है, इसलिए ध्रुवस्वभाव नहीं है। क्षायिकभाव आत्मा का ध्रुवस्वभाव भी नहीं है। क्योंकि क्षायिकभाव कर्मसापेक्ष है, ज्ञायकभाव चैतन्यस्वभाव है। क्षायिकभाव प्रगट हुआ है कर्म के क्षय से। क्षायिकभाव कर्म को देखता है कि कब ये झरे और मैं प्रगट होऊँ। ज्ञायिकभाव किसी कर्म को नहीं देखता। वह कहता है कि मैं तो त्रैकालिक हूँ।

### “ज्ञायकस्वरूपोऽहं”

मैं ज्ञायकस्वभावी हूँ, प्रमाता हूँ, प्रमिति हूँ, प्रमेय हूँ, कर्ता हूँ, कर्म हूँ, क्रिया हूँ, करण हूँ, पर मैं तो ज्ञायकस्वभावी ही हूँ। देखो, अनुवृत्ती लगाइये। नहीं लगाओगे तो समझ में नहीं आयेगा। कल के विषय को आज के विषय से जोड़िये। अग्नि, अग्नि है। अग्नि लकड़ी नहीं है। लकड़ी जलती है, पर अग्नि लकड़ी नहीं होती है। हे मुमुक्षु ! ज्ञेय, ज्ञेय हैं, ज्ञायक, ज्ञायक हैं, ज्ञायक ज्ञेय नहीं है, ज्ञायक तो ज्ञायक ही है। भिन्न ज्ञेय ज्ञान देते नहीं, ज्ञेयों में ज्ञान होता नहीं। ज्ञान में ज्ञेय झलकते हैं, पर ज्ञाता ज्ञेयरूप होता नहीं, परन्तु ज्ञाता के ज्ञेयरूप हुये बिना ज्ञान ज्ञेय का सम्बन्ध नहीं, फिर भी ज्ञाता ज्ञाता है, ज्ञेय ज्ञेय है, अग्नि अग्नि है, ईधन ईधन है। जलती लकड़ी को देखिए। आँखों से नहीं, प्रज्ञा के नेत्रों से निहारिये। जलती लकड़ी दिख रही है। अज्ञानी को अग्नि व लकड़ी में भेद नजर आता नहीं, पर ज्ञानी को अग्नि व लकड़ी में अभेद नजर आता नहीं।

हे मुमुक्षु ! परज्ञेय ज्ञाता नहीं, ज्ञाता परज्ञेय नहीं, परज्ञेय के बिना ज्ञाता 'पर' को जानता नहीं, परन्तु जानन मात्र से ज्ञाता परज्ञेयरूप होता नहीं। यदि ज्ञाता ज्ञेयरूप तन्मयभाव से होने लग गया, तो यदि ज्ञाता अग्नि को देखेगा, तो आँखें जलने लग जायेंगी। तो नेत्र का अभाव हो जावेगा। यदि ज्ञेय के अनुसार ज्ञान हो जाता है, तो यदि अग्नि को नेत्र निहारेंगे तो जब अग्नि जलेगी, तो आँखें भी जलेंगी, फिर बताओगे किसको कि हमने आँखों से देखा अग्नि ऐसी होती है। सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञान करने के बाद समयसार का ज्ञान नहीं किया, विश्वास रखना, तो उसको तत्त्व का निर्णय सत्यार्थ होगा नहीं। इतने क्षण में अनुभूति कर ली होगी। मिश्र, मिश्र है। मिश्र अमिश्र होता नहीं। मिश्र मिला है, एकमेक है, नीरक्षीरवत्। विश्वास रखना, मिला पीते रहो, पर नीर कभी क्षीर होता नहीं। अरे भोगी आत्माओ ! भोग भोग लो देह-देही में लगाकर। देह देही का संयोग बना बैठा है, पर विश्वास रखो, देह देही का एक संबंध रहा आये, भोगों में लिप्त होते रहो, पर भोग स्वभाव होता नहीं, देह देही बनता नहीं। देह के पीछे वैदेही रो रही है तरे घर में बैठी-बैठी। नहीं मिले वैदेही को राम, तब बिलख रही थी बैठी अकेली अशोक वाटिका में वैदेही। पर राम अपने में बैठे थे, वैदेही रो रही थी। पर ध्यान दो राम मिल गये होते, तो वैदेही क्यों रोती ? नयन सुजाये बैठी है वैदेही। पर, धन्य हो ! राम, आपने राज्यसुख नहीं देखा, पर वैदेही को खोजने के लिए जंगल में निकल पड़े। धन्य हो राम, आपने पिता को भुला दिया, माँ व भाइयों को भुला दिया, अवधपुरी को भी भूल गये, पर वैदेही की खोज में निकल पड़े, वैदेही बैठी रो रही थी। हे आत्माराम ! इस देह अवधपुरी को भूल जाओ और तेरी वैदेही/सीता आत्मा है। देह से शून्य मेरी आत्मा ही विदेही है। राम ने तो अपनी विदेही को खोज लिया, पर तुम कैसे वीर कहलाते हो

? तेरी अबला को छीन ले जाये, तुम घर में बैठो हो, तो वीर कैसा है ? यदि वीर हो, तो अवधपुरी को छोड़ दो और अपनी विदेही से जाकर मिल लो। अन्यथा विश्वास रखना, ऐसा कलंक तेरे सिर पर लगेगा कि पर घर में तेरी नारी बैठी है और तू अपने घर में बैठा है, तेरे से बड़ा मूर्ख कोई नहीं है। कर्मगृह में बैठी तेरी नारी, वह विदेही, उसे तू नहीं देख रहा है। अरे ! उस लंकेश को भगा दो, अपनी विदेही को अपने घर ले आओ। विदेही देखना है तो इन विदेही को छोड़ना पड़ेगा।

आचार्य-भगवान् योगीन्दुदेव स्वामी 'परमात्म प्रकाश' में लिख रहे हैं हे मुमुक्षु ! जिसके नयनों में मृगनयनी विराजती हो, उसको ब्रह्म का विचार कैसे ? जिनके ब्रह्म विचार नहीं, उनके ब्रह्म की प्राप्ति कहाँ ? हे नर ! एक म्यान में दो तलवार नहीं होती हैं। ब्रह्म चाहिये है तो ध्यान दो, मृगनयनी को निकालकर आओ, इन नयनों से मृगनयनी का विसर्जन करो। द्वेष नहीं करना। ऐसा विसर्जन नहीं करना जैसे लोग नौ दिन प्रतिमा को पूजते हैं और दसवें दिन विसर्जन कर देते हैं। नदियों में विसर्जन का अर्थ है कि तुम जिसे मृगनयनी शब्द से पुकारते थे, उसे भगवान् आत्मा शब्द से पुकारने लगे। विसर्जन हो गया। मानस सरोवर से निकाल दो। तुम तो ध्रुवधाम ज्ञायकस्वभावी हो।

जिसे आप व्यवहार कहते हो, वह लोकाचार है। रत्नत्रय का भेदकथन व्यवहार है और रत्नत्रय की अभेददृष्टि निश्चय है। आप व्यवहार में क्या हो ? विवाद में हो सकते हो, व्यवहार में नहीं हो, विश्वास रखना। इन्हें असद्भूत कहो, उपचरित कहो, अनुपचरित कहो, स्वजातीय कहो, विजातीय कहो, लेकिन, हे मुमुक्षु ! निश्चयनय से सब अभूतार्थ है। भूतार्थ एक चित्स्वरूप ज्ञायकस्वरूप है। यह पेन है। किसका है ? मेरा है। मैं अपना कह रहा हूँ, फिर भी मिथ्यादृष्टि नहीं हूँ। परद्रव्य को निज कहना रागभाव। हे मुमुक्षु ! तुम यही गड़बड़ कर रहे हो। परद्रव्य को आत्मस्वभाव कहना मिथ्यात्व भाव है। परद्रव्य का विजातीय उपचरित असद्भूतनय से प्रयोक्ता हूँ, कर्त्ता नहीं इसका, हरता नहीं। ये निज में है, मैं निज में हूँ। यह पर है, फिर भी मेरा है, क्योंकि इसका प्रयोक्ता हूँ। कौन-सा नय ? विजातीय। ये मेरी जीव जाति का है, 'उपचरित', क्योंकि उपचार लगा है। असद्भूत, क्योंकि मेरे से अत्यन्त भिन्न है। इसलिए उपचरित विजातीय असद्भूत व्यवहारनय से पेन मेरा है। अब समयसार की भाषा में बोलता हूँ, लगा लो व्यवहार, कर लो संतुष्टी। मत कहना पेन किसका है ? मेरा ही है।

हे ज्ञानी ! लोक चलाने के लिए लोकव्यवस्था ही कर पाओगे, पर लोक को बदल नहीं पाओगे। मेरा शब्द पकड़िये। लोक चलाने के लिए लोक में लोक का राग ही कर पाओगे, पर लोक को बदल नहीं पाओगे। छः द्रव्यों के समूह का नाम लोक है, आकाश का नाम लोक नहीं है। आकाश, आकाश है और छः द्रव्य जहाँ रहते हैं, वह लोकाकाश है। इसलिए छः द्रव्यों के समूह का नाम लोक है। यह पेन भी एक लोक है। कौन सा लोक है ? पुद्गल स्कन्ध है। मेरी आत्मा भी एक लोक है। वह कौन-सा लोक है ? जीवलोक है।

एक-दूसरे में प्रवेश होने पर भी एक-दूसरे को अवकाश भी देते हैं। एक-दूसरे से व्यक्ति मिलते भी हैं, परन्तु अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं। हे मुमुक्षु ! आपने कह दिया कि पेन आपका है, और मैंने भी बड़े प्रेम से स्वीकार कर लिया कि हाँ, पेन मेरा है। पर, ज्ञानी ! ध्यान दो, मैं पेन के राग का ही कर्त्ता हो पाऊँगा। मैं पेन को निज की मान्यता का ही माननहार हो पाऊँगा, पर मैं पेन को अपना बनानेवाला त्रैकालिक नहीं हूँ। नय लगा लीजिए। लोक के भ्रमण की ही व्यवस्था बना पाओगे, पर लोकातीत नहीं हो पाओगे। तू तेरे जीवत्व भाव का भी कर्त्ता नहीं है, फिर पेन का कर्त्ता कैसा ? आप किस-किस के कर्त्ता हो,

मुझे ज्ञात हुआ है कुन्द-कुन्द स्वामी के माध्यम से। हे जीव ! तू अपने जीवत्वपने का भी कर्त्ता नहीं है। यदि तू जीवत्वपने का कर्त्ता हो जायेगा, तो तेरा जीवद्रव्य सादि हो जायेगा, अनादि सत्ता समाप्त हो जायेगी। जब तू जीवत्वपने का कर्त्ता नहीं है, फिर क्यों उसका राग अपने सिर पर ढो रहा है? यह मैं पूछ रहा हूँ आपसे, आपने अपने आत्मा को कब रचा ? नहीं रचा, तो फिर क्यों जगत में कर्त्ता बना घूम रहा है ? किसका भवन ? मेरी भवन। हे मुमुक्षु ! जब तू अपने आप का कर्त्ता नहीं है, फिर कैसे बना सकता है भवन ? उस ममत्व का त्याग करो। ईंट ईंट में है; चूना चूने में है। तू तो ध्रुवधाम ज्ञायकस्वभावी है। सुनने में, कहने में अच्छा लग रहा है, पर विश्वास रखो, इसकी परिणति में पसीना छूटता है। जो आपने पहनकर रखा है, उसको उतारे बिना तिरोगे नहीं, इसलिए उतार लो। पुरुषार्थ बाहर में नहीं, भीतर में है। तिरना है, तो उतारना पड़ेगा। ज्ञायकभाव को देखना नहीं है, जानना है। ज्ञायकभाव देखा नहीं जाता है। ज्ञायकभाव चाक्षुस नहीं है, ज्ञायकभाव अचाक्षुष होने से वेद है, फिर भी देखा जाता है। चर्म के चक्षु से नहीं, ज्ञान के अनुभव चक्षु से देखा जाता है। पर विश्वास रखना, तू ज्ञायकस्वभावी नहीं है। चाहे सम्यग्दृष्टि हो, चाहे मिथ्यादृष्टि, ज्ञायकस्वभावी नहीं है। ज्ञायकस्वभाव पर मिथ्यात्व नहीं है। ज्ञायकत्व स्वभाव पर सम्यक् नहीं है। सम्यक् मिथ्यात्व तेरे रागभाव पर है। ज्ञानी ! ज्ञायकभाव का ज्ञान हो जाये, तो सम्यक्दर्शन हो जाये, और ज्ञायकभाव को भूल जाये, तो बड़े प्रेम से मिथ्यात्व में चला जाये। आपा पर का भेदविज्ञान जग जाये, सम्यक्त्व प्रगट हो जाये। तो आपा पर का भेदविज्ञान खो जाये, तो मिथ्यात्व प्राप्त हो जाये। कोई कठिन काम नहीं है, दृष्टि ही तो बदलना है। जिसे तू बेटों की माँ कहता था, उसे माँ कहने लग जाये, काम हो जाये। शब्दों में नहीं, जैसी माँ के प्रति अन्तरंग से श्रद्धा होती है वैसी श्रद्धा बना लो तो ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाओगे और यदि तू अब्रह्मभाव को प्राप्त हो जायेगा, तो ज्ञायकभाव चला जायेगा।

आज आदिनाथ स्वामी के चरणों में चले जाना, इतनी प्रतिज्ञा ले लेना कि मैं जगत् की सम्पूर्ण माताओं के आँचल का पान करने का त्याग करता हूँ। हे नाथ ! मैं किसी माँ के गर्भ में न आऊँ, इतना आशीष चाहिए। पर सुनो, निगोदिया नहीं बन जाना, एकेन्द्रिय नहीं बन जाना, इतना ध्यान रखना। शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से मैं शुभ-अशुभ परिणामों से भिन्न हूँ। ज्ञाता यानि शुद्धात्मा जो कहता है, वह ज्ञाता ही है, पर का कर्त्ता भोक्ता नहीं है। क्यों ? आप किसी का अपने जीवन में बिगाड़ या सुधार कर पाओगे क्या ? हे ज्ञानी ! बिगाड़ नहीं, सुधार नहीं, तो कर क्या पाओगे ? राग-द्वेष भाव। हे जीव ! एक खेत पड़ा था, उसे आपने खरीद लिया तो कहने लगा मेरा है। कुछ दिन बाद बेच दिया, फिर भी बोलता है कि यह मेरा था। कुछ और आगे चला, यह खेत भी मेरा है। क्यों ? लेनेवाला हूँ। वह भी मेरा, यह भी मेरा, पर, हे ज्ञानी ! वह पृथ्वी जो कुँवारी कन्या, उसने किसी को अपना पति स्वीकारा नहीं है। फिर ये कैसा व्यभिचारी है, जो उसे अपनी कह रहा है। यह प्रज्ञा का व्यभिचार है, राग का लेनदेन है, पृथ्वी का नहीं है। तू उठ जायेगा, मिट जायेगा, पर वह कभी उठेगी नहीं, मिटेगी नहीं, क्योंकि उसका नाम मिट्टी है। मिटती-मिटती भी न मिटे, उसका नाम मिट्टी है। वह तो तेरे तन को निज में मिला लेगी, पर तू अपने चैतन्य को उसमें नहीं मिला पायेगा। विश्वास न हो तो मरघट पर देख आओ, वह मिट्टी तुम्हें अपना लेगी। मोह की महिमा विचित्र है। कुटता है, पिटता है, फिर भी वहीं रहता है। सब जानते हैं। जितने मकान बनाये हैं, उनसे भी निकाल दिये जाओगे। इस मिट्टी के पीछे कितनी पर्यायों को मिट्टी में मिला डाला।

आगे आचार्य कहने वाले हैं, जिसके पीछे 'ज्ञान करना, ज्ञान करना' कह रहे थे, वह भी ध्रुवधाम

नहीं है। ज्ञायकभाव ही तेरा स्वभाव है। शब्द भी भिन्न है, बातें भी भिन्न हैं। जैसा चेहरा व मन यहाँ विराजता है, ऐसा चौबीस घंटे हो जाये, तो तुझे कोई शक्ति घर में रोक नहीं पावे। पर क्या करूँ ? यहाँ एक-दो घंटे देते हो, घर में पूरा समय देते हो। जिसके शक्ति अंश अधिक होते हैं, वे उसमें परिणत कर लेते हैं। रागियों के बीच आपको चौबीस घंटे रहना है, मंदिर या गुरु के पास तो थोड़े से समय के लिये आते हो।

**ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं ।**

**णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥७॥ समयसारा॥**

अहो ज्ञानियो ! अध्यात्म का विषय सुनने में सरल है, प्राप्ति में कठिन है। परन्तु सुनते-सुनते तत्त्व का निर्णय यदि हो गया आपका, तो विश्वास रखना, किसी-न-किसी पर्याय में तत्त्व बोध हो ही जायेगा। मुनि बनना कठिन नहीं है, मुनिपने का निर्णय करना कठिन है। कठिन है तत्त्व का निर्णय करना तत्त्व का निर्णय करने से एक बार में मोक्ष हो जायेगा, पर तत्त्वनिर्णय के अभाव में कोटि-कोटि बार मुनि बनेगा तब भी मोक्ष नहीं मिलेगा। और विश्वास रखना-अभव्य के सिवाय कोटि-कोटि बार कोई मुनि बन नहीं सकता है। मुनिलिंग तो धारण कर सकता है सच्चे अर्थ में मुनित्व नहीं। एक बार भावलिंगी मुनि बन गया तो बत्तीस भव से आगे जाता नहीं, और समाधि सहित मरण कर लिया जिस योगी ने तो सात-आठ भव के अंदर नियम से मोक्ष जाता है, उसे संसार में कोई रोकता नहीं। इसलिए जो भावव्रती है, वही व्रती है।

अहो ! तन के त्यागियो ! मन से पूछो कि त्याग कितना किया है ? जितना मन का त्याग है, वही त्याग है। तन का त्याग रागभाव है। भटक नहीं जाना। त्याग तो कर लिया, पर त्याग का त्याग नहीं किया। तो फिर त्यागी कैसे ? कह रहा था कि मैं कोटि-कोटि पर पैर मारकर आया हूँ। अरे ! पैर धीमा लगा था, अब तक छूटा नहीं, इसलिए कह रहा था कि मैं छोटा-मोटा नहीं हूँ, सब छोड़कर आया हूँ। छूटा नहीं है। छूट गया होता, तो कोटि-कोटि शब्द नहीं आया होता - ये भी कषायभाव है। ये चारित्रभाव नहीं है, प्रशंसा के भाव हैं, संसार का कारण है। 'मैं इतना ज्ञानी था।' केवली तो नहीं थे। छोड़ दो, क्षयोपशम भाव काम नहीं आयेगा। डिग्रियाँ काम में नहीं आयेगी, सब छोड़ना पड़ेंगी। परिणाम की विशुद्धि और चारित्र की निर्मलता काम में आनेवाली है, बाकी कुछ काम में नहीं आने वाला। वे डिग्रियों को प्राप्त करके साधु बने हैं। अरे ! ये डिग्रियाँ कभी अहं-भाव को प्रगट कर सकती हैं। हमें वह डिग्री चाहिए जिससे चारित्र में दोष न लगे, और गुरु के चरण न छूटें। कोटि-कोटि डिग्री काम में नहीं आयेगी, इतना ध्यान रखना। जब तक सरागदशा है तन गुरु से भले दूर रहे आये, पर तो भी मन गुरु से दूर न हो है। जब तुम वीतरागी हो जाओगे, तब न तन की जरूरत है, न मन की जरूरत है। दिखता है आपको कि काजल आँख में लगाते हो, परन्तु वह दिखता नहीं है। आँख को दिखे या न दिखे, पर काजल के बिना अच्छा दिखता नहीं है। ऐसे ही आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी अध्यात्म टीका लिख रहे हैं। और क्या कह रहे हैं ? गुरु प्रसाद। जैसे नयनों में लगा काजल स्वयं आँख को दिखाई नहीं देता, पर काजल के बिना दिखाई नहीं देता, ऐसे ही गुरु का प्रसाद दिखाई नहीं देता, पर गुरु-प्रसाद के बिना मोक्षमार्ग दिखाई नहीं देता। इतना सीख लेना। ये दो नयनों का काजल है। यहाँ समय मालूम नहीं पड़ता, कि कब निकल गया। इसी प्रकार, मुझे विश्वास है कि तैतीस सागर पर्यन्त समय तत्त्वचर्चा में सर्वार्थसिद्धि के देवों के ऐसे ही निकलते होंगे।

व्यवहारनय से ज्ञान-दर्शन-चारित्र कहते हैं। सद्भूत व्यवहार है। निश्चय से न ज्ञान है, न दर्शन है, न चारित्र है। मैं तो ज्ञायकस्वभावी हूँ। प्रभु चिद्रूप है। भाव है तो ज्ञायकभाव है, शेष सब परभाव है, परे

भाव है। निज भाव तो ज्ञायकभाव है।

## ॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

५ ५ ५

आचार्य-भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी 'समय प्राभृत' ग्रन्थ में परम ज्ञायक स्वभाव की चर्चा कर रहे हैं। पर्याय का मिश्रण हमने अनन्तकाल से अनुभव किया। लेकिन द्रव्यदृष्टि की अनुभूति जब तक नहीं होगी, विश्वास रखना, तब तक पर्याय की साधना पर्याय ही दिला पायेगी। परिणामों की साधना ही परमात्मा बना पायेगी। ध्यान दो, पर्याय की साधना सुन्दर-सुन्दर पर्याय तो दिला देगी, पर पर्याय की साधना परमात्मा नहीं बना पायेगी, जबकि परिणामों की साधना परमात्मा बनाती है। यदि आपने पर्याय से निर्दोष साधना कर भी ली है, तो स्वर्ग के देव तो बन जाओगे, परन्तु सिद्ध नहीं बन पाओगे। पर्याय की साधना कठिन नहीं है, पर्याय की साधना तो अभव्य भी कर लेता है।

**सद्गहाद य पत्तेहि य रोचेदि य तह पुणोविर्यफासेदि य ।**

**धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मखयणिमित्तं ॥२७५॥स.सा.॥**

श्रद्धान करता है, प्रतीति में आता है, अनुभवन करता है, स्पर्श करता है। किसको ? धर्म को। लेकिन धर्म भी किया, परन्तु भोगों के निमित्त से किया। उसने धर्म कर्म-क्षय के निमित्त से नहीं किया। इसलिए कुन्दकुन्द का राग भी तुम्हें कुन्दन नहीं बना पायेगा, समयसार का राग भी तुम्हें समयसार नहीं बना पायेगा। आचार्यों के प्रति बहुमान भाव तो लाना, सम्मान भाव तो लाना, सत्कार तो भाव लाना, लेकिन उनके राग में कर्त्ताभाव लाये तो वे तुम्हारे गुरु भी तुमको ऊपर नहीं ले जा पायेंगे। क्यों ?

**कषायैः रञ्जितं चेतः तत्त्वं नैवावगाहते ।**

**नीलीरक्तेऽम्बरे रागो, दुराधेयो हि कौकुमः ॥१७॥ स्वरूप सम्बोधन**

॥

कषाय से अनुरंजित चित्त है जिसका ऐसे चेतन को पदार्थ नहीं कहा, द्रव्य नहीं कहा, तत्त्व कहा है। यहाँ पर आत्मा को तत्त्व कह रहे हैं। जगत् के सम्पूर्ण तत्त्वों को तो तूने जाना, लेकिन आत्मतत्त्व को नहीं पहचाना। तत्त्व को तत्त्वदृष्टि से ही जाना जायेगा। अकलंक स्वामी 'स्वरूप सम्बोधन' ग्रन्थ में कह रहे हैं, कि जिस जीव का चित्त कषायों से अनुरंजित है, वह तत्त्व को प्राप्त नहीं होता। कैसे ? जैसे नीले रंग पर कुमकुम का रंग नहीं चढ़ता, ऐसे ही धर्म-धर्मात्मा के निमित्त भी से किया गया कषाय (लोकधर्म छोड़कर बात करना) तेरे धर्म का घातक है, तेरे आत्मद्रव्य का घातक है। क्यों ? हम जिसके निमित्त से कषाय कर रहे हैं, वह निश्चयधर्म तो हो नहीं सकता, व्यवहार ही होगा। उसे नष्ट होना है। सम्हलकर सुनना। किसी ने बेटे के गाल पर चाँटा मार दिया। अब ध्रुव सत्य है कि बेटे के गाल पर चाँटा लग चुका है। ये भी सत्य है कि जो पीड़ा थी गाल की, वह तो लगते ही वेदन की गई। अब गाल पर चाँटे की पीड़ा नहीं है, पर गाल जिसका है, उस आत्मा में कषाय की पीड़ा है। हे ज्ञानी ! आप चाहते तो उस बेटे को, इस धारा में भी बदल सकते थे कि बेटे ने पूर्व में किया था कर्म, जो गाल पर चाँटा लग गया। अब तू कर रहा कषाय, अब कहाँ लगवाना चाहता है ? पर जनक ऐसा विचारता नहीं है, जनक उल्टा क्या करता है कि बेटे के गाल के चाँटे का बदला चाँटे से ही लेना चाहता है। जबकि जो तेरा शत्रु है, वह भी तेरे आत्मधर्म से भिन्न है और पर सुख है, वह भी तेरे आत्मधर्म से

भिन्न है। और जीवत्व की दृष्टि से देखें तो दोनों ही जीवतत्त्व हैं, दोनों ही जीवपदार्थ हैं, अस्तिकाय हैं। हम किसके ऊपर बरसे उन दो के मध्य में, जैसे कि चक्की के मध्य में धान का छिलका उतर जाता है। तेरा सुख राग का पाटा है। तेरा बेटा राग का पाटा हो गया, और पड़ोसी का बेटा जिसने गाल पर चाँटा मारा था, वह द्वेष का पाटा हो गया। उन दोनों के मध्य में आप हैं। ध्यान देना, जब तेरी अन्तिम श्वास भरेगी न, तुझे ये ऊपर ले जायेगा। पर ध्रुव सत्य है, कि एक के राग में दूसरे के द्वेष में तेरी आत्मा -

**रागद्वेष द्वयी दीर्घ, नेत्राकर्षण-कर्मणा ।**

**अज्ञानात् सुचिरं जीवः, संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ ॥११॥ इष्टोपदेशः॥**

आपको शुष्क नहीं बना रहा हूँ, आपको निर्मल बना रहा हूँ। व्यवहार में बेटे की रक्षा का भाव तो रखना। ऐसा थोड़े ही है कि बेटा पिट रहा है और तुम देखते रहो। उसकी रक्षा तो करना, पर दृष्टि यही रखना, कि मुझे जैसे इसकी रक्षा करना है, वैसे ही पड़ोसी के बेटे की भी रक्षा करना है, क्योंकि दोनों जीवद्रव्य हैं। एक का भी घात होता है तो, हिंसा का दोष लगेगा। धर्म की प्रतिज्ञा लेना बहुत सरल है, पर धर्म का बैलेंस (संतुलन) बनाकर जीना, ये कठिन है। धर्म यह है कि निज सुत को पिटने नहीं देना, साथ ही पर सुत को पीटने नहीं जाना। दोनों धर्म सध गये। निज सुत को पिटने नहीं दिया, तो घर का धर्म सध गया और पर सुत को पीटने नहीं दिया, तो परमार्थ का धर्म सध गया। ऐसा उपाय करना। सम्हालना तो पड़ेगा। इसके सम्हाले बिना ऊपर गमन नहीं है, क्योंकि पहला अणुव्रत भी नहीं है। यदि ऐसे भाव आ गये कि मैं तुम्हें देखता हूँ इसने, ऐसे भाव क्यों किये ? तो, ज्ञानी ! तेरा अहिंसाणुव्रत चला गया, आर्त्तध्यान कर लिया। किसी का कुछ कर पाओगे ? परन्तु सम्यग्दृष्टि संयमी ध्यानी जीव जो मुझे, साइकिल पर ले जा रहा है, उससे भी हीन हो आप क्या ? वह साइकिल पर जा रहा है, इधर-उधर देख भी रहा है, फिर भी देखो कि हाथ तो हेंडल पर है, परन्तु अंगुलियाँ ब्रेक पर हैं। वेग में चलता है, परन्तु आवेग में नहीं आता। मोक्षमार्ग में वेग में चलना चाहिए, परन्तु आवेग पर नहीं चलना चाहिए, उस पर ब्रेक होना चाहिए। जैसे भीड़ में ब्रेक लगाना आवश्यक समझते हो, ऐसे तत्त्वज्ञानी सच्चा भावलिंगी मुमुक्षु जीव कंकण-पत्थरों की, शब्दों की, उपसर्गों की भीड़ में अपने परिणामों की आक्रोश में ब्रेक लगाकर रखता है। परम सत्यार्थ यही है। परन्तु कभी-कभी वेग तेज होता है, तो ब्रेक फैल हो जाता है। तो कर्म का विपाक जब तीव्र उदय में आता है, तो बाँध भी टूट जाता है। जीवन निकल गया, गाड़ी अचेतन है, उसमें तो ब्रेक लगा लिया, पर चेतन में ब्रेक आज तक नहीं लगा पाये। यदि ब्रेक लगा लिये होते, तो कपड़ों में नहीं बैठे होते। यही कारण है कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मा का जो धर्म है, उसे भी आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं कि ये तेरा ज्ञायकभाव नहीं है, फिर कहाँ तू कर्म की प्रकृतियों की बात कर रहा है ? वे तो पौद्गलिक हैं, रहेंगी। पर तू अपने ज्ञायकभाव को भूल गया।

ऐसा दर्शन आपके देश में है, जो मूर्ति को नहीं पूजते, फोटो को नहीं पूजते, प्रतिमा को नहीं पूजते, अग्नि को पूजते हैं। अग्नि उपासक। जिसे लोक में देव कहकर पूजा करते हैं, ऐसी पूज्य अग्नि को लौह की संगति में पिटना पड़ता है। जिसे देवता बोलता था, उसे भी पिटना पड़ता है। हे मुमुक्षु ! तुम परम आराध्य देव हो। भगवान् आत्माओ ! इस पुद्गल पिण्ड के साथ कैसे तुम देव हो, तुम पिट रहे हो ? और भोगों का घन पड़ रहा है। कहाँ गई देवत्व की शक्ति ? यदि आत्मतत्त्व पर दृष्टि है, तो शब्दों के समयसार में नहीं जाना। एकान्त में बैठकर समयसार का वेदन भी करना कि मेरी धारा कहाँ है ? समझ रहे हैं न आप ? तन की धारा दिखे या न दिखे, पर ध्रुव सत्य ये है कि आप समय नहीं देते हो। यह बताओ कि डॉक्टर बनने के लिए समय

देते हो कि नहीं ? समय दिया था । समय न देते तो आप डॉक्टर नहीं बन पाते । हे ज्ञानी ! तूने पुद्गल की नाडी पकड़ने के लिए पूरी युवा पर्याय दे दी । और पकड़ा किसको ? नारी को । ऐसे निजी नारी को, निज की कषायों की नारी पकड़ता, तो तुझे पुद्गल नारी न मिलती । तुझे मिलती चेतन मुक्तिनारी । पर आपने समय नहीं दिया । समय दो तो 'समय' समझ में आता है । खीर गर्म है, रोओ मत, हवा मत करो, उसे समय दो । गुरसा करोगे तो कर्म आश्रव होगा। समय दो तो खीर ठण्डी हो जायेगी और कुछ भी नहीं होगा । तू माला फेरने बैठ जा, खीर ठण्डी हो जायेगी । वह अपने समय पर ठण्डी होगी । उसमें सौपाधिक दशा अग्नि है । वह अपने आप विलग हो जायेगी, खीर ठण्डी होगी, फिर खा लेना । ऐसे समय दो भोगों की भट्टी से आत्मखीर को उतारकर रख लो । न पंखा चलाओ, न फूँको । तुम ध्यान में बैठ जाओ, खीर ठण्डी हो जायेगी । देश-विदेश में कितने ही युद्ध हो जायें, पर अन्त में समय ही साथ देता है । चक्रवर्ती से पूछिये न, जो वज्र कपाट तोड़ता है, जिसमें कितनी तीव्र क्षमता होती है । वह गुफाएँ एक या दो दिन नहीं, छः मास तक खुली रहती हैं । ऐसे प्रबल प्रचण्ड अग्नि की गुफाएँ ठण्डी होती हैं कि नहीं ? जब वे गुफाएँ ठण्डी हो गईं, तो तेरे अन्दर की कषाय कैसे ठण्डी नहीं होगी ? समय दो, कुछ मत करो। यही तो समयसार है ।

### मा चिद्दह मा जंपह, मा चिंतह किजेण होइथिरो ।

कुछ नहीं करना चाहते हो, तो कुछ भी मत करो । मुनि क्यों बना ? कुछ नहीं करने का अभ्यास कर रहा हूँ । कुछ भी नहीं करने का मतलब क्या है ? शरीर छोड़कर बैठना बहुत सरल है । कुछ ऐसे भी लोग मिल जायेंगे । एक सज्जन ऊँचे पद पर थे । कुछ दिन बाद उनका कार्यकाल समाप्त हो गया । वह सज्जन अब खाली रहने लगे । वह मुझसे आकर बोले- 'मैं तनाव में हूँ । मैंने शासन से कहा कि मुझे एक रुपया भी नहीं चाहिए, मेरे पास बहुत है, पर मुझे काम करने दो ।' मैंने पूछा 'क्यों ?' उसने कहा, 'महाराज ! जो बीस-पच्चीस साल से आर्डर दे रहा हो, वह खाली बैठा हो, मन नहीं लगता है ।' मैंने उससे कहा- 'खाली समय को जिनवाणी में लगा दो। वह बोला - 'मन नहीं लगता है ।' तब मैंने कहा - पुण्य मानो जो आप खाली समय को जिनवाणी में लगा रहे हो । नहीं तो ताश खेलते टी.वी. आदि देखते मिल जायेंगे, पर हृदय की कैसिट में जो चित्र भरे हैं, उसे देखना पसन्द नहीं करते । तत्त्व की गहराई समझ में तभी आती है, जब हृदय से तत्त्व सुनता है । वचन से तत्त्व सुननेवाला कभी आनंद में नहीं डूब सकेगा । हृदय से तत्त्व सुनेगा, वह निमग्न होगा । जो शब्दों को कान से सुनायेगा, वह कर्णप्रिय हो जायेगा, पर आत्मप्रिय नहीं होगा । यह वीतरागवाणी कर्णप्रिय नहीं है, ये वीतरागवाणी अन्तःकरण प्रिय है । पानी मुख से पिया अवश्य जाता है, पर मुख में रखा नहीं जाता । ध्रुव सत्य बोलिये, यथार्थ क्या है ? जितना भोजन-पानी जाता है, सभी मुख से ही जाता है, और स्वाद भी मुख ही में हो, लेकिन अधिक समय तक रखते क्यों नहीं हो ? तुरंत अन्दर ले जाते हो । मुख से खाया-पिया तो जाता है, परन्तु मुख में रखा नहीं जाता, रखा पेट में ही जाता है । सम्यग्दृष्टि-जीव तत्त्व को सुनता जरूर है, पर कानों के लिए नहीं सुना जाता, अन्तःकरण के लिए सुना जाता है । मुख में ग्रास मुख के लिए नहीं रखा जाता है, पेट भरने के लिए होता है । ऐसे ही कानों से सुना तत्त्व कान के लिए नहीं, अन्तःकरण के लिए होता है ।

आज घर जाना, अच्छी-अच्छी मिठाई लाना, मुख में रखना और बाहर निकालना । गंदगी कर दोगे और पेट भी नहीं भरेगा । आज मुमुक्षु के साथ यही हो रहा है । वे जिनवाणी को मुख में रख रहे हैं, और बाहर निकाल रहे हैं, सो कचड़ा तो फैल गया, लेकिन शुद्धात्म अनुभूति का पेट नहीं भरता है । ग्रास मुख में रखने

के लिए नहीं रखा जाता, मुख में रखकर पेट भरने के लिए रखा जाता है। ऐसे ही ये 'समयसार' ग्रंथ मुख में रखने के लिए नहीं, ये मुख से मुख्य में ले जाने के लिए है। मुख्य कौन है? आत्मा। सुनो आत्मा। आत्मा सुनती है? कथंचित। जो अनुभूति में डूबी होती है, वह सुनती नहीं है, स्पर्श नहीं करती, चखती नहीं है। अनुभूति फिर भी लेती है। कही-न-कहीं लोगों ने तत्त्व को पकड़ने का प्रयास तो किया, पर बुद्धि के विपर्यास ने पकड़ने नहीं दिया। ध्यान दो, बिना पग के चलते हो, बिना कान के सुनते हो, बिना नाक सूँघते हो, बिना नेत्रों के देखते हो। पकड़ा तो है, लेकिन जो सिर पर बँधा मिथ्यात्व था, उसने पकड़ने नहीं दिया।

पर क्या करे? पकड़ा तो तन को है, तो तन में रहो, पर तन के मत रहो, क्योंकि तन में रहे बिना चैतन्य को प्रगट कर नहीं पाओगे। परन्तु तनके रहोगे, तो चैतन्य को प्रगट नहीं कर पाओगे। तन में रहो, परन्तु निमग्न चेतन में रहो।

प्रमत्त - अप्रमत्तादि विकल्प, जीव के व्यवहारनय से पाये जाते हैं। परन्तु शुद्ध द्रव्यार्थिक (निश्चय) नय से नहीं पाये जाते हैं। तथा दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी नहीं है, ऐसा सद्भूत व्यवहारनय से यहाँ कहते हैं। किसको? ज्ञान को। ज्ञानियों के लिए ज्ञानी कौन है? जीव है। आचार्य जयसेन स्वामी कह रहे हैं आप ज्ञानी हो। जैसा है, वैसा कहता हूँ मैं। क्षयोपशमदशा की अपेक्षा से अज्ञानदशा अवश्य है, परन्तु अज्ञानी नहीं है। वह कैवल्य का अभाव होने से अज्ञानदशा है, परन्तु ज्ञानतत्त्व का अभाव नहीं है। ज्ञानतत्त्व का अभाव हो जायेगा, तो चेतनत्व का अभाव हो जायेगा। चेतनत्व का अभाव हो जायेगा, तो जडत्व हो जायेगा। जडत्व हो जायेगा, तो जीवतत्त्व का विनाश हो जायेगा। तर्क शास्त्र से मिलो।

### यत्र यत्र ज्ञानं, तत्र तत्र चेतना

#### ना ज्ञानत्वं न चेतनत्वं

जहाँ-जहाँ अग्नि है, वहाँ-वहाँ उष्णता है। जहाँ-जहाँ उष्णता है, वहाँ-वहाँ अग्नि है। यह व्याप्ति है। आप सभी ज्ञानी हो, ऐसा जयसेन स्वामी कह रहे हैं। जितने जीव हैं, वे सब ज्ञानी हैं। आप सभी वक्ता हो। दो इन्द्रिय से वक्ता हो जाते हैं। अन्तर इतना है कि तत्त्व वक्ता कम होते हैं, बकनेवाले बहुत होते हैं। ये मैं क्यों कह रहा हूँ? आज ये एक के पीछे दूसरे को भूल रहे हैं। जो-जो बोलते हैं, वे सब वक्ता हैं। ये विशुद्धसागर नहीं बोल रहे, जिनवाणी बोल रही है। दो इन्द्रिय जीव वचनबल से युक्त होता है। जिसके वचनबल है, भाषा पर्याप्ति है, वही वक्ता है। अब विषय यह है कि वक्ता बोलता क्या है? यहाँ उपधार शब्द की जरूरत नहीं है, यहाँ जीव मात्र को ज्ञानी कह रहे हैं। जब हम ये कथन विशेषण जोड़ेंगे, सम्यक्त्व विशेषण जोड़ेंगे, तो मिथ्यादृष्टि अज्ञानी, सम्यग्दृष्टि ज्ञानी है। देशव्रती की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि अज्ञानी है, क्योंकि संयम को धारण नहीं कर रहा है। देशचारित्र को गौण करेंगे, तो महाव्रती ज्ञानी है, तू अज्ञानी है। ऐसा ही क्रम आगे भी लगा लेना चाहिए।

तेरहवें गुणस्थान की अपेक्षा, पहले गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक को, अज्ञानी कहा है। पर उन गुणस्थानों में महान्-महान् अन्तर है। सभी एक-से अज्ञानी नहीं हैं। ज्ञान गुण की अपेक्षा सभी ज्ञानी हैं।

शुद्ध निश्चय नय से न ज्ञान है, न दर्शन है, न चारित्र है। मैं तो शुद्ध चैतन्य स्वभाव मात्र हूँ। ज्ञान भिन्न है, चारित्र भिन्न है, पर मैं ज्ञायक त्रिकालध्रुव हूँ। दर्शन, ज्ञान, चारित्र में संबंध है। सब ज्ञायक हैं, सभी नायक हैं। किसके नहीं हैं ज्ञायक के नायक। ज्ञाता दृष्टाभाव से पर-ज्ञेयों का मैं ज्ञायक हूँ। जो पर का



नायक बनता है, वह निज का नायक नहीं है। जो परभावों के नायकपने का त्याग करता है, वह ज्ञायकभाव का नायक है। हम सभी किसके नायक हैं? ज्ञायकभाव के। घर, कुटुम्ब, परिवार, पुत्र आदि के नायक नहीं हो, यह अज्ञान भाव है। मैं तो ज्ञायकभाव का नायक हूँ। तू पर का नायक नहीं है, तो दे दो चाबी, उतारो सब। ज्ञायकभाव के नायकपने में सब छूट जाता है, सब मुनिराज बन जाओगे। जैसे निश्चयनय से, अभेद रूप से अग्नि एकरूप है, जब भेद करते हैं अग्नि का, तो व्यवहारनय से जलाती है, तो दाहक हो गई। पचाती है तो पाचक हो गई। जब प्रकाश करती है, तो प्रकाशक हो गई। ये तो विषयभेद से अग्नि में भेद दिख रहा है। जब दर्श देंगे तो दर्शनस्वभावी, जाने तो ज्ञानस्वभावी, आचरण करे तो चारित्र स्वभावी, ये आत्मा के भेद हैं क्या? ये तो विषय के भेद हैं, आत्मा तो ज्ञानस्वभावी है। कितने प्रकार से समझा रहे हैं कि आत्मा तो ज्ञायकस्वभावी है। अग्नि में भेद है कि जलाती है, पकाती है, प्रकाश देती है। ये अग्नि में भेद है, कि विषय के भेद से भेद है? जैसे, विषय के भेद से अग्नि में भेद होते हैं, ऐसे ही व्यवहारनय से विषयों के भेद से आत्मा में भेद दिखते हैं, परन्तु आत्मा अभेद-ज्ञायक-स्वभावी है। स्त्री है, पुरुष है, नपुंसक है, क्या है? ये बर्तनों के वर्तन का भेद है, आत्मा तो शुद्ध ज्ञायकस्वभावी है। लिंग भेद है, चिह्न भेद है, परिणाम भेद है, पर ध्रुव परिणामी में भेद नहीं है। यह अभेददृष्टि इस चित्त में प्रवेश कर जाये, तो जाये लोक से अब्रह्म/कुशील का नाम ही पलायन कर।

लक्ष्यदृष्टि कमजोर पड़ रही है। लक्ष्यदृष्टि में क्रिया नहीं दिख रही, भावना दिख रही है। जैसे आपने लक्ष्य बना लिया कि लार्डगंज मंदिर के दर्शन करने जाना है, लेकिन पहुँचे नहीं। लक्ष्य है, आज भी जा सकते हो, कल भी जा सकते हो। लक्ष्य है, जाओगे। ध्यान दो, व्यवहार से इसे लक्ष्य कह देना, पर निश्चय से लक्ष्य नहीं है। अनुभूति है, अन्यथा लक्ष्य तो अप्राप्य का ही होता है। पकड़ो, लक्ष्य अप्राप्य का होता है, प्राप्य के लिए। (शब्दों में पूरे सिद्धांत भरे रहते हैं।) लक्ष्य तो अप्राप्य पर होता है, प्राप्य पर नहीं। प्राप्यी का लक्ष्य नहीं हो तो उसका वेदन होता है। जब मैं शुद्धात्मानुभूति में लीन होऊँगा, तो सिद्धों का लक्ष्य नहीं बनाऊँगा। ये भ्रम को निकालना कि शुद्धोपयोगी मुनि सिद्धों का ध्यान करते हैं या कि सिद्धों की अनुभूति करते हैं। असिद्ध होने पर भी अनुभूति शुद्धात्मा की ही करता है। कैसे करेगा? कर्म-निरपेक्षभाव से, सिद्धांत अपेक्षा परोक्ष, अध्यात्म अपेक्षा प्रत्यक्ष, कर्म को गौण करके अशरीरी शुद्धात्मा में लीन है।

बोरे का आवरण बराबर है, पर परखी प्रवेश कर गई, कर्म का आवरण बराबर है, कोई विकल्प नहीं है। पर मैं कर्म को भेद करके अन्दर प्रवेश कर रहा हूँ, और अनुभूति ले रहा हूँ शुद्धात्मा की तत्क्षण में। व्यवहारिक दृष्टांत से समझ जाओ। कामिनी सामने है नहीं, परन्तु कामना अन्दर विराजी है। कामना से ही कामिनी को भोग रहा था, फिर भी धातु का क्षय हो रहा है। सिद्ध हूँ नहीं, सिद्धों की अनुभूति ले रहा है, उस अनुभूति से कर्मों का क्षय हो रहा है। बाहर नहीं जाना। दृष्टांत दृष्टा में छिपकने के लिए नहीं सुनाये जाते हैं। नहीं तो आप गर्त में चले जाओ। दृष्टांत दृष्टान्त के लिए सुनाये जाते हैं। वही दृष्टांत सुनाना चाहिए, जो दृष्टांत पर घटता होता है। यह कहाँ से बोल रहा है, आचार्य नागसेन स्वामी के पास प्रश्न किया। अरहंत तो होते नहीं, और आप ध्यान करनेवाले हो न, पृथ्वीधारणा, वायुधारणा, अग्निधारणा, जलीयधारणा, तत्त्वरूपधारणा, पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत ध्यान बाहर से निहारो तो सब कल्पना है। आप अरहंत की कल्पना करके ध्यान कर रहे हो, तो कल्पना है, समय निकाल रहे हो। लेकिन कल्पना से अकल्पनीय प्राप्त होता है। कैसे? टेंशन (तनाव) में आ जाओ तो नाक फूट जाती है। बाहर की गर्मी से

इतनी जल्दी नाक नहीं फूटती, मौसम की गर्मी के साथ अन्दर की गर्मी साथ हो जाये, तो नाक फूटती है। ध्यान की गर्मी से वे यहाँ नहीं हैं। वे हैं, इसलिए ध्यान कर रहा हूँ। लक्ष्य की प्राप्ति हो जाये, इसलिए अलक्ष्य का ध्यान कर रहा हूँ। जब मैं परभाव से शुद्ध होकर ध्यान करूँगा, तो सबको गौण करके ध्यान करूँगा। फिर मैं ही ध्येय होऊँगा, मैं ही ध्याता होऊँगा, मैं ही ध्यान होऊँगा, फिर कोई नहीं होऊँगा। पर ध्रुव सत्य है, कि जब तक पंचपरमगुरु को नहीं ध्याओगे, तब तक निज शुद्धात्म गुरु के पास नहीं पहुँच पाओगे। गेट पर जाना पड़ता है, परन्तु गैर के लिए नहीं, मंदिर में विराजे भगवान् के लिए।

वह प्रमाण दो प्रकार का होता है अभ्यस्तदशा स्वतः, अनभ्यस्तदशा में परतः। अभ्यस्तदशा में पूछना नहीं पड़ता कि बोर्डिंग मंदिर कहाँ है, पर पहुँच जाते हैं। परन्तु जो बाहर से आता है, वह पूछ-पूछ कर आता है। ऐसे ही हम खड़े मोक्ष के द्वार पर हैं, लेकिन अपरिचित है, तो पूछ रहे कि क्या है। पर न्यायशास्त्र का सूत्र याद रखना।

**‘तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च ।’ परीक्षामुख सूत्र ॥१/१३॥**

अर्थात् वह प्रमाण दो प्रकार का होता है, स्वतः और परतः

विषयभेद से आत्मा के तीन भेद बनते हैं, परन्तु ज्ञायकभाव से भेद नहीं है। मिथ्यात्वभाव से बहिरात्मा, कर्म सहित होने से अन्तरात्मा, सकल परमात्मा-निकल परमात्मा। पर तीनों ज्ञायकरूप भगवान्-आत्मा हैं।

सत्य बता रहा हूँ, योगीश्वर कुछ नहीं करते। नाना प्रपंचों के बीच में भी भोजन कर लेते हैं। भोजन का समय गौण कर दो एक क्षण। आपको घर-गृहस्थी के कार्यों से फुरसत है नहीं, फिर भी समय निकालता कहाँ से है ?

**॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥**

५ ५ ५

**जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं ।**

**तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसकं ॥८ स.सा.॥**

ध्रुव एकत्व-विभक्त चिन्मय चेतन स्वरूप है, उसको सम्हालने के लिए प्रज्ञा काम करेगी। पर उसमें लीन होने के लिए अभेद दशा ही, काम में आयेगी। शब्दजाल-स्वरूप नहीं है; जो स्वरूप है, वह शब्द जाल से शून्य है। शब्दब्रह्म आत्मब्रह्म का साधन तो हो सकता है, पर साध्यभूत नहीं हो सकता है। जगत् के लोगों ने उस शब्द को लेकर जगत् के विपर्यास में पड़ना प्रारंभ किया, ध्रुव सत्य यह है। जिस दिन ब्रह्म का बोध हो जायेगा, उस दिन शब्दातीत व पक्षातीत हो जायेगा। फिर झलकता नहीं है कि मैं कौन, मेरा कौन है ?

अहमिदं ममेदं? भाव जब-तक तेरे अन्तःकरण में निवास कर रहा है, तब-तक ‘अहमिक्को’ भाव नहीं है। शक्ति चाहिए। तू अहमेदं स्वभावी है, तू ममेदं स्वभावी है। यह मेरे हैं, इनका मैं हूँ, यह अहमिदं-ममेदं भाव है। इन दोनों से भिन्न ‘अहमिक्को’, मैं एक स्वतंत्र द्रव्य हूँ, ये मेरा स्वभाव है। यथार्थ मानना, सम्बन्ध कभी स्वभाव को प्राप्त कराते नहीं हैं। सम्बन्ध भिन्न में ही होता है। सम्बन्ध अभिन्न में होता नहीं है। शब्द संबंध भी परमार्थ के समझने के लिए है। शब्द से सम्बन्ध रखना, परन्तु शब्द की प्राप्ति के लिए परमार्थ को मत खो देना। समयसार ग्रन्थ अध्यात्म की ऐसी अलौकिक रचना है जो जीव को अध्यात्म के रस भीतर तक डुबोती है। लेकिन, ज्ञानियो ! ध्यान दो, इस ग्रंथ की ग्रंथि भी तुझे निर्ग्रन्थ नहीं होने देगी। इस

ग्रंथ में निर्ग्रन्थ स्वरूप का वर्णन है, लेकिन ग्रन्थ निर्ग्रन्थ नहीं है। स्पष्ट तत्त्व कहना पड़ेगा और तत्त्व को कहने में राग सता रहा है तो विश्वास रखो, आप असत्य बोल रहे हो। आप विपरीत कहोगे, सत्यार्थ नहीं कहोगे। आपको अपने पक्ष का अभाव करना आना चाहिए। हे पक्षी ! मैं तेरे से पूछता हूँ पंखों से तू उड़ता अवश्य है, लेकिन जिन पंखों से तू उड़ान भरता है, उन पंखों को ही तू अपने हृदय से चिपकाकर बैठ जा, क्योंकि वे तुम्हें उड़ाते हैं, तो निश्चय ही उड़ नहीं पायेगा। जब तू पंखों को ऊपर-नीचे करता है, तभी गगन में उड़ पाता है। अहो मुमुक्षु ! इस समयसार की प्राप्ति चाहिए तो पंखों से उड़ान भरनी ही पड़ेगी। समयसार एक पक्ष हो सकता है, परन्तु पक्ष में समयसार नहीं है। निज शुद्धात्मा मेरा पक्ष है, सपक्ष पक्ष है। समयसार ग्रंथ पक्ष तीत है। जब तक इस ग्रंथ का भी पक्ष रहेगा, तब तक तू निज आत्मा से विपक्ष ही है।

हे ब्रह्मचारी ! तेरा भेष, तेरी मुद्रा कल्याण के लिए पक्ष है। लेकिन ध्यान रखना, विपक्ष है। ये चिद्रूप ही तेरा सपक्ष है। इस भेष में भी तू राग करेगा, तो अगली पर्याय में कोई मनुष्य ही बनेगा, तू सिद्ध नहीं बनेगा। किसी मंदिर में तेरा पक्ष है, परन्तु निज मंदिर को निहारने की दृष्टि नहीं है, तो देव बन सकता है, पर सिद्धालय में नहीं पहुँच सकता। मंदिर में व्यन्तर बनकर रह सकता है। कोई चैत्यालय में व्यन्तर हो गया, वहाँ चमत्कार प्रारंभ हो गये। वे अज्ञानी, उन चमत्कारों को सत्य कहकर उसी को वस्तुस्वरूप मान बैठे, वह तो परकृत पर की प्रभावना है। उस देव का ऐसा ही क्षयोपशम है कि वह आपके पुण्योदय का ही अतिशय दिखा सकता है, पर वह देव निरतिशय वीतरागी भगवान् आत्मा स्वरूप नहीं है। ये समयसार ग्रन्थ है, इसको निर्मल भाव से समझना, अन्यथा शुष्क हो जाओगे। निर्ग्रन्थ का पक्ष भी निर्ग्रन्थता से शून्य है। निर्ग्रन्थ भेष है, इसका पक्ष तेरे अन्तःकरण में है। पर निर्ग्रन्थ भेष का पक्ष है, यह पक्ष की भी गॉँठ है। निर्ग्रन्थ का राग भी सग्रन्थ भाव है। सराग अवस्था में ये दुनियाँ के भाव हैं। वीतराग दशा में परभाव शून्य है।

**आत्मा स्वभावं परभाव भिन्नमापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम् ।**

**विलीनसङ्कल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ॥१०॥**

आत्मा का स्वभाव तो परभावों से भिन्न है। जब परभावों से भिन्न है, तो कहाँ तू प्रपंचों में पड़ा है ? कहीं-न-कहीं जीव निज स्वभाव से बिल्कुल च्युत हो रहा है। मैं पुरुष हूँ, आप पुरुष हो। किसी पुरुष का क्षयोपशम विशेष हो जाये, उसके नाम से भीड़ लग जाये, उसकी आमनाय प्रारंभ हो जाये, तो पुरुष वह पुरुष ही रहेगा, वह परमात्मा नहीं होगा। आज तक दिगम्बर आमनाय जिस बात से सुरक्षित थी, वह भी अब विकार की ओर जा रही है। इस जैनदर्शन में उपासना परमात्मा मात्र की है, पुरुष की नहीं है।

**‘अस्ति पुरुषश्चिदात्मा’**

वह चैतन्य आत्मा की आराधना है। लोक पुरुष यानी आदमी, उस आदमी की पूजा हमारे जिनशासन में नहीं है। न उसकी बातों को स्वीकार किया गया है। जगत् में तो एक-एक साधु के नाम से मंदिर बने। जाओ महाराष्ट्र में, वहाँ भगवान् के मंदिर कम, बाबा के मंदिर ज्यादा मिलेंगे। कहीं इस बाबा का मंदिर, कहीं उस बाबा का मंदिर। यह जैनदर्शन सुरक्षित था अभी तक। इतने लम्बे समय तक। वर्द्धमान स्वामी के निर्वाण के बाद भी, श्रमण संस्कृति जीवित रही है। वह अमुक बाबा के बल पर नहीं रही, बाबाओं से हटकर रही है, इसलिए सुरक्षित रही है। बाबाओं के वाह-वाह में जो चला जाता है, वह असुरक्षित हो जाता है। यह तीर्थंकर मात्र की परम्परा को मानने वाली संस्कृति है।

चौरासी पाहुड जिस योगी ने लिखे हों, उस योगी ने अपने नाम का कोई सम्प्रदाय नहीं बनने दिया। वह महान था, उसके नाम पर तो विराट सम्प्रदाय होता, उनका कोई पंथ नहीं है, सम्प्रदाय नहीं है। जो आज

कुन्द-कुन्द आम्नाय बोलते हैं, वह कुन्द-कुन्द स्वामी ने नहीं बनाई है, वह तो आप उनकी भक्ति में बोल रहे हो। किसी भी पंथ का गृहस्थ हो, साधु हो, वे सभी कुन्द-कुन्द आम्नाय बोलते हैं। यदि कुन्दकुन्द स्वामी का अलग से पंथ होता, तो बताओ ऐसी भी आज कोई आम्नाय है, जो कुन्द-कुन्द की आम्नाय को नहीं मानते हैं। सभी मानते हैं न। इसका मतलब ही है कि कुन्द-कुन्द का नाम लेना सभी परसंद करते हैं। लेकिन आचार्य कुन्द-कुन्द स्वामी ने अपने नाम की कोई भी आम्नाय स्वीकार नहीं की। क्यों? उनको मालूम था कि हमारे जिनशासन में मात्र एक आम्नाय है। उसका नाम है तीर्थकर आम्नाय। आज लोगों ने जाति-जाति की आम्नाय प्रारंभ कर दी है। ये सब व्यर्थ की बातें हैं। आम्नाय का मतलब होता है परंपरा। जिन शासन में श्रमण संस्कृति में यदि किसी की परम्परा स्वीकारता है तो मात्र तीर्थकर की स्वीकारता है। कल कोई हो गया, परसों कोई हो गया, तो हम कितने मंदिर बनायेंगे? मालूम चला कि चौबीस भगवान् गौण हो गये, आचार्य और साधु के नाम के मंदिर हो जायेंगे, जैसा महाराष्ट्र में है, अन्य धर्म में। भट्टारकों ने तो शुद्ध दिगम्बर धर्म की बात की है। उन लोगों ने अपने आपको भगवान् नहीं कहा, न आम्नाय कहीं। उन्होंने तो तीर्थकर परम्परा मात्र का ही पोषण किया। परन्तु मैं अन्यधर्म की बात कर रहा हूँ। वहाँ राम, कृष्ण, जानकी के मंदिर कम हैं, बाबाओं के ज्यादा हैं वैदिक धर्म में। महाराष्ट्र में जैन लोग हैं, वे भी भगवान् की पूजा करते कम मिलेंगे, देवी-देवताओं की पूजा करते ज्यादा मिलेंगे। कारण क्या है? जहाँ वस्तुस्वरूप का भान समाप्त हो गया, वहाँ जगत् के प्रपंच प्रारंभ हो गये। हमारे वीतराग आचार्यों ने अपने नाम पर सम्प्रदाय नहीं बनाये और बनाने का विचार भी नहीं करना। किसकी परम्परा में हैं आप? वर्द्धमान महावीर की। जितने भी साधु हैं, वे महावीर की परम्परा में हैं। ये श्रमण परम्परा नहीं है, ये श्रमण संस्कृति है।

आचार्य कुन्द-कुन्द जो जिस भाषा का भाषी है, उसको उस भाषा में कह रहे हैं। उद्देश्य उस भाषा को समझाने का नहीं है हमारा, उद्देश्य भावों को समझाना है। अज्ञानी जीव भाषा समझने में भव व्यतीत कर रहे हैं, पर ज्ञानी जीव भाषा के माध्यम से भावों को समझ रहे हैं। दो भाषा आपके पास हैं, निश्चय और व्यवहार, निश्चयनय की भाषा अभेदरूप है, व्यवहारनय की भाषा भेदरूप है। पर दोनों भाषायें निजभाव नहीं हैं, दोनों भाषायें परभाव ही हैं। उभय भाषा से शून्य चिद्स्वरूप है, वह मेरा निजस्वभाव है।

आचार्य जयसेन स्वामी की टीका (आठवीं गाथा की) देखें। शुद्ध निश्चयनय से जीव के दर्शन, ज्ञान, चारित्र नहीं होते हैं। तो फिर आपको परमार्थ का ही कथन करना चाहिए, व्यवहार का कथन नहीं करना चाहिए इसको ध्यान से समझना। जितने प्रश्न आपके मन में आते हैं, सबके उत्तर पहले से ही लिख दिये। निश्चय-निश्चय चिल्लानेवाला भी चलता व्यवहार से ही है। पीता पानी ही है, खाता रोटी ही है, पर चिल्लाता निश्चय-निश्चय है। उससे पूछना- रोटी निश्चय से बनाई, कि व्यवहार से बनाई, और फिर निश्चय से खायेगा कि व्यवहार से खायेगा? और खानेवाला कौन है? निश्चय है, कि व्यवहार है? व्यवहार नहीं, निश्चय नहीं। आत्मा है, कि नहीं, निर्णय कीजिए? है। निश्चय से, कि व्यवहार से? आत्मा है, तो आत्मा संसार में जी रही, कि नहीं? किससे? निश्चय से, कि व्यवहार से? दोनों से। जो रोटी के टुकड़े को खा रहा है, वह शरीर ने खाया है, कि जीव ने खाया है? हे ज्ञानी! यदि पुद्गल (शरीर) खाता है, तो मुर्दे को खाना चाहिए, और शुद्ध जीव खाता है, तो सिद्ध भगवान् को खाना चाहिए, इसलिए आगम को व्यवस्थित बोलिए। जीव की विभावदशा, पुद्गल की विभावदशा, इनका संयोगीभाव, ये दोनों क्षायोपशमिकभाव, इन दोनों के माध्यम से शरीर खाते दिखाई देता है, पर स्वाद शरीर नहीं लेता है। रसभोक्ता, भोक्तृत्वभाव

पुद्गल का नहीं, जीव का है। जीव स्वाद चख रहा है।

अरे भाई ! आगम को व्यवस्थित कहने में तुमको कौन-सा दोष लगता है ? और आगम को व्यवस्थित नहीं कहोगे, तो असमाधि नियम से है, समाधि नहीं होगी। आपके नगर में क्या होता है, उसे उसने नगर तक ही रखना, आगम की गद्दी पर नहीं सुनाना। देश की, प्रदेश की, घर-घर की परम्परायें भिन्न हो सकती हैं। मंदिर की प्रत्येक वेदी की परम्परा भिन्न हो सकती है, लेकिन आगम की परम्परा भिन्न नहीं हो सकती, इसलिए आगम व्यक्तिगत नहीं होता है, आगम व्यक्ति-व्यक्ति का होता है। आगम व्यक्तिगत हो जायेगा, तो हम किस-किस की बात मानेंगे ? जब व्यक्ति-व्यक्ति अपनी बात को कहने लग जाये तब फिर प्रमाण देखना पड़ता है।

श्वेताम्बर आम्नाय में एक बहुत बड़ा विकल्प है, इसी कारण से उनके यहाँ दो परम्पराएँ हैं, स्थानकवासी और मंदिरमार्गी। एक कहते हैं कि बत्तीस आगम हैं, दूसरे कहते हैं कि चउवन (५४) आगम हैं। अब कौन से आगम को प्रमाण कहा जाये ? फिर दोनों ही कहते हैं कि भगवान् महावीर की वाणी है। अरे महावीर को कलंकित मत करो। महावीर ने जो कथन किया होगा, एकरूप में किया होगा। आपने दो बना लिए, महावीर ने नहीं बनाये। आज मैं मध्यस्थ/तटस्थ होकर आपसे पूछूँ, तो आप जबाब नहीं दे पायेंगे। आप जैन हैं ? आप भगवान् आदिनाथ व महावीर के शिष्य हो। ठीक है न ? आप निर्वस्त्र को मानते हो, पर आपके जैनों में वस्त्रों को माननेवाले भी हैं, सही है न ? आपके महावीर ने दिगम्बरो को जन्म दिया, कि श्वेताम्बरो को ? उत्तर दो। सत्य की खोज करो। ये पक्ष की गाँठ निकाल दो आज। बताओ कि आपके महावीर किस रूप में थे ? दिगम्बर में। यह कौन कह रहा है ? आगम कह रहा है। पर आपके जो श्वेताम्बर बन्धु हैं, उनसे पूछो कि कौन कह रहा है तो वह भी कहेंगे कि आगम कह रहा है। अब बताओ मैं किसको स्वीकार करूँ ? मेरी इच्छा है कि मैं जैनधर्म को स्वीकार करूँ। एक तटस्थ व्यक्ति पूछ रहा है कि आपमें सत्य कौन है ? यह सही है कि श्वेताम्बर भी महावीर को तो दिगम्बर स्वीकारते हैं, अन्य तेईस को नहीं स्वीकारते हैं। जैसे आज आप विकल्प में आ गये, मौन हो गये। अलग-अलग क्षयोपशम वाले साधु हुए, विद्वान् हुए, उन्होंने अपने-अपने क्षयोपशम से लिखना प्रारंभ कर दिया। पर आचार्यों ने यह कहीं नहीं लिखा, कि ऐसा मेरा मत है। उन्होंने यही लिखा कि सर्वज्ञ का मत है। अतः मुझे मत मानो, सर्वज्ञ ही मानो। पर आज उल्टा शुरू हो गया है, यानि जो मैं कह रहा हूँ वह सत्य है। तो आपने सर्वज्ञ को गौण कर दिया। और आपको मैं सर्वज्ञ बताऊँ तो मेरे सम्प्रदाय में कितने भगवान् बन जायेंगे। आज आपने एक आचार्य को मानना शुरू किया, तो दूसरे ने दूसरे को शुरू किया। लेकिन मैं तटस्थ होकर पूछ रहा हूँ, दोनों में सत्य आचार्य कौन है ? तुम अपनी-अपनी कहोगे, मैं तटस्थ होकर चला जाऊँगा। क्यों ? बोले आप सत्य नहीं हैं। जो सत्यता होती है, वह पक्ष से अतिरिक्त होती है, धारावाही होती है। पर आपके यहाँ आपस में ही विकल्प हैं। इसका मतलब है कि आप दोनों में से कोई एक असत्य है।

देखो, जिनवाणी समझने के लिए बहुत पुरुषार्थ चाहिए। तत्त्व-निर्णय करने के लिए भी बहुत पुरुषार्थ चाहिए। बहुत अच्छा हुआ जो इस वीतराग जिनशासन में व्यक्तिगत पूजा नहीं हुई। आज तक के इतिहास में आचार्य, मुनिराज की व्यक्तिगत प्रतिमा स्थापित नहीं हुई। यदि व्यक्तिगत प्रतिमायें प्रारंभ हो जायेंगी, तो मंदिर भगवान् से शून्य हो जायेंगे। हर साधक व्यक्ति कहेगा कि मेरी प्रतिमा होना चाहिए। संभल के रहना, समय ठीक नहीं चल रहा है, क्यों ? पुतलों ने निज की पुतलियाँ खराब कर दी। इसलिए निहारिये, सत्यार्थ को जानने का पुरुषार्थ होना चाहिए। शुद्ध तत्त्व निराकार है, वही सिद्धस्वरूप है। इसलिए आपको

व्यवहार नहीं कहना चाहिए। ऐसा मत बोलिये आप, बोले क्यों ? क्योंकि पदार्थ का ज्ञान कराने के लिए अनार्य को अनार्य की भाषा में ही बोलते हैं। अनार्य को अनार्य की भाषा में नहीं समझायेंगे तो वह समझता नहीं है। इसी तरह व्यवहारनय के बिना परमार्थ का उपदेश करना अशक्य है। जो निश्चय को जानता है, उसे व्यवहार का आलम्बन लेना ही होगा। व्यवहार के कथन किये बिना, निश्चय का कथन होता नहीं। वे घोर अज्ञानी जीव हैं, जो परमार्थ-परमार्थ चिल्लाते हैं। चाहे निश्चय शब्द का प्रयोग करें, चाहे व्यवहार शब्द का प्रयोग करें, जब तक तुम्हारे मुख से प्रयोग चल रहा है, तब तक व्यवहार ही है। कुछ नहीं है, अहंकार की पुष्टि है। वस्तुस्वरूप तो त्रैकालिक ध्रुव है। वर्द्धमान का मार्ग तो एक था, यथार्थ मानिए। कल्पसूत्र को भी मैंने पढ़ा है। कल्पसत्र में भी भगवान् आदिनाथ को करपात्री लिखा है। मुनि के जिनकल्पी, स्थविरकल्पी दो भेद किये हैं। दिगम्बर मुनि को जिनकल्पी तथा श्वेताम्बर मुनि को स्थविरकल्पी कहा है। पर दिगम्बर आम्नाय में तीर्थकर-जैसी शुद्ध चर्या करनेवाला जिनकल्पी कहा है ? काँटा लग जाये तो निकालना नहीं, कंकण लग जाये तो निकालना नहीं, चींटी आ जाये तो हटाना नहीं ये जिनकल्पी मुनि की चर्या है। पंचमकाल में जिनकल्प होता नहीं। पंचमकाल में जितने भी मुनि हैं, वे स्थविरकल्पी हैं। इनको दूसरे शब्दों में, उपेक्षा संयमी कहो। जिनकल्पी यानी उपेक्षा संयमी, स्थविरकल्पी यानी, अपहृत संयमी। 'प्रवचनसार' में ये दो भेद किये अपहृत संयम और उपेक्षा संयम। उपेक्षा संयम यानी कि साक्षात् तीर्थकर की चर्या। अपहृत संयम यानी कि चींटी आ जाये, तो पिच्छी से धीरे से दूर कर देना। यदि मुख से फूँक दिया, तो अपहृत संयम में दोष लग जायेगा। हाथ पटक दिया तो देशसंयम भी गया। असंयमी है।

जो भाव को संभाल कर चलेगा, वही संयम को पाल पायेगा और जो शरीर को संभालेगा, वही भावों को संभाल सकेगा। जिसका शरीर ही नहीं संभल रहा है, वह भावों को क्या संभालता होगा ? समझिये, जिनका तन ही अब्रह्म में जा रहा है, उसके मन के ब्रह्म की बात क्यों कर रहे हो ? यही कारण है कि तुम निर्ग्रन्थों के सामने तत्त्व को कह नहीं पाते हो, क्योंकि आप परभाव में लिप्त हो। परमात्मा की बात शब्दों में कर लीजिए, परन्तु ब्रह्मभाव तभी प्रगट होगा, जब तन का अब्रह्म छूटेगा। बाकायदा व्यापार चल रहे हैं, संतान को जन्म दे ही रहे हो। शब्दों के भगवान् आत्माओ ! भगवत् स्वरूप का कथन तो कर पाओगे, लेकिन उद्भव स्वरूप को उद्घाटित नहीं कर पाओगे। भाषा को धर्म मान बैठे हैं, जैसे भिन्न दर्शनों में अंग-अंग को परमात्मा मान लिया है और पूज रहे हैं, ऐसा मिथ्यात्व जैनदर्शन में कब से आ गया ? अंग-अंग की पूजा कब से प्रारंभ हो गई ? नय तो प्रमाण का एक अंश है। तो उन्होंने तो तन के अंगों को पूजा, पर तुमने शब्दों के, नयों के अंगों को पूजना प्रारंभ कर दिया, और कहते हो खुश होकर कि मैं व्यवहार को माननेवाला हूँ, तो दूसरा कहता है कि मैं निश्चय को माननेवाला हूँ। तुम दोनों मिथ्यादृष्टि हो। दोनों नय धर्म नहीं हैं, रत्नत्रय का नाम धर्म है। उस रत्नत्रय का व्यवहार व निश्चय से कथन करो। धर्म तो रत्नत्रय है, नय धर्म नहीं है। नय तो समझाने की रीति है, पद्धति है, शैली है। नय आलापपद्धति है। नय वस्तु के लिये है। नय वस्तु नहीं है।

एक मुमुक्षु तत्त्वज्ञानी मिला। मैंने उससे कहा, कि असद्भूत व्यवहार नय से ऐसा बोलना चाहिए, सद्भूत व्यवहारनय से ऐसा बोलना चाहिए। वह बोला- हे महाराज ! यह नय-मय मत सुनाओ। आप तो शुद्धात्मा सुनाओ। मैंने कहा हे मुमुक्षु ! नाय-माय की हम नहीं सुनाते, तू नय को मय कह रहा है। नाय-माय की कहने से समयसार नहीं मिलता, नय को कहने से समयसार मिलता है। समयसार समय पास करने के लिए नहीं है, वस्तुस्वरूप को समझने के लिए है।

इसलिए यहाँ पर ऐसा अभिप्राय समझना चाहिए। कोई एक साधु म्लेच्छों की बस्ती में गया, तो

म्लेच्छों के नमस्कार करने पर ब्राह्मण अथवा यतियों ने कहा - स्वस्ति भवतु। 'स्वस्ति' शब्द का अर्थ अविनाश्वर था, अविनाशी था; लेकिन जैसे ही यतीश्वर ने कहा 'स्वति भवतु', उसका अर्थ न जानते हुए जैसे मेढ़ टकटकी लगाकर देखता है, तथा ऐसे ही जो आत्मा को नहीं जानते हैं, वह भी उसी मेढ़े के समान भ्रान्ति से देखता है। यह अज्ञानता है। भाषा में अनुभूति कोखो रहे हो। भाषा अनुभूति नहीं है। लड्डू की अनुभूति कैसी है? जैसी है, वैसी है। तुम झगड़ते हो कि अनुभूति ऐसी है वैसी है। इतने में मुनि बन जाता तो अनुभूति ले लेता कि अनुभूति कैसी है। जीवन क्या, पर्याय की पर्याय निकाल दी, इन विद्वानों ने काले बाल सफेद कर लिये, लेकिन इनका नय का राग नहीं छूटा। क्षायोपशमिक भावों की भाषा भिन्न-भिन्न है, क्षायिकभाव की भाषा एक है, निरक्षरी।

जो अट्टारह भाषा और सात सौ लघुभाषा भगवान् की वाणी में खिरी कह रहे हो, वे भाषायें आपकी भाषा में ढली हैं, पर भगवान् की भाषा निरक्षरी है और यह उपचार कथन है। भिलाई में इस्पात का कारखाना है। वहाँ तो बड़ी-बड़ी शिलारू बनती हैं, जो आपको दे दी जाती हैं, आपको जो बनाना है, बना लो। आप कुंभकार के घर चले जाओ, खदान से मिट्टी आई, पर आपके मस्तिष्क में बरतन का जो आकार आ गया है, चाक वैसे ही ढाल देता है। जो आकार को देखेगा, वह झगड़ा करेगा और जो मिट्टी को देखेगा, वह कहेगा कि कुछ नहीं, मिट्टी है, विवाद मत करो। जितने विवाद हैं, आकारों में हैं; आकारवान् में नहीं हैं। पर्यायों में विवाद है, पर्यायी निर्विवाद है। अज्ञानी लोक पर्यायों के विवाद में पूरा पर्यायी को ही कलुषित किया है। यदि पर्यायों को गौण करके पर्यायी को निहारेगा, तो जीव भी एक द्रव्य है, अनादि से है, अनन्तकाल तक रहेगा। जो उत्पन्न हुई है, वह नष्ट हो जाती है। धिक्कार है उन अज्ञानियों को, जो सम्मानों में जीवन को नष्ट कर रहे हैं। आज जगत् में क्या हो रहा है। एकेन्द्रिय की पर्याय, जिसको फूल के रूप में लाये, जो तोड़ने से मृतक हो गया, ऐसे एकेन्द्रिय के मृतक शरीर को अपने गले में धारण करके अभिमान में डूब रहा है। जो पुष्पमाला हार बनकर आयी है, उसका वह शरीर मृतक था, कि नहीं? कैसा है तू, जो एकेन्द्रिय के मृतक शरीर को गले में डाल कर खुश हो रहा है? पर के कलेवर को लटकाकर तू भगवान् नहीं बन जायेगा। यही कारण है कि जिनशासन में निर्ग्रन्थ मुनि टीका नहीं लगाता, भस्म नहीं लगाता, रज नहीं लगाता। कर्मरज जो लगी है, उसे वह हटाता है। यह चिपकानेवाला धर्म नहीं है, छुटानेवाला धर्म है। तुम चिपक रहे हो। विभक्त्वभाव धर्म है, एकत्वभाव धर्म है, कि मिश्रभाव धर्म है? विभक्त्वभाव धर्म है। अरे! यही सबसे कठिन धर्म है। आपको अभी स्वतंत्रता का भान नहीं है। ये ऊपरी-ऊपरी भाषा को मैं नहीं मानता। क्या करूँ, महाराज! मुझे वैराग्य हो गया है, परन्तु घर की व्यवस्था देखना है। हे ज्ञानी! जब तू त्रैकालिक स्वतंत्र तत्त्व है, तो घर तेरी व्यवस्था में कहाँ से आ गया है? अभी घर में तू लगा है, घर तेरे में नहीं है। आप क्या कर रहे हो, इससे मुझे लेना-देना नहीं है, पर सत्य बोलो। ऐसा मत कहना कि माँ-पिताजी नहीं छोड़ते हैं। ऐसा कहना कि मैं पिता को अभी भी पिता मान रहा हूँ, इसलिए नहीं छूट रहे हैं। जिस दिन ध्रुव चैतन्य को जान लेगा, उस दिन कौन किसको बाँधकर रख पायेगा? जब तन पिंजड़े से निकलेगा, तो कौन रोक सकेगा? "होता स्वयं जगत परिणाम", "आत्मस्वभाव परभाव भिन्न .....।" इस सूत्र को तोते की तरह नहीं रटना। जंगल में शिकारी आता है, दाने का लोभ दिखाता है, जाल में फँसना नहीं चाहिए। परन्तु शिकारी आया और तुम जाल में फँस जाते हो, फिर भी बोलते हो 'शिकारी जंगल में आता है .....।'

सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, यही तो जीव में है। इनके बिना जीव कैसा? रत्नत्रय तो आत्मा में

होगा। आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा ही दर्शन है, आत्मा ही चारित्र है। आत्मा ही संवर है, आत्मा ही योग है, आत्मा प्रव्याख्यान है। निश्चय से ऐसा जानो।

जैसे ही उन योगी ने 'स्वस्ति भवतु' कहा, वह म्लेच्छ मेढे-के-समान देखने लगा। उससे कहा, कि तुम अविनाशी पद को प्राप्त होओ, तो खुश हो गया। आपको म्लेच्छ को म्लेच्छ की भाषा में कहना चाहिए, आर्य को आर्य की भाषा में कहना चाहिए। इस प्रकार से भेदाभेद की गाथा समाप्त हुई।

॥ भगवान् महावीर की जय ॥

५ ५ ५

जो हि सुएणहिगच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं ।  
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पईवयरा ॥ ६ स.सा. ॥  
जो सुयणाणं सव्वं जाणइ सुयकेवलिं तमाहु जिणा ।  
णाणं अप्पा सव्वं जह्मा सुयकेवली तह्मा ॥ १० स.सा. ॥

आचार्य भगवन् कुन्दकुन्दाचार्य परमतत्त्व का प्रतिपादन करते हुए समझा रहे हैं, अहो ज्ञानी ! अधुव में ध्रुवदृष्टि रखकर तुमने त्रैकालिक ध्रुव को खो डाला। ध्यान देना इस शब्द पर। द्रव्य भी गुमता (खोता) है क्या ? द्रव्य तो नहीं खोया जाता है, लेकिन तेरी दृष्टि द्रव्य से खो गई। उपचार से कहा जाता है, कि द्रव्य को खो डाला। जीवद्रव्य त्रैकालिक था, त्रैकालिक है, त्रैकालिक रहेगा। फिर भी कह रहे हैं हे जीव ! तूने रागादिक अध्यवसाय में लवलीन होकर विशुद्धि स्थान को खो दिया। यानी कि आपने विशुद्धि स्थानों का निज भाव में अभाव करके रखा। द्रव्य का अभाव नहीं होता, द्रव्य का विपर्यास भी नहीं होता। संभलकर सुनना, तो द्रव्य का विपर्यास नहीं, द्रव्य का अभाव नहीं, फिर क्यों कहा जाता है, कि द्रव्य का विपर्यास मत करो ? द्रव्य का विपर्यास नहीं होता, द्रव्य का अभाव नहीं होता, पर द्रव्य का विपरीत श्रद्धान करके तेरा ही विपर्यास होता है। जीव तत्त्व को आप अजीव तत्त्व कहने लग जायें, उसका प्रतिपादन करें, तो जीव अजीव हो जायेगा क्या ? नहीं होगा। पर आपने ऐसा श्रद्धान कर लिया कि जीव अजीव है। अब आपका प्रश्न हो सकता है, कि जब जीव अजीव नहीं होता, तो आप जीव को अजीव कहने के लिए क्यों बाध्य कर रहे हो ? आप जीव को अजीव कहने में पोथियों-की-पोथियाँ बना रहे हैं, ऐसा क्यों ? वह आपसे कहता है, कि आपके सिद्धांत में जीव जीव है, अजीव अजीव है, जीव का अजीव नहीं होता, फिर आप हमारा खण्डन क्यों कर रहे हो ? मैं तो अजीव कहता हूँ।

कुछ ध्यान दो। जीव का अजीव होगा नहीं, अजीव का जीव होगा नहीं, फिर भी हम आपको समझा रहे हैं, कि जीव को जीव ही कहो। क्यों ? आपके कहने से जीवत्व में अजीवत्वपना नहीं आयेगा, लेकिन आपके ज्ञान में विपर्यास आ रहा है, आपके श्रद्धान में विपर्यास आ रहा है। विपरीत श्रद्धान करने वाले से धर्म का विपर्यास नहीं होता। भूल मत कर बैठना। यदि विपरीत श्रद्धान करने वाले से धर्म का विपर्यास हो जाता तो आज धर्म ही न बचता, क्यों ? तत्त्व को विपरीत समझनेवालों की संख्या कोटि-कोटि नहीं, अनंत है। जगत में सबसे ज्यादा संख्या मिथ्यादृष्टियों की ही है। वे तत्त्व को विपरीत समझते हैं। उनके विपरीत समझने से, क्या तत्त्व में विपर्यास हो गया क्या ? पहले निर्णय करो फिर आगे समझते हैं। किसी के द्वारा बैल को भैंसा कहा जा रहा है, तो क्या उसके कथन मात्र से बैल भैंसा हो जाता है ? बैल भैंसा तो नहीं होगा, पर तेरे ज्ञान में विपरीतपना है, कि तू बैल को भैंसा बोल रहा है। समझाया क्यों जा रहा है ? ये जीव बेचारा तत्त्व



का विपरीत ज्ञान करके तत्त्व को विपरीत नहीं कर पा रहा है, लेकिन इसकी श्रद्धा विपरीत हो रही है। तो तत्त्व मिथ्यात्व में नहीं जायेगा, व्यक्ति मिथ्यात्व में जा रहा है। जितने यहाँ धर्मात्मा विराजते हैं न, वे यह चिन्ता कभी न करें कि इनके द्वारा धर्म का नाश हो रहा है। यह अज्ञानता छोड़ दीजिए आप। आप धर्म के भेष में आकर धर्मरूप अनुसरण नहीं करोगे तो इससे धर्म का कुछ नहीं बिगड़ेगा, बिगाड़ आपका हो रहा है। यह उपचार कथन है, कि 'धर्म की हँसी मत करो। आपके द्वारा धर्मात्माओं की हँसी हो जायेगी, इसलिए ऐसा मत करो।' पर ध्रुव सत्य है, कि हँसी किसी की नहीं हो रही है; जो कर रहा है, उसी की हो रही है। निर्णय कीजिए, क्योंकि कण-कण स्वतंत्र है।

सबसे बड़ा धर्म क्या है ? जो आपने धर्म मान लिया है, वह धर्म नहीं है। तो धर्म की मुद्रा है, धर्म की क्रिया है। धर्म तो वस्तु का स्वरूप है, और वह कण-कण स्वतंत्र है, तो हाय-हाय करना बन्द कर दो। प्रत्येक द्रव्य की स्वतंत्रता पर दृष्टिपात करो। त्रैकालिक स्वतंत्रता है, उसे आप परतन्त्र नहीं कर पायेंगे। श्रद्धान में विपर्यास करके निज को ही परतंत्र कर पाओगे, परन्तु पर को परतंत्र करने की आप में कोई सामर्थ्य नहीं है।

समसयार है। नौवीं व दसवीं गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी व्यवहार श्रुतकेवली और निश्चय श्रुतकेवली का व्याख्यान कर रहे हैं।

जो तत्त्व को नहीं समझ पा रहे है, वे चतुर्थ गुणस्थान में ही श्रुतकेवली बन जाते हैं। तो एक विद्वान् ने पुस्तक में लिख ही दिया, आप मानोगे नहीं, लेकिन होते हैं। एक बार 'कर्म रहस्य' में जिनेन्द्रवर्णी ने भी लिख दिया कि चतुर्थ गुणस्थान में श्रुतकेवली होते हैं, जबकि आचार्य जयसेन स्वामी टीका में निषेध करने वाले हैं। 'व्यक्तित्व से, प्रभाव से, और व्यक्ति से प्रभावित नहीं होऊँगा', जीवन में यह पहला सूत्र बनाकर चलना, यदि कल्याण के मार्ग पर आओ तो। मोक्षमार्ग इनसे प्रभावित होने का नहीं है। मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता से प्रभावित होने का है। मुमुक्षु सम्यग्ज्ञान को जैसा कहा है, वैसा कथन करता है। कैसा -

**अन्यूनमनतिरिक्तं, याथा तथ्यं विना च विपरीतात् ।**

**निःसन्देहं वेद य-दाहुस्तज्ज्ञान मागमिनः ॥४२॥र.क.श्रा॥**

जैसा है, वैसा कहना। न्यूनता से रहित, अधिकता से रहित जो वस्तु का स्वरूप है, वैसा कथन करे, वह सम्यक्ज्ञानी है। सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वात्म उपलब्धि के ये तीन ही उपाय हैं, चौथा कोई नहीं है। तत्त्व का यथार्थ श्रद्धान सम्यक्दर्शन है और जो वस्तु जैसी है वैसी निर्णय करना सम्यग्ज्ञान है। और निज स्वरूप में लीन होना निश्चय सम्यक् चारित्र है और अट्टाइस मूलगुणों का पालन करना ये व्यवहार-चारित्र है। इन तीनों से तो प्रभावित होना, परन्तु व्यक्ति/व्यक्तित्व मात्र से प्रभावित होकर, आगम का विपर्यास मत कर लेना। क्योंकि सल्लेखना स्वीकार है, लेकिन विपरीतपना स्वीकार नहीं है। अपन श्रुतकेवली नहीं हैं, फिर भी कुन्द-कुन्द देव ने क्या कहा है -

**वंदित्तु सव्वसिद्धे, ध्रुवमचलमणोवमं गइं पत्ते ।**

**वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवली भणियं ॥१॥समयसार॥**

यदि आचार्य कुन्द-कुन्द देव चतुर्थ गुणस्थान में श्रुतकेवली स्वीकारते होते, तो स्वयं क्यों लिखते, कि श्रुतकेवली ने जैसा कहा, वैसा मैं कहूँगा ? फिर यही कहते कि मैं श्रुतकेवली कहता हूँ। इन दो गाथाओं

से चौथे गुण स्थान में श्रुतकेवली सिद्ध करते हैं, थोड़ी बुद्धि लगाना। आचार्य कुन्द-कुन्द देव स्वयं निर्ग्रन्थ मुनि थे। परम वीतरागी, निर्ग्रन्थ योगीश्वर थे। उनको चतुर्थ गुणस्थान में श्रुतकेवली अभीष्ट होता तो वे अपने मंगलाचरण में यह न कहते "मिणमो सुदकेवली भणिदं"। 'जैसा श्रुतकेवली भगवान् ने कहा है वैसा मैं कहता हूँ' ऐसा न कहकर यह कहते कि मैं श्रुतकेवली कहता हूँ, फिर इन गाथाओं का अर्थ क्या होगा? गाथाएँ परम सत्य हैं, उनको समीचीन रूप से लगाना आपका परम धर्म है। आप तो श्रुतकेवली की बात कर रहे हो, आगम तो अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव को केवली मानता है। हे ज्ञानी! जो अभव्य जीव है, उसके आठों ही कर्मों का बंध है। आत्मा के प्रदेशों में कर्मों के प्रदेशों का एक-मेक होना बंध है। अभव्य जीव के केवलज्ञानगुण शक्ति तो है, तभी तो उस पर आवरण है। अभव्य वह इसलिए है कि उसकी शक्ति कभी उद्धाटित नहीं होगी, केवलज्ञान शक्ति से वह सम्पन्न है। जो केवलज्ञान शक्ति से सम्पन्न है, उसके अंदर केवलत्व गुण भी है। श्रुतज्ञातृत्व भी है, क्योंकि आठों कर्म हैं, परन्तु आवरण है। हुआ शक्ति कथन। पर अभिव्यक्ति कथन करोगे तो जिस गुणस्थान में जो जैसा है, वैसा ही कहना। शक्ति-अपेक्षा निगोदिया जीव भी भगवत् स्वरूप ही है। लेकिन निगोद अवस्था में भगवत्-स्वरूप नहीं दिखेगा। यही भ्रम है। क्रिया अभगवान् की है, चर्चाएँ भगवान् की हैं, परिणति मनुष्य की चल रही है। इसलिए दो गाथाओं को गहरे में समझना है।

यह तो व्यवहार की बात हो गई, अब समयसार की भाषा में सुनो। जितना व्यवहार समझाना था, बोल दिया, अब इस ग्रंथ की भाषा सुनो। हे ज्ञानी! निर्णय करने के दिन अनंत हो गये, पर निर्णय नहीं कर पाया। निर्णय कर लिया होता, तो आज निश्चय में होता। निर्णय करते-करते पर्याय निकल गई, परन्तु परणति का निर्णय नहीं हो सका। परिणति का निर्णय हो जाता, तो आज इस पर्याय में तेरी गति न होती। 'करूँगा तत्त्व निर्णय' इतने शब्द बोलते-बोलते तूने पर्याय को ही नष्ट किया है। जगत में अज्ञानदशा की कैसी लीला है? एक जीव कह रहा है निशा जी! निशा आ गई है। जिससे तू कह रहा है, उसके पास भी नयन हैं। जिससे तू कह रहा है कि रात्रि हो गई है, उसे भी दिखाई दे रहा है। तू उस समय में भगवान् का नाम ले लेता तो कर्मों की निर्जरा करता। 'ओ हो! कैसी गर्मी है?' अरे! जिससे कह रहे हो, वह भी तो महसूस कर रहा है। समझ नहीं पा रहा हूँ कि शब्दों को कहकर पर्याय को नष्ट क्यों कर रहा है? ऐसे ही आप अपनी आयुर्कर्म को देखें, कितनी आयु को आपने व्यर्थ के वचनालाप में समाप्त किया। अभी तू तत्त्व को नहीं जानता है। इसलिए लगता है, कि तेरी आयु के निषेक तुझे भाररूप लगते हैं। इन शब्दों को कहने में तू आयु को व्यर्थ कर रहा है। कितना समय व्यर्थ की बातों में नष्ट कर रहा है। तू कह रहा था, कि तुझे समय नहीं मिलता। अरे! यही कहते समय तू समय नष्ट कर रहा है। जो जीव ऐसा कह रहा है, कि पंचमकाल में मोक्षमार्ग कैसे प्रशस्त होगा, इस शब्द को कहने में तूने समय निकाल दिया। जिसे सुसमय का भान नहीं है, उसे सुसमय का ज्ञान नहीं है। मैंने गमन किया, परन्तु गमन जिसके लिए किया था, उससे आगमन हो गया। पर, गमन दूसरी जगह हो गया। हे ज्ञानियो! इस निर्ग्रन्थ दशा का सिद्धालय की ओर गमन था, इसमें कुभाव हो गये, तो अगवानी नरक की ओर हो गई। हे भाग्यवानो! तेरी अगवानी सिद्धालय में होने वाली थी, पर वह नरक की ओर हो गई। भवातीत होने के लिए निकले थे, परन्तु भव के अभिनंदन में लग गये, तो भवातीत नहीं हो पाये। यह बढ़ती संख्या सम्मानों की, वह आत्मा का अपमान है। पर क्या करे, राग उसे ही सम्मान समझ रहा है, जबकि वह रागी अपमान है। ये तो बताओ कि नीच गोत्र का आश्रव कैसे होता है?

**परात्मनिंदा प्रशंसे सद सदगुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥त.सू.॥६/२५॥**

परात्मनिंदा, पर के सदगुणों को ढँकने और दोषों को प्रकट करने से नीचगोत्र का आश्रय होता है। अपने गुणों को प्रगट कर रहा है, अपने ही से स्वयं की प्रशंसा, पर तू जो स्वयं की प्रशंसा चाह रहा था और धीरे से कह रहा था, कि मेरा ध्यान रखना। इधर तिलक लग रहा था, उसी समय आयु का बंध हो गया, और तिर्यंच की पर्याय में पहुँच गया, सम्मान के पीछे तुम नालियों में घूम रहे हो। सम्मान हुआ कि, अपमान हुआ ? पर इसे आप स्वीकार करते कहाँ हो ? इस आत्मा के सम्मान के पीछे तुम कितनों का अपमान करते हो। जिसे तू शाल-श्रीफल का सम्मान कह रहा था, वह कषाय का तो सम्मान था, परन्तु आत्मा का अपमान है। किसी और को नहीं देखना, स्वयं को देखकर चिन्तन करना कि कितना सत्य है। पर्याय का सम्मान आत्मा का सम्मान नहीं, अपमान है। जैसे आप यहाँ मधुर बोल लेते हो, वैसे ही घर में बोलने लग जाओ, तो घर-घर के क्लेश समाप्त हो जायेंगे। संक्षेप में कोई पूछे कि सम्मान क्या है? तो इतना ही कहना कि पर्याय के सम्मान में आत्मा का अपमान करना ही सम्मान है। और कुछ नहीं कहने का। पर क्या करूँ, एक वस्तु मिल जाती तो बहुत अच्छा होता। बताऊँ क्या ? मैं श्रुतज्ञान से परोक्षरूप से वस्तु को जान लेता हूँ, जैसे कि वाहनचालक होता है। गाड़ी में जो काँच लगाया है, वह क्यों लगाया है ? क्योंकि आँखें देख रही हैं सामने वाले को पर काँच देख रहा है पीछे वाले को। धन्य हो तेरा ज्ञान। ज्ञान कितना आगे निकल गया ? ऐसे ही तेरी वर्तमान की पर्याय में एक काँच लगना चाहिए था, ताकि तू पीछे पर्याय छोड़कर आ गया है, वह तेरी नरक की पर्याय दिख जाये। समझ में आ जाये कि ठीक से चल। भूल यही हो गई, वह काँच होना चाहिए। बड़े-बड़े जहाजों में एक काँच होता है, उसका नाम दूरबीन है। दूरबीन आगे की बहुत दूर की पर्याय को जानती है। हे ज्ञानी ! तेरी पर्याय में दो द्रव्य होना बहुत अनिवार्य है, पीछे को देखनेवाला दर्पण, आगे को देखनेवाली दूरबीन। फिर तू देख लेगा कि आगे की पर्याय ऐसी होने वाली है। वर्तमान में सँभल जाओ। रोड बनानेवाले को मैंने देखा है। वह देखता रहता है, कि कहाँ तिरछा हो रहा है, कहाँ टेडा हो रहा है। परद्रव्यों को कैसे-कैसे सँभाल सँभाल कर करवाया है। एक बार अपने आत्मा का इंजीनियर बन जाता, तो आत्मा का कल्याण कर लेता। आपको वैसे तो भूत व भविष्य का ज्ञान है, पर मानते नहीं हो। “बहवारंभपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः” बहुत आरंभ-परिग्रह रखोगे तो नरक में जाओगे। आप स्वयं देख लो।

“अल्पारंभपरिग्रहत्वं मानुषस्य ।” आप मनुष्य हो, आपकी भूत की पर्याय जानता हूँ कि अल्प आरंभ, परिग्रह था, इसलिए आप मनुष्य हो। ‘लात जाओ, धरत जाओ, मरत जाओ’ –ऐसी धारणा चल रही है, तो भविष्य के तुम नारकी हो। तीन पर्याय आपको दिख रही है, भले ही आप न समझो। तीन पर्याय का ज्ञान है आपको। मायाचारी की थी न, इसीलिए स्त्रीपर्याय। पहले मनुष्य आयु का बंध किया था, आयु बंध के बाद मायाचारी की, इसलिए स्त्रीपर्याय मिली। बंध करने के बाद फिर बंध किया। बंध तो मनुष्यायु का ही किया था, फिर मधुर मायाचारी की, तो स्त्रीपर्याय मिल गई। कर्म किसी का सगा नहीं होता। वह सबके साथ रहता है, पर काम अपना ही करता है। कर्म हमारे अनुसार नहीं चल रहा, वह अपने अनुसार चला रहा है।

व्यवहार कैसा है? उसका कथन करते हैं -

**ववहारोऽभूत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।**

**भूत्थमस्सिदो खलु सम्माइड्डी हवडि जीवो ॥११॥स.सा.॥**

यहाँ निश्चय और व्यवहार का कथन है। गुणस्थान का नाम नहीं लिया तो भी सारे गुणस्थान को

ग्रहण कर लिया। यहाँ शुद्धात्मा को ग्रहण किया गया है। यहाँ आत्मा का स्वभाव गुणस्थान, मार्गणा, जीवसमास नहीं है। यह तो विभावदशा है। अशुद्ध आत्मा में ही जब तक शुद्धात्मा का भान नहीं करोगे, तब-तक शुद्धात्मा को प्रगट करने के लिए पुरुषार्थ किसका? जब-तक बीज में वृक्ष का ज्ञान नहीं है, तो बीज बोओगे क्यों? भूल चल रही है व्यवहारपक्ष में और निश्चयपक्ष में भी भूल चल रही है। निश्चयाभासी बोरे में रखे बीज में वृक्ष उगा रहे हैं और व्यवहाराभासी बिना बोये बीज से वृक्ष उगा रहे हैं। हे ज्ञानी! आपको बोरे में रखे बीज में वृक्ष को देखना पड़ेगा। बीज में वृक्ष है-ये शुद्धदृष्टि का काम है। पर बीज को जमीन में बोना व्यवहार-चारित्र का काम है। जब दोनों क्रियायें होंगीं, तब फल आयेंगे। इतना तो ज्ञान एक किसान को भी होता है, फिर विसंवाद किसलिए? किसान बीज क्यों बोते हैं? उसमें उसको फसल दिख रही थी क्या? उसमें फसल नहीं थी क्या? यदि नहीं जानता था, तो कंकणों को क्यों नहीं बोया? इस द्रव्यदृष्टि, पर्यायदृष्टि एक किसान भी जानता है। व्याख्यान करना नहीं जानता है, शब्दों में बाँधना नहीं जानता है, पर ध्रुव सत्य है, द्रव्यदृष्टि के बिना खेती भी नहीं होती है, तो फिर भगवान् कैसे बनोगे? भूल कहाँ हो रही है? द्रव्यदृष्टि से जानकर बीज को खेत में डाल नहीं रहे हो, परन्तु फसल खाना चाहते हो। 'समयसार' ग्रन्थ में 'बीज में वृक्ष है' कथन है। वृक्ष बनेगा कैसे? इसे जानने के लिये 'मूलाचार' के अनुसार चलना पड़ेगा। साधन का साधन तो श्रावकाचार है। भक्ति, भजन करने से मोक्ष नहीं मिलता, पर उसके बिना भी मोक्ष नहीं मिलता है।

जो श्रुत में गमन करता है, जो केवल शुद्धात्मा को जानता है, उसके लिए ऋषियों ने, श्रुतकेवली कहा है। व्यवहार कथन करते हैं। जो सम्पूर्ण द्रव्यश्रुत को जानता है, उसे ही जिनेन्द्रदेव ने श्रुतकेवली कहा है। निश्चय से, जो ज्ञान है, वह आत्मा में है, इसलिए आत्मा ही श्रुतकेवली है। जो सम्पूर्ण द्वादशांग को जानते हैं, वे श्रुतकेवली भगवान् कहलाते हैं। लेकिन जो द्वादशांग का ज्ञान है, वह आत्मा में है, इसलिए आत्मा ही श्रुतकेवली है। आधार में आधेय का उपचार कथन कितना स्पष्ट है। कथन में कमी नहीं है,। समझ में कमी है। सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहाँ होता है? आत्मा में। आत्मा ही रत्नत्रय है, या नहीं? इतना कह दिया और चलते बने। अब तुम भ्रमित हो, आपस में झगड़ो। अब मेरा प्रश्न है, कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहाँ होता है? आत्मा में/सम्यक्दर्शन आत्मा ही है न, गुण गुणी से भिन्न नहीं होता न, आत्मा ही है? हे ज्ञानी! वह कौन-सी आत्मा है? मिथ्यादृष्टि या सम्यक्दृष्टि आत्मा? यही तत्त्व की भूल चल रही है। आत्मा सम्यक्दृष्टि नहीं, आत्मा मिथ्यादृष्टि नहीं। जिस नय से आप कह रहे हो, उस नय से न मोक्ष है, न बन्ध है। फिर पुरुषार्थ किसलिए कर रहे हो? जब हम द्रव्य को निहारते हैं, पर्यायों को गौण कर देते हैं। आत्मा पर-पर्यायों से भिन्नत्व-भाव से युक्त है। "आत्मस्वभाव परभाव भिन्नम्" इस सूत्र की व्याख्या के लिए कम-से-कम दस दिन चाहिए। आत्मा परभाव से भिन्न है, निजभाव से अभिन्न है, फिर भी विभावदशा में, परभाव में, लीन है। जो ये कह रहा है कि 'आत्मस्वभाव परभाव भिन्नम्', वह शब्द ही कह रहा है। तू विभाव में बैठा है, इसलिए बोल रहा है। स्वभाव में होता तो कहने की आवश्यकता नहीं थी। यहाँ तो आनंद लूटता।

मैंने प्रश्न किया कि जब सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मा में है, आत्मा ही है, तो मिथ्यादर्शन-

ज्ञान-चारित्र किसमें होता है ? उसमें आत्मा है क्या ?

**परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्तं ।**

**तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥८॥प्र.सा.॥**

स्फटिक पीली है, सफेद है या कि नीली है ? स्फटिक.स्फटिक है । जैसा वर्ण सामने आ जाये, झलकती वैसी है । जब लाल पुष्प आयेगा, तो स्फटिक लाल दिखेगी । जब मिथ्यात्व भाव तेरे अन्दर आयेगा इस आत्मा पर, तो आत्मा मिथ्यात्व रूप ही होगी और जब आत्मा में सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होगा, तो आत्मा सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भूत होवेगी । गाथा तो सही अर्थ कर रही है । समयसार की महान गाथाएँ सामान्य लोगों के द्वारा अर्थ करने योग्य नहीं बची । वे गाथा स्पष्ट कह रही हैं कि जो व्यवहार से सम्पूर्ण श्रुतज्ञान को जानता है, चौदह पूर्व व ग्यारह अंग को जो आत्मा जान रही है, ये आत्मा श्रुतकेवली है। परन्तु जब ये जानेगी, तब वह ज्ञान किसमें होगा ? आत्मा में । उस समय आत्मा श्रुतकेवली है । जब तक द्रव्यश्रुत का ज्ञान नहीं है, तब तक आत्मा श्रुतकेवली नहीं है । श्रुतकेवली गृहस्थ नहीं होते हैं । श्रुत हो भी जाये, पर श्रुतकेवली संज्ञा निर्ग्रन्थ मुद्रा धारण किये बिना नहीं है । सर्वार्थसिद्धि का जीव द्वादशांग को जानता है, पर आपने किसी ग्रंथ में नहीं सुना होगा कि सर्वार्थसिद्धि का देव श्रुतकेवली होता है । ध्यान रखना, 'केवली' संज्ञा निर्ग्रन्थ को ही प्रगट होती है, गृहस्थों को नहीं दी जाती । गाथाओं का अर्थ एक से नहीं निकलता । इन दोनों गाथाओं का अर्थ जिसको भी निकालना हो, प्रथम गाथा जो लिखी उस गाथा के संदर्भ में इसका अर्थ निकालो । इसलिए ज्ञान ही आत्मा है, निश्चयनय से निज आत्मा ही श्रुतकेवली है। इस प्रकार समझना ।

**॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥**

५ ५ ५

तत्त्वज्ञान विश्रुत को श्रुति प्रदान करता है, परभावों से शून्य निजभावों की ओर प्रेरित करता है । जहाँ किंचित भी पर में राग है, वहाँ स्वभाव का भान लेशमात्र भी नहीं है । वीतरागधर्म भिन्न भाव है, शांति का मार्ग है, निज की धारा में निमग्न होने का मार्ग है ये ध्रुव सत्य स्वीकारना । प्रपंचों में वंचना तो है, प्रपंचना की है, पर बचना नहीं है । बचने का मार्ग प्रपंचातीत है, लौकिकता से शून्य है । लोकाचार मोक्षमार्ग नहीं है । मोक्षमार्ग लोकोत्तराचार मात्र है, क्योंकि शून्य की ओर नहीं जाता है, अशून्य में विराजमान करता है, उसका नाम समयसार है । परभावों से निजभावों को शून्यत्व में ले जायें । परभावों से निजभावों को भिन्न करना, ये परभावों से शून्य दशा है । और निज चैतन्य भाव में लवलीन होना, ये अशून्य दशा है । शून्य का अर्थ जडत्व नहीं, शून्य का अर्थ चैतन्यसत्ता में लीन हो जाना है । लेकिन जिसने जड को ही सर्वस्व मान लिया, उसके पास समय कहाँ है, कि शून्य से अशून्य में लीन हो जावे अहो ! विश्वास मानकर चलना, समय देना पड़ेगा । क्यों, आयु के क्षण कहाँ निकले हैं ? प्रभु के चरणों में भी तो तू बैठा था, पर दृष्टि में निहार रहा था, कि यहाँ से लाभ क्या होने वाला है । हे ज्ञानी ! तू भगवान् की भक्ति का भी आनंद नहीं ले सका । ध्यान देना, भक्त भगवान् के चरणों में भगवान् की भक्ति की इच्छा लेकर आया है, पर भगवान् बनने की भावना कर बैठा, वहीं तूने भगवान् की भक्ति में अन्तराल डाला । क्योंकि एकसाथ दो उपयोग नहीं होते । भक्ति में शून्यवत् होना चाहिए था, तो अशून्य में शून्य चला आता । पर तूने भगवान् के चरणों में आकर व्यापार किया है, कि मुझे मोक्ष मिल जाये । हे ज्ञानी ! मोक्ष तो तुझे ध्रुव करने वाला है, एक क्षण के इस भाव ने भगवान् व तेरे बीच में अंतर किया है । जब मोक्ष की भावना करने से भक्ति में अंतर पड़ गया, तो भगवान् की भक्ति करते

जिसकी दृष्टि वित्त (धन) पर चली गई, तो अंतराल ही अंतराल है। यही योग, उपयोग, संयोग की धारा है। योग अर्थात् हाथ जुड़े थे, स्थिर खड़ा था, योग सरल था। संयोग अर्थात् तीर्थकर का पादमूल था। दो तो मिल गये, पर तीसरा मिलना कठिन था। निहारो! योग सरल था, क्योंकि प्रभु के चरणों में हाथ जोड़े खड़ा था, संयोग अरहंत का था; पर उपयोग में क्या था, ये तो बता। योग सीधा मिल गया, संयोग अच्छा मिल गया पर, हे मुमुक्षु! उपयोग में धारा आ गई कि मेरी भक्ति को कितने लोग देख रहे हैं। उपयोग कहाँ गया? एक विद्वान् तत्त्व उपदेश कर रहा है। उसका वचनयोग अच्छा चल रहा है। जिनवाणी का संयोग है, सुननेवाले आनंद लूट रहे हैं। पर उस विद्वान् की दृष्टि में आ रहा है कि यदि अच्छी प्रभावना होगी, तो टीका अच्छा होगा। हे ज्ञानी! तेरा तत्त्वज्ञान तेरे लिए कार्यकारी नहीं हुआ। योग भी अच्छा हो गया, संयोग भी अच्छा हो गया, पर उपयोग अच्छा नहीं है, तो संयोग क्या करेगा?

**यस्य मोक्षेऽपि नाकांक्षा, स मोक्षमधि गच्छति ।**

**इत्युक्तत्वाद्वितान्वेषी कांक्षां न क्वापि योजयेत् ॥२१॥स्वरूप संबोधन॥**

हे ज्ञानी! मोक्ष की इच्छा से भी मोक्ष नहीं मिलता, विश्वास रखना। जो मोक्ष की भी इच्छा नहीं रखता, वही मोक्ष को प्राप्त होता है। जब तक मोक्ष की इच्छा रखोगे, तब तक स्वर्ग ही जा पाओगे। जिस दिन मोक्ष की इच्छा समाप्त कर दी, उस दिन सिद्ध बन जाओगे। मोक्ष की इच्छा यानी मोक्ष के प्रति भक्ति, भक्ति यानी राग, राग यानी शुभोपयोग। शुभोपयोग स्वर्ग देगा, शुभोपयोग मोक्ष नहीं दिला पायेगा। इसलिए आपको वस्तुस्वरूप को समझना है। जैसी भूमिका है, वैसी करना; लेकिन स्वरूप को समझकर चलना। पूजन-भक्ति से स्वर्ग ही मिल पायेगा, मोक्ष नहीं मिलेगा। पूजन-भक्ति का राग भी जिसका समाप्त हो जायेगा, ऐसा वीतरागी निर्ग्रन्थ तपोधन ही मोक्ष को प्राप्त कर पायेगा।

जैनदर्शन बहुत गहरा है। जिसे आपने धर्म माना है, यह छिलके के पास है। दिख रहा है कि जिस पर छिलका है, उसके अन्दर कुछ है। क्या करूँ? गुठलियाँ चढ़ाना जानते हैं न। सत्यार्थ पूछो तो जितने ज्ञानीजीव बैठे हैं, वे सब भगवान् को गुठलियाँ चढ़ाते हैं। फल चढ़ाते हो नहीं, गुठलियाँ चढ़ाते हो। बादाम का फल कब चढ़ाया आपने? ये बादाम का फल नहीं, शुद्ध गुठली है। वस्तुस्वरूप यहाँ समझना है। आप क्या चढ़ाते हो, वहाँ नहीं जाना है। आपके बच्चे नीम और बेर के झाड़ों को पत्थर मारते होंगे, तो वे नीम की निबोरी और बेर खाते होंगे। पर कर्नाटक के बच्चे काजू-बादाम के झाड़ पर पत्थर मारते हैं और काजू-बादाम खाते हैं। बात कुछ और है, समसयार समझना है। आप आम को चूस कर फेंक देते हो। जिसके ऊपर आम जैसा फल है, उस गुठली के अन्दर बादाम है, वह भी मीठी है। अहो बालक! तूने समझ लिया था कि जो बादाम पर फल है, दल है, वही शक्तिमान है; पर तुझे मालूम नहीं था। छिलके को उतारकर दल को ही स्वाद मान लिया। पर उसके अन्दर एक कवच था, उसको तोड़ता तो सर्वशक्तिमान बादाम की गिरी थी। वस्त्र उतार लिए, पूजनपाठ का दल मिल गया, लोकपूजा बढ़ गई, पर मोह की गाँठ फूटी नहीं, शुद्धात्मा की गिरी मिले कैसे? बादाम न देखी हो परन्तु आम तो आप सबने देखा है। आम के मौसम में आपने दल खाया और गुठली को फेंक दिया, परन्तु सार तो गुठली के अन्दर ही था। आगामी वृक्ष बनेगा तो उसी गुठली के अन्दर से निकलेगा और आम के खाने पर जो फोड़े होते हैं, वे ठीक होंगे तो गुठली के अन्दर जो गोई (बीज) निकलती है, उसी से होंगे। जो आपने भोगों के आम चूसे हैं, उन फोड़ों को ठीक करना है, तो गिरी को निकालना सीखो। जिसमें है, उसे तो फेंक देते हो। पर आम के दल को जमीन पर बोने से फल नहीं आता।

पूरा दल निकाल देने के बाद गुठली को बो दो, पौधा ऊग आयेगा।

विश्वास रखना, व्यवहार धर्म पर लोगों की दृष्टि बहुत ज्यादा टिक चुकी है। क्रियाकलाप में उलझ चुका है जीव। ऐसा काल तेरे देश में आया था, जब वैदिक दर्शन में क्रियाकलाप बढ़ गये थे, लोक दासता को प्राप्त हुए। फिर लोगों ने उपनिषदों की रचना की। क्रियाकाण्ड ज्ञान की प्राप्ति के लिए होता है। यदि क्रिया में ही जीव उलझ जाये, तो ज्ञानशून्यता आती है। विश्वास रखना, एक समय जीव थका-थका महसूस करता है। आप मात्र पाँच मिनट ध्यान करना, उसमें शक्ति मिलेगी और दिनभर वंदना करना, उस शक्ति को देखना, यानी भावों की विशुद्धि को देखना, ये अंदर की बात है। किसी को वंदना की मना नहीं करना, अन्यथा ध्यान लगता नहीं, वंदना और छोड़ देगा। ये तत्त्व की बात है। पर ये ध्रुव सत्य है कि जो शक्ति (विशुद्धि) ध्यान में प्रगट होती है, वह वंदना में नहीं होती, क्योंकि वंदना में योग चलायमान होता है और ध्यान में योग स्थिर होता है। स्थिर योगों से कर्मों की निर्जरा अधिक होती है, और चलायमान योग से निर्जरा कम होती है। ऐसा नहीं करना कि सब छोड़ दो। पर यह ग्रंथ इन सबसे परे है। सुना इसलिए रहा हूँ, कि जो आप कर रहे हो उससे आगे भी कोई वस्तु है। सहज वेदन करो ध्यान का। ज्ञान ही इतने शून्य की ओर ले जाता है, फिर ध्यान कैसा होता होगा? जो मैं कह रहा हूँ, वह ध्यान नहीं है, ज्ञान है। ध्यान तो और ऊँची वस्तु है। पर आज अज्ञानता तीव्रता से दौड़ रही है, कि म्यूजिक लगा दिये, संगीत भजन शुरू कर दिये, मोमबत्ती जला दी, और कह रहे हो ध्यान करो। किसका ध्यान कर रहे हो? हँस रहे हो, हँसा रहे हो, ये हास्य-कषाय है। कषाय में ध्यान कहाँ, ध्यान में कषाय कहाँ? चेहरा ही खुश हो पायेगा, पर चित्त गद्गद नहीं हो पायेगा। ध्यान चेहरे की मुस्कान नहीं है, ध्यान आत्मा का आह्लाद है। मस्तिष्क और चेहरा हो जाये प्रशांत, अंदर में छूट रही गुदगुदी, समझना यही तत्त्व 'ध्यान' है। भूल आपकी नहीं है, भूल बतानेवालों की है, आप तो कुछ जानना चाहते हो। जब आदमी की जानने की इच्छा होती है, तो वह कहीं-न-कहीं तो जाता है। फिर आप बाद में कहें कि विपर्यास किया है। विपर्यास हमने नहीं किया, आपने कराया है। क्योंकि आपने हमें इतना जकड़कर रखा है, कि बाहर निकलकर देखा, तो कुछ और ही आनंद आया।

बंधन में सुख नहीं है, जो खुले में सुख है। खुलापन आना चाहिए। जहाँ बंधन आता है, वहाँ से जीव निकलना चाहता है। अपने को खुला छोड़ दो। शब्दों पर ध्यान दो। इन आध्यात्मिक शब्दों का लोगों ने दुरुपयोग कर दिया। कैसा किया? मैंने कहा कि खुलेपन में सुख है, बंधन में दुःख है, तो लोगों ने क्या किया कि धर्म के, समाज के सारे बंधन तोड़ दिये। स्वच्छन्दी हो गये। जो आत्मा का खुलापन था, उसे विषयों में ले लिया। 'समयसार' ग्रंथ को पढ़कर विषयों में चला गया। बंधन में सुख नहीं है, खुलेपन में सुख है, तो आपने शब्दों का क्या दुरुपयोग किया, सभी मर्यादाओं को तोड़ दिया। शब्द के साथ व्यभिचार कर दिया, विचार नहीं किया। खुलेपन में आनंद है, इसका अर्थ क्या था? मैं मोक्ष की आकांक्षा में नहीं बंधना चाहता हूँ, मैं स्वर्ग की आकांक्षा में नहीं बंधना चाहता हूँ, मैं मनुष्य के चक्रवर्ती आदि के वैभव में नहीं बंधना चाहता हूँ। जितने भी विद्यार्थी यहाँ बैठे हो, ध्यान देना, जब तक पढाई कर रहे हो, तब तक सर्विस (नौकरी/सेवा) के बन्धन में नहीं बंधना। यदि आपने विचार कर लिया कि मुझे इतना करना है, तो पढाई की सीमा हो जायेगी। आपका असीमित ज्ञान आनेवाला था, वह सीमित हो गया।

निर्ग्रन्थ योगी से कहा गया है कि अब तुम मोक्ष के बंधन से दूर हो जाओ। मुक्त होना चाहते हो, पर मोक्ष की रस्सी से बंध गये हो, तो मुक्त कैसे? मुक्त होकर ही मुक्ति का आनंद आयेगा। अगर मोक्ष प्राप्ति

के राग में चला गया तो, विश्वास रखना, मुक्ति का आनंद नहीं आयेगा, खुला होना चाहिए। अभी आप खुले होकर सुन रहे हो। यदि आपसे कह दें कि एक घंटे आपको बैठना ही पड़ेगा, तो आ गया टेंशन कि मुझे बाँध दिया। आप विश्वास मानो, जितना अध्यात्म से विपर्यास हुआ है, उतना सिद्धांत से कभी नहीं हुआ है। जितने अनर्थ हुए हैं, जितने सम्प्रदाय बने, सब अध्यात्म के नाम पर बने हैं। क्यों? अध्यात्म की गहराइयों को नहीं समझ पाया और जो आत्म-स्वतंत्रता की बात की जा रही थी, वहाँ संयम में स्वच्छन्द हो गया। इसलिए वह समझ नहीं पाया, भटक गया। हे ज्ञानी! समुद्र स्वतंत्र है, गहरा है, परन्तु स्वच्छन्द नहीं है। समुद्र स्वच्छन्द हो जायेगा, तो पता नहीं कितनों का घात हो जायेगा। हे योगीश्वर! श्रमण संस्कृति में आपके नाम के आगे तालाब नहीं लगा, नाली नहीं लगी, आपके नाम के साथ सागर लगा है। जो कितना भी भर जाये, परन्तु अपनी सीमा का उल्लंघन नहीं करता। समुद्र अपनी सीमा में रहता है और पानी से भरा होता है, पर जमीन में मणियों को, मोती को सुरक्षित रखता है। हे योगीश्वर! संयम के नीर से भरे रहना, चारित्र के तटों पर चलते रहना; परन्तु रत्नत्रय के मणियों को सुरक्षित रखना, यह सागर है। निर्बंधता ही सुख है। एक क्षण को बालक अवस्था को देखो। जैनदर्शन में श्रमण के लिये किसी शब्द का प्रयोग किया है, तो उसका नाम 'यथाजात' है। यथाजात बालक अनंत में जीता है, सीमा में नहीं होता है। जैसी उम्र बढ़ी, कि कपड़ा आ गया कमर पर, तब यथाजातपने का विनाश हो गया; क्योंकि विकारों के बंधन में आ चुका है। ये धागे नहीं, तुम्हारे कमर पर ये प्रमाणपत्र हैं, कि ये वसन वासना पर चढ़े हैं। वासना उतर गई होती, तो वसन अभी खुल गये होते। यथाजात स्वरूप से कोई विरहित है, तो वह वसनों में लिप्त है।

अनादि अविद्या के संस्कार के वशीभूत हुआ जीव जैसे घर में कुटते-पिटते व्यक्ति को कुटा-पिटा नहीं मानता, ऐसे ही अनादि से जिस बंधन में लिप्त हो, उसको बंधन कहना भूल गये हो। एक जगह मैंने पढ़ा, बहुत सारे ऊँटों को उन्हें बाँधना था, तो एक ऊँट के लिए खूँटा नहीं बचा, तो उसने क्या किया कि ऐसे ही खूँटा ठोक दिया, तो ऊँट बैठ गया। प्रातः हुआ, सभी को खोल दिया, पर जिसे बाँधा ही नहीं था, उसे नहीं खोला, तो वह ऊँट वहीं बैठा रहा। फिर उसने सोचा कि ये रस्सी से नहीं बंधा, बुद्धि से बंधा है। वही प्रक्रिया उसके साथ की गई तो फिर वह खड़ा हो गया। आप सोचो, आप बंधे तो नहीं हो, पर बंधन में कौन किसको बाँधे है, कौन किसको पकड़े है? मेरा मन ही पकड़े है।

कण-कण स्वतंत्र है, प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है, प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र है, मात्र मोह की रस्सी में बंधा हुआ है, बाकी बंधा नहीं है। आपसे अच्छा बैल है। बैल रस्सी से बंधा होता है, पर के बंधन में है, इसलिए वह गौशाला में खड़ा होता है। लेकिन जब भी रस्सी टूट जाये, तो वह दौड़ ही जाता है। पर आप कैसे ज्ञानी जीव हैं? पूँछ भी नहीं है, सींग भी नहीं हैं, नकेल भी नहीं है, तब भी आप गौशाला की ओर जानेवाले हैं। कितने स्वतंत्र हैं, पर आपको अपनी स्वतंत्रता का भान ही नहीं है। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। आप सम्मोदशिखर जाते हो, वहाँ आपको अच्छा लगता है, फिर भी आप उसे छोड़कर आ जाते हो, क्योंकि श्रद्धा घर में है। यदि श्रद्धा में किंचित भी उत्कृष्टता होती, तो तू घर नहीं आता। वे ध्रुव टंकोत्कीर्ण परम पारणामिक निजानंद में लवलीन परम योगीश्वर जब यथाजात स्वरूप को निहारते हैं, तब सम्पूर्ण बंधनों से दूर होते हैं।

निर्बन्ध क्यों नहीं हो पा रहे? बंधा कोई किसी से है नहीं, परन्तु राग की गाँठ प्रबल है, जो छूटती नहीं है। मोह परद्रव्य है, कर्म भी परद्रव्य है। पर मोह ने तुझे बाँधकर नहीं रखा, तू ही मोह से बाँधा है। दूसरों को दोष देना, निमित्तों को दोष देना आपकी आदत में आ गया है। उपादान को संभालने का पुरुषार्थ करो।



कण-कण स्वतंत्र है, प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है, प्रत्येक द्रव्य की परिणति स्वतंत्र है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वतंत्र है। बंधन कहाँ है ? तू जिस परिवार के राग में जी रहा है, वह भी अपने भाग्य से जी रहा है। क्या व्यवस्था है, तू ही अव्यवस्थित है। व्यवस्था प्रत्येक द्रव्य की स्वतंत्र है। मनुष्य ही परिणामों में अव्यवस्थित है। सभी द्रव्य व्यवस्थित हैं। ये काले बाल सफेद हो गये, किसने किये ? समय ने, प्रकृति ने। जब आप बालों को व्यवस्थित नहीं कर पाये, तो बालकों को क्या व्यवस्थित कर पाओगे ? वे अपने आप ही व्यवस्थित रहेंगे। तू राग का ही कर्ता है, किसी की व्यवस्था का कर्ता नहीं है। यह ध्रुव सत्य है। यदि तू बालकों की व्यवस्था करता है, तो वही बालक बड़ा होकर कहता है कि अलग कर दो। आप फिर कैसा देखते हो ? फिर कौन किसकी व्यवस्था देखता है ? जब अलग होने की बात आ गई, तो तुम दोनों स्वतंत्र हो गये और पहले से ही स्वतंत्र मान लेता, तो बालकों का पालक नहीं बनता। जन्म व्यवस्थित है, मृत्यु व्यवस्थित है, योग व्यवस्थित है; पर तेरी परिणति ही अव्यवस्थित है।

जिसको मृत्यु से भय समाप्त हो जाता है, वह या तो साधु बनेगा, या डाकू बनेगा। दोनों लुटेरे हैं, एक धन को लूटता है, दूसरा मन को लूटता है। तुम न लुटो, न पिटो। तुम लौट जाओ शिवधाम पर, तो न लुटना पड़ेगा, न पिटना पड़ेगा। तुम स्वयं साम्राज्य पद को प्राप्त करोगे। यह तत्त्वबोध किसी-न-किसी पर्याय में तो समझ में आयेगा। यह व्यर्थ नहीं जाता।

तुम कितने अभागे हो। तुम्हारे जनक-जननी ने कितना अच्छा नाम रखा, फिर भी पर की कन्या तुम्हें, 'ये, वे' बोलती है तब भी तुम्हें शर्म नहीं आती। आप पत्नि का नाम लेते हो, क्योंकि दास हो। वह नहीं लेती न। कह देना कि आज मत करना 'ये, वे'। मैं 'ये, वे' से रहित शुद्धात्मस्वरूप हूँ।

परम तत्त्व की ओर लक्ष्यपात करो।

## ॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

प प प

आचार्य भगवन् कुन्द-कुन्द स्वामी 'समयसार' ग्रन्थ में समझा रहे हैं। श्रुत की महिमा अलौकिक है। उस अनुपम स्वरूप को सुनना है, स्वानुभूति के बल पर, यह अध्यात्म-विद्या है, इसलिए गृहस्थों के बीच में नहीं होती, क्योंकि, इनको शब्द सुनाई पड़ते हैं, पर अर्थ की अनुभूति नहीं होती है। अर्थ की अनुभूति का न होना स्वात्मानुभूति से दूर रखती है, और जहाँ स्वात्मानुभूति होगी, वहाँ अर्थ का राग समाप्त हो जाता है। यह समयसार ग्रन्थ कह रहा है कि समय है और समय पर समय है। समय पर 'समय' को समझ लिया होता, तो पंचमकाल में न बैठा होता। जैसी भूल पूर्व में की है, ऐसी भूल चल रही है जो भूल जीव ने रागवश, क्लेशवश की है। उसको न सुधारने से श्रुत के समीप पहुँचा, द्रव्यश्रुत को समझा, द्रव्य-शब्दों को जाना; पर भावश्रुत को नहीं पा सका।

“यस्मात् क्रिया प्रतिफलंति न भावशून्या ।” ३८ कल्याण मंदिर स्त्रोत ॥

जो क्रिया भावशून्य है, वह क्रिया कभी फलित नहीं होती। समय भी गया, आयु भी गई, अर्थ भी गया। भाव के अभाव में ध्रौव्य भी गया। भावना बन जाती एक बार, तो इतना सबकुछ न जाता। भवातीत हो जाता। लेकिन भाव के अभाव में सबकुछ किया, परन्तु हाथ में कुछ भी नहीं आया। भवातीत होना है, तो अतीत की भावना को संयोगीभाव को, विभाव को, अतीत करो, विचार करो राग की लालिमा ने दो पांडवों

को सिद्धालय नहीं जाने दिया। तपस्या बराबर चल रही थी, पर भाई के राग में इतना ही सोचा था, कि मैं तो सहन कर रहा हूँ, पर मेरे भाई का क्या होगा। उस राग में मालूम चला कि वह तो खड़े रह गये और वे मोक्ष चले गये। ध्रुव सत्य है, जब अध्यात्म विद्या में प्रवेश होगा, फिर जगत के राग की लालिमा में नहीं आ पाओगे। मिट्टी गीली है तो चिपकेगी और सूख जाये तो झर जाती है। जब तक परभावों में राग की आर्द्रता है, तब तक चिपकोगे-ही-चिपकोगे। आर्द्रता समाप्त हो जाये, तो झरना प्रारंभ हो जायेगा। पर झरने बनाये बैठे हो, तो झरोगे कैसे? ध्यान दो लोगों में झरने फूट रहे हैं, राग के, कर्म के झरने झर रहे हैं, वे झरनेवाले नहीं हैं। जब-तक झरने झरेंगे, तबतक मिट्टी गीली होती रहेगी। पहले झरने को बंद करो। जब तक राग की आर्द्रता है, तब-तक कर्म झरनेवाले नहीं हैं। पुरुषार्थ प्रबल हो, खेत में काली मिट्टी हो, पानी गिर जाये, मिट्टी चिपक जाये तो जितना छुटाओगे उतनी चिपकती है। जब तक हृदय में विषय-कषाय की काली मिट्टी चिपकी है, तब-तक आप उसमें चिपकते रहोगे। कितना भी तत्त्वज्ञान के पानी से धो लेना, पर आपके पैर साफ नहीं होंगे। सूखी भूमि पर चलना होगा, यदि पैरों को स्वच्छ करना चाहते हो तो। गीली भूमि पर सदा कीचड़ से युक्त रहोगे।

धन्य हैं श्रुतकेवली भगवन्त, जो श्रुतसरिता में अवगाहन करके कर्मों की काली मिट्टी को जड़ से समाप्त कर रहे हैं। इस बात को आचार्य जयसेन स्वामी लिख रहे हैं। जो द्वादशांग श्रुत को परिपूर्ण जानते हैं, वे श्रुतकेवली कहलाते हैं। वे जानते ही नहीं हैं, अनुभव भी करते हैं। अनुभवन ही नहीं करते, व आचरण भी करते हैं। वे व्यवहार-श्रुतकेवली हैं। ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है। द्रव्यश्रुत के आधार से उत्पन्न हुई है जो-जो जिनवाणी आप पढ़ रहे हो।

शास्त्र तो पढ़ना, पर दूसरे को सताने के लिए नहीं पढ़ना। कुछ लोग शास्त्र का उपयोग शस्त्र के रूप में कर रहे हैं। जब कुछ नहीं जानते थे तो विनयवंत थे, समाज में मिलकर रहते थे। जबसे शास्त्र पढ़ने लगे, तो पहचान बनाने में लग गये, पहचान को भूल गये। आप न पढ़ते तो अच्छे थे। शास्त्र शास्त्र है, शस्त्र नहीं है। ऐसे ज्ञानी बन गये, जो कहने लगे कि तुम क्या जानो। अरे! वह इतना जानता है कि वह किसी को सताता नहीं है। आपने किस बात को जान लिया, कि आप परेशान करने लग गये। विश्वास रखो अज्ञानियों से ज्यादा ज्ञानियों से सताये जाते हैं। अज्ञानी तन को पीड़ित करता है, ज्ञानी मन को पीड़ित करता है। पर वह ज्ञानी नहीं होता है। ज्ञानी पुरुष का तो तन व मन दोनों शीतल होते हैं। पर जिसने शास्त्रज्ञान को अपने जीवन का अस्त्र बना लिया हो, उनसे जगत पीड़ित होता है। और जिसने शास्त्रज्ञान को भावश्रुत बनाया है, वह भविष्य में केवली होते हैं। शास्त्रज्ञान को, द्रव्यश्रुत को भावश्रुत बनाने का पुरुषार्थ तो करना, परन्तु द्रव्यश्रुत प्राप्त होते ही पर को पीड़ित करने का विचार कभी नहीं करना। क्योंकि अध्ययन करेगा, प्रज्ञा बढ़ेगी, तो सामान्य लोगों को अपने अनुसार चलाना चाहेगा।

विश्वास रखना, पर को आदेशित करना सबसे बड़ी हिंसा है, क्योंकि कोई किसी की आज्ञा में रहना परसंद नहीं करता। आप आदेशित कर रहे हो, कोई मानना नहीं चाहता, पर आपने चार लोगों के बीच आदेशित कर दिया, तो तुम्हारे स्वाभिमान/अभिमान के पीछे आपकी बात को तो स्वीकारेगा, पर मन से रो रहा है। आचार्य परमेष्ठी को भी आचार्य पद का त्याग करना पड़ता है, तब उनकी संल्लेखना होती है। वे भी मुनिराजों को आदेशित करते हैं परन्तु उनको इतना ध्यान रहता है कि दूसरे कि स्वतंत्रता का घात न हो। यहाँ व्यवहार की बात मत छेड़ना, वस्तुस्वरूप को समझो, हिंसा है। पर की स्वतंत्रता का हनन क्यों कर रहे

हो आप ? हित दृष्टि कम लोगों में होती है, अपनी आज्ञा के बहुमान की दृष्टि बहुत लोगों में होती है, कि देखो मेरी आज्ञा चलती है, डबल (दो गुनी) हिंसा, एक तो स्वयं के अहंकारमय परिणाम किये, दूसरे, दूसरे के परिणाम खिन्न किये । व्रतों का पालन करते हुए भी निर्वाण को प्राप्त नहीं कर पायेगा, जब तक तेरी चलती रहेगी । जिनदर्शन में धर्म की व्यवस्था सूक्ष्म है । आप अपने अनुचर को पैसे भी देते हो, भोजन भी देते हो, तब काम लेते हो, तब भी हिंसा हो रही है, क्योंकि जब भी वह एकान्त में बैठता है, तब सोचता है कि इनकी सेवा करना पड़ रही है । उसके भाव अशुभ होते हैं । यही कारण है कि निर्ग्रन्थ योगी, निर्ग्रन्थ दीक्षा लेकर एकान्त में वास करके स्वयं में निवास करते हैं । पद से बिल्कुल मोह न रखकर, न आदेश सुनना, न आदेश देना । स्वयं में लवलीन होकर परम अहिंसा को प्राप्त होते हैं । आत्मा अहमिन्द्र है । जो अहमिन्द्र होते हैं स्वर्ग में, वे न किसी की आज्ञा को पालते हैं, न देते हैं । वे अपने आप में अहमिन्द्र होते हैं । जिस दिन आप अपनी जीभ की तरह रहने लग जाओगे, उस दिन आप समाधि कर लगे ।

रसना इन्द्रिय से चक्षु इन्द्रिय ने कहा - मैं विश्राम लेती हूँ, आप मेरे विषय को देखते रहना । रसना कहती है चक्षु से - सुनो, मैं स्वतंत्र हूँ, तू स्वतंत्र है । मेरा काम चखना है, देखना नहीं है । इसी प्रकार किसी ने कहा - ऐसा काम कर लो । नहीं, मेरी दशा भिन्न है, तेरी दशा भिन्न है । विषय समझो, आप कहाँ-कहाँ भूल करते हो । बाद में सोचते हो। आप किसी साधु के पास पहुँचे थे माथे पर तिलक लगवाने । साधु सरल थे । इतना तुमने नगर में घुमा दिया, कि उनका सामायिक का समय नष्ट कर दिया । आपको तो मालूम ही नहीं था, आपको तो प्रभावना दिख रही थी । पर चारित्रमोहनीय कर्म का आश्रय जारी था, क्योंकि दूसरे के चारित्र की साधना में तुमने बाधा डाली । मालूम चला कि आप श्रीफल लिए आचार्यों के चरणों में घूम रहे हो, पर दीक्षा हो नहीं पा रही है । क्यों ? जब तुम कर्म का चौक पूर रहे थे, तब पता ही नहीं चला । बहुत संभल के जीने की जरूरत है ।

यह कषाय का अंश है । आपने अपनी धर्मपत्नी को समय पर भोजन नहीं दिया, उससे कहा कि इतना काम और कर लो, फिर खा लेना । तू हिंसक है, कि नहीं ? पत्नी का संबंध त्रैकालिक नहीं है, वह कुछ समय पहले हो गया था । पर वह जीवद्रव्य है । उसके साथ अनाचार करके बेचारी को समय पर भोजन नहीं करने देते । ये मत सोचना कि मेरी पत्नी है तो कर्मबंध नहीं होगा । जीवद्रव्य का हृदय कलुषित हो रहा है । उससे हिंसा का बंध ही होगा । पत्नी का दृष्टांत इसलिये दिया, क्योंकि पतिदेव समझते हैं कि पत्नी हमारी वस्तु है । हे ज्ञानी ! पर्याय के संबंध से तेरे घर की वस्तु हो सकती है, परन्तु जीवद्रव्य के संबंध से तेरे घर की वस्तु नहीं होती, वह स्वतंत्र है । ऐसे कितने-कितने काम किये । पिता पर भी आँख उठाई थी । वे आँखें नहीं थी, आँच थी । तूने पिता के पितृ भाव को झुलसा दिया ।

क्या करूँ, भावश्रुत में दृष्टि नहीं जा रही है । जब तक भावश्रुत में दृष्टि नहीं जा रही है, तब तक भावना विशुद्ध हो ही नहीं सकती, ध्रुव सत्य है । सुनते-सुनते आपके चेहरे क्यों बिगड़ते हैं, ये प्रश्न है मेरा ? अध्यात्म कभी मूसलाधार नहीं बरसता, रिमझिम-रिमझिम बरसता है । मूसलाधार से फसल बिगड़ती है, रिमझिम से हरियाती है ।

भावनाओं पर दृष्टिपात करो, किसी पर कषाय न हो। पर मन में कषाय बैठी है, ऊपर से शांत नजर आ रहा है, वह अंदर-ही-अंदर झुलस रहा है, जैसे कंडे की राख होती है । संयम धारण किया, फिर अंदर झुलसता रहा, मालूम हुआ कि प्राण निकल गये, परन्तु संयम की राख हो चुकी थी । इसलिए इतनी-सी बात

मान लो कि अब थोड़ा जीते-जी जीने लग जाओ तो अच्छा होगा। इस प्रज्ञा को मस्तिष्क में लाओ, सिर पर मत ले जाओ। प्रज्ञा जब चोटी पर पहुँच जाती है, तो फिर किसी को नहीं देखती है। प्रज्ञा मस्तिष्क में रहती है तो विवेक दिखता है। जीते-जीते जीयो। अभी जो जीवन चल रहा है वह मरते-मरते चल रहा है। क्यों ? करते-करते बैठे हो, चल रहे हो। ज्ञानी ! अकृत्वभाव पर दृष्टि नहीं है, यही तो मरते-मरते जी रहे हो। जो चिद्स्वरूप, भगवत् स्वरूप अकृत्वभाव है, उस पर दृष्टि ही नहीं है। पर्याय-की-पर्याय नष्ट हो रही है। शतांश भी तूने पर्याय के अकृत्वभाव पर दृष्टि दे दी तो, विश्वास रखना, मुक्ति हो जायेगी। जगत मरते-मरते जी रहा है। मैं तो देखता रहता हूँ। देखो मोह की दशा, ये समझ रहा है, कि मैं बहुत अच्छा काम कर रहा हूँ। अरे, वह मरते-मरते जी रहा है। समझो कि कोई कमजोर था, आपने उसको गाली दे दी और खुश हो रहे हो। आपको मालूम है कि वह क्या बिगाड़ेगा ? लेकिन बिगाड़ने वाले ने तो बिगाड़ ही दिया है। गाली बुरी वस्तु है। आपके मुख से बुरी वस्तु निकली, तो मुँह बिगाड़ा कि नहीं ? पहले बिगाड़ते हो, फिर कर्म सुन रहा है कि तुमने क्या किया।

आप शुरु से ऐसे नहीं थे। छोटे थे, तो तुम्हारी माँ ने तीन चके की गाड़ी चलाने को दी थी। बेटे से माँ कह रही थी, तुम चलना नहीं जानते हो, तीन चके की गाड़ी को पकड़ लो और चलो। पर ध्यान रखना, तीन चके की गाड़ी पकड़कर चलता है, तो चलना सीख लेता है, कहीं उस तीन चके की गाड़ी की धुरी पर पैर रख दिया, तो गिर जाता है। ऐसे ही भगवती जिनेन्द्रवाणी माँ सरस्वती कह रही है, कि सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन चके की गाड़ी पर चल।

वस्तु की स्वतंत्रता को समझो। जीना है तो जीते-जी, जीयो। जितने भी निषेक हैं, प्रत्येक निषेक पर ध्यान रखो, आज से। संयम के साथ जो जीता है, वह जीते-जी, जीता है। असंयम के साथ जो जीता है, वह मरते-मरते, जीता है। इसलिए आप संयमी के पास भी जायें, तो उन्हें ये याद न दिलायें कि स्वास्थ्य ठीक है न, क्यों ? तूने आत्मलीन योगी को शरीर में रख दिया। पूछना था तो यह पूछता, कि रत्नत्रय की साधना विशुद्ध है न ? असंयम में गया भी हो या योगी, तो रत्नत्रय को सुनकर जागृत हो जायेगा- अरे ! मेरी पहचान तन से नहीं है, मेरी पहचान संयम से है। अपनी पहचान बनाओ। संयमी का शरीर तो जनक-जननी के निमित्त से बन सकता है, परन्तु संयम जनक-जननी से नहीं बना। उनके पास जाना तो रत्नत्रय की पूछना। द्रव्यश्रुत भावश्रुत नहीं बनता है। बॉलते रहोगे, घूमते रहोगे, पर घूमना नहीं मितेगा। शब्दों के जाल को बिखेरते रहोगे। भवातीत तभी होंगे, जब भावश्रुत बनेगा। जो भावश्रुत ज्ञान है, वह आत्मभूत है।

जो शुद्धात्मा को जानते हैं, वह निश्चय श्रुतकेवली होते हैं। जो शुद्धात्मा को नहीं भाता, नहीं समझता, नहीं पहचानता, बाहरी विषय में द्रव्यश्रुत को ही जानता है, तो वह भावश्रुत को नहीं जानता। भाई के बेटे को भी तू बेटा कहता है, अपने बेटे को भी बेटा कहता है। दोनों बेटों की अनुभूति समान है क्या ? भाई का बेटा तेरे कंठ का है, निज का बेटा तेरी पत्नी के पेट का है। ऐसे ही, कागजों का श्रुत, भाई का बेटा है, और स्वानुभूति का श्रुत, स्वयं का संस्थान है। ये कागजों के सुख ने स्वानुभूति खो दी है। संवेदनार्ये नष्ट हो गईं। ज्ञानी शुष्क होते नजर आ रहे हैं। ऐसे ज्ञानियों को भीतर का ज्ञान नहीं है। यह पहचान तब होती है, जब आप तीर्थयात्रा में व्यवस्था में रहते हो, तो घुपचाप से अलग से खा आते हो। उससे श्रेष्ठ किसान है, जो मेढ़ पर बैठकर भोजन करता है, तब जो भी निकलता है, उससे कहता है - आओ, कलेवा कर लो। क्यों,

ज्ञानी ! वह सिद्धांत कैसा था, जो एकान्त में पेट भरकर आ गया ? ये था मात्र शुष्क ज्ञान । क्योंकि इसने सम्पूर्ण श्रुतज्ञान को भोगवृत्ति में लगाया है और दूसरे ने ज्ञान को योगवृत्ति में लगाया है । दस के नोट को एक मंदिर में दान कर सकता था, पर वह मदिरालय से बॉटल लेकर आ गया । उसमें नोट का क्या दोष ? नोट का जैसा उपयोग किया, वैसा मिल गया । ज्ञान का क्या दोष ? परणति का क्या दोष ? तेरी भावनाओं का दोष है । ज्ञान तुझे मिल गया था, उसे तूने भोग में लगाया है और एक ने ज्ञान को निज में लगाया है । आज घर जाकर निहारना कि हम अपने ज्ञान का उपयोग कैसे कर रहे हैं । जीते-जी जीना है, कि मरते-मरते ? अरे ! जीते-जी, जी लो । पर्याय के साठ साल निकल गये, पर जीते-जी, नहीं जी पाया । अमरबेल की तरह नहीं जीना । जिस वृक्ष पर चढ़ जाये, उसे सुखा देती है और स्वयं हरी-भरी रहती है । कुछ अज्ञानी ऐसे होते हैं, जो पर के जीवन को बरबाद करके जीते हैं । यदि जीना है तो ऐसे जीना जैसे आम का वृक्ष जीता है । स्वयं भी जीता है और कोई पक्षी घोंसला बना ले तो उसको भी जीने देता है । जीवन को नहीं खोता है, दूसरे के जीवन को सहारा देता है । ऐसा जीवन जियो कि तुम दूसरे को भी जीने दो । यही तो महावीर का संदेश है । जियो और जीने दो ।

## ॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

५ ५ ५

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।

भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइडी हवइ जीवो ॥ ११ स.सा. ॥

ज्ञानियो ! तत्त्व का शाब्दिक ज्ञान अनेकानेक जीवों को है, लेकिन तत्त्वदृष्टि का होना कठिन है । शब्दों से वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन कर देना, इसका अर्थ समयसार का अनुभव नहीं है । समयसार की अनुभूति न करने वाला अनुभव कर सकता है । कहनेवाला अनुभव शून्य भी हो सकता है । किसी को मिठाई खिलाई है, वह कह नहीं पाता, परन्तु अनुभव है । और एक व्यक्ति ने मिठाई को खाया नहीं है, तब उसकी मिठास शाब्दिक तो हो सकती है, पर मिठाई का अनुभव नहीं होता है । तत्त्वबोध शाब्दिक नहीं, अनुभवगम्य है । मैं ही अनुभावित हूँ । जो ध्रुव शुद्धात्मा का अनुभव परिणाम है, वह मेरे में ही है, अनुभावक में ही हूँ । मैं ही वह व्यक्ति हूँ जो सेवन कर रहा हूँ । मैं ही वह द्रव्य हूँ, जो अनुभव योग्य है । मैं ही वह पुरुष हूँ, जो अनुभवकर्ता है । जो भिन्न में अभिन्न का वेदन है, वह समयसार नहीं है । जो अभिन्न में अभिन्न का अनुभवपना है, वह समयसार है ।

सत्यार्थदृष्टि, भूतार्थदृष्टि का व्याख्यान आज कर रहे हैं । ग्यारहवीं गाथा में सम्यग्दृष्टि आत्मा, सत्यार्थदृष्टि आत्मा, समीचीन-दृष्टि आत्मा, वह कौन-सी आत्मा है, इस बात को यहाँ कह रहे हैं । सम्हल कर सुनना है, क्योंकि जो विषय को नहीं जानता, वह अपने आप में भ्रमित हो सकता है । यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द देव निश्चय को ही भूतार्थ कहना चाहते हैं । विभाव अभूतार्थ है । जो उस निश्चय भूतार्थ को स्वीकारता है, वह सम्यग्दृष्टि है । आप भी सभी के मन के विषय को समझना । क्योंकि जिसका अनादि से सेवन किया हो, उसका उस पर राग होता है । जरा-भी निश्चय की प्रधानता से कथन हुआ तो जीव घबड़ाने लगता है, कि व्यवहार का लोप हो जायेगा । लोप किसी का होता ही नहीं है । विभाव है, था, रहेगा । लेकिन सत्यार्थ नहीं है । एक जीव की अपेक्षा कथन नहीं किया, सामान्य अपेक्षा कथन है । मिथ्यात्व है, था, रहेगा । क्योंकि मिथ्यात्व न होता, तो आप पंचमकाल में न होते । मिथ्यात्व नहीं रहेगा, तो संसार का लोप हो

जायेगा। मिथ्यात्व नहीं है, तो आज कुलिंगी कैसे दिख रहे हैं? जिनलिंग में दीक्षित होने के उपरान्त भी नाना परिणाम बुद्धि में चल रहे हैं। क्या यह सम्यक्त्वपना है, जो अनेक-अनेक अपनी-अपनी आम्नाय बना बैठे हैं? ये आम्नाय महावीर स्वामी के द्वारा बनाई हुई नहीं है। जितने पंथ आदि भेद चल रहे हैं, वह वर्द्धमान की वाणी में नहीं है। यह विडम्बना है मिथ्यात्व की। वर्द्धमान स्वामी ने तत्त्व प्ररूपणा की है, विपर्यास की प्ररूपणा नहीं की है। विपरीतपना प्ररूपित नहीं किया जाता है, विपरीतपना व्यक्ति स्वयं कर लेता है। आपकी जैन आम्नाय में जितने गुप (गुट) हैं, ये सभी सत्य नहीं हैं; क्योंकि एक का कथन किया, अनेक का नहीं किया। तो मिथ्यात्व का विनाश ही तो सम्यक्त्व है, सम्यक्त्व का अभाव ही मिथ्यात्व है। यदि आपको सम्यग्दृष्टि जीव दिख रहे हैं, तो वे मिथ्यात्व की सूचना दे रहे हैं और जो मिथ्यादृष्टि दिख रहे हैं, वे सम्यक्त्व की सूचना दे रहे हैं।

### “अर्पितानर्पितसिद्धेः”

एक को अर्पित, एक को अनर्पित। तो व्यवहार जो है वह अभूतार्थ है, और जो निश्चय है, वह भूतार्थ है। विभाव अभूतार्थ क्यों है? निश्चय की अपेक्षा से व्यवहार अभूतार्थ है, परन्तु व्यवहार की अपेक्षा से है व्यवहार भूतार्थ है, व्यवहार में निश्चय को अभेद करा दोगे तो वह निश्चय नहीं, अभूतार्थ हो जायेगा। अहो ज्ञानी! मिट्टी का घट है, परन्तु घट घी का कहा जाता है। गाथा पढ़कर उसकी भूमिका को समझें। आप व्यवहार चलाने के लिए क्या कह रहे हो, यह आपका विषय है। आप जीवन जीने के लिए क्या बोलते हो, यह आपका विषय है। सत्य क्या है, यह समझिये।

### घृतकुम्भाभिघानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत् ।

जीवो वर्णादिमज्जीव जल्पनेपि न तन्मयः ॥४०॥ अ.अ.क.

यह 'अध्यात्म अमृत कलश' है। घी का घट है, ऐसा कहने पर भी घृत का घट नहीं है। यह व्यवहारभारी यों ही कह देते हैं, कि व्यवहार चला गया। अरे! व्यवहार कहीं भी नहीं चला गया। सत्यार्थ को समझो। मैं मना भी कर दूँगा, कि घी का घृत नहीं है, फिर भी आप घर में घृत का घड़ा ही बोलोगे। हे मुमुक्षु! मिट्टी का कुंभ घृत नहीं होता, कुंभ में घृत रखा होता है। आधार-आधेय का उपचार होता है। जिसमें घृत रखा है, उस घड़े को लेकर आओ, या घी के घड़े को लेकर आओ। 'ये रिकशा', रिकशेवाले को बुला दिया। बोला- हे रिकशा! पानी की बाल्टी लेकर आओ। धन्य हो तुम्हारी लीला को। पर इतना तो ध्यान रखिये, कि व्यवहार चल रहा है। बराबर आप जी रहे हो, पर ये 'समयसार' ग्रन्थ है, उस व्यवहार में लिप्त मत हो जाना। निश्चय को भूल मत जाओ। कहीं पानी की बाल्टी ही नहीं समझ लेना। बाल्टी की स्वतंत्रता को समझो, वस्तु की स्वतंत्रता को भी समझो। व्यवहार कह रहा है, पानी की बाल्टी। मैं तुमसे पूछता हूँ, क्या किसी देश/राष्ट्र में, प्रान्त में, क्षेत्र में पानी की बाल्टियाँ भी बनती हैं? पानी की कोई बाल्टी नहीं होती है। पानी की बाल्टी कहना असत्यार्थ है। बाल्टी धातु की है।

आत्मद्रव्य का वेदन नहीं कर पा रहे हो। पत्तल परोसो, कि पत्तल में परोसो, आप क्या परोसते हो? पत्तल नहीं खाई जाती है, भोजन खाया जाता है। तन चेतन नहीं है, तन में चेतन है। फिर भी चेतन में तन नहीं है। पत्तल में भोजन है, पर भोजन में पत्तल नहीं है। तन में शुद्धात्मा हो सकती है, पर शुद्धात्मा में तन नहीं होता है। शुद्धात्मा में तन हो गया तो अशरीरी भगवान्-आत्मा में तन हो जायेगा। भोजन में पत्तल नहीं होती है। पत्तल व भोजन में अभूतार्थपना है। भोजन का स्वाद भिन्न है, पत्तल का स्वाद भिन्न है। पत्तल के

स्वाद व रोटी के स्वाद में अन्तर है। तन के वेदन में व चैतन्य के वेदन में इतना ही अन्तर है, जितना कि भोजन और पत्तल में है। पत्तल स्वाद-विहीन नहीं है, पत्तल में भी स्वाद है। नहीं मानो तो गाय से पूछो। पत्तल स्वादविहीन नहीं है, पर उसमें वह स्वाद नहीं है जो भोजन में है। अगर वही स्वाद है, तो भोजन क्यों बरबाद करते? पत्तल ही खाना चाहिए। भोगों में भी स्वाद है, परन्तु योगों में परम स्वाद है। अगर दोनों में स्वाद न होता, तो गाय पत्तल क्यों चबा रही होती। अगर योगों में स्वाद न होता, तो योगी, शुद्धात्मा के व्यंजन को क्यों चखते? योगों में इतना गंभीर स्वाद है, कि कभी-कभी पत्तल पर रखा भोजन फेक देती है, और पत्तल चबाती है। व्यंजन के स्वाद को जाननेवाले भोजन को ही उठाते हैं और पत्तल को फेकते हैं। अब बताओ कि आप क्या हो? पर कभी-कभी भोजन के साथ पत्तल भी टूटकर आ जाती है। तो जिन्हा भी समझदार है, पत्तल को बाहर निकाल देती है। ऐसे ही वीतराग भेदविज्ञानी योगी को किंचित भी तन का राग आता है, तो भेदविज्ञान की जीभ से अलग कर देता है, वह स्वाद व्यंजन मात्र का ही लेता है।

**यत्र काये मुनेः प्रेम, ततः प्रच्याव्य देहिनम् ।**

**बुद्ध्या तदुत्तमे काये, योजयेत्प्रेम नश्यति ॥४०॥समाधितंत्रा॥**

जब योगी को किंचित भी शरीर में प्रेम आ जाये, उस समय स्वभूत आत्म पद की बात करता है। राग भी तपस्वी के मन में आ जाये, उस क्षण स्वस्थ आत्मा में स्वस्थ आत्मा ही शुद्धात्मा है। स्वस्थ आत्मा यानी शुद्धात्मा। आप सभी अस्वस्थ आत्मा हो। पर पत्तल में इतना रस आ रहा है कि भोजन पर दृष्टि जा नहीं रही है। इसलिए मैं अभी नहीं कह पाऊँगा कि पत्तल के साथ भोजन का स्वाद चख रहे हो। पत्तल मुख में आ जाये तो निकाल दो। तब तो समझ में आता है कि पत्तल आ गई थी, उसे निकाल दिया, भोजन का स्वाद चख रहा था। मुनि के मन में प्रेम उत्पन्न हो जाये, वह स्वस्थ आत्मा है। लेकिन भूल क्या कर रहे हैं? पत्तल को चबाते-चबाते इतना मस्त हो चुका है, कि उसके पास भ्रम नाम की कोई वस्तु ही नहीं बची। वो उसे भ्रम (पत्तल) मानता ही नहीं है। वह अपना भोजन मानता है। भ्रम उसे कहे, जिसे किंचित मालूम हो कि द्रव्य है। भ्रम एक में होता ही नहीं है, दो में होता है। जो दूसरों को जानता ही नहीं है, वह अज्ञानी है। भ्रम और अज्ञानी में अन्तर है। भ्रम तो दो के ज्ञान में चलता है। यह है, कि यह है? लेकिन जिसने दो को जाना ही नहीं है, वह एक-से अज्ञानी हैं। जिसने आत्मद्रव्य को जाना ही नहीं है, ऐसा बहिरात्मा देह आदिक में आत्मबुद्धि को मान बैठा है। वह भ्रम में नहीं है, वह परिपूर्ण अज्ञान में है। जंगल में निवास करनेवाले पशु-पक्षी ऐसे भी हैं, जिन्होंने कभी पूड़ी को नहीं देखा। वे जंगल के पत्तों में ही, घास में ही सर्वस्व मानते हैं। वे नगर में कभी आते ही नहीं। नगर में निवास करनेवाले पशु घास को भी जानते हैं, और भोजन को भी जानते हैं, पर जंगल में रहनेवाले ने भोजन देखा ही नहीं।

हे ज्ञानी ! जिसने मिथ्यात्व के दलदल में फंसे रहने पर, कभी सम्यक्त्व नगर की ओर झाँक कर ही नहीं देखा, वे सूखे पत्तों में ही सबकुछ मान बैठे हैं, उनको अन्य कुछ मालूम ही नहीं है। आपको यथार्थ बताऊँ जो जंगल में रहनेवाले जानवर हैं, उनके सामने शुद्ध घी की पुड़ी भी कोई फेंक दे, तो वे खाते नहीं हैं, क्योंकि उनको वेदन ही नहीं होता। जंगल में आदिवासी रहते हैं। उनको एक बार ज्वार की रोटी पर साग रख कर दी। उन्होंने साग को खा लिया, पर रोटी को फेंक दिया, क्योंकि वह रोटी को जानता नहीं था। बताओ रोटी में रोटीपना था, कि नहीं? रोटी में रोटीपना त्रैकालिक था, पर तेरे ज्ञान में रोटीपना नहीं है। इसी प्रकार, शुद्धात्मा में शुद्धात्मपना त्रैकालिक है, पर क्या करूँ? जिसने ऊपर की साग-साग देखी है, पर्याय को देखा

है, उसे भोग रहा है, और शुद्धात्मानुभूति को फेंक रहा है, कितनी विचित्र दशा है ? मैं जगत का अनुभावक, जगत का ज्ञाता, और ज्ञाता अपने को नहीं जान रहा है। कितना आश्चर्य है ? तू जगत का ज्ञाता, जो जगत को जान रहा है, वह स्वयं को नहीं जान रहा है।

दर्शनाचार्य जी ! जब तू दर्शनशास्त्र पढ़ रहा था, तब तुझे मालूम था कि हेय क्या है? उपादेय क्या है ? और जब तू छल से पैसा कमाता है, तब तुझे मालूम है कि तूने सही नहीं किया है। आज तू ७० साल की उम्र में कमा रहा है, वह तुझे मालूम है, कि मैं जो कमा रहा हूँ, उसे भोग नहीं पाऊँगा। क्योंकि मेरी पर्याय अल्प है, द्रव्य बहुत है। फिर भी, जानने के बाद भी स्वच्छ दृष्टि क्यों नहीं बन रही है ? छोड़ क्यों नहीं देता ? क्यों विषयों में परिणति जाती है ? उस समय तू अज्ञानी होता है क्या ? अज्ञानी नहीं होता। तो ज्ञानी होता है क्या ? ज्ञानी नहीं था। तो विषयों के भोग कैसे किये ? और ज्ञानी था तो विषयों में डूबा क्यों ? बोलो अज्ञानी था तो खोदा कैसे ? और ज्ञानी था, तो डूबा कैसे ? तू जानकर अज्ञानी था, जान-जानकर अज्ञानी है। पक्के अज्ञानी हो। अज्ञानता का कारण तेरा ज्ञान ही है। जो दुनियाँ का ज्ञान लाद-लादके रख लिया न, वही तुझे अज्ञानी बनाये है। तुझे सब का ज्ञान है। क्या-क्या करना चाहिए? उसका ज्ञान है। इसी ने तुझे अज्ञानी बना दिया।

हे मुमुक्षु ! जब तूने किसी की कन्या को नहीं जाना था, तब तेरा अब्रह्म भाव नहीं था। जिस दिन तूने किसी की कन्या को जाना, उस ज्ञान ने ही तुझे अज्ञानी बनाया। चिन्तन करो, हृदय को निहारो। क्यों ? आप बहुत बड़े ज्ञानी हो, परन्तु तेरा ज्ञान ही तुझे अज्ञानी बनाये है। इतनी विवेक/बुद्धि न होती, तो वकील क्यों काला कोट पहनता ? तेरे ज्ञान ने ही तुझे काला कोट पहनाया है। तूने ज्ञान से काला कोट पहना है, तो काली कमाई करके हृदय को काला किया है। आज शांति से चिन्तन करो। जितना काला लेकर आया हूँ, ये ज्ञानभाव से लाया हूँ। और गलत करके लाया हूँ, अज्ञानभाव से नहीं लाया हूँ। सत्यार्थ बताऊँ आपको जिनवाणी के रहस्य बताये नहीं जाते हैं। आपको जानने के लिए समय ही नहीं है, कि कैसे यहाँ भटकते-भटकते आये हैं। व्यक्ति की दृष्टि अर्थ की ओर बहुत बढ़ चुकी है। अर्थ को छोड़कर मैं अनुभव कर रहा हूँ। जो अर्थ को छोड़ भी देते हैं, वे भी अर्थ को पकड़ नहीं पाये, फिर उसी अर्थ की ओर दौड़े। तत्त्वार्थ यानी तत्त्वभूत जो अर्थ है, उसके लिए मुनि बनना पड़ता है। पर उस अर्थ को समझ नहीं पाये, घुमा-फिरा कर, रूप बदलकर उसी अर्थ में आ जाता है। इस जीव ने जान लिया, परन्तु शब्दों में जाना।

परमाणु होता है, परन्तु आँखों से दिखता नहीं है। दो प्रकार के परमाणु हैं, द्रव्य परमाणु और भाव परमाणु। तीसरा परमाणु होता है, पुद्गल परमाणु। आपने 'पंचास्तिकाय' ग्रन्थ में पढ़ा है द्रव्यपरमाणु व भावपरमाणु। जो निजस्वार्थानुभूति व निजस्वात्मानुभूति है, वह भाव-परमाणु है। जो व्यंजनानुभूति है, वह द्रव्य-परमाणु है। ध्यान दो भाव-परमाणु द्रव्य-परमाणु को नहीं पा पाया। ये पुद्गल परमाणु की चर्चा नहीं समझना। यहाँ आत्मा को ही परमाणु की संज्ञा दी जा रही है। जो शुद्धात्मतत्त्व है, वह निश्चय से भाव-परमाणु है। भाव-परमाणु को जीव नहीं पा पाता, तो पुद्गल पिण्डों में फिर से खड़ा हो जाता है। इसमें दोष किसका ? विश्वास रखना, दोष आपके पुरुषार्थ का ही है।

इस पेन का रंग किसी को काला, किसी को नीला दिख रहा है। जितनी दूरियाँ बढ़ती जाती हैं, विषयवस्तु का ज्ञान घटता जाता है। हमारे वर्द्धमान को गये ढाई हजार वर्ष हो गये। आचार्य विद्यानंद स्वामी ने 'अष्टसहस्री' ग्रन्थ लिखा, वे आचार्य 'श्लोक-वार्तिक' ग्रन्थ में कह रहे हैं, कि खुली आँखों से, चश्मा



लगाने पर भी, तू सत्य को नहीं जानता। सत्य का व्याख्यान आप नहीं कर पाये। क्यों नहीं किया ? व्यवहार चल रहा है, उसे चलाते जाइये, लेकिन सभी के नेत्रों के नम्बर एक-से क्यों नहीं होते, ऐसा क्यों नहीं बोलते। अगर नहीं है, तो आपको कहना चाहिए कि जो मैं देख रहा हूँ वह सत्यार्थ नहीं है। आँख का नम्बर भिन्न है, वस्तु भिन्न है, दूसरे को दूर से काला दिख रहा था। इसलिए तत्त्व को अपनी बुद्धि से मत मापिये। आपका क्षयोपशम जैसा है, वैसा माप पाओगे, तत्त्व तो जैसा है, वैसा है। कोई यूँ कहे कि पेन कैसा है ? 'जैसा है, वैसा' कह देते तो पकड़े नहीं जाते। जब आपने एक भवन में बैठकर पेन को विपरीत रूप में जान लिया है तो सम्यक्त्व प्ररूपणा करना, यह संभव नहीं है। आकाश में विमान को उड़ते नहीं देखा क्या ? पर देखते-देखते दिखता रहता है क्या ? जितना दूर चला जाता है, उतना दूर दिखता है। दिखता है, फिर नहीं दिखता, फिर एक काला सा बिंदु दिखता है। सत्य को दूर से नहीं देखा जाता, सत्य को समीप से देखा जाता है। ध्रुव आत्मा और तन उन दो के बीच आत्मा को देखना चाहता है दूरी बनाकर आप आत्मा को नहीं देख सकते, क्योंकि दूरी से पदार्थ सत्य नहीं दिखता। आज निर्णय हो जाना चाहिए। आँख के नम्बर बता रहे हैं, कि सबके द्वारा प्रत्यक्ष देखे जाने पर भी भिन्न-भिन्न दिखता है। व्यवहार चलाने के लिए सब व्याख्यान कर लीजिए, पर सत्य मानिये, आप इस पेन को परिपूर्ण रूप से नहीं जान रहे हो। फिर जो-जो क्षयोपशम हीनाधिक है, तो जितने निकट होते गये, उतना ही स्वच्छ दिखता गया। यह कैवल्य की सिद्धि है। जो निज ध्रुव आत्मा के निकट पहुँचता है, वह कैवल्य को प्राप्त कर लेता है। तब सारा चराचर जगत् प्रत्यक्ष दिखता है। जो दूरी रखता है निजात्मा से, उसे सत्य दिखाई देता नहीं है। इसलिए, क्षयोपशम ज्ञानियो ! इतनी करुणा करना, कि अपने द्वारा जानी हुई वस्तु का सत्यार्थ निर्णय नहीं दे देना। इस काल में जितना आगम में लिखा है, उतना ही सत्यार्थ कहना। अपने निर्णय को सत्यार्थ कहने का त्याग कर देना, यदि शुद्ध सम्यग्दृष्टि हो तो। अपने द्वारा अनुभव किये हुए आगम के विषय पर सत्यार्थ मत नहीं देना। आगम में जितना लिखा है, उतना ही सत्यार्थ है। व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता का विनाश कहाँ हुआ ? स्वतंत्र सत्ता है कि आप सत्य को जान नहीं पा रहे हो। आगम को जानोगे तो अपनी ही सत्ता से जानोगे। जिसे जानोगे, वही स्वतंत्र सत्ता है। आगम परतंत्र कहाँ बना रहा है ? वह परतंत्र नहीं बनाता जो आगम स्वतंत्रता का ध्यान कराता है। स्वतंत्र सत्ता का ज्ञान आगम में नहीं मिलता, तो जितनी स्वतंत्रता से आपके सामने बोल रहा हूँ, वह सब बोल नहीं सकता था। आपने देखा होगा कि लोग लपेट-लपेटकर बोलते हैं। पर आज तक मैंने कोई लपेटकर नहीं बोला, पर यूँ कह दिया कि भ्रम से नहीं बोल रहा हूँ। क्योंकि आपका निर्णय झूठा हो सकता है, पर आगम का निर्णय झूठा नहीं हो सकता।

जिप्हा के जिस स्थल पर नमक का स्वाद लिया जाता है, उस स्थल पर मिश्री का स्वाद नहीं लिया जाता। आप मिश्री की एक डली कण्ठ के समीप रखना। बताओ स्वाद कैसा है ? अन्दर चला जायेगा, लेकिन मिश्री का स्वाद नहीं ले पायेगा। क्यों ? दाँतों के पास में जिप्हा की नोक पर स्वतंत्र प्रदेश हैं, उन प्रदेश पर स्वाद आता है। तेरी आत्मा में तेरी तन के साथ इतनी ही भिन्नता है। पाँच इन्द्रियों में आत्मा है कि नहीं? पाँच इन्द्रियों में आत्मा है। एक स्थान से ही सम्पूर्ण इन्द्रिय का स्वाद क्यों नहीं ले लेती ? ज्ञानी ! प्रत्येक इन्द्रिय के प्रदेश स्वतंत्र हैं। अखण्ड ध्रुव आत्मा होने पर भी अनुभव तद्विषय का तदस्थान पर ही आता है, भिन्न स्थान पर भिन्न का स्वाद नहीं आता है।

हे ज्ञानी ! शादी जिसकी हो रही है, दूल्हा वही कहलाता है और शादी की अनुभूति वही ले रहा है।

शादी के समारोह में समाज खड़ी हो जाती है, पर स्वतंत्रता दूल्हे की है। ज्ञानी ! उपयोग जिस इन्द्रिय पर जाता है, शेष सब इन्द्रियों का उपयोग हट जाता है। एक समय एक ही काम। जब कर्ण-इन्द्रिय का उपयोग होता है, तो आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेश कर्णन्द्रिय के साथ हो जाते हैं। जिसका पलडा भारी होता है, आप वहीं पहुँच जाते हैं। ऐसे ही जिस इन्द्रिय का कार्य प्रारंभ हो गया है, तब सभी इन्द्रियाँ उसमें ही तन्मय हो जाती हैं। जैसे ही वहाँ से हटा, तब दूसरी जगह पहुँच जाती हैं।

जब आप अब्रह्मरूप में परिणति करते हो, तब उन आत्मप्रदेशों को वैसा आनंद होता है। वही परमानंद शुद्ध स्वरूप में विराजमान होता है, तब इन्द्रियाँ सभी बैठी रह जाती हैं और उपयोग तन्मय हो जाता है।

### “अर्पितानर्पिता सिद्धे”

महावीर जयन्ती के दिन तेईस तीर्थंकर का पता ही नहीं चलता कि कहाँ हैं, क्योंकि प्रधानता महावीर स्वामी की है। जिस दिन तुम सबसे रहित होगे, उस दिन 'जिन' से सहित होगे। जब तक इनसे रहित नहीं और जिन से सहित नहीं, तब-तक परावर्तन चल ही रहा है। आप यहाँ सुन रहे हो न, यह भी सुकृत है, पुरुषार्थ है। सत्य को सुनने आये हो, कभी-न-कभी यह उदय में आयेगा। शुद्ध समरसी भाव को, परभाव की मिलावट की जरूरत नहीं है। इसमें जो लिप्त हो जाता है, वह पर से अलिप्त होता है। रसवंती को चखने पर द्वैतभाव होता है। रस-रस को पीने पर अद्वैतभाव होता है। रसवन्ती यानी जलेबी। उस जलेबी में आटे का स्वाद साथ में चलता है, पूरा स्वाद नहीं आता है, जो शुद्ध रस शुद्ध का स्वाद देता है। ऐसे ही भक्ति आदि व्यवहार-धर्म है, जलेबी का स्वाद है। जो निश्चय शुद्धात्मा का स्वभाव है, वह शुद्ध रस का स्वाद है। व्यवहार 'व्यवहार' है, व्यवहार 'निश्चय' नहीं है। व्यवहार 'निश्चय' का साधक है, व्यवहार 'साध्य' नहीं है, साध्य निश्चय ही है। जलेबी, जलेबी है, रस, रस है। जलेबी में रस नहीं है, जलेबी के अन्दर रस है। सूखी जलेबी खा कर देख लेना (बिना रस की), कोई स्वाद नहीं आता। जलेबी में रस भरा गया है। जो भरा गया है, वह सत्य नहीं होता है। जो होता है, वह सत्य होता है। रस में रस भरा नहीं जाता, जलेबी में रस भरा जाता है। जलेबी रस से युक्त है, पर रस नहीं है।

भूतार्थ तो भूतार्थ है और अभूतार्थ भी अभूतार्थ है। विश्वास रखना, द्वैत भाव में सारा जीवन नष्ट हो रहा है। कम-से-कम वह श्रेष्ठमय है, जो भगवान् का द्वैत भक्त बनकर जी रहा है, वह कभी भगवान् बन जायेगा। पर तुम तो भोगों के गर्त में (द्वैत में) जी रहे हो। ये द्वैतभाव नीचे गिराने वाला ही है। जब तन व चेतन का द्वैतभाव भ्रमित करा देता है, तो पर का द्वैतभाव निज चैतन्य कैसे दिलायेगा? आप कहें या न कहें, पर आप वस्तुओं को अब देखते नहीं, पोते को दिखाने जाते हो मेला। जब मिलने का समय आया, तो मेला देखने चले गये। युवावस्था में कषाय, भोग, वासना मिलने नहीं दे रहे थे। अब ठण्डे पड़ गये न? ठण्डे (ठहरे) पानी में नीचे का मोती भी दिखता है। आप ठण्डे पड़ गये थे, फिर भी आप बच्चे के साथ घूमने गये थे। समझो, मैं क्या कह रहा हूँ। ठण्डे पड़ गये न? तो गर्मी की यादें भी छोड़ दो। ठण्डे तो पड़ जाते हैं, पर गर्मी की यादें ठण्डा पड़ने नहीं देती। इतना समझाना था।

ग्यारहवीं गाथा निश्चय-प्रधान है। निश्चयनय-प्रधान मत कहना। निश्चय शुद्ध है, नय 'कथनशैली' है, वह तो कहता है, पर वस्तु निश्चित होती है। व्यवहारनय अभूतार्थ है। जो शुद्ध नय है, उसे भूतार्थ कहा है। निश्चय में जो निश्चय को आश्रित करता है, वही सम्यग्दृष्टि है। निश्चय से ये हाथ है, अंजुली है, मुष्टि

है, आशीर्वाद है। अंजुली पर्याय थी। पर्यायी के साथ हाथ की पर्याय भी बदल रही थी। कर ही नहीं बदल रहा है, करण भी बदल रहा है। करण नहीं बदलेगा, तो कर कैसे बदला ? हाथ की पर्याय बदल रही थी, पर्यायी के परिणाम भी बदल रहे थे। जैसी पर्यायी की रचना होती है, वैसी पर्याय बनती है। ये मुनिराज आशीर्वाद भी देते हैं, तो अंजुली भी बनाते हैं। अंजुली बनाते समय आशीर्वाद नहीं देते हैं। यदि हर समय आशीर्वाद की पर्याय बनाये रखूँगा, तो पेट नहीं भर पायेगा। ज्ञानी ! हर समय ऐसी पर्याय रहेगी, तो परमात्मा नहीं बन पाओगे। यह जैनतत्त्व है। यह है वस्तुस्वरूप। जहाँ लगाना चाहो वहाँ लगा लो। माँ के पास तू एक-सी पर्याय में नहीं जाता। एक पर्याय से सबको देखेगा, तो इस लोक में व्यभिचार छा जायेगा, विचार नाम की वस्तु नष्ट हो जायेगी, व्यभिचार खड़ा हो जायेगा। इसलिए पर्याय ही नहीं बदलती है, परिणाम भी बदल रहे हैं। ये अज्ञानियों के शब्द हैं कि 'पर्याय का परिणमन पर्याय में हो रहा है, तू तो शुद्ध द्रव्य है।' विषय को समझो। द्रव्यदृष्टि से शुद्ध है, परन्तु द्रव्य अभी विकारों से युक्त है। चार्वाक हैं सब- 'जब तक जीयो सुख से जीयो, नहीं हो तो ऋण लेके जीयो। किसने देखा नरक ?' ये चार्वाक हैं विषयों में समाधि नहीं, समाधि में विषयानुभूति होती है।' तो समयसार ग्रन्थ का दुरुपयोग किया है। आप चाहो तो मैं कई अर्थों में इसको सुना सकता हूँ। वे कई रूप यहीं रह जायेंगे, एकरूप नहीं हो पायेंगे। एकरूप को प्राप्त करना है तो शुद्धनय से कथन करना पड़ेगा। समाधि में भोग नहीं होते और भोगों में समाधि भी नहीं होती। ध्रुव सत्य है।

## ॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

५ ५ ५

पक्ष से शून्य होकर एक दिन तो स्वतंत्रता का वेदन कर लो। एक दिन न सही, एक मिनट कर लो, स्वतंत्रता का वेदन। मेरे में मनुष्य जाति नहीं है, मेरे में मनुष्यायु नहीं है, मेरे में मार्गणा व गुणस्थान नहीं है। मैं बन्ध से भी शून्य हूँ। मेरे में समाज क्या, संग क्या, सम्प्रदाय क्या, जाति क्या ? तू मेरा शिष्य पहले बना था, कि जीव पहले था ? क्या जगत की लीला है, अपनी स्वतंत्र सत्ता को कैसे खो रहा है। मेरा शिष्य तू नहीं बना, पर का शिष्य नहीं बना, पर का पति नहीं बना, पर की पत्नी नहीं बनी। जगत का कोई भी ज्ञेय किसी के ज्ञान को पराधीन नहीं करता। प्रमिति 'प्रमिति' है, प्रमिति 'प्रमाण' नहीं है। प्रमाता 'प्रमाता' है, प्रमेय 'प्रमेय' हैं; परन्तु प्रमेय प्रमाता नहीं है, प्रमाता प्रमेय नहीं है। प्रमाण प्रमाण है, प्रमाता का धर्म है प्रमाण, प्रमाण का फल है प्रमिति, प्रमाण का ध्येय है प्रमेय। प्रमाता ध्रुव है, प्रमाण ध्रुव है, प्रमिति (जानन क्रिया) परिणमनशील है। प्रमेय प्रमेय है, प्रमेय कभी प्रमाण से कहने आया नहीं, हे प्रमाता ! तू अपने प्रमाण से मुझे प्रमिति रूप निहार। प्रमेय यानी ज्ञेय। प्रमेय ने किसी प्रमाता को किसी प्रमिति से च्युत किया नहीं। प्रमाता ने ही प्रमिति प्रमेय में प्रवेश किया। प्रमेय कभी प्रमाता में गया नहीं। हे प्रमाता ! तू अपने प्रमाण से अपने को प्रमेय बनाता, अपनी प्रमिति से अपने प्रमेय को निहारता, वही तुम्हारी शुद्धात्मा की शुद्धि है। अध्यात्म भाषा को न्याय भाषा में कहा जा रहा है। जिसे अध्यात्म निर्विकल्प ध्यान कहेगा, उसे दर्शनशास्त्र क्या कहेगा ? हे प्रमाता ! अपने प्रमाण से, अपने को ही प्रमेय में, अपनी प्रमिति से जानो, यही निर्विकल्प ध्यान है। कण-कण स्वतंत्र है। ज्ञेयों ने ज्ञाता को प्रमित नहीं किया, ज्ञाता ही ज्ञेयों में राग लेकर जाता है। प्रमिति का काम प्रमित यानी फल जानन क्रिया है। ज्ञान जानता है, ज्ञान का काम जानना है। प्रमिति जता रही है, क्रिया कर रही है। अज्ञानता की हानि हो रही है, उपेक्षाभाव जग रहा है। ज्ञाता ! तू ज्ञायकभाव में

लवलीन हो जा। मैं ज्ञेय हूँ, मैं ज्ञाता नहीं हूँ। पर ज्ञेय ज्ञाता होते नहीं, पर ज्ञेय ज्ञाता कभी हुए नहीं, होंगे नहीं। परन्तु ज्ञेय तो ज्ञेय है, ज्ञाता नहीं। परन्तु ज्ञाता ज्ञेयों का जानने का राग लाता है। ज्ञेय ज्ञाता को राग उत्पन्न करते नहीं, ज्ञेय ज्ञाता हुए नहीं, ज्ञेयों ने ज्ञाता को बुलाया नहीं, ज्ञेयों ने ज्ञाता को कभी भगाया नहीं, ज्ञाता कभी ज्ञेय होता नहीं, ज्ञाता ज्ञेय में जाता नहीं, फिर भी ज्ञाता ज्ञेय में राग करके अपने ज्ञातृव्य भाव को खो रहा है। इसलिए ज्ञेय तो ज्ञेय है, ज्ञाता भी ज्ञाता है। हे ज्ञाताओ ! ज्ञेय को ज्ञेय जानिये, ज्ञाता को ज्ञाता जानिये। निज ज्ञान, निज ज्ञेय, निज ज्ञप्ति ही तेरा ध्येय हो, पर-ज्ञान, पर-ज्ञातृव्य तेरा स्वभाव नहीं है। ज्ञायकभाव ही तेरा स्वभाव है। ज्ञेयों ने तुझे भ्रमित किया नहीं, परन्तु ज्ञाता ही राग से भ्रमित हुआ है। पेन ज्ञेय है, ज्ञाता नहीं है। कितना महान है, जो कि त्रैकालिक अपने चतुष्टय में लीन है, किसी भी ज्ञाता से कहता नहीं, कि तू मेरा नाम ले। परन्तु ज्ञाता ज्ञाता होकर अज्ञाता है कि मेरा नाम ले रहे हैं। अरे ! इतने में निज का ध्यान कर लेता तो मेरा नाम क्यों लेता ? मेरा नाम न लेता। मेरा ज्ञान स्वयंमेव हो जाता है, केवलज्ञान।

ज्ञाता ! ज्ञेय में दोष देने की आदत छोड़िये। किसी भी मोदक ने तुझे बुलाया नहीं। लड्डू ने कब कहा या श्रीफल चढ़ाया कि आओ, मुझे खा जाओ ? अपने उपादान को क्यों नहीं दोष देता है कि तू ही गया, तूने ही खाया, अब पेट दर्द कर रहा है तो तू ही भोग। परन्तु पर-ज्ञेयों से छूटने में पुरुषार्थ चाहिए, शुष्क हृदय चाहिए, सूखा हृदय। कुछ विषय ऐसे आते हैं कि मैं आपको शब्दों में बता नहीं सकता हूँ। जो मैं 'शुष्क' शब्द पर जोर दे रहा हूँ, वह अन्दर की अनुभूति बोल रही है। 'शुष्क हृदय चाहिए', यहाँ पर प्रेम, वात्सल्य पर नहीं जाना। यह सब राग की दशा है। ज्ञायकभाव तो वीतरागभाव मात्र है। जाननभाव भी रागभाव है, ज्ञायकभाव शुद्धशुष्क चिदानन्द भाव है। जाननभाव रागभाव है कि मैं जानूँ इस समयसार में क्या लिखा है? समयसार स्वभाव नहीं है, तू समयसार को जानने का रागी है। बहुत सारा विषय मेरे मस्तिष्क में आता है, हृदय में आता है, मैं आपको बताता नहीं हूँ। यदि बता दूँगा तो आप यही कहोगे कि महाराज ! लोक में बैठे क्यों हो ?

एक विद्वान् ने कहा- महाराज श्री ! आप समयसार की बात करो। तो समयसार की जैसे ही बात की, उसी समय वह विद्वान् हाथ जोड़ता है 'महाराज ! व्यवहार का लोप हो जायेगा।' इतनी जल्दी घबड़ा गया। अरे ! व्यवहार का लोप होता ही नहीं है, निश्चय की प्राप्ति होती है। यदि मंजिल की प्रथम सीढ़ी पर पैर रखा है, तो सीढ़ी का लोप नहीं हो गया, तेरे लिए अगली सीढ़ी बन गई है। अभी समझ नहीं रहे निश्चय व व्यवहार वाले। निश्चय की चर्चा से व्यवहार का लोप होने लग गया, तो सत्ता का विनाश हो जायेगा। निश्चय की भाषा से व्यवहार का लोप नहीं होता है। निश्चय की भाषा से व्यवहार का जो सारभूत है, उसकी प्राप्ति होती है। क्या करूँ ? जितने वक्ता हैं, वक्तृत्व की गहराई में जाये बिना बोलकर आ जाते हैं और लोगों को भ्रमित कर देते हैं। एक कहता है कि व्यवहार की बात हो रही है, वहाँ पर नहीं जाना, अन्यथा निश्चय धर्म का लोप हो जायेगा। दूसरा कहता है कि निश्चय की बात हो रही, वहाँ मत जाना, अन्यथा व्यवहार धर्म का लोप हो जायेगा। हे ज्ञानी आत्माओ ! अभी तुमने वस्तुस्वरूप को नहीं जाना है। जो जीव है, तुम हजार आदमी को लेकर उसे जड़ कहने लग जाओ, पूरा सिद्धांत ही बना दो कि अमुक पुरुष जड़ है लेकिन कागज भर जायेंगे, ग्रन्थ लिख जायेंगे, पर विश्वास रखना, उसे तुम जड़ नहीं बना पाओगे, तुम्हारी दृष्टि जड़ में जड़ जायेगी। वह तो जैसा है, वैसा ही होता है। मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व सिद्धांत से वस्तु मिथ्या नहीं होती है। तेरा भाव मिथ्या होता है। वस्तु तो जैसी होती है, वैसी होती है। कष्टरवादी होना पड़ेगा। सिद्धांत में कष्टरता ही होती

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने अभूतपूर्व सूत्र प्रदान किये। कालियानाग यदि फुँफकार भी मारेगा, डसेगा भी तो पर्याय मात्र पर ही प्रभाव डालेगा। पर विकारीभाव पर्याय को नहीं डसता, परिणामों को डसता है। विकारीभाव जिनसे परिणामों का घात होता है, वह परम संसार का कारण है। स्वानुभव से निहारना। जब-जब आपके मन में अशुभ परिणाम आते हैं, तब-तब उन अशुभ भावों के काल में वेदन करो, कि आपकी अनुभूति कैसी होती है? जगत की आनंदकारी सम्पूर्ण द्रव्य सामने होती हैं, यहाँ तक कि जो जिनेन्द्र की प्रतिमा आपको सुखानुभूति दे रही थी, वह प्रतिमा भी वहाँ रहती है। लेकिन प्रतिमावान प्रीति रूप नहीं है, तो वह प्रतिमा क्या करेगी? निहारो एक चकवी को चकवा का विरह जितनी पीडा देता है, विश्वास रखना, शुभभावों का विरह ज्ञानी को उतनी ही पीडा देता है। बल्कि यूँ कहना चाहिए कि वह जो विरह था, उसकी पीडा तो दुनियाँ जानती है, पीडा कहती है, पर विश्वास रखना, संयोग की जो पीडा है, उससे बड़ी जगत में कोई पीडा नहीं है। विरह की पीडा दुःखरूप महसूस होती है, सहयोग की पीडा सुख रूप महसूस होती है। दोनों ही पीडायें बन्ध के ही कारण हैं। विरहकाल में हो सकता है, साम्यभाव आये, विरहकाल में भगवत्ता का भान होता है, विरहकाल में भगवान् का नाम तो याद रहता है। संयोग के काल में भगवान् का नाम भी पलायमान हो जाता है। इसलिए बंध का कारण विरहकाल इतना नहीं है जितना संयोग है। एकत्व-विभक्तत्व भाव को विरह शब्द से जोडिये। एकत्वविभक्तत्वभाव आत्मा का स्वभाव है, पृथक्त्वभाव है। संयोगभाव किंचित भी आत्मा का स्वभाव नहीं है।

यह श्रुतज्ञान की धारा है। श्रुतज्ञान भगवान् बनाता है। मनःपर्यय ज्ञान भगवान् कभी बनाता नहीं। जब भी भगवान् बनोगे, तो श्रुतज्ञान की गहराई से ही बनोगे। कैवल्य का जनक तो श्रुतज्ञान है। जो स्वानुभूति है, शुद्धोपयोग की धारा है, वह तो योगी के अनुभव का विषय है, और जो ध्यान का विषय है, वह सब श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान जो स्मृति में है, वही तेरे संसार और मोक्ष का साधन है, श्रुत जहाँ शुभ है, मोक्ष का साधन है। श्रुत जहाँ अशुभ है, बंध का साधन है। स्मृतियाँ जो हैं, वस्तु नहीं है, स्मृतियाँ तुझे सता रही हैं। अरसी साल के उस वृद्ध व्यक्ति से पूछो, वस्तु नहीं है उसके सामने, व्यक्ति भी नहीं रहा उसके सामने, पर स्मृतियाँ सता रही हैं। ये स्मृतियाँ यदि सम्यक्त्व हो जायें, तो तू भगवत्ता को प्राप्त कर लें। ध्यान करने बैठा, नेत्र बन्द थे, दर्शक निहार रहे थे, वे देखकर निर्वन्ध हो रहे थे, पर आँख बन्द किये तू बन्ध कर रहा था। क्षेत्र तीर्थ था, वस्तु अर्हन्त की प्रतिमा थी, व्यक्ति निर्ग्रन्थ मुनि थे, फिर भी उस भूमि पर बैठकर भी स्मृतियाँ तेरी अशुभ थी। न तीर्थ तुझे तीर्थकर बना पायेगा, न वस्तु तुझे भगवान् बना पायेगी, न व्यक्ति तुझे परमेश्वर बना पायेगा। यदि स्मृतियाँ निर्मल नहीं हैं तो, हे ज्ञानी! कहीं भी पहुँच जाना, परन्तु सभी जगह बन्ध-ही-बन्ध होगा। और स्मृतियाँ निर्मल हैं, तो श्मशान घाट पर भी भगवान् बनता है। स्मृतियाँ शुभ नहीं हैं, तो कंचन के महलों में भी बन्ध होता है, निर्वन्ध नहीं होता। बन्ध दिखे या न दिखे, निर्वन्ध दिखे या न दिखे, पर भाव दिखते हैं। अशुभ भावों के होत-होते किंचित भी स्मृति शुभ में चली गई, तभी सोचना, अहो-अहो हमने कितना अशुभ सोच लिया।

प्रभु की आराधना में थकान आना शुरू हो रही है, जिनवाणी पढते-पढते सो जाता है। पर, अहो! सुख में ही तो नींद आती है, ये जिनवचन सुख में थे, इनमें नींद तुरन्त आ गई थी। पर अशुभ क्रिया में रत था, तो सो भी नहीं सका, और शुभ भी नहीं कर सकता, कुश्रुतज्ञान है।

नौवीं, दसवीं गाथा 'समयसार' जी की चल रही है। क्या कह रहे हैं भगवान् कुन्द-कुन्द स्वामी,

यहाँ ? वह दिन कब आये, वह श्रुत कब आये, जब एक बार शुद्ध अपनी श्रुति को ही जाने। पर का द्रव्य तेरे हाथ में आते ही तू राग को प्राप्त हो गया। यह पैसा तेरा है फिर कहा जाये कि पैसा खर्च करो, तो मौका देखता है दूसरे का ...। जब तेरे हाथ में कुछ भी नहीं था, तब कोई विकार नहीं था। हाथ में आते ही जेब में रखे थे तन के प्रयोग के लिए। धन का प्रयोग पर का पसंद करता है और अपने धन की सुरक्षा के लिए राग रखता है। परन्तु जो श्रुतज्ञान तुझे मिला है, वह पर-भोगों के लिए खर्च करता है, निज के प्रयोग के लिए खर्च करता है। जो श्रुत का प्रयोग विषय कषायों में करते हैं, वे मृत्यु के काल में बुद्धि विहीन हो जाते हैं। स्मृतियाँ रहे कैसे ? मृत्यु के समय में उनकी ही बुद्धि अच्छी रहती है, जिन्होंने जीवन को विशुद्धभावों से जीया। आज का ज्ञान काम नहीं आयेगा, अन्तिम समय में श्रुतज्ञान चाहिए। आप सभी में कुछ ऐसे होते हैं जो अपने बेटे से छुपाकर रखते होंगे बुद्धापे के लिए, क्योंकि किसी ने नहीं दिया अंतिम समय में, तो वह अपने पास रहेगा। ऐसे ही श्रुत ज्ञान को छिपा कर रखिए, अन्तिम समय में कोई सुनाने वाला मिला या न मिला, तो मृत्यु के काल में तेरा श्रुत ज्ञान तुझे सुना देगा, तो तू ही तेरा क्षपक होगा, तू ही निर्यापकाचार्य होगा। यह पूँजी आप समझ नहीं रहे, मैं आपको क्या बता रहा हूँ। स्वयं की पूँजी न होती न तो सुनाने वाले आते न तो समझ में आता। इसलिए अधिक लम्बा समय श्रुत का ही हो, इसको आप परभावों में नहीं लगा देना।

### ‘आत्मस्वभावं परभाव भिन्न’

ज्ञानी ! तेरी आत्मा का जो स्वभाव है, परभावों से भिन्न है। यही आचार्य भगवान् अमृतचन्द्रस्वामी अपनी ‘आत्मख्याति’ टीका में कह रहे हैं। वे निश्चय श्रुतकेवली क्या हैं? मुझे ज्ञान है श्रुत का ऐसे श्रुत के विकल्पों से भी निर्विकल्प हैं, वे हैं परम निश्चय श्रुतकेवली। ध्यान दो श्रुत का विकल्प भी कभी-कभी आपको श्रुत से अलग कर देता है। ‘मैं ज्ञाता हूँ’ यह शब्द तेरे में गूँज रहा था और ज्ञायकभाव भूल रहा था। जब तू ‘मैं ज्ञाता हूँ’ कह रहा था, तब पर को अज्ञातभाव से निहार रहा था। तेरे निज के ज्ञातभाव में पर का अज्ञातभाव छिपा था। जब तू दोनों शब्दों को बोल रहा था, उस समय तेरी आत्मा का उपयोग कहाँ था ?

दिगम्बर श्रमण संस्कृति में साधुओं के लिए निर्वस्त्र क्यों बनाया ? श्रृंगारशून्य, सबसे भिन्न क्यों ? क्या था तेरे पास ? सुनो, श्रुत था तेरे पास। कपडे धोने में श्रुत का प्रयोग होता है कि नहीं ? ज्ञान का प्रयोग होता है कि नहीं ? होता है। इतना कीमती द्रव्य धोबीपने में दे रहा था, चक्षुइन्द्रिया वरणकर्म का उपयोग हो रहा था, कि नहीं ? हो रहा था। पुण्य का नाश भी हो रहा था। बुद्धिपूर्वक, निर्बुद्धिपूर्वक हो रहा था और आयु कर्म को भी नष्ट कर रहा था। इसलिए दिगम्बर साधु बनाया।

अभी चित्त कहाँ विराजा है ? मैं क्यों प्रश्न कर रहा हूँ ? इसलिए कि चित्त को चित्त में रखा जाता है। श्रुत का प्रयोग श्रुत में। श्रुत से श्रुत विशाल होता है। दुग्ध से दुग्ध बढ़ता है। जो योगी अपने ज्ञान को अपने ही ज्ञान में लगाता है, वह परमानन्द का कारण बनता है। साधु बनने का सार बस इतना है। अपने ज्ञान को अपने ज्ञान में लगा देने का नाम साधु है, वही योगी है। योगी गंभीर होता है। योग यानी जोड़। जो निज के ज्ञान को निज में ही जोड़ देता है, वह परम योगी होता है, वे परम योगी जंगलों में निवास करते थे। अपने द्रव्य को अपने द्रव्य में संभाल लेना योगी है। ताकत की गोलियाँ किसको खानी पड़ती हैं ? ताकत की गोली किसी को खानी पड़ जाये जो अनंत शक्तिमान हो तो धर्म विरुद्ध है। ताकत की गोली वे ही खाये, जो निज की ताकत को बाहर ले जाये। विश्वास रखो, निज की शक्ति को निज में ही संचित कर लेना, तो ताकत की गोली खाने की आवश्यकता ही नहीं है। श्रुत को श्रुत में लगाना।

स्लेट पर 'जीव' लिख देने से जीव नहीं हो जाता, ऐसे ही आत्मानुभूति लिखने से, आत्मानुभूति नहीं होती है। आत्मानुभूति चित्त में होती है। चित्त है, तो विजय है। जो श्रुत से केवल श्रुतात्मा को जानता है, वही श्रुतकेवली है। निश्चय से जो सम्पूर्ण श्रुत को जानता है, वह व्यवहार से श्रुतकेवली है। वह ज्ञान को युगपत् जानता है। आत्मा क्या है ? अनात्मा क्या है ? जितना आवश्यक आत्मा को जानना है, उतना ही आवश्यक अनात्मा को जानना है। अनात्मा को नहीं जानोगे तो आत्मा को जानोगे कैसे ? जो आत्म-अनात्म का भेद नहीं करना जानता है, वह तत्त्वज्ञान से शून्य है। भेद करना जानना तो बहुत आवश्यक है। भेद के बिना कुछ नहीं होता। आप भेद करना जानते हो। कितना जानते हो ? भैयों में भेद कर डाला। परिवार व समाज में भेद करना जानता है। तू भेद करना नहीं जानता होता तो तेरा पेट नहीं भर सकता, तू जी नहीं सकता। एक थाली में कंकण परोसना, एक में भोजन। किस थाली से भोजन करोगे ? हे ज्ञानी ! जैसे कंकणों की थाली को छोड़ देता है, ऐसे ही विषयों के कंकण को क्यों नहीं छोड़ रहा है ? आत्मा का स्वभाव एकत्व ही नहीं है, आत्मा का स्वभाव एकत्व-विभक्तभाव है। निज गुणों में एकत्वभाव करो, और पर गुणों में विभक्त भाव करो।

एकत्व-विभक्तभाव का प्रयोग अध्यात्म में ही नहीं, आपके घर में भी होता है। जनक-जननी से विभक्त हो गया और नारी से एकत्व हो गया ऐसा लगाते हो। जनक-जननी (का संसार में जन्म देना), उनसे विभक्त होना चाहिए और निज शुद्धात्म रमणी है, उसमें एकत्व होना चाहिए। तू एकत्व विभक्तत्व को संसार में ले गया। जनक-जननी कर्म है। द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म इन कर्मों से विभक्त भाव रखना चाहिए था और निज शुद्धात्म रमणी में एकत्वभाव होना चाहिए था।

इस ग्रन्थ पर प्रश्न लिखे जायें, तो कई हजार प्रश्न लिखे जायेंगे। इस ग्रन्थ में अर्थशास्त्र भी है, न्यायशास्त्र भी है, और लोक में जितनी व्यवस्थाएँ हैं, सम्पूर्ण व्यवस्थाएँ इसमें हैं, और शुद्धात्मा का कथन इसमें है। इसलिए आत्मा-अनात्मा जो कह रहा है वह आत्मा है। जिसके माध्यम से कहा जा रहा है, वह अनात्मा है। मैं बोल रहा हूँ, यह जीव द्रव्य है। ओष्ठ, कण्ठ, तालू इनके सहयोग से बोल रहा हूँ, वह अनात्मा है। देह अनात्मा है, चेतन आत्मा है। जो जगत में झलक रहा है, वह अनात्मा है।

## ॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

१ १ १

आचार्य भगवान् कुंद-कुंद स्वामी ने समयसार प्राभृत में अध्यात्म के सूत्र प्रदान किये। हे मनीषियो ! यह ध्रुव आत्मा परिपूर्ण है। कर्ममल से शून्य है कर्ममल का संयोग है, इस जीव के साथ। भावकर्म साधन है, भावकर्म शान्त हो जाये, तो द्रव्यकर्म का आना समाप्त हो जाये। वह भावकर्म पराधीन नहीं है, वह स्वाधीन है। जीव चाहें तो अपने परिणामों को निर्मल भी कर सकते हैं, चाहे तो अशुद्ध परिणामों में आनंद भी ले सकते हैं। परिणामों के आनंद लिये बिना विषयों में प्रवृत्ति होती नहीं। विषयों में प्रवृत्ति हो रही है, परिणाम आनंदित हो रहे हैं, इसलिए आपका गमन हो रहा है। यहाँ पर को दोष देना नहीं। पर को नहीं, स्वयं को निहारने का विषय है। स्वयं की रुचि न हो, ज्ञानी ! प्रवृत्ति होती नहीं। भावकर्म का ज्ञान सबको है। छोटा-सा बालक भी भावकर्म को जानता है। एक चीटी भी पानी को देखकर मुड़ जाती है। पानी पीना होता है तो, किनारे से पी लेती है। उसे भी आत्मरक्षा का भान है। ऐसे ही जो परभावों में परिणति जा रही है, यह परभावों के कारण जा रही है, कि तेरे निज विभाव के कारण जा रही है ? जिसे आप सहज प्रवृत्ति कह रहे हो, वह कषाय की वासना की प्रवृत्ति चल रही है। यह निद्रा है उसका सुख कौन ले रहा है ? आत्मा ले रही है। निद्रा

के काल में जो आपने रसगुल्ले खाये थे, सोते-सोते उसका स्वाद लेते हो, और जागृत में स्वाद लेते हो, दोनों का स्वाद एक सा आता है, कि अलग-अलग आता है ? एक सा ही है। अशुभ प्रवृत्ति जैसी जागृत में करता है, वैसी ही अनुभूति स्वप्न में भी आत्मा में आती है, वह वेदन कौन कर रहा था ? आत्मा कर रही थी। अहो! आत्मा की यह विभावदशा है। कर्म का बन्ध तेरे में है, कर्म का वेदन तेरे में है, कर्म की वेदना भी तेरे में है। जहाँ कर्म का क्षय होता है, वहाँ स्वप्न भी समाप्त हो जाता है। जब-तक आपके कर्म का सम्बन्ध है, तब तक स्वप्न का सम्बन्ध है। कर्म के सम्बन्ध का नाश हुआ, तो स्वप्न का भी अभाव हुआ। इसलिए यथार्थ मानकर चलना, चाहे शुभ स्वप्न हो, चाहे अशुभ स्वप्न हो, इन सपनों का सम्बन्ध इस जीव से है। पुण्यात्मा जीव को आराधना करने के स्वप्न आते हैं, पापी को विराधना करने के स्वप्न आते हैं।

आचार्य भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं यदि भूतार्थदृष्टि को देखना है। परमार्थ दृष्टि को समझना है, तो द्रव्यकर्मों से अपनी दृष्टि हटा लो, भावकर्मों पर दृष्टि ले जाओ। भाव कर्म अनुभव में आ रहे हैं, भाव आते भी दिखते हैं, भाव जाते भी दिखते हैं। वे आँखों से दिखें, न दिखे आपको भाव भावों से दिखते हैं। जो-जो अशुभ भाव आते हैं, व्यक्ति चाहे तो अशुभभावों को एक क्षण में बदल सकता है। जैसे कि कोई प्रश्न करे, परन्तु आप प्रश्न का उत्तर न दें, तो उस समय प्रश्न करनेवाले का मुख मुरझा जाता है, फीका पड़ जाता है उसका चेहरा, क्योंकि आपने मुख मोड़ लिया है। ध्यान दो, मन में कुभाव आया, तब आपने उस कुभाव की तरफ मुख किया था, तो कुभाव हर्षित हो गया। कुभाव से मुख मोड़ लिया होता, तो कुभाव मुरझा जाता, और स्वभाव में आ जाता।

आप यों कहो, कि होता है। होता नहीं है, आप रस लेते हो। रसानुभूति कैसे आये? तो अशुभ भावों का चिन्तन करता है, जिससे विकार और खड़े हो जायें। अशुभ भावों का चिन्तन करने से शरीर में विकार आते हैं। जो चिन्ता है, वह चिन्तन ही है। अन्तर इतना है, कि उसमें अशुभ कर्म जुड़ा हुआ है तो अशुभ कर्म। अशुभ भावों के आने से शरीर में विकारों का प्रवेश होता है, असंयमभाव होता है, असंयमभाव से कर्मों का बंध होता है और कर्म के बंध से संसार की वृद्धि होती है। यह तुम्हें मालूम है कि नहीं? जिस चिन्तन से अशुभ भावों के विकार आये हैं, वही चिन्तन आप परमात्मा के प्रति कर दो, आत्मा के प्रति कर दो, तो वही चिन्तन कर्मों का अभाव भी करता है। यही ध्यान है। अशुभ चिन्तन में मस्तिष्क भरता है, और शुभ चिन्तन में मस्तिष्क हल्का होता है।

जिनवाणी के चिन्तन करने से कभी सिरदर्द नहीं होता। पर आपकी गृहस्थी का राग तनक-सा आ जाये, तो तनाव कहलाता है, टेन्शन हो गया, मस्तिष्क गर्म होगया, सारी शक्ति समाप्त हो गई, और जिनवाणी का चिन्तन करनेवाला इतना विशुद्ध होता है, कि एक क्षण में सात राजू गमन करता है। यह किसकी महिमा है ? यह शुभचिन्तन की महिमा है। अशुभ चिन्तन आता है, विश्वास रखो, आप सभी अनुभावित है। किंचित भी तनाव बढ़ता है, तो घर में जाकर चारपाई पर लेट जाता है। तन स्वस्थ है, पर मन स्वस्थ नहीं है। मन स्वस्थ नहीं है, इसलिए तन कार्यकारी नहीं हो रहा। उस चिन्तन को अध्यात्म की ओर मोड़ दो।

मन प्रशस्त रहता है न, तो सब काम अच्छे होते हैं। मन प्रशस्त नहीं है, तो कोई भी काम अच्छा नहीं होता। जैसे आप वस्त्र, शरीर आदि को स्वच्छ रखना पसन्द करते हो न, उससे ज्यादा स्वच्छ रखना चाहिए मन को। मन स्वच्छ रहे वाह तो वस्त्र आदि स्वच्छ न भी हों। दिगम्बर मुनि से तो पूछो, जिनका मल भी आभूषण है। मन इनका स्वच्छ है, इसलिए परमेष्ठी पद में आते हैं। मल परीषह है। उस पर दृष्टि नहीं है। तन



भले स्वच्छ न दिखता हो, पर मन स्वच्छ है। तन की स्वच्छता से मोक्ष नहीं मिलता। तन को कितना भी स्वच्छ करो, पोंछो परन्तु मोक्ष तो मन के स्वच्छ होने पर ही मिलेगा। अशुचिभावना पर दृष्टि करो।

यहाँ आचार्य जयसेन स्वामी कह रहे हैं समयसार की नौवीं, दसवीं गाथा की टीका में। वे परमश्रुत केवली जो श्रुत में केलि कर रहे थे। सत्य बताना, जीवन के क्षण कहाँ जाते हैं? एक तो वैसे ही आपको व्यापार से समय नहीं मिलता, कदाचित् मिल भी जाये, तो कुश्रुति में जाता है। न तुझे जीतना है, न मुझे हारना है। पर तूने 'कौन हारा, कौन जीता' में जीवन बर्बाद कर दिया। राष्ट्रकथा में जीवन जा रहा, कुश्रुति चल रही है। मालूम चला, तू तो पिच्छि कमण्डलु को स्वीकार किये था, जिनमुद्रा में लवलीन था, तू तो निज आत्मप्रदेश का सम्राट था। तू तो अपने राज्य का राज्य कर ही रहा था, फिर क्यों पर की पार्टी के कारण अपना स्वराज्य खो रहा है? राष्ट्र कथा से मिलेगा क्या?

हे ज्ञानियो! निर्ग्रन्थों की समाचार विधि 'मूलाचार' में लिखी है। वे समाचारी हैं। उनके लिये बाहर का समाचार कुकथा ही है, बन्ध का ही कारण है, प्रमाद है। राष्ट्रकथा से निज की रक्षा करना। चोर कथा, किसने चुराया, किसने हरण किया, कैसे हरण किया? देखो, कितना तन्मय हो रहा है? स्त्रीकथा, स्त्रियों की रागभरी कथा में लवलीन है। और सबसे बड़ी कथा यह कि पेट भरा हो, फिर भी भोजनकथा चलती है। सर्वाधिक कथा भोजन की चलती है। सुबह के भोजन के बर्तन साफ नहीं हुए, कि शाम की चिन्ता शुरू हो जाती है। प्रातः का तो साफ नहीं हुआ, पेट भरा है, और शाम को भरने की चिन्ता शुरू हो गई। यथार्थ मानिये, व्यर्थ के आस्रव से तो हम बच सकते हैं।

चन्दन का वृक्ष जैसा होता है, वैसा ही मुनि का भेष होता है। चन्दन के वृक्ष की ऊपरी छाल काली है, भीतर सुगन्ध न्यारी है। ऊपर से योगीश्वर मल से आच्छादित दिखते हैं, भीतर में स्वानुभव की तरंग न्यारी होती है। जैसे ही चन्दन के वृक्ष की छाल निकलती है, तो बाहर सुगन्ध फैला देता है, उसी प्रकार उन योगीश्वर के पास जो आता है, वह भी सुगन्ध लेकर चला जाता है। हे ज्ञानी! चन्दन का वृक्ष तो एकेन्द्रिय है, कर्मफल-चेतना का भोक्ता है, पर ये यतीश्वर ज्ञानचेतना के फल को भोग रहे हैं। शुद्ध ज्ञानचेतना का कोई भोक्ता है, तो अशरीरी सिद्ध परमात्मा हैं। तू शुद्ध ज्ञानचेतना का वेदक हो या न हो, पर ज्ञानचेतना का भोग तो कर ही सकता है। अनुभूति से, अनुभव से निहारो, जिसे कुन्दकुन्द देव ने उद्घाटित किया है। जो लिखा है वह जब इतना सुन्दर है, तो लखा कितना सुन्दर होगा? लख-लख कर लिखा है, इसलिए सुन्दर है।

सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्सहित है, वह ज्ञानी है। शुद्ध ज्ञानचेतना तो केवल ज्ञान है। उस केवल ज्ञान की अनुभूति लेना चाहते हो, तो निज के ज्ञान से निज के ज्ञान का वेदन करो। असंभव नहीं समझना, पर ध्रुव सत्य बताऊँ, समय देना पड़ता है। यहाँ पर आप सबके प्रश्न समाप्त हो जाते हैं। समय देना पड़ता है, परन्तु आप तत्त्व को समय नहीं देना चाहते, कुकर में डाले गये चावल को समय देना चाहते हो। सीटी बजने का इंतजार करते हो, उतना समय देते हो। ऐसे ही अपनी आत्मा में चारित्र को डाल दीजिए, फिर उसे समय दो, चिन्तन का। आप जिनालय आते हो तो परम्परागत नौ बार णमोकार पढ़ लेते हो। पूजन भी परम्परागत कर लेते हो, पर पाँच मिनट बैठकर निज के लिए समय कहाँ देते हो? घर से आये थे जिनालय में, पहले से भरके आये थे। किस बात से भरे थे? पूजन करना है। मन्दिर में पूजा कर रहा हूँ, इससे भरे रहे। इसका मतलब यह नहीं कि आप पूजन छोड़ दो। उसे छोड़ना नहीं है, उसे करना है। शुभ काम कर रहे हो। पर ध्यान दो, भरे ही नहीं आना, खाली आकर अपने लिए समय निकालना।

आचार्य भगवान् कुन्द-कुन्द स्वामी ने समयसार प्राभृत में अध्यात्म के सूत्र प्रदान किये। हे मनीषियो ! यह ध्रुव आत्मा परिपूर्ण है। कर्ममल से शून्य है कर्ममल का संयोग है, इस जीव के साथ। भावकर्म साधन है, भावकर्म शान्त हो जाये, तो द्रव्यकर्म का आना समाप्त हो जाये। वह भावकर्म पराधीन नहीं है, वह स्वाधीन है। जीव चाहें तो अपने परिणामों को निर्मल भी कर सकते हैं, चाहे तो अशुद्ध परिणामों में आनंद भी ले सकते हैं। परिणामों के आनंद लिये बिना विषयों में प्रवृत्ति होती नहीं। विषयों में प्रवृत्ति हो रही है, परिणाम आनंदित हो रहे हैं, इसलिए आपका गमन हो रहा है। यहाँ पर को दोष देना नहीं। पर को नहीं, स्वयं को निहारने का विषय है। स्वयं की रुचि न हो, ज्ञानी ! प्रवृत्ति होती नहीं। भावकर्म का ज्ञान सबको है। छोटा-सा बालक भी भावकर्म को जानता है। एक चीटी भी पानी को देखकर मुड़ जाती है। पानी पीना होता है तो, किनारे से पी लेती है। उसे भी आत्मरक्षा का भान है। ऐसे ही जो परभावों में परिणति जा रही है, यह परभावों के कारण जा रही है, कि तेरे निज विभाव के कारण जा रही है ? जिसे आप सहज प्रवृत्ति कह रहे हो, वह कषाय की वासना की प्रवृत्ति चल रही है। यह निद्रा है उसका सुख कौन ले रहा है ? आत्मा ले रही है। निद्रा के काल में जो आपने रसगुल्ले खाये थे, सोते-सोते उसका स्वाद लेते हो, और जागृत में स्वाद लेते हो, दोनों का स्वाद एक सा आता है, कि अलग-अलग आता है ? एक सा ही है। अशुभ प्रवृत्ति जैसी जागृत में करता है, वैसी ही अनुभूति स्वप्न में भी आत्मा में आती है, वह वेदन कौन कर रहा था ? आत्मा कर रही थी। अहो! आत्मा की यह विभावदशा है। कर्म का बन्ध तेरे में है, कर्म का वेदन तेरे में है, कर्म की वेदना भी तेरे में है। जहाँ कर्म का क्षय होता है, वहाँ स्वप्न भी समाप्त हो जाता है। जब-तक आपके कर्म का सम्बन्ध है, तब तक स्वप्न का सम्बन्ध है। कर्म के सम्बन्ध का नाश हुआ, तो स्वप्न का भी अभाव हुआ। इसलिए यथार्थ मानकर चलना, चाहे शुभ स्वप्न हो, चाहे अशुभ स्वप्न हो, इन सपनों का सम्बन्ध इस जीव से है। पुण्यात्मा जीव को आराधना करने के स्वप्न आते हैं, पापी को विराधना करने के स्वप्न आते हैं।

आचार्य भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं यदि भूतार्थदृष्टि को देखना है। परमार्थ दृष्टि को समझना है, तो द्रव्यकर्मों से अपनी दृष्टि हटा लो, भावकर्मों पर दृष्टि ले जाओ। भाव कर्म अनुभव में आ रहे हैं, भाव आते भी दिखते हैं, भाव जाते भी दिखते हैं। वे आँखों से दिखें, न दिखे आपको भाव भावों से दिखते हैं। जो-जो अशुभ भाव आते हैं, व्यक्ति चाहे तो अशुभभावों को एक क्षण में बदल सकता है। जैसे कि कोई प्रश्न करे, परन्तु आप प्रश्न का उत्तर न दें, तो उस समय प्रश्न करनेवाले का मुख मुरझा जाता है, फीका पड़ जाता है उसका चेहरा, क्योंकि आपने मुख मोड़ लिया है। ध्यान दो, मन में कुभाव आया, तब आपने उस कुभाव की तरफ मुख किया था, तो कुभाव हर्षित हो गया। कुभाव से मुख मोड़ लिया होता, तो कुभाव मुरझा जाता, और स्वभाव में आ जाता।

आप यों कहो, कि होता है। होता नहीं है, आप रस लेते हो। रसानुभूति कैसे आये? तो अशुभ भावों का चिन्तन करता है, जिससे विकार और खड़े हो जायें। अशुभ भावों का चिन्तन करने से शरीर में विकार आते हैं। जो चिन्ता है, वह चिन्तन ही है। अन्तर इतना है, कि उसमें अशुभ कर्म जुड़ा हुआ है तो अशुभ कर्म। अशुभ भावों के आने से शरीर में विकारों का प्रवेश होता है, असंयमभाव होता है, असंयमभाव से कर्मों का बंध होता है और कर्म के बंध से संसार की वृद्धि होती है। यह तुम्हें मालूम है कि नहीं? जिस चिन्तन से अशुभ भावों के विकार आये हैं, वही चिन्तन आप परमात्मा के प्रति कर दो, आत्मा के प्रति कर दो, तो वही चिन्तन कर्मों का अभाव भी करता है। यही ध्यान है। अशुभ चिन्तन में मस्तिष्क भरता है, और शुभ चिन्तन

में मस्तिष्क हल्का होता है।

जिनवाणी के चिन्तन करने से कभी सिरदर्द नहीं होता। पर आपकी गृहस्थी का राग तनक-सा आ जाये, तो तनाव कहलाता है, टेन्शन हो गया, मस्तिष्क गर्म होगया, सारी शक्ति समाप्त हो गई, और जिनवाणी का चिन्तन करनेवाला इतना विशुद्ध होता है, कि एक क्षण में सात राजू गमन करता है। यह किसकी महिमा है? यह शुभचिन्तन की महिमा है। अशुभ चिन्तन आता है, विश्वास रखो, आप सभी अनुभावित है। किंचित भी तनाव बढ़ता है, तो घर में जाकर चारपाई पर लेट जाता है। तन स्वरथ है, पर मन स्वरथ नहीं है। मन स्वरथ नहीं है, इसलिए तन कार्यकारी नहीं हो रहा। उस चिन्तन को अध्यात्म की ओर मोड़ दो।

मन प्रशस्त रहता है न, तो सब काम अच्छे होते हैं। मन प्रशस्त नहीं है, तो कोई भी काम अच्छा नहीं होता। जैसे आप वस्त्र, शरीर आदि को स्वच्छ रखना पसन्द करते हो न, उससे ज्यादा स्वच्छ रखना चाहिए मन को। मन स्वच्छ रहे वाह तो वस्त्र आदि स्वच्छ न भी हों। दिगम्बर मुनि से तो पूछो, जिनका मल भी आभूषण है। मन इनका स्वच्छ है, इसलिए परमेष्ठी पद में आते है। मल परीषह है। उस पर दृष्टि नहीं है। तन भले स्वच्छ न दिखता हो, पर मन स्वच्छ है। तन की स्वच्छता से मोक्ष नहीं मिलता। तन को कितना भी स्वच्छ करो, पोंछो परन्तु मोक्ष तो मन के स्वच्छ होने पर ही मिलेगा। अशुचिभावना पर दृष्टि करो।

यहाँ आचार्य जयसेन स्वामी कह रहे हैं समयसार की नौवीं, दसवीं गाथा की टीका में। वे परमश्रुत केवली जो श्रुत में केलि कर रहे थे। सत्य बताना, जीवन के क्षण कहाँ जाते हैं? एक तो वैसे ही आपको व्यापार से समय नहीं मिलता, कदाचित् मिल भी जाये, तो कुश्रुति में जाता है। न तुझे जीतना है, न मुझे हारना है। पर तूने 'कौन हारा, कौन जीता' में जीवन बर्बाद कर दिया। राष्ट्रकथा में जीवन जा रहा, कुश्रुति चल रही है। मालूम चला, तू तो पिच्छे कमण्डलु को स्वीकार किये था, जिनमुद्रा में लवलीन था, तू तो निज आत्मप्रदेश का सम्राट था। तू तो अपने राज्य का राज्य कर ही रहा था, फिर क्यों पर की पार्टी के कारण अपना स्वराज्य खो रहा है? राष्ट्र कथा से मिलेगा क्या?

हे ज्ञानियो! निर्ग्रन्थों की समाचार विधि 'मूलाचार' में लिखी है। वे समाचारी हैं। उनके लिये बाहर का समाचार कुकथा ही है, बन्ध का ही कारण है, प्रमाद है। राष्ट्रकथा से निज की रक्षा करना। चोर कथा, किसने चुराया, किसने हरण किया, कैसे हरण किया? देखो, कितना तन्मय हो रहा है? स्त्रीकथा, स्त्रियों की रागभरी कथा में लवलीन है। और सबसे बड़ी कथा यह कि पेट भरा हो, फिर भी भोजनकथा चलती है। सर्वाधिक कथा भोजन की चलती है। सुबह के भोजन के बर्तन साफ नहीं हुए, कि शाम की चिन्ता शुरु हो जाती है। प्रातः का तो साफ नहीं हुआ, पेट भरा है, और शाम को भरने की चिन्ता शुरु हो गई। यथार्थ मानिये, व्यर्थ के आस्रव से तो हम बच सकते हैं।

चन्दन का वृक्ष जैसा होता है, वैसा ही मुनि का भेष होता है। चन्दन के वृक्ष की ऊपरी छाल काली है, भीतर सुगन्ध न्यारी है। ऊपर से योगीश्वर मल से आच्छादित दिखते हैं, भीतर में स्वानुभव की तरंग न्यारी होती है। जैसे ही चन्दन के वृक्ष की छाल निकलती है, तो बाहर सुगन्ध फैला देता है, उसी प्रकार उन योगीश्वर के पास जो आता है, वह भी सुगन्ध लेकर चला जाता है। हे ज्ञानी! चन्दन का वृक्ष तो एकेन्द्रिय है, कर्मफल-चेतना का भोक्ता है, पर ये यतीश्वर ज्ञानचेतना के फल को भोग रहे हैं। शुद्ध ज्ञानचेतना का कोई भोक्ता है, तो अशरीरी सिद्ध परमात्मा हैं। तू शुद्ध ज्ञानचेतना का वेदक हो या न हो, पर ज्ञानचेतना का भोग

तो कर ही सकता है। अनुभूति से, अनुभव से निहारो, जिसे कुन्दकुन्द देव ने उद्घाटित किया है। जो लिखा है वह जब इतना सुन्दर है, तो लखा कितना सुन्दर होगा ? लख-लख कर लिखा है, इसलिए सुन्दर है।

सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्सहित है, वह ज्ञानी है। शुद्ध ज्ञानचेतना तो केवल ज्ञान है। उस केवल ज्ञान की अनुभूति लेना चाहते हो, तो निज के ज्ञान से निज के ज्ञान का वेदन करो। असंभव नहीं समझना, पर ध्रुव सत्य बताऊँ, समय देना पड़ता है। यहाँ पर आप सबके प्रश्न समाप्त हो जाते हैं। समय देना पड़ता है, परन्तु आप तत्त्व को समय नहीं देना चाहते, कुकर में डाले गये चावल को समय देना चाहते हो। सीटी बजने का इंतजार करते हो, उतना समय देते हो। ऐसे ही अपनी आत्मा में चारित्र को डाल दीजिए, फिर उसे समय दो, चिन्तन का। आप जिनालय आते हो तो परम्परागत नौ बार णमोकार पढ़ लेते हो। पूजन भी परम्परागत कर लेते हो, पर पाँच मिनट बैठकर निज के लिए समय कहाँ देते हो ? घर से आये थे जिनालय में, पहले से भरके आये थे। किस बात से भरे थे ? पूजन करना है। मन्दिर में पूजा कर रहा हूँ, इससे भरे रहे। इसका मतलब यह नहीं कि आप पूजन छोड़ दो। उसे छोड़ना नहीं है, उसे करना है। शुभ काम कर रहे हो। पर ध्यान दो, भरे ही नहीं आना, खाली आकर अपने लिए समय निकालना।

आप नौका पर इसलिए बैठे थे कि नदी पार हो जाये, पर आपको नौका इतनी अच्छी लगी, कि आप छोड़ना नहीं चाहते। आप नदी पार करने के लिए बैठे थे, किनारा आये तो नौका छोड़ देना था। ये पूजा-पाठ-जप-तप आदि नौका है स्वसंवेदन के लिये, आत्मा का ध्यान लगाने के लिए, उसी में बैठना नहीं है, आत्मधाम में उतरने को मिली थी। यह नौका धर्म का साधन है, अभी आपको धर्म के पास पहुँचना है। नर्मदा जा रही थी समुद्र की ओर सागर बनने के लिए, आपने बीच में ही बाँध बाँध दिया। वह नदी अब समुद्र तक नहीं जाने पायेगी। उसका पानी खेतों की क्यारियों में जाने लगा हैं।

जो तेरा चित्त महासागर का रूप लेने वाला था, तूने गृहस्थी का बाँध बाँधकर क्यारियों में डालना शुरू कर दिया है। वहीं-का-वहीं समाप्त हो जायेगा। बाँधो मत, बहने दो।

आप पहले पढ़ते थे। कोई डॉक्टर, कोई वकील, इंजीनियर की पढाई मोटी-मोटी पुस्तक से करते थे। आपका क्षयोपशम तीव्र था, तभी आपने यह डिग्री ले पाई। लेकिन आप डिग्री लेने के बाद सन्तुष्ट हो गये तो आपका क्षयोपशम वहीं रुक गया। ज्ञान प्राप्त करने में संतुष्टि नहीं होना चाहिए, अन्यथा क्षयोपशम रुक जाता है। श्रुत का अध्ययन तब-तक करते रहना, जब-तक शिव में न पहुँच जाओ। शिव में पहुँचने के लिए श्रुत ही शुक्लध्यान के लिए आलम्बन बनता है।

जैसा पूर्व में व्यवहार से कहा था, कि परमार्थ से जानना चाहिए, अब उसी के अर्थ को कहते हैं। भावश्रुत और स्वसंवेदन ज्ञान के लिए समय चाहिए।

एक बार क्या हुआ कि एक सज्जन के यहाँ मेहमान आये, उसी समय वहाँ उसे मल दिख गया। उसने सोचा कि यदि मेहमान के सामने हटाते हैं, तो हँसी होगी, उसने उस मल पर फूल डाल दिये, और बदबू न आये, इसलिए एक अगरबत्ती लगा दी। अब यह बताओ कि उस अगरबत्ती ने बदबू को हटा दिया या सुगन्ध के परमाणु बढ़ा दिये ? सुगन्ध ने मल के परमाणु का अभाव नहीं किया, वे तो वहाँ हैं, पर अगरबत्ती के परमाणु तेज थे, उसने सुगन्ध फैला दी, पर दुर्गन्ध का अभाव नहीं हुआ। ध्यान दो, सुगन्ध यहाँ-वहाँ आती दिखेगी, मल के दुर्गन्ध से जो पीडित होने वाले थे आप, वह नष्ट नहीं हुई।

जिनशासन कहता है, कि इन कर्मप्रकृतियों को सुखाना चाहिए। जो अशुभ में आने वाली थी, उन्हें

शुभ में परिवर्तित कर दिया, तो वे शुभ में आने लग गईं, लेकिन राग दोनों में था, भोगना दोनों को पड़ेगा, इसलिए समय पर दोनों को सुखाइए। समय देना पड़ेगा। बिना समय दिये वे सूखने वाली नहीं हैं। कोई भी वेग आ जाये, उसे समय दे दो। गुस्सा आ जाये तो समय दे दो। एक घण्टे बाद कर लेना। इतना समय दे दिया, तो उस गुस्से का समय निकल जायेगा।

आपके कुटुम्बी/परिजन आपको सत्य का ज्ञान नहीं होने दे रहे हैं। ये सब आपके शत्रु हैं। जब ये कषाय में आपसे कहें कि निकल जाओ घर से, उस दिन आपको जो ज्ञान होगा, वह सत्य का होगा। ये प्रेम की राग की स्निग्धता में आपको बाँधे हैं। जिस दिन ये शुष्क हो जायेंगे, उस दिन सत्य का ज्ञान हो जायेगा। वस्तु स्वरूप समझ में आवेगा। बेटा जब चाबी माँगे, तब तुम कहते हो, कि हमने बेटे को जन्म क्यों दिया था? तुमने जन्म नहीं दिया, बेटे ने तो जन्म ले लिया, तुमने तो वासनाओं को जन्म दिया था। उन वासनाओं का फल यह दिख रहा है। समझ में आ रहा है? सबको समझ में आ रहा है? पर समय तो हो गया, अभी समझ में नहीं आ रहा, समझ में बिल्कुल नहीं आ रहा। समयसार के शब्द मेरे मुख से निकले हैं, वह आपको समझ में आ रहे हैं, लेकिन 'समयसार' समझ में कहाँ आ रहा है? समयसार समझ में आ गया होता, तो तू स्वसमय में होता। तू तो निर्ग्रन्थ होता। कौन किसको बनाता है? तू मुझे अपना कर्त्ता क्यों मान रहा है। मैं ही पहुँच गया था। मुझे आचार्य श्री विरागसागर लेने नहीं गये थे।

इस कर्त्तव्य भाव को छोड़ दीजिए कि मुझे बना लो। स्वयं ही बन जाता है। स्वयं ही पकाता है, स्वयं ही खाता है और स्वयं ही स्वाद लेता है, ऐसा भोजन है। इस पुद्गल (शरीर) को मत निहारो। इसके अन्दर बैठी भगवती आत्मा को निहारो।

'असहाय'। जब तक सहाय का भाव है, तब तक बन्ध है। अपने को असहाय बना लो। पर की सहाय को छोड़ दो। हे ज्ञानी! परभावों को जितना तुम दुलार दोगे, कर्म तेरी आत्मा को नहीं छोड़ेंगे।

इस प्रकार निश्चय केवली का इस गाथा में वर्णन हुआ। अब व्यवहार केवली का वर्णन अगली गाथा में करेंगे, पर्याय रही तो।

**॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥**

५ ५ ५

है, सिद्धांत कभी ढीला होता ही नहीं है। जड़ को जड़रूप निहारो, चैतन्य को चैतन्यरूप निहारो, परन्तु जड़ में जड़ मत जाना। चैतन्य को समझने के लिए जड़ को जानो।

विषय को भूलना नहीं, मैं किस पर जोर दे रहा हूँ? शुष्क हो जाइये। शुष्क यानी सूखापन, किंचित भी आर्द्रता नहीं। यदि सोंठ की गाँठ में गीलापन रह जायेगा, तो डिब्बे में भर दो तो सड़ जायेगी, और पूर्ण शुष्क हो जाये तो औषधी बनती है। सोंठ औषधी है, काष्ठ-वनस्पति है। पर गीली है तो अभक्ष्य है। गीली है तो अनंत संसार है, सूख जाये तो परम सिद्धशिला है। राग नीर में किंचित भी गीलापन रह जाये तो आत्मा अनंतकार्यों को धारण करेगा, राग से शुष्क हो जाये तो सिद्धशिला पर ही विराजेगा। ये मित्र, शत्रु, भगिनी, जनक, जननी कुछ नहीं। मैं स्वतंत्र हूँ। मेरी स्वतंत्रता का जनक न हुआ, न होगा। मेरी स्वतंत्रता की जननी आज तक न हुई है, न होगी। जितने जनक-जननी हैं, वे मिश्रधारा कर रहे हैं। स्वतंत्रधारा तो मेरी है। जितने जनकजननी हैं, वे तन को उत्पन्न करने में निमित्त तो हैं, परन्तु चेतन के उत्पन्न करने में निमित्त नहीं बन्ध है। फिर पुरुषार्थ किसलिए कर रहे हो? जब हम द्रव्य को निहारते हैं, पर्यायों को गौण कर देते हैं। आत्मा पर-पर्यायों से भिन्नत्व-भाव से युक्त है। 'आत्मस्वभावं परभाव भिन्नम्' इस सूत्र की व्याख्या के लिए कम-से-कम दस दिन चाहिए। आत्मा परभाव से भिन्न है, निजभाव से अभिन्न है, फिर भी विभावदशा में, परभाव में, लीन है। जो ये कह रहा है कि 'आत्मस्वभावं परभाव भिन्नम्', वह शब्द ही कह रहा है। तू विभाव में बैठा है, इसलिए बोल रहा है। स्वभाव में होता तो कहने की आवश्यकता नहीं थी। वहाँ तो आनंद लूटता।

मैंने प्रश्न किया कि जब सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चरित्र आत्मा में है, आत्मा ही है, तो मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चरित्र किसमें होता है? उसमें आत्मा है क्या?

**परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तन्मय त्ति पण्णत्तं ।**

**तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणोयव्वो ॥८॥ प्र.सा. ॥**

स्फटिक पीली है, सफेद है या कि नीली है? स्फटिक.स्फटिक है। जैसा वर्ण सामने आ जाये, झलकती वैसी है। जब लाल पुष्प आयेगा, तो स्फटिक लाल दिखेगी। जब मिथ्यात्व भाव तेरे अन्दर आयेगा इस आत्मा पर, तो आत्मा मिथ्यात्व रूप ही होगी और जब आत्मा में सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होगा, तो आत्मा सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भूत होवेगी। गाथा तो सही अर्थ कर रही है। समयसार की महान गाथाएँ सामान्य लोगों के द्वारा अर्थ करने योग्य नहीं बची। वे गाथा स्पष्ट कह रही हैं कि जो व्यवहार से सम्पूर्ण श्रुतज्ञान को जानता है, चौदह पूर्व व ग्यारह अंग को जो आत्मा जान रही है, ये आत्मा श्रुतकेवली है। परन्तु जब ये जानेगी, तब वह ज्ञान किसमें होगा? आत्मा में। उस समय आत्मा श्रुतकेवली है। जब तक द्रव्यश्रुत का ज्ञान नहीं है, तब तक आत्मा श्रुतकेवली नहीं है। श्रुतकेवली गृहस्थ नहीं होते हैं। श्रुत हो भी जाये, पर श्रुतकेवली संज्ञा निर्ग्रन्थ मुद्रा धारण किये बिना नहीं है। सर्वार्थसिद्धि का जीव द्वादशांग को जानता है, पर आपने किसी ग्रंथ में नहीं सुना होगा कि सर्वार्थसिद्धि का देव श्रुतकेवली होता है। ध्यान रखना, 'केवली' संज्ञा निर्ग्रन्थ को ही प्रगट होती है, गृहस्थों को नहीं दी जाती। गाथाओं का अर्थ एक से नहीं निकलता। इन दोनों गाथाओं का अर्थ जिसको भी निकालना हो, प्रथम गाथा जो लिखी उस गाथा के संदर्भ में इसका अर्थ निकालो। इसलिए ज्ञान ही आत्मा है, निश्चयनय से निज आत्मा ही श्रुतकेवली है। इस प्रकार समझना।

## ॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

५ ५ ५

तत्त्वज्ञान विश्रुत को श्रुति प्रदान करता है, परभावों से शून्य निजभावों की ओर प्रेरित करता है। जहाँ किंचित भी पर में राग है, वहाँ स्वभाव का भान लेशमात्र भी नहीं है। वीतरागधर्म भिन्न भाव है, शांति का मार्ग है, निज की धारा में निमग्न होने का मार्ग है ये ध्रुव सत्य स्वीकारना। प्रपंचों में वंचना तो है, प्रपंचना की है, पर बचना नहीं है। बचने का मार्ग प्रपंचातीत है, लौकिकता से शून्य है। लोकाचार मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग लोकोत्तराचार मात्र है, क्योंकि शून्य की ओर नहीं जाता है, अशून्य में विराजमान करता है, उसका नाम समयसार है। परभावों से निजभावों को शून्यत्व में ले जायें। परभावों से निजभावों को भिन्न करना, ये परभावों से शून्य दशा है। और निज चैतन्य भाव में लवलीन होना, ये अशून्य दशा है। शून्य का अर्थ जड़त्व नहीं, शून्य का अर्थ चैतन्यसत्ता में लीन हो जाना है। लेकिन जिसने जड़ को ही सर्वस्व मान लिया, उसके पास समय कहाँ है, कि शून्य से अशून्य में लीन हो जावे अहो ! विश्वास मानकर चलना, समय देना पड़ेगा। क्यों, आयु के क्षण कहाँ निकले हैं ? प्रभु के चरणों में भी तो तू बैठा था, पर दृष्टि में निहार रहा था, कि यहाँ से लाभ क्या होने वाला है। हे ज्ञानी ! तू भगवान् की भक्ति का भी आनंद नहीं ले सका। ध्यान देना, भक्त भगवान् के चरणों में भगवान् की भक्ति की इच्छा लेकर आया है, पर भगवान् बनने की भावना कर बैठा, वहीं तूने भगवान् की भक्ति में अन्तराल डाला। क्योंकि एकसाथ दो उपयोग नहीं होते। भक्ति में शून्यवत् होना चाहिए था, तो अशून्य में शून्य चला आता। पर तूने भगवान् के चरणों में आकर व्यापार किया है, कि मुझे मोक्ष मिल जाये। हे ज्ञानी ! मोक्ष तो तुझे ध्रुव करने वाला है, एक क्षण के इस भाव ने भगवान् व तेरे बीच में अंतर किया है। जब मोक्ष की भावना करने से भक्ति में अंतर पड़ गया, तो भगवान् की भक्ति करते जिसकी दृष्टि वित्त (धन) पर चली गई, तो अंतराल ही अंतराल है। यही योग, उपयोग, संयोग की धारा है। योग अर्थात् हाथ जुड़े थे, स्थिर खड़ा था, योग सरल था। संयोग अर्थात् तीर्थकर का पादमूल था। दो तो मिल गये, पर तीसरा मिलना कठिन था। निहारो ! योग सरल था, क्योंकि प्रभु के चरणों में हाथ जोड़े खड़ा था, संयोग अरहंत का था; पर उपयोग में क्या था, ये तो बता। योग सीधा मिल गया, संयोग अच्छा मिल गया पर, हे मुमुक्षु ! उपयोग में धारा आ गई कि मेरी भक्ति को कितने लोग देख रहे हैं। उपयोग कहाँ गया ? एक विद्वान् तत्त्व उपदेश कर रहा है। उसका बचनयोग अच्छा चल रहा है। जिनवाणी का संयोग है, सुननेवाले आनंद लूट रहे हैं। पर उस विद्वान् की दृष्टि में आ रहा है कि यदि अच्छी प्रभावना होगी, तो टीका अच्छा होगा। हे ज्ञानी ! तेरा तत्त्वज्ञान तेरे लिए कार्यकारी नहीं हुआ। योग भी अच्छा हो गया, संयोग भी अच्छा हो गया, पर उपयोग अच्छा नहीं है, तो संयोग क्या करेगा ?

**यस्य मोक्षेऽपि नाकांक्षा, स मोक्षमधि गच्छति ।**

**इत्युक्तत्वाद्विद्वान्वेषी कांक्षां न क्वापि योजयेत् ॥२१॥स्वरूप संबोधना॥**

हे ज्ञानी ! मोक्ष की इच्छा से भी मोक्ष नहीं मिलता, विश्वास रखना। जो मोक्ष की भी इच्छा नहीं रखता, वही मोक्ष को प्राप्त होता है। जब तक मोक्ष की इच्छा रखोगे, तब तक स्वर्ग ही जा पाओगे। जिस दिन मोक्ष की इच्छा समाप्त कर दी, उस दिन सिद्ध बन जाओगे। मोक्ष की इच्छा यानी मोक्ष के प्रति भक्ति, भक्ति यानी राग, राग यानी शुभोपयोग। शुभोपयोग स्वर्ग देगा, शुभोपयोग मोक्ष नहीं दिला पायेगा। इसलिए आपको वस्तुस्वरूप को समझना है। जैसी भूमिका है, वैसी करना; लेकिन स्वरूप को समझकर

चलना। पूजन-भक्ति से स्वर्ग ही मिल पायेगा, मोक्ष नहीं मिलेगा। पूजन-भक्ति का राग भी जिसका समाप्त हो जायेगा, ऐसा वीतरागी निर्ग्रन्थ तपोधन ही मोक्ष को प्राप्त कर पायेगा।

जैनदर्शन बहुत गहरा है। जिसे आपने धर्म माना है, यह छिलके के पास है। दिख रहा है कि जिस पर छिलका है, उसके अन्दर कुछ है। क्या करूँ? गुठलियाँ चढ़ाना जानते हैं न। सत्यार्थ पूछो तो जितने ज्ञानीजीव बैठे हैं, वे सब भगवान् को गुठलियाँ चढ़ाते हैं। फल चढ़ाते हो नहीं, गुठलियाँ चढ़ाते हो। बादाम का फल कब चढ़ाया आपने? ये बादाम का फल नहीं, शुद्ध गुठली है। वस्तुस्वरूप यहाँ समझना है। आप क्या चढ़ाते हो, वहाँ नहीं जाना है। आपके बच्चे नीम और बेर के झाड़ों को पत्थर मारते होंगे, तो वे नीम की निबोरी और बेर खाते होंगे। पर कर्नाटक के बच्चे काजू-बादाम के झाड़ पर पत्थर मारते हैं और काजू-बादाम खाते हैं। बात कुछ और है, समस्यार समझना है। आप आम को चूस कर फेंक देते हो। जिसके ऊपर आम जैसा फल है, उस गुठली के अन्दर बादाम है, वह भी मीठी है। अहो बालक! तूने समझ लिया था कि जो बादाम पर फल है, दल है, वही शक्तिमान है; पर तुझे मालूम नहीं था। छिलके को उतारकर दल को ही स्वाद मान लिया। पर उसके अन्दर एक कवच था, उसको तोड़ता तो सर्वशक्तिमान बादाम की गिरी थी। वस्त्र उतार लिए, पूजनपाठ का दल मिल गया, लोकपूजा बढ़ गई, पर मोह की गॉट फूटी नहीं, शुद्धात्मा की गिरी मिले कैसे? बादाम न देखी हो परन्तु आम तो आप सबने देखा है। आम के मौसम में आपने दल खाया और गुठली को फेंक दिया, परन्तु सार तो गुठली के अन्दर ही था। आगामी वृक्ष बनेगा तो उसी गुठली के अन्दर से निकलेगा और आम के खाने पर जो फोड़े होते हैं, वे ठीक होंगे तो गुठली के अन्दर जो गोई (बीज) निकलती है, उसी से होंगे। जो आपने भोगों के आम चूसे हैं, उन फोड़ों को ठीक करना है, तो गिरी को निकालना सीखो। जिसमें है, उसे तो फेंक देते हो। पर आम के दल को जमीन पर बोने से फल नहीं आता। पूरा दल निकाल देने के बाद गुठली को बो दो, पौधा ऊग आयेगा।

विश्वास रखना, व्यवहार धर्म पर लोगों की दृष्टि बहुत ज्यादा टिक चुकी है। क्रियाकलाप में उलझ चुका है जीव। ऐसा काल तेरे देश में आया था, जब वैदिक दर्शन में क्रियाकलाप बढ़ गये थे, लोक दासता को प्राप्त हुए। फिर लोगों ने उपनिषदों की रचना की। क्रियाकाण्ड ज्ञान की प्राप्ति के लिए होता है। यदि क्रिया में ही जीव उलझ जाये, तो ज्ञानशून्यता आती है। विश्वास रखना, एक समय जीव थका-थका महसूस करता है। आप मात्र पाँच मिनट ध्यान करना, उसमें शक्ति मिलेगी और दिनभर वंदना करना, उस शक्ति को देखना, यानी भावों की विशुद्धि को देखना, ये अंदर की बात है। किसी को वंदना की मना नहीं करना, अन्यथा ध्यान लगता नहीं, वंदना और छोड़ देगा। ये तत्त्व की बात है। पर ये ध्रुव सत्य है कि जो शक्ति (विशुद्धि) ध्यान में प्रगट होती है, वह वंदना में नहीं होती, क्योंकि वंदना में योग चलायमान होता है और ध्यान में योग स्थिर होता है। स्थिर योगों से कर्मों की निर्जरा अधिक होती है, और चलायमान योग से निर्जरा कम होती है। ऐसा नहीं करना कि सब छोड़ दो। पर यह ग्रंथ इन सबसे परे है। सुना इसलिए रहा हूँ, कि जो आप कर रहे हो उससे आगे भी कोई वस्तु है। सहज वेदन करो ध्यान का। ज्ञान ही इतने शून्य की ओर ले जाता है, फिर ध्यान कैसा होता होगा? जो मैं कह रहा हूँ, वह ध्यान नहीं है, ज्ञान है। ध्यान तो और ऊँची वस्तु है। पर आज अज्ञानता तीव्रता से दौड़ रही है, कि म्यूजिक लगा दिये, संगीत भजन शुरू कर दिये, मोमबत्ती जला दी, और कह रहे हो ध्यान करो। किसका ध्यान कर रहे हो? हँस रहे हो, हँसा रहे हो, ये हारय-कषाय है। कषाय में ध्यान कहाँ, ध्यान में कषाय कहाँ? चेहरा ही खुश हो पायेगा, पर चित्त गद्गद



नहीं हो पायेगा। ध्यान चेहरे की मुस्कान नहीं है, ध्यान आत्मा का आह्लाद है। मस्तिष्क और चेहरा हो जाये प्रशांत, अंदर में छूट रही गुदगुदी, समझना यही तत्त्व 'ध्यान' है। भूल आपकी नहीं है, भूल बतानेवालों की है, आप तो कुछ जानना चाहते हो। जब आदमी की जानने की इच्छा होती है, तो वह कहीं-न-कहीं तो जाता है। फिर आप बाद में कहें कि विपर्यास किया है। विपर्यास हमने नहीं किया, आपने कराया है। क्योंकि आपने हमें इतना जकड़कर रखा है, कि बाहर निकलकर देखा, तो कुछ और ही आनंद आया।

बंधन में सुख नहीं है, जो खुले में सुख है। खुलापन आना चाहिए। जहाँ बंधन आता है, वहाँ से जीव निकलना चाहता है। अपने को खुला छोड़ दो। शब्दों पर ध्यान दो। इन आध्यात्मिक शब्दों का लोगों ने दुरुपयोग कर दिया। कैसा किया? मैंने कहा कि खुलेपन में सुख है, बंधन में दुःख है, तो लोगों ने क्या किया कि धर्म के, समाज के सारे बंधन तोड़ दिये। स्वच्छन्दी हो गये। जो आत्मा का खुलापन था, उसे विषयों में ले लिया। 'समयसार' ग्रंथ को पढ़कर विषयों में चला गया। बंधन में सुख नहीं है, खुलेपन में सुख है, तो आपने शब्दों का क्या दुरुपयोग किया, सभी मर्यादाओं को तोड़ दिया। शब्द के साथ व्यभिचार कर दिया, विचार नहीं किया। खुलेपन में आनंद है, इसका अर्थ क्या था? मैं मोक्ष की आकांक्षा में नहीं बंधना चाहता हूँ, मैं स्वर्ग की आकांक्षा में नहीं बंधना चाहता हूँ, मैं मनुष्य के चक्रवर्ती आदि के वैभव में नहीं बंधना चाहता हूँ। जितने भी विद्यार्थी यहाँ बैठे हो, ध्यान देना, जब तक पढाई कर रहे हो, तब तक सर्विस (नौकरी/सेवा) के बन्धन में नहीं बंधना। यदि आपने विचार कर लिया कि मुझे इतना करना है, तो पढाई की सीमा हो जायेगी। आपका असीमित ज्ञान आनेवाला था, वह सीमित हो गया।

निर्ग्रन्थ योगी से कहा गया है कि अब तुम मोक्ष के बंधन से दूर हो जाओ। मुक्त होना चाहते हो, पर मोक्ष की रस्सी से बंध गये हो, तो मुक्त कैसे? मुक्त होकर ही मुक्ति का आनंद आयेगा। अगर मोक्ष प्राप्ति के राग में चला गया तो, विश्वास रखना, मुक्ति का आनंद नहीं आयेगा, खुला होना चाहिए। अभी आप खुले होकर सुन रहे हो। यदि आपसे कह दें कि एक घंटे आपको बैठना ही पड़ेगा, तो आ गया टेंशन कि मुझे बाँध दिया। आप विश्वास मानो, जितना अध्यात्म से विपर्यास हुआ है, उतना सिद्धांत से कभी नहीं हुआ है। जितने अनर्थ हुए हैं, जितने सम्प्रदाय बने, सब अध्यात्म के नाम पर बने हैं। क्यों? अध्यात्म की गहराइयों को नहीं समझ पाया और जो आत्म-स्वतंत्रता की बात की जा रही थी, वहाँ संयम में स्वच्छन्द हो गया। इसलिए वह समझ नहीं पाया, भटक गया। हे ज्ञानी! समुद्र स्वतंत्र है, गहरा है, परन्तु स्वच्छन्द नहीं है। समुद्र स्वच्छन्द हो जायेगा, तो पता नहीं कितनों का घात हो जायेगा। हे योगीश्वर! श्रमण संस्कृति में आपके नाम के आगे तालाब नहीं लगा, नाली नहीं लगी, आपके नाम के साथ सागर लगा है। जो कितना भी भर जाये, परन्तु अपनी सीमा का उल्लंघन नहीं करता। समुद्र अपनी सीमा में रहता है और पानी से भरा होता है, पर जमीन में मणियों को, मोती को सुरक्षित रखता है। हे योगीश्वर! संयम के नीर से भरे रहना, चारित्र के तटों पर चलते रहना; परन्तु रत्नत्रय के मणियों को सुरक्षित रखना, यह सागर है। निर्बंधता ही सुख है। एक क्षण को बालक अवस्था को देखो। जैनदर्शन में श्रमण के लिये किसी शब्द का प्रयोग किया है, तो उसका नाम 'यथाजात' है। यथाजात बालक अनंत में जीता है, सीमा में नहीं होता है। जैसी उम्र बढ़ी, कि कपड़ा आ गया कमर पर, तब यथाजातपने का विनाश हो गया; क्योंकि विकारों के बंधन में आ चुका है। ये धागे नहीं, तुम्हारे कमर पर ये प्रमाणपत्र हैं, कि ये वसन वासना पर चढ़े हैं। वासना उतर गई होती, तो वसन अभी खुल गये होते। यथाजात स्वरूप से कोई विरहित है, तो वह वसनों में लिप्त है।

अनादि अविद्या के संस्कार के वशीभूत हुआ जीव जैसे घर में कुटते-पिटते व्यक्ति को कुटा-पिटा नहीं मानता, ऐसे ही अनादि से जिस बंधन में लिप्त हो, उसको बंधन कहना भूल गये हो। एक जगह में पड़ा, बहुत सारे ऊँटों को उन्हें बाँधना था, तो एक ऊँट के लिए खूँटा नहीं बचा, तो उसने क्या किया कि ऐसे ही खूँटा ठोक दिया, तो ऊँट बैठ गया। प्रातः हुआ, सभी को खोल दिया, पर जिसे बाँधा ही नहीं था, उसे नहीं खोला, तो वह ऊँट वहीं बैठा रहा। फिर उसने सोचा कि ये रस्सी से नहीं बंधा, बुद्धि से बंधा है। वही प्रक्रिया उसके साथ की गई तो फिर वह खड़ा हो गया। आप सोचो, आप बंधे तो नहीं हो, पर बंधन में कौन किसको बाँधे है, कौन किसको पकड़े है ? मेरा मन ही पकड़े है।

कण-कण स्वतंत्र है, प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है, प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र है, मात्र मोह की रस्सी में बंधा हुआ है, बाकी बंधा नहीं है। आपसे अच्छा बैल है। बैल रस्सी से बंधा होता है, पर के बंधन में है, इसलिए वह गौशाला में खड़ा होता है। लेकिन जब भी रस्सी टूट जाये, तो वह दौड़ ही जाता है। पर आप कैसे ज्ञानी जीव हैं ? पूँछ भी नहीं है, सींग भी नहीं हैं, नकेल भी नहीं है, तब भी आप गौशाला की ओर जानेवाले हैं। कितने स्वतंत्र हैं, पर आपको अपनी स्वतंत्रता का भान ही नहीं है। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। आप सम्प्रेदशिखर जाते हो, वहाँ आपको अच्छा लगता है, फिर भी आप उसे छोड़कर आ जाते हो, क्योंकि श्रद्धा घर में है। यदि श्रद्धा में किंचित भी उत्कृष्टता होती, तो तू घर नहीं आता। वे ध्रुव टंकोत्कीर्ण परम पारणामिक निजानंद में लवलीन परम योगीश्वर जब यथाजात स्वरूप को निहारते हैं, तब सम्पूर्ण बंधनों से दूर होते हैं।

निर्बन्ध क्यों नहीं हो पा रहे ? बंधा कोई किसी से है नहीं, परन्तु राग की गाँठ प्रबल है, जो छूटती नहीं है। मोह परद्रव्य है, कर्म भी परद्रव्य है। पर मोह ने तुझे बाँधकर नहीं रखा, तू ही मोह से बाँधा है। दूसरों को दोष देना, निमित्तों को दोष देना आपकी आदत में आ गया है। उपादान को संभालने का पुरुषार्थ करो। कण-कण स्वतंत्र है, प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है, प्रत्येक द्रव्य की परिणति स्वतंत्र है, उत्पाद-व्यय-धौव्य स्वतंत्र है। बंधन कहाँ है ? तू जिस परिवार के राग में जी रहा है, वह भी अपने भाग्य से जी रहा है। क्या व्यवस्था है, तू ही अव्यवस्थित है। व्यवस्था प्रत्येक द्रव्य की स्वतंत्र है। मनुष्य ही परिणामों में अव्यवस्थित है। सभी द्रव्य व्यवस्थित हैं। ये काले बाल सफेद हो गये, किसने किये ? समय ने, प्रकृति ने। जब आप बालों को व्यवस्थित नहीं कर पाये, तो बालकों को क्या व्यवस्थित कर पाओगे ? वे अपने आप ही व्यवस्थित रहेंगे। तू राग का ही कर्त्ता है, किसी की व्यवस्था का कर्त्ता नहीं है। यह ध्रुव सत्य है। यदि तू बालकों की व्यवस्था करता है, तो वही बालक बड़ा होकर कहता है कि अलग कर दो। आप फिर कैसा देखते हो ? फिर कौन किसकी व्यवस्था देखता है ? जब अलग होने की बात आ गई, तो तुम दोनों स्वतंत्र हो गये और पहले से ही स्वतंत्र मान लेता, तो बालकों का पालक नहीं बनता। जन्म व्यवस्थित है, मृत्यु व्यवस्थित है, योग व्यवस्थित है; पर तेरी परिणति ही अव्यवस्थित है।

जिसको मृत्यु से भय समाप्त हो जाता है, वह या तो साधु बनेगा, या डाकू बनेगा। दोनों लुटेरे हैं, एक धन को लूटता है, दूसरा मन को लूटता है। तुम न लुटो, न पिटो। तुम लौट जाओ शिवधाम पर, तो न लुटना पड़ेगा, न पिटना पड़ेगा। तुम स्वयं साम्राज्य पद को प्राप्त करोगे। यह तत्त्वबोध किसी-न-किसी पर्याय में तो समझ में आयेगा। यह व्यर्थ नहीं जाता।

तुम कितने अभागे हो। तुम्हारे जनक-जननी ने कितना अच्छा नाम रखा, फिर भी पर की कन्या

तुम्हें, 'ये, वे' बोलती है तब भी तुम्हें शर्म नहीं आती। आप पत्नि का नाम लेते हो, क्योंकि दास हो। वह नहीं लेती न। कह देना कि आज मत करना 'ये, वे'। मैं 'ये, वे' से रहित शुद्धात्मस्वरूप हूँ।

परम तत्त्व की ओर लक्ष्यपात करो।

## ॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

५ ५ ५

आचार्य भगवन् कुन्द-कुन्द स्वामी 'समयसार' ग्रन्थ में समझा रहे हैं। श्रुत की महिमा अलौकिक है। उस अनुपम स्वरूप को सुनना है, स्वानुभूति के बल पर, यह अध्यात्म-विद्या है, इसलिए गृहस्थों के बीच में नहीं होती, क्योंकि, इनको शब्द सुनाई पड़ते हैं, पर अर्थ की अनुभूति नहीं होती है। अर्थ की अनुभूति का न होना स्वात्मानुभूति से दूर रखती है, और जहाँ स्वात्मानुभूति होगी, वहाँ अर्थ का राग समाप्त हो जाता है। यह समयसार ग्रन्थ कह रहा है कि समय है और समय पर समय है। समय पर 'समय' को समझ लिया होता, तो पंचमकाल में न बैठा होता। जैसी भूल पूर्व में की है, ऐसी भूल चल रही है जो भूल जीव ने रागवश, क्लेशवश की है। उसको न सुधारने से श्रुत के समीप पहुँचा, द्रव्यश्रुत को समझा, द्रव्य-शब्दों को जाना; पर भावश्रुत को नहीं पा सका।

**"यस्मात् क्रिया प्रतिफलंति न भावशून्या ।" ३८ कल्याण मंदिर स्रोत ॥**

जो क्रिया भावशून्य है, वह क्रिया कभी फलित नहीं होती। समय भी गया, आयु भी गई, अर्थ भी गया। भाव के अभाव में ध्रौव्य भी गया। भावना बन जाती एक बार, तो इतना सबकुछ न जाता। भवातीत हो जाता। लेकिन भाव के अभाव में सबकुछ किया, परन्तु हाथ में कुछ भी नहीं आया। भवातीत होना है, तो अतीत की भावना को संयोगीभाव को, विभाव को, अतीत करो, विचार करो राग की लालिमा ने दो पांडवों को सिद्धालय नहीं जाने दिया। तपस्या बराबर चल रही थी, पर भाई के राग में इतना ही सोचा था, कि मैं तो सहन कर रहा हूँ, पर मेरे भाई का क्या होगा। उस राग में मालूम चला कि वह तो खड़े रह गये और वे मोक्ष चले गये। ध्रुव सत्य है, जब अध्यात्म विद्या में प्रवेश होगा, फिर जगत के राग की लालिमा में नहीं आ पाओगे। मिट्टी गीली है तो चिपकेगी और सूख जाये तो झर जाती है। जब तक परभावों में राग की आर्द्रता है, तब तक चिपकोगे-ही-चिपकोगे। आर्द्रता समाप्त हो जाये, तो झरना प्रारंभ हो जायेगा। पर झरने बनाये बैठे हो, तो झरोगे कैसे? ध्यान दो लोगों में झरने फूट रहे हैं, राग के, कर्म के झरने झर रहे हैं, वे झरनेवाले नहीं हैं। जब-तक झरने झरेंगे, तबतक मिट्टी गीली होती रहेगी। पहले झरने को बंद करो। जब तक राग की आर्द्रता है, तब-तक कर्म झरनेवाले नहीं हैं। पुरुषार्थ प्रबल हो, खेत में काली मिट्टी हो, पानी गिर जाये, मिट्टी चिपक जाये तो जितना छुटाओगे उतनी चिपकती है। जब तक हृदय में विषय-कषाय की काली मिट्टी चिपकी है, तब-तक आप उसमें चिपकते रहोगे। कितना भी तत्त्वज्ञान के पानी से धो लेना, पर आपके पैर साफ नहीं होंगे। सूखी भूमि पर चलना होगा, यदि पैरों को स्वच्छ करना चाहते हो तो। गीली भूमि पर सदा कीचड़ से युक्त रहोगे।

धन्य हैं श्रुतकेवली भगवन्त, जो श्रुतसरिता में अवगाहन करके कर्मों की काली मिट्टी को जड़ से समाप्त कर रहे हैं। इस बात को आचार्य जयसेन स्वामी लिख रहे हैं। जो द्वादशांग श्रुत को परिपूर्ण जानते हैं, वे श्रुतकेवली कहलाते हैं। वे जानते ही नहीं हैं, अनुभव भी करते हैं। अनुभवन ही नहीं करते, व आचरण भी करते हैं। वे व्यवहार-श्रुतकेवली हैं। ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है। द्रव्यश्रुत के आधार से उत्पन्न हुई है जो-

जो जिनवाणी आप पढ़ रहे हो ।

शास्त्र तो पढ़ना, पर दूसरे को सताने के लिए नहीं पढ़ना । कुछ लोग शास्त्र का उपयोग शस्त्र के रूप में कर रहे हैं । जब कुछ नहीं जानते थे तो विनयवंत थे, समाज में मिलकर रहते थे । जबसे शास्त्र पढ़ने लगे, तो पहचान बनाने में लग गये, पहचान को भूल गये । आप न पढ़ते तो अच्छे थे । शास्त्र शास्त्र है, शस्त्र नहीं है । ऐसे ज्ञानी बन गये, जो कहने लगे कि तुम क्या जानो । अरे ! वह इतना जानता है कि वह किसी को सताता नहीं है । आपने किस बात को जान लिया, कि आप परेशान करने लग गये । विश्वास रखो अज्ञानियों से ज्यादा ज्ञानियों से सताये जाते हैं । अज्ञानी तन को पीड़ित करता है, ज्ञानी मन को पीड़ित करता है । पर वह ज्ञानी नहीं होता है । ज्ञानी पुरुष का तो तन व मन दोनों शीतल होते हैं । पर जिसने शास्त्रज्ञान को अपने जीवन का अस्त्र बना लिया हो, उनसे जगत पीड़ित होता है । और जिसने शास्त्रज्ञान को भावश्रुत बनाया है, वह भविष्य में केवली होते हैं । शास्त्रज्ञान को, द्रव्यश्रुत को भावश्रुत बनाने का पुरुषार्थ तो करना, परन्तु द्रव्यश्रुत प्राप्त होते ही पर को पीड़ित करने का विचार कभी नहीं करना । क्योंकि अध्ययन करेगा, प्रज्ञा बढ़ेगी, तो सामान्य लोगों को अपने अनुसार चलाना चाहेगा ।

विश्वास रखना, पर को आदेशित करना सबसे बड़ी हिंसा है, क्योंकि कोई किसी की आज्ञा में रहना पसंद नहीं करता । आप आदेशित कर रहे हो, कोई मानना नहीं चाहता, पर आपने चार लोगों के बीच आदेशित कर दिया, तो तुम्हारे स्वाभिमान/अभिमान के पीछे आपकी बात को तो स्वीकारेगा, पर मन से रो रहा है । आचार्य परमेष्ठी को भी आचार्य पद का त्याग करना पड़ता है, तब उनकी संल्लेखना होती है । वे भी मुनिराजों को आदेशित करते हैं परन्तु उनको इतना ध्यान रहता है कि दूसरे कि स्वतंत्रता का घात न हो । यहाँ व्यवहार की बात मत छेड़ना, वस्तुस्वरूप को समझो, हिंसा है । पर की स्वतंत्रता का हनन क्यों कर रहे हो आप ? हित दृष्टि कम लोगों में होती है, अपनी आज्ञा के बहुमान की दृष्टि बहुत लोगों में होती है, कि देखो मेरी आज्ञा चलती है, डबल (दो गुनी) हिंसा, एक तो स्वयं के अहंकारमय परिणाम किये, दूसरे, दूसरे के परिणाम खिन्न किये । ब्रतों का पालन करते हुए भी निर्वाण को प्राप्त नहीं कर पायेगा, जब तक तेरी चलती रहेगी । जिनदर्शन में धर्म की व्यवस्था सूक्ष्म है । आप अपने अनुचर को पैसे भी देते हो, भोजन भी देते हो, तब काम लेते हो, तब भी हिंसा हो रही है, क्योंकि जब भी वह एकान्त में बैठता है, तब सोचता है कि इनकी सेवा करना पड़ रही है । उसके भाव अशुभ होते हैं । यही कारण है कि निरग्रन्थ योगी, निरग्रन्थ दीक्षा लेकर एकान्त में वास करके स्वयं में निवास करते हैं । पद से बिल्कुल मोह न रखकर, न आदेश सुनना, न आदेश देना । स्वयं में लवलीन होकर परम अहिंसा को प्राप्त होते हैं । आत्मा अहमिन्द्र है । जो अहमिन्द्र होते हैं स्वर्ग में, वे न किसी की आज्ञा को पालते हैं, न देते हैं । वे अपने आप में अहमिन्द्र होते हैं । जिस दिन आप अपनी जीभ की तरह रहने लग जाओगे, उस दिन आप समाधि कर लगे ।

रसना इन्द्रिय से चक्षु इन्द्रिय ने कहा - मैं विश्राम लेती हूँ, आप मेरे विषय को देखते रहना । रसना कहती है चक्षु से - सुनो, मैं स्वतंत्र हूँ, तू स्वतंत्र है । मेरा काम चखना है, देखना नहीं है । इसी प्रकार किसी ने कहा - ऐसा काम कर लो । नहीं, मेरी दशा भिन्न है, तेरी दशा भिन्न है । विषय समझो, आप कहाँ-कहाँ भूल करते हो । बाद में सोचते हो। आप किसी साधु के पास पहुँचे थे माथे पर तिलक लगवाने । साधु सरल थे । इतना तुमने नगर में घुमा दिया, कि उनका सामायिक का समय नष्ट कर दिया । आपको तो मालूम ही नहीं था, आपको तो प्रभावना दिख रही थी । पर चारित्रमोहनीय कर्म का आस्रव जारी था, क्योंकि दूसरे के चारित्र

की साधना में तुमने बाधा डाली। मालूम चला कि आप श्रीफल लिए आचार्यों के चरणों में धूम रहे हो, पर दीक्षा हो नहीं पा रही है। क्यों? जब तुम कर्म का चौक पूर रहे थे, तब पता ही नहीं चला। बहुत संभल के जीने की जरूरत है।

यह कषाय का अंश है। आपने अपनी धर्मपत्नी को समय पर भोजन नहीं दिया, उससे कहा कि इतना काम और कर लो, फिर खा लेना। तू हिंसक है, कि नहीं? पत्नी का संबंध त्रैकालिक नहीं है, वह कुछ समय पहले हो गया था। पर वह जीवद्रव्य है। उसके साथ अनाचार करके बेचारी को समय पर भोजन नहीं करने देते। ये मत सोचना कि मेरी पत्नी है तो कर्मबंध नहीं होगा। जीवद्रव्य का हृदय कलुषित हो रहा है। उससे हिंसा का बंध ही होगा। पत्नी का दृष्टांत इसलिये दिया, क्योंकि पतिदेव समझते हैं कि पत्नी हमारी वस्तु है। हे ज्ञानी! पर्याय के संबंध से तेरे घर की वस्तु हो सकती है, परन्तु जीवद्रव्य के संबंध से तेरे घर की वस्तु नहीं होती, वह स्वतंत्र है। ऐसे कितने-कितने काम किये। पिता पर भी आँख उठाई थी। वे आँखें नहीं थी, आँच थी। तूने पिता के पितृ भाव को झुलसा दिया।

क्या करूँ, भावश्रुत में दृष्टि नहीं जा रही है। जब तक भावश्रुत में दृष्टि नहीं जा रही है, तब तक भावना विशुद्ध हो ही नहीं सकती, ध्रुव सत्य है। सुनते-सुनते आपके चेहरे क्यों बिगडते हैं, ये प्रश्न है मेरा? अध्यात्म कभी मूसलाधार नहीं बरसता, रिमझिम-रिमझिम बरसता है। मूसलाधार से फसल बिगडती है, रिमझिम से हरियाती है।

भावनाओं पर दृष्टिपात करो, किसी पर कषाय न हो। पर मन में कषाय बैठी है, ऊपर से शांत नजर आ रहा है, वह अंदर-ही-अंदर झुलस रहा है, जैसे कंडे की राख होती है। संयम धारण किया, फिर अंदर झुलसता रहा, मालूम हुआ कि प्राण निकल गये, परन्तु संयम की राख हो चुकी थी। इसलिए इतनी-सी बात मान लो कि अब थोड़ा जीते-जी जीने लग जाओ तो अच्छा होगा। इस प्रज्ञा को मस्तिष्क में लाओ, सिर पर मत ले जाओ। प्रज्ञा जब चोटी पर पहुँच जाती है, तो फिर किसी को नहीं देखती है। प्रज्ञा मस्तिष्क में रहती है तो विवेक दिखता है। जीते-जीते जीयो। अभी जो जीवन चल रहा है वह मरते-मरते चल रहा है। क्यों? करते-करते बैठे हो, चल रहे हो। ज्ञानी! अकृत्वभाव पर दृष्टि नहीं है, यही तो मरते-मरते जी रहे हो। जो चिद्स्वरूप, भगवत् स्वरूप अकृत्वभाव है, उस पर दृष्टि ही नहीं है। पर्याय-की-पर्याय नष्ट हो रही है। शतांश भी तूने पर्याय के अकृत्वभाव पर दृष्टि दे दी तो, विश्वास रखना, मुक्ति हो जायेगी। जगत मरते-मरते जी रहा है। मैं तो देखता रहता हूँ। देखो मोह की दशा, ये समझ रहा है, कि मैं बहुत अच्छा काम कर रहा हूँ। अरे, वह मरते-मरते जी रहा है। समझो कि कोई कमजोर था, आपने उसको गाली दे दी और खुश हो रहे हो। आपको मालूम है कि वह क्या बिगाड़ेगा? लेकिन बिगाडने वाले ने तो बिगाड ही दिया है। गाली बुरी वस्तु है। आपके मुख से बुरी वस्तु निकली, तो मुँह बिगडा कि नहीं? पहले बिगाडते हो, फिर कर्म सुन रहा है कि तुमने क्या किया।

आप शुरू से ऐसे नहीं थे। छोटे थे, तो तुम्हारी माँ ने तीन चके की गाडी चलाने को दी थी। बेटे से माँ कह रही थी, तुम चलना नहीं जानते हो, तीन चके की गाडी को पकड लो और चलो। पर ध्यान रखना, तीन चके की गाडी पकडकर चलता है, तो चलना सीख लेता है, कहीं उस तीन चके की गाडी की धुरी पर पैर रख दिया, तो गिर जाता है। ऐसे ही भगवती जिनेन्द्रवाणी माँ सरस्वती कह रही है, कि सम्यक्दर्शन-ज्ञान-

चारित्र तीन चके की गाड़ी पर चल ।

वस्तु की स्वतंत्रता को समझो । जीना है तो जीते-जी, जीयो । जितने भी निषेक हैं, प्रत्येक निषेक पर ध्यान रखो, आज से । संयम के साथ जो जीता है, वह जीते-जी, जीता है । असंयम के साथ जो जीता है, वह मरते-मरते, जीता है । इसलिए आप संयमी के पास भी जायें, तो उन्हें ये याद न दिलायें कि स्वास्थ्य ठीक है न, क्यों ? तूने आत्मलीन योगी को शरीर में रख दिया । पूछना था तो यह पूछता, कि रत्नत्रय की साधना विशुद्ध है न ? असंयम में गया भी हो या योगी, तो रत्नत्रय को सुनकर जागृत हो जायेगा- अरे ! मेरी पहचान तन से नहीं है, मेरी पहचान संयम से है । अपनी पहचान बनाओ । संयमी का शरीर तो जनक-जननी के निमित्त से बन सकता है, परन्तु संयम जनक-जननी से नहीं बना । उनके पास जाना तो रत्नत्रय की पूछना । द्रव्यश्रुत भावश्रुत नहीं बनता है । बोलते रहोगे, घूमते रहोगे, पर घूमना नहीं मितेगा । शब्दों के जाल को बिखेरते रहोगे । भवातीत तभी होंगे, जब भावश्रुत बनेगा । जो भावश्रुत ज्ञान है, वह आत्मभूत है ।

जो शुद्धात्मा को जानते हैं, वह निश्चय श्रुतकेवली होते हैं । जो शुद्धात्मा को नहीं भाला, नहीं समझता, नहीं पहचानता, बाहरी विषय में द्रव्यश्रुत को ही जानता है, तो वह भावश्रुत को नहीं जानता । भाई के बेटे को भी तू बेटा कहता है, अपने बेटे को भी बेटा कहता है । दोनों बेटों की अनुभूति समान है क्या ? भाई का बेटा तेरे कंठ का है, निज का बेटा तेरी पत्नी के पेट का है । ऐसे ही, कागजों का श्रुत, भाई का बेटा है, और स्वानुभूति का श्रुत, स्वयं का संस्थान है । ये कागजों के सुख ने स्वानुभूति खो दी है । संवेदनायें नष्ट हो गईं । ज्ञानी शुष्क होते नजर आ रहे हैं । ऐसे ज्ञानियों को भीतर का ज्ञान नहीं है । यह पहचान तब होती है, जब आप तीर्थयात्रा में व्यवस्था में रहते हो, तो चुपचाप से अलग से खा आते हो । उससे श्रेष्ठ किसान है, जो मेढ पर बैठकर भोजन करता है, तब जो भी निकलता है, उससे कहता है - आओ, कलेवा कर लो । क्यों, ज्ञानी ! वह सिद्धांत कैसा था, जो एकान्त में पेट भरकर आ गया ? ये था मात्र शुष्क ज्ञान । क्योंकि इसने सम्पूर्ण श्रुतज्ञान को भोगवृत्ति में लगाया है और दूसरे ने ज्ञान को योगवृत्ति में लगाया है । दस के नोट को एक मंदिर में दान कर सकता था, पर वह मदिरालय से बॉटल लेकर आ गया । उसमें नोट का क्या दोष ? नोट का जैसा उपयोग किया, वैसा मिल गया । ज्ञान का क्या दोष ? परणति का क्या दोष ? तेरी भावनाओं का दोष है । ज्ञान तुझे मिल गया था, उसे तूने भोग में लगाया है और एक ने ज्ञान को निज में लगाया है । आज घर जाकर निहारना कि हम अपने ज्ञान का उपयोग कैसे कर रहे हैं । जीते-जी जीना है, कि मरते-मरते ? अरे ! जीते-जी, जी लो । पर्याय के साठ साल निकल गये, पर जीते-जी, नहीं जी पाया । अमरबेल की तरह नहीं जीना । जिस वृक्ष पर चढ़ जाये, उसे सुखा देती है और स्वयं हरी-भरी रहती है । कुछ अज्ञानी ऐसे होते हैं, जो पर के जीवन को बरबाद करके जीते हैं । यदि जीना है तो ऐसे जीना जैसे आम का वृक्ष जीता है । स्वयं भी जीता है और कोई पक्षी घोंसला बना ले तो उसको भी जीने देता है । जीवन को नहीं खोता है, दूसरे के जीवन को सहारा देता है । ऐसा जीवन जियो कि तुम दूसरे को भी जीने दो । यही तो महावीर का संदेश है । जियो और जीने दो ।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

५ ५ ५

ज्ञानियो ! तत्त्व का शाब्दिक ज्ञान अनेकानेक जीवों को है, लेकिन तत्त्वदृष्टि का होना कठिन है । शब्दों से वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन कर देना, इसका अर्थ समयसार का अनुभव नहीं है । समयसार की

अनुभूति न करने वाला अनुभव कर सकता है। कहनेवाला अनुभव शून्य भी हो सकता है। किसी को मिटाई खिलवाई है, वह कह नहीं पाता, परन्तु अनुभव है। और एक व्यक्ति ने मिटाई को खाया नहीं है, तब उसकी मिठास शाब्दिक तो हो सकती है, पर मिटाई का अनुभव नहीं होता है। तत्त्वबोध शाब्दिक नहीं, अनुभवगम्य है। मैं ही अनुभावित हूँ। जो ध्रुव शुद्धात्मा का अनुभव परिणाम है, वह मेरे में ही है, अनुभावक में ही हूँ। मैं ही वह व्यक्ति हूँ जो सेवन कर रहा हूँ। मैं ही वह द्रव्य हूँ, जो अनुभव योग्य है। मैं ही वह पुरुष हूँ, जो अनुभवकर्ता है। जो भिन्न में अभिन्न का वेदन है, वह समयसार नहीं है। जो अभिन्न में अभिन्न का अनुभवपना है, वह समयसार है।

सत्यार्थदृष्टि, भूतार्थदृष्टि का व्याख्यान आज कर रहे हैं। ग्यारहवीं गाथा में सम्यग्दृष्टि आत्मा, सत्यार्थदृष्टि आत्मा, समीचीन-दृष्टि आत्मा, वह कौन-सी आत्मा है, इस बात को यहाँ कह रहे हैं। सम्हल कर सुनना है, क्योंकि जो विषय को नहीं जानता, वह अपने आप में भ्रमित हो सकता है। यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द देव निश्चय को ही भूतार्थ कहना चाहते हैं। विभाव अभूतार्थ है। जो उस निश्चय भूतार्थ को स्वीकारता है, वह सम्यग्दृष्टि है। आप भी सभी के मन के विषय को समझना। क्योंकि जिसका अनादि से सेवन किया हो, उसका उस पर राग होता है। जरा-भी निश्चय की प्रधानता से कथन हुआ तो जीव घबड़ाने लगता है, कि व्यवहार का लोप हो जायेगा। लोप किसी का होता ही नहीं है। विभाव है, था, रहेगा। लेकिन सत्यार्थ नहीं है। एक जीव की अपेक्षा कथन नहीं किया, सामान्य अपेक्षा कथन है। मिथ्यात्व है, था, रहेगा। क्योंकि मिथ्यात्व न होता, तो आप पंचमकाल में न होते। मिथ्यात्व नहीं रहेगा, तो संसार का लोप हो जायेगा। मिथ्यात्व नहीं है, तो आज कुलिंगी कैसे दिख रहे हैं? जिनलिंग में दीक्षित होने के उपरान्त भी नाना परिणाम बुद्धि में चल रहे हैं। क्या यह सम्यक्त्वपना है, जो अनेक-अनेक अपनी-अपनी आम्नाय बना बैठे हैं? ये आम्नाय महावीर स्वामी के द्वारा बनाई हुई नहीं है। जितने पंथ आदि भेद चल रहे हैं, वह वर्द्धमान की वाणी में नहीं है। यह विडम्बना है मिथ्यात्व की। वर्द्धमान स्वामी ने तत्त्व प्ररूपणा की है, विपर्यास की प्ररूपणा नहीं की है। विपरीतपना प्ररूपित नहीं किया जाता है, विपरीतपना व्यक्ति स्वयं कर लेता है। आपकी जैन आम्नाय में जितने गुप (गुट) हैं, ये सभी सत्य नहीं हैं; क्योंकि एक का कथन किया, अनेक का नहीं किया। तो मिथ्यात्व का विनाश ही तो सम्यक्त्व है, सम्यक्त्व का अभाव ही मिथ्यात्व है। यदि आपको सम्यग्दृष्टि जीव दिख रहे हैं, तो वे मिथ्यात्व की सूचना दे रहे हैं और जो मिथ्यादृष्टि दिख रहे हैं, वे सम्यक्त्व की सूचना दे रहे हैं।

**“अर्पितानर्पितसिद्धेः” त.स. 5 अ.सू. 32**

एक को अर्पित, एक को अनर्पित। तो व्यवहार जो है वह अभूतार्थ है, और जो निश्चय है, वह भूतार्थ है। विभाव अभूतार्थ क्यों है? निश्चय की अपेक्षा से व्यवहार अभूतार्थ है, परन्तु व्यवहार की अपेक्षा से है व्यवहार भूतार्थ है, व्यवहार में निश्चय को अभेद करा दोगे तो वह निश्चय नहीं, अभूतार्थ हो जायेगा। अहो ज्ञानी! मिट्टी का घट है, परन्तु घट घी का कहा जाता है। गाथा पढ़कर उसकी भूमिका को समझें। आप व्यवहार चलाने के लिए क्या कह रहे हो, यह आपका विषय है। आप जीवन जीने के लिए क्या बोलते हो, यह आपका विषय है। सत्य क्या है, यह समझिये।

**घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत् ।**

### जीवो वर्णादिमज्जीव जल्पनेपि न तन्मयः ॥४०॥ अ.अ.क.

यह 'अध्यात्म अमृत कलश' है। घी का घट है, ऐसा कहने पर भी घृत का घट नहीं है। यह व्यवहारभासी यों ही कह देते हैं, कि व्यवहार चला गया। अरे! व्यवहार कहीं भी नहीं चला गया। सत्यार्थ को समझो। मैं मना भी कर दूँगा, कि घी का घृत नहीं है, फिर भी आप घर में घृत का घड़ा ही बोलोगे। हे मुमुक्षु! मिट्टी का कुंभ घृत नहीं होता, कुंभ में घृत रखा होता है। आधार-आधेय का उपचार होता है। जिसमें घृत रखा है, उस घड़े को लेकर आओ, या घी के घड़े को लेकर आओ। 'ये रिक्शा', रिक्शेवाले को बुला दिया। बोला- हे रिक्शा! पानी की बाल्टी लेकर आओ। धन्य हो तुम्हारी लीला को। पर इतना तो ध्यान रखिये, कि व्यवहार चल रहा है। बराबर आप जी रहे हो, पर ये 'समयसार' ग्रन्थ है, उस व्यवहार में लिप्त मत हो जाना। निश्चय को भूल मत जाओ। कहीं पानी की बाल्टी ही नहीं समझ लेना। बाल्टी की स्वतंत्रता को समझो, वस्तु की स्वतंत्रता को भी समझो। व्यवहार कह रहा है, पानी की बाल्टी। मैं तुमसे पूछता हूँ, क्या किसी देश/राष्ट्र में, प्रान्त में, क्षेत्र में पानी की बाल्टियाँ भी बनती हैं? पानी की कोई बाल्टी नहीं होती है। पानी की बाल्टी कहना असत्यार्थ है। बाल्टी धातु की है।

आत्मद्रव्य का वेदन नहीं कर पा रहे हो। पत्तल परोसो, कि पत्तल में परोसो, आप क्या परोसते हो? पत्तल नहीं खाई जाती है, भोजन खाया जाता है। तन चेतन नहीं है, तन में चेतन है। फिर भी चेतन में तन नहीं है। पत्तल में भोजन है, पर भोजन में पत्तल नहीं है। तन में शुद्धात्मा हो सकती है, पर शुद्धात्मा में तन नहीं होता है। शुद्धात्मा में तन हो गया तो अशरीरी भगवान्-आत्मा में तन हो जायेगा। भोजन में पत्तल नहीं होती है। पत्तल व भोजन में अभूतार्थपना है। भोजन का स्वाद भिन्न है, पत्तल का स्वाद भिन्न है। पत्तल के स्वाद व रोटी के स्वाद में अन्तर है। तन के वेदन में व चैतन्य के वेदन में इतना ही अन्तर है, जितना कि भोजन और पत्तल में है। पत्तल स्वाद-विहीन नहीं है, पत्तल में भी स्वाद है। नहीं मानो तो गाय से पूछो। पत्तल स्वादविहीन नहीं है, पर उसमें वह स्वाद नहीं है जो भोजन में है। अगर वही स्वाद है, तो भोजन क्यों बरबाद करते? पत्तल ही खाना चाहिए। भोगों में भी स्वाद है, परन्तु योगों में परम स्वाद है। अगर दोनों में स्वाद न होता, तो गाय पत्तल क्यों चबा रही होती। अगर योगों में स्वाद न होता, तो योगी, शुद्धात्मा के व्यंजन को क्यों चखते? योगों में इतना गंभीर स्वाद है, कि कभी-कभी पत्तल पर रखा भोजन फेक देती है, और पत्तल चबाती है। व्यंजन के स्वाद को जाननेवाले भोजन को ही उठाते हैं और पत्तल को फेकते हैं। अब बताओ कि आप क्या हो? पर कभी-कभी भोजन के साथ पत्तल भी टूटकर आ जाती है। तो जिम्हा भी समझदार है, पत्तल को बाहर निकाल देती है। ऐसे ही वीतराग भेदविज्ञानी योगी को किंचित भी तन का राग आता है, तो भेदविज्ञान की जीभ से अलग कर देता है, वह स्वाद व्यंजन मात्र का ही लेता है।

**यत्र काये मुनेः प्रेम, ततः प्रच्याव्य देहिनम् ।**

**बुद्धया तदुत्तमे काये, योजयेत्प्रेम नश्यति ॥४०॥समाधितंत्रा॥**

जब योगी को किंचित भी शरीर में प्रेम आ जाये, उस समय स्वभूत आत्म पद की बात करता है। राग भी तपस्वी के मन में आ जाये, उस क्षण स्वस्थ आत्मा में स्वस्थ आत्मा ही शुद्धात्मा है। स्वस्थ आत्मा यानी शुद्धात्मा। आप सभी अस्वस्थ आत्मा हो। पर पत्तल में इतना रस आ रहा है कि भोजन पर दृष्टि जा नहीं रही है। इसलिए मैं अभी नहीं कह पाऊँगा कि पत्तल के साथ भोजन का स्वाद चख रहे हो। पत्तल मुख में आ जाये तो निकाल दो। तब तो समझ में आता है कि पत्तल आ गई थी, उसे निकाल दिया, भोजन का स्वाद चख रहा



था। मुनि के मन में प्रेम उत्पन्न हो जाये, वह स्वरथ आत्मा है। लेकिन भूल क्या कर रहे हैं? पत्तल को चबाते-चबाते इतना मस्त हो चुका है, कि उसके पास भ्रम नाम की कोई वस्तु ही नहीं बची। वो उसे भ्रम (पत्तल) मानता ही नहीं है। वह अपना भोजन मानता है। भ्रम उसे कहे, जिसे किंचित मालूम हो कि द्रव्य है। भ्रम एक में होता ही नहीं है, दो में होता है। जो दूसरों को जानता ही नहीं है, वह अज्ञानी है। भ्रम और अज्ञानी में अन्तर है। भ्रम तो दो के ज्ञान में चलता है। यह है, कि यह है? लेकिन जिसने दो को जाना ही नहीं है, वह एक-से अज्ञानी हैं। जिसने आत्मद्रव्य को जाना ही नहीं है, ऐसा बहिरात्मा देह आदिक में आत्मबुद्धि को मान बैठा है। वह भ्रम में नहीं है, वह परिपूर्ण अज्ञान में है। जंगल में निवास करनेवाले पशु-पक्षी ऐसे भी हैं, जिन्होंने कभी पूड़ी को नहीं देखा। वे जंगल के पत्तों में ही, घास में ही सर्वस्व मानते हैं। वे नगर में कभी आते ही नहीं। नगर में निवास करनेवाले पशु घास को भी जानते हैं, और भोजन को भी जानते हैं, पर जंगल में रहनेवाले ने भोजन देखा ही नहीं।

हे ज्ञानी ! जिसने मिथ्यात्व के दलदल में फंसे रहने पर, कभी सम्यक्त्व नगर की ओर झाँक कर ही नहीं देखा, वे सूखे पत्तों में ही सबकुछ मान बैठे हैं, उनको अन्य कुछ मालूम ही नहीं है। आपको यथार्थ बताऊँ जो जंगल में रहनेवाले जानवर हैं, उनके सामने शुद्ध घी की पुड़ी भी कोई फेंक दे, तो वे खाते नहीं हैं, क्योंकि उनको वेदन ही नहीं होता। जंगल में आदिवासी रहते हैं। उनको एक बार ज्वार की रोटी पर साग रख कर दी। उन्होंने साग को खा लिया, पर रोटी को फेंक दिया, क्योंकि वह रोटी को जानता नहीं था। बताओ रोटी में रोटीपना था, कि नहीं? रोटी में रोटीपना त्रैकालिक था, पर तेरे ज्ञान में रोटीपना नहीं है। इसी प्रकार, शुद्धात्मा में शुद्धात्मपना त्रैकालिक है, पर क्या करूँ? जिसने ऊपर की साग-साग देखी है, पर्याय को देखा है, उसे भोग रहा है, और शुद्धात्मानुभूति को फेंक रहा है, कितनी विचित्र दशा है? मैं जगत का अनुभावक, जगत का ज्ञाता, और ज्ञाता अपने को नहीं जान रहा है। कितना आश्चर्य है? तू जगत का ज्ञाता, जो जगत को जान रहा है, वह स्वयं को नहीं जान रहा है।

दर्शनाचार्य जी ! जब तू दर्शनशास्त्र पढ़ रहा था, तब तुझे मालूम था कि हेय क्या है? उपादेय क्या है? और जब तू छल से पैसा कमाता है, तब तुझे मालूम है कि तूने सही नहीं किया है। आज तू ७० साल की उम्र में कमा रहा है, वह तुझे मालूम है, कि मैं जो कमा रहा हूँ, उसे भोग नहीं पाऊँगा। क्योंकि मेरी पर्याय अल्प है, द्रव्य बहुत है। फिर भी, जानने के बाद भी स्वच्छ दृष्टि क्यों नहीं बन रही है? छोड़ क्यों नहीं देता? क्यों विषयों में परिणति जाती है? उस समय तू अज्ञानी होता है क्या? अज्ञानी नहीं होता। तो ज्ञानी होता है क्या? ज्ञानी नहीं था। तो विषयों के भोग कैसे किये? और ज्ञानी था तो विषयों में डूबा क्यों? बोलो अज्ञानी था तो खोदा कैसे? और ज्ञानी था, तो डूबा कैसे? तू जानकर अज्ञानी था, जान-जानकर अज्ञानी है। पक्के अज्ञानी हो। अज्ञानता का कारण तेरा ज्ञान ही है। जो दुनियाँ का ज्ञान लाद-लादके रख लिया न, वही तुझे अज्ञानी बनाये है। तुझे सब का ज्ञान है। क्या-क्या करना चाहिए? उसका ज्ञान है। इसी ने तुझे अज्ञानी बना दिया।

हे मुमुक्षु ! जब तूने किसी की कन्या को नहीं जाना था, तब तेरा अब्रह्म भाव नहीं था। जिस दिन तूने किसी की कन्या को जाना, उस ज्ञान ने ही तुझे अज्ञानी बनाया। चिन्तन करो, हृदय को निहारो। क्यों? आप बहुत बड़े ज्ञानी हो, परन्तु तेरा ज्ञान ही तुझे अज्ञानी बनाये है। इतनी विवेक/बुद्धि न होती, तो वकील क्यों काला कोट पहनता? तेरे ज्ञान ने ही तुझे काला कोट पहनाया है। तूने ज्ञान से काला कोट पहना है, तो काली

कमाई करके हृदय को काला किया है। आज शांति से चिन्तन करो। जितना काला लेकर आया हूँ, ये ज्ञानभाव से लाया हूँ। और गलत करके लाया हूँ, अज्ञानभाव से नहीं लाया हूँ। सत्यार्थ बताऊँ आपको जिनवाणी के रहस्य बताये नहीं जाते हैं। आपको जानने के लिए समय ही नहीं है, कि कैसे यहाँ भटकते-भटकते आये हैं। व्यक्ति की दृष्टि अर्थ की ओर बहुत बढ़ चुकी है। अर्थ को छोड़कर मैं अनुभव कर रहा हूँ। जो अर्थ को छोड़ भी देते हैं, वे भी अर्थ को पकड़ नहीं पाये, फिर उसी अर्थ की ओर दौड़े। तत्त्वार्थ यानी तत्त्वभूत जो अर्थ है, उसके लिए मुनि बनना पड़ता है। पर उस अर्थ को समझ नहीं पाये, घुमा-फिरा कर, रूप बदलकर उसी अर्थ में आ जाता है। इस जीव ने जान लिया, परन्तु शब्दों में जाना।

परमाणु होता है, परन्तु आँखों से दिखता नहीं है। दो प्रकार के परमाणु हैं, द्रव्य परमाणु और भाव परमाणु। तीसरा परमाणु होता है, पुद्गल परमाणु। आपने 'पंचास्तिकाय' ग्रन्थ में पढ़ा है द्रव्यपरमाणु व भावपरमाणु। जो निजस्वार्थानुभूति व निजस्वात्मानुभूति है, वह भाव-परमाणु है। जो व्यंजनानुभूति है, वह द्रव्य-परमाणु है। ध्यान दो भाव-परमाणु द्रव्य-परमाणु को नहीं पा पाया। ये पुद्गल परमाणु की चर्चा नहीं समझना। यहाँ आत्मा को ही परमाणु की संज्ञा दी जा रही है। जो शुद्धात्मतत्त्व है, वह निश्चय से भाव-परमाणु है। भाव-परमाणु को जीव नहीं पा पाता, तो पुद्गल पिण्डों में फिर से खड़ा हो जाता है। इसमें दोष किसका ? विश्वास रखना, दोष आपके पुरुषार्थ का ही है।

इस पेन का रंग किसी को काला, किसी को नीला दिख रहा है। जितनी दूरियाँ बढ़ती जाती हैं, विषयवस्तु का ज्ञान घटता जाता है। हमारे वर्द्धमान को गये ढाई हजार वर्ष हो गये। आचार्य विद्यानंद स्वामी ने 'अष्टसहस्री' ग्रन्थ लिखा, वे आचार्य 'श्लोक-वार्तिक' ग्रन्थ में कह रहे हैं, कि खुली आँखों से, चश्मा लगाने पर भी, तू सत्य को नहीं जानता। सत्य का व्याख्यान आप नहीं कर पाये। क्यों नहीं किया ? व्यवहार चल रहा है, उसे चलाते जाइये, लेकिन सभी के नेत्रों के नम्बर एक-से क्यों नहीं होते, ऐसा क्यों नहीं बोलते। अगर नहीं है, तो आपको कहना चाहिए कि जो मैं देख रहा हूँ वह सत्यार्थ नहीं है। आँख का नम्बर भिन्न है, वस्तु भिन्न है, दूसरे को दूर से काला दिख रहा था। इसलिए तत्त्व को अपनी बुद्धि से मत मापिये। आपका क्षयोपशम जैसा है, वैसा माप पाओगे, तत्त्व तो जैसा है, वैसा है। कोई यूँ कहे कि पेन कैसा है ? 'जैसा है, वैसा' कह देते तो पकड़े नहीं जाते। जब आपने एक भवन में बैठकर पेन को विपरीत रूप में जान लिया है तो सम्यक्त्व प्ररूपणा करना, यह संभव नहीं है। आकाश में विमान को उड़ते नहीं देखा क्या ? पर देखते-देखते दिखता रहता है क्या ? जितना दूर चला जाता है, उतना दूर दिखता है। दिखता है, फिर नहीं दिखता, फिर एक काला सा बिंदु दिखता है। सत्य को दूर से नहीं देखा जाता, सत्य को समीप से देखा जाता है। ध्रुव आत्मा और तन उन दो के बीच आत्मा को देखना चाहता है दूरी बनाकर आप आत्मा को नहीं देख सकते, क्योंकि दूरी से पदार्थ सत्य नहीं दिखता। आज निर्णय हो जाना चाहिए। आँख के नम्बर बता रहे हैं, कि सबके द्वारा प्रत्यक्ष देखे जाने पर भी भिन्न-भिन्न दिखता है। व्यवहार चलाने के लिए सब व्याख्यान कर लीजिए, पर सत्य मानिये, आप इस पेन को परिपूर्ण रूप से नहीं जान रहे हो। फिर जो-जो क्षयोपशम हीनाधिक है, तो जितने निकट होते गये, उतना ही स्वच्छ दिखता गया। यह कैवल्य की सिद्धि है। जो निज ध्रुव आत्मा के निकट पहुँचता है, वह कैवल्य को प्राप्त कर लेता है। तब सारा चराचर जगत् प्रत्यक्ष दिखता है। जो दूरी रखता है निजात्मा से, उसे सत्य दिखाई देता नहीं है। इसलिए, क्षयोपशम ज्ञानियो ! इतनी करुणा करना, कि अपने द्वारा जानी हुई वस्तु का सत्यार्थ निर्णय नहीं दे देना। इस काल में जितना आगम में लिखा है,

उतना ही सत्यार्थ कहना। अपने निर्णय को सत्यार्थ कहने का त्याग कर देना, यदि शुद्ध सम्यग्दृष्टि हो तो। अपने द्वारा अनुभव किये हुए आगम के विषय पर सत्यार्थ मत नहीं देना। आगम में जितना लिखा है, उतना ही सत्यार्थ है। व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता का विनाश कहाँ हुआ? स्वतंत्र सत्ता है कि आप सत्य को जान नहीं पा रहे हो। आगम को जानोगे तो अपनी ही सत्ता से जानोगे। जिसे जानोगे, वही स्वतंत्र सत्ता है। आगम परतंत्र कहाँ बना रहा है? वह परतंत्र नहीं बनाता जो आगम स्वतंत्रता का ध्यान कराता है। स्वतंत्र सत्ता का ज्ञान आगम में नहीं मिलता, तो जितनी स्वतंत्रता से आपके सामने बोल रहा हूँ, वह सब बोल नहीं सकता था। आपने देखा होगा कि लोग लपेट-लपेटकर बोलते हैं। पर आज तक मैंने कोई लपेटकर नहीं बोला, पर यूँ कह दिया कि भ्रम से नहीं बोल रहा हूँ। क्योंकि आपका निर्णय झूठा हो सकता है, पर आगम का निर्णय झूठा नहीं हो सकता।

जिह्वा के जिस स्थल पर नमक का स्वाद लिया जाता है, उस स्थल पर मिश्री का स्वाद नहीं लिया जाता। आप मिश्री की एक डली कण्ठ के समीप रखना। बताओ स्वाद कैसा है? अन्दर चला जायेगा, लेकिन मिश्री का स्वाद नहीं ले पायेगा। क्यों? दाँतों के पास में जिह्वा की नोक पर स्वतंत्र प्रदेश हैं, उन प्रदेश पर स्वाद आता है। तेरी आत्मा में तेरी तन के साथ इतनी ही भिन्नता है। पाँच इन्द्रियों में आत्मा है कि नहीं? पाँच इन्द्रियों में आत्मा है। एक स्थान से ही सम्पूर्ण इन्द्रिय का स्वाद क्यों नहीं ले लेती? ज्ञानी! प्रत्येक इन्द्रिय के प्रदेश स्वतंत्र हैं। अखण्ड ध्रुव आत्मा होने पर भी अनुभव तद्विषय का तदस्थान पर ही आता है, भिन्न स्थान पर भिन्न का स्वाद नहीं आता है।

हे ज्ञानी! शादी जिसकी हो रही है, दूल्हा वही कहलाता है और शादी की अनुभूति वही ले रहा है। शादी के समारोह में समाज खडी हो जाती है, पर स्वतंत्रता दूल्हे की है। ज्ञानी! उपयोग जिस इन्द्रिय पर जाता है, शेष सब इन्द्रियों का उपयोग हट जाता है। एक समय एक ही काम। जब कर्ण-इन्द्रिय का उपयोग होता है, तो आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेश कर्णन्द्रिय के साथ हो जाते हैं। जिसका पलड़ा भारी होता है, आप वहीं पहुँच जाते हैं। ऐसे ही जिस इन्द्रिय का कार्य प्रारंभ हो गया है, तब सभी इन्द्रियाँ उसमें ही तन्मय हो जाती हैं। जैसे ही वहाँ से हटा, तब दूसरी जगह पहुँच जाती हैं।

जब आप अब्रह्मरूप में परिणति करते हो, तब उन आत्मप्रदेशों को वैसा आनंद होता है। वही परमानंद शुद्ध स्वरूप में विराजमान होता है, तब इन्द्रियाँ सभी बैठी रह जाती हैं और उपयोग तन्मय हो जाता है।

### “अर्पितानर्पिता सिद्धे”

महावीर जयन्ती के दिन तेईस तीर्थंकर का पता ही नहीं चलता कि कहाँ हैं, क्योंकि प्रधानता महावीर स्वामी की है। जिस दिन तुम सबसे रहित होगे, उस दिन 'जिन' से सहित होगे। जब तक इनसे रहित नहीं और जिन से सहित नहीं, तब-तक परावर्तन चल ही रहा है। आप यहाँ सुन रहे हो न, यह भी सुकृत है, पुरुषार्थ है। सत्य को सुनने आये हो, कभी-न-कभी यह उदय में आयेगा। शुद्ध समरसी भाव को, परभाव की मिलावट की जरूरत नहीं है। इसमें जो लिप्त हो जाता है, वह पर से अलिप्त होता है। रसवन्ती को चखने पर द्वैतभाव होता है। रस-रस को पीने पर अद्वैतभाव होता है। रसवन्ती यानी जलेबी। उस जलेबी में आटे का स्वाद साथ में चलता है, पूरा स्वाद नहीं आता है, जो शुद्ध रस शुद्ध का स्वाद देता है। ऐसे ही भक्ति आदि व्यवहार-धर्म है, जलेबी का स्वाद है। जो निश्चय शुद्धात्मा का स्वभाव है, वह शुद्ध रस का स्वाद है।

व्यवहार 'व्यवहार' है, व्यवहार 'निश्चय' नहीं है। व्यवहार 'निश्चय' का साधक है, व्यवहार 'साध्य' नहीं है, साध्य निश्चय ही है। जलेबी, जलेबी है, रस, रस है। जलेबी में रस नहीं है, जलेबी के अन्दर रस है। सूखी जलेबी खा कर देख लेना (विना रस की), कोई स्वाद नहीं आता। जलेबी में रस भरा गया है। जो भरा गया है, वह सत्य नहीं होता है। जो होता है, वह सत्य होता है। रस में रस भरा नहीं जाता, जलेबी में रस भरा जाता है। जलेबी रस से युक्त है, पर रस नहीं है।

भूतार्थ तो भूतार्थ है और अभूतार्थ भी अभूतार्थ है। विश्वास रखना, द्वैत भाव में सारा जीवन नष्ट हो रहा है। कम-से-कम वह श्रेष्ठमय है, जो भगवान् का द्वैत भक्त बनकर जी रहा है, वह कभी भगवान् बन जायेगा। पर तुम तो भोगों के गर्त में (द्वैत में) जी रहे हो। ये द्वैतभाव नीचे गिराने वाला ही है। जब तन व चेतन का द्वैतभाव भ्रमित करा देता है, तो पर का द्वैतभाव निज चैतन्य कैसे दिलायेगा? आप कहें या न कहें, पर आप वस्तुओं को अब देखते नहीं, पोते को दिखाने जाते हो मेला। जब मिलने का समय आया, तो मेला देखने चले गये। युवावस्था में कषाय, भोग, वासना मिलने नहीं दे रहे थे। अब ठण्डे पड़ गये न? ठण्डे (ठहरे) पानी में नीचे का मोती भी दिखता है। आप ठण्डे पड़ गये थे, फिर भी आप बच्चे के साथ घूमने गये थे। समझो, मैं क्या कह रहा हूँ। ठण्डे पड़ गये न? तो गर्मी की यादें भी छोड़ दो। ठण्डे तो पड़ जाते हैं, पर गर्मी की यादें ठण्डा पड़ने नहीं देती। इतना समझाना था।

ग्यारहवीं गाथा निश्चय-प्रधान है। निश्चयनय-प्रधान मत कहना। निश्चय शुद्ध है, नय 'कथनशैली' है, वह तो कहता है, पर वस्तु निश्चित होती है। व्यवहारनय अभूतार्थ है। जो शुद्ध नय है, उसे भूतार्थ कहा है। निश्चय में जो निश्चय को आश्रित करता है, वही सम्यग्दृष्टि है। निश्चय से ये हाथ है, अंजुली है, मुष्टि है, आशीर्वाद है। अंजुली पर्याय थी। पर्यायी के साथ हाथ की पर्याय भी बदल रही थी। कर ही नहीं बदल रहा है, करण भी बदल रहा है। करण नहीं बदलेगा, तो कर कैसे बदला? हाथ की पर्याय बदल रही थी, पर्यायी के परिणाम भी बदल रहे थे। जैसी पर्यायी की रचना होती है, वैसी पर्याय बनती है। ये मुनिराज आशीर्वाद भी देते हैं, तो अंजुली भी बनाते हैं। अंजुली बनाते समय आशीर्वाद नहीं देते हैं। यदि हर समय आशीर्वाद की पर्याय बनाये रखूँगा, तो पेट नहीं भर पायेगा। ज्ञानी ! हर समय ऐसी पर्याय रहेगी, तो परमात्मा नहीं बन पाओगे। यह जैनतत्त्व है। यह है वस्तुरवरूप। जहाँ लगाना चाहो वहाँ लगा लो। माँ के पास तू एक-सी पर्याय में नहीं जाता। एक पर्याय से सबको देखेगा, तो इस लोक में व्यभिचार छा जायेगा, विचार नाम की वस्तु नष्ट हो जायेगी, व्यभिचार खड़ा हो जायेगा। इसलिए पर्याय ही नहीं बदलती है, परिणाम भी बदल रहे हैं। ये अज्ञानियों के शब्द हैं कि 'पर्याय का परिणामन पर्याय में हो रहा है, तू तो शुद्ध द्रव्य है।' विषय को समझो। द्रव्यदृष्टि से शुद्ध है, परन्तु द्रव्य अभी विकारों से युक्त है। चार्वाक हैं सब- 'जब तक जीयो सुख से जीयो, नहीं हो तो ऋण लेके जीयो। किसने देखा नरक?' ये चार्वाक हैं विषयों में समाधि नहीं, समाधि में विषयानुभूति होती है।' तो समयसार ग्रन्थ का दुरुपयोग किया है। आप चाहो तो मैं कई अर्थों में इसको सुना सकता हूँ। वे कई रूप यहीं रह जायेंगे, एकरूप नहीं हो पायेंगे। एकरूप को प्राप्त करना है तो शुद्धनय से कथन करना पड़ेगा। समाधि में भोग नहीं होते और भोगों में समाधि भी नहीं होती। ध्रुव सत्य है।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

पक्ष से शून्य होकर एक दिन तो स्वतंत्रता का वेदन कर लो। एक दिन न सही, एक मिनट कर लो, स्वतंत्रता का वेदन। मेरे में मनुष्य जाति नहीं है, मेरे में मनुष्यायु नहीं है, मेरे में मार्गणा व गुणस्थान नहीं है। मैं बन्ध से भी शून्य हूँ। मेरे में समाज क्या, संग क्या, सम्प्रदाय क्या, जाति क्या? तू मेरा शिष्य पहले बना था, कि जीव पहले था? क्या जगत की लीला है, अपनी स्वतंत्र सत्ता को कैसे खो रहा है। मेरा शिष्य तू नहीं बना, पर का शिष्य नहीं बना, पर का पति नहीं बना, पर की पत्नी नहीं बनी। जगत का कोई भी ज्ञेय किसी के ज्ञान को पराधीन नहीं करता। प्रमिति 'प्रमिति' है, प्रमिति 'प्रमाण' नहीं है। प्रमाता 'प्रमाता' है, प्रमेय 'प्रमेय' हैं; परन्तु प्रमेय प्रमाता नहीं है, प्रमाता प्रमेय नहीं है। प्रमाण प्रमाण है, प्रमाता का धर्म है प्रमाण, प्रमाण का फल है प्रमिति, प्रमाण का ध्येय है प्रमेय। प्रमाता ध्रुव है, प्रमाण ध्रुव है, प्रमिति (जानन क्रिया) परिणमनशील है। प्रमेय प्रमेय है, प्रमेय कभी प्रमाण से कहने आया नहीं, हे प्रमाता! तू अपने प्रमाण से मुझे प्रमिति रूप निहार। प्रमेय यानी ज्ञेय। प्रमेय ने किसी प्रमाता को किसी प्रमिति से च्युत किया नहीं। प्रमाता ने ही प्रमिति प्रमेय में प्रवेश किया। प्रमेय कभी प्रमाता में गया नहीं। हे प्रमाता! तू अपने प्रमाण से अपने को प्रमेय बनाता, अपनी प्रमिति से अपने प्रमेय को निहारता, वही तुम्हारी शुद्धात्मा की शुद्धि है। अध्यात्म भाषा को न्याय भाषा में कहा जा रहा है। जिसे अध्यात्म निर्विकल्प ध्यान कहेगा, उसे दर्शनशास्त्र क्या कहेगा? हे प्रमाता! अपने प्रमाण से, अपने को ही प्रमेय में, अपनी प्रमिति से जानो, यही निर्विकल्प ध्यान है। कण-कण स्वतंत्र है। ज्ञेयों ने ज्ञाता को भ्रमित नहीं किया, ज्ञाता ही ज्ञेयों में राग लेकर जाता है। प्रमिति का काम प्रमित यानी फल जानन क्रिया है। ज्ञान जानता है, ज्ञान का काम जानना है। प्रमिति जता रही है, क्रिया कर रही है। अज्ञानता की हानि हो रही है, उपेक्षाभाव जग रहा है। ज्ञाता! तू ज्ञायकभाव में लवलिन हो जा। मैं ज्ञेय हूँ, मैं ज्ञाता नहीं हूँ। पर ज्ञेय ज्ञाता होते नहीं, पर ज्ञेय ज्ञाता कभी हुए नहीं, होंगे नहीं। परन्तु ज्ञेय तो ज्ञेय है, ज्ञाता नहीं। परन्तु ज्ञाता ज्ञेयों का जानने का राग लाता है। ज्ञेय ज्ञाता को राग उत्पन्न करते नहीं, ज्ञेय ज्ञाता हुए नहीं, ज्ञेयों ने ज्ञाता को बुलाया नहीं, ज्ञेयों ने ज्ञाता को कभी भगाया नहीं, ज्ञाता कभी ज्ञेय होता नहीं, ज्ञाता ज्ञेय में जाता नहीं, फिर भी ज्ञाता ज्ञेय में राग करके अपने ज्ञातृत्व भाव को खो रहा है। इसलिए ज्ञेय तो ज्ञेय है, ज्ञाता भी ज्ञाता है। हे ज्ञाताओ! ज्ञेय को ज्ञेय जानिये, ज्ञाता को ज्ञाता जानिये। निज ज्ञान, निज ज्ञेय, निज ज्ञप्ति ही तेरा ध्येय हो, पर-ज्ञान, पर-ज्ञातृत्व तेरा स्वभाव नहीं है। ज्ञायकभाव ही तेरा स्वभाव है। ज्ञेयों ने तुझे भ्रमित किया नहीं, परन्तु ज्ञाता ही राग से भ्रमित हुआ है। पेन ज्ञेय है, ज्ञाता नहीं है। किलना महान है, जो कि त्रैकालिक अपने चतुष्टय में लीन है, किसी भी ज्ञाता से कहता नहीं, कि तू मेरा नाम ले। परन्तु ज्ञाता ज्ञाता होकर अज्ञाता है कि मेरा नाम ले रहे हैं। अरे! इतने में निज का ध्यान कर लेता तो मेरा नाम क्यों लेता? मेरा नाम न लेता। मेरा ज्ञान स्वयंमेव हो जाता है, केवलज्ञान।

ज्ञाता! ज्ञेय में दोष देने की आदत छोड़िये। किसी भी भोदक ने तुझे बुलाया नहीं। लड्डू ने कब कहा या श्रीफल चढाया कि आओ, मुझे खा जाओ? अपने उपादान को क्यों नहीं दोष देता है कि तू ही गया, तूने ही खाया, अब पेट दर्द कर रहा है तो तू ही भोग। परन्तु पर-ज्ञेयों से छूटने में पुरुषार्थ चाहिए, शुष्क हृदय चाहिए, सूखा हृदय। कुछ विषय ऐसे आते हैं कि मैं आपको शब्दों में बता नहीं सकता हूँ। जो मैं 'शुष्क' शब्द पर जोर दे रहा हूँ, वह अन्दर की अनुभूति बोल रही है। 'शुष्क हृदय चाहिए', यहाँ पर प्रेम, वात्सल्य पर नहीं जाना। यह सब राग की दशा है। ज्ञायकभाव तो वीतरागभाव मात्र है। जाननभाव भी रागभाव है, ज्ञायकभाव

शुद्धशुष्क चिदानंद भाव है। जाननभाव रागभाव है कि मैं जानूँ इस समयसार में क्या लिखा है? समयसार स्वभाव नहीं है, तू समयसार को जानने का रागी है। बहुत सारा विषय मेरे मस्तिष्क में आता है, हृदय में आता है, मैं आपको बताता नहीं हूँ। यदि बता दूँगा तो आप यही कहोगे कि महाराज ! लोक में बैठे क्यों हो ?

एक विद्वान् ने कहा- महाराज श्री ! आप समयसार की बात करो। तो समयसार की जैसे ही बात की, उसी समय वह विद्वान् हाथ जोड़ता है 'महाराज ! व्यवहार का लोप हो जायेगा।' इतनी जल्दी घबड़ा गया। अरे ! व्यवहार का लोप होता ही नहीं है, निश्चय की प्राप्ति होती है। यदि मंजिल की प्रथम सीढ़ी पर पैर रखा है, तो सीढ़ी का लोप नहीं हो गया, तेरे लिए अगली सीढ़ी बन गई है। अभी समझ नहीं रहे निश्चय व व्यवहार वाले। निश्चय की चर्चा से व्यवहार का लोप होने लग गया, तो सत्ता का विनाश हो जायेगा। निश्चय की भाषा से व्यवहार का लोप नहीं होता है। निश्चय की भाषा से व्यवहार का जो सारभूत है, उसकी प्राप्ति होती है। क्या करूँ ? जितने वक्ता हैं, वक्तृत्व की गहराई में जाये बिना बोलकर आ जाते हैं और लोगों को भ्रमित कर देते हैं। एक कहता है कि व्यवहार की बात हो रही है, वहाँ पर नहीं जाना, अन्यथा निश्चय धर्म का लोप हो जायेगा। दूसरा कहता है कि निश्चय की बात हो रही, वहाँ मत जाना, अन्यथा व्यवहार धर्म का लोप हो जायेगा। हे ज्ञानी आत्माओ ! अभी तुमने वस्तुस्वरूप को नहीं जाना है। जो जीव है, तुम हजार आदमी को लेकर उसे जड़ कहने लग जाओ, पूरा सिद्धांत ही बना दो कि अमुक पुरुष जड़ है लेकिन कागज भर जायेंगे, ग्रन्थ लिख जायेंगे, पर विश्वास रखना, उसे तुम जड़ नहीं बना पाओगे, तुम्हारी दृष्टि जड़ में जड़ जायेगी। वह तो जैसा है, वैसा ही होता है। मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व सिद्धांत से वस्तु मिथ्या नहीं होती है। तेरा भाव मिथ्या होता है। वस्तु तो जैसी होती है, वैसी होती है। कष्टरवादी होना पड़ेगा। सिद्धांत में कष्टरता ही होती है, सिद्धांत कभी ढीला होता ही नहीं है। जड़ को जड़रूप निहारो, चैतन्य को चैतन्यरूप निहारो, परन्तु जड़ में जड़ मत जाना। चैतन्य को समझने के लिए जड़ को जानो।

विषय को भूलना नहीं, मैं किस पर जोर दे रहा हूँ ? शुष्क हो जाइये। शुष्क यानी सूखापन, किंचित भी आर्द्रता नहीं। यदि सोंठ की गाँठ में गीलापन रह जायेगा, तो डिब्बे में भर दो तो सड़ जायेगी, और पूर्ण शुष्क हो जाये तो औषधी बनती है। सोंठ औषधी है, काष्ठ-वनस्पति है। पर गीली है तो अभक्ष्य है। गीली है तो अनंत संसार है, सूख जाये तो परम सिद्धशिला है। राग नीर में किंचित भी गीलापन रह जाये तो आत्मा अनंतकार्यों को धारण करेगा, राग से शुष्क हो जाये तो सिद्धशिला पर ही विराजेगा। ये मित्र, शत्रु, भगिनी, जनक, जननी कुछ नहीं। मैं स्वतंत्र हूँ। मेरी स्वतंत्रता का जनक न हुआ, न होगा। मेरी स्वतंत्रता की जननी आज तक न हुई है, न होगी। जितने जनक-जननी हैं, वे मिश्रधारा कर रहे हैं। स्वतंत्रधारा तो मेरी है। जितने जनकजननी हैं, वे तन को उत्पन्न करने में निमित्त तो हैं, परन्तु चेतन के उत्पन्न करने में निमित्त नहीं हैं। करने में वैराग्य हो गया, तो किससे पूछूँ, किससे बोलूँ ? भूल जाइये मेरा बेटा, मेरी बेटा। मैं तेरा पिता या पुत्र हूँ, भूल जाओ। कितने चले गये। राग को छोड़ो। कितने मिले थे मार्ग में, कितने छूटे थे मार्ग में, पर एक भी मिलकर रह न पाये, फिर भी यहीं बैठे हो। यही तो तेरे पाप-पुण्य का फल है, शुष्क हो रहे हो।

समझ में आ रहा है ? अरे, अच्छी बात है जो इतना तो समझ में आ रहा है कि समझ में नहीं आ रहा। मैं इतना ही समझाना चाहता हूँ, कि समझ में नहीं आ रहा। इतने भव बीत गये, फिर भी समझ में नहीं आ रहा है, फिर क्यों पड़ा है ? अब समझ में आ गया। दाँत निकल गये, शरीर हिलने लग गया, इन्द्रियाँ

शिथिल हो गई, फिर भी समझ में नहीं आ रहा, यह क्या समझना चाहता है ?

बिना न्याय के अध्यात्म समझ में नहीं आता। आप भाग्यशाली हो कि बनाबनाया मिलता है। शुष्क होना है। मिट्टी सूखी है, तो हाथ सूखा है। सूखी मिट्टी उड़ती है, आप पानी डालकर मिट्टी को दबाते हो। जो मिट्टी नभ में उड़ रही थी, तुमने उसे दबा दिया। तो, ज्ञानी ! चैतन्य घट शुष्क होने पर आत्म-धूल सिद्धालय की ओर उड़ती है। पर राग का पानी सींचते हो, कि तुम दब जाओ। दबा ही पायेंगे, उडा नहीं पायेंगे। शुष्क हृदय जब हो जाता है राग के नीर से, तब आत्मा करती है ऊर्ध्वगमन। शुष्क होना चाहिए।

परन्तु ध्यान दो, शुष्क का तात्पर्य किसी को अशुभ शब्द बोलना नहीं समझना। शुष्क का तात्पर्य वात्सल्य का अभाव मत समझना। महाराज ! देखें। अरे ! हमें नहीं मालूम, अभी बात मत करो हमसे। यह कोई शुष्क है, नीरस है, इसमें कोई रस नहीं है। स्वतंत्र हो जाओ, पूर्ण स्वतंत्र हो जाओ। अपने मस्तिष्क में लाइये कि मैं पूर्ण स्वतंत्र हूँ। परिवार को दोष मत देना, परिवार पर खोटे भाव मत लाना। राग का पानी उलीचिये, परिवार को दोष मत दीजिए। परिवार बाँधकर रखता नहीं। मन में किंचित भी राग न हो तो परिवार किसी को पकड़ता नहीं है। आप कितना ही कहें, कि महाराज ! गृहस्थी देखनी पड़ती है। मैं तो नहीं मानूँगा, क्योंकि मैंने देख लिया है कि कोई किसी को पकड़ सकता नहीं, पकड़कर रख सकता नहीं। जब मैं ही ढीला पड़ता हूँ, तभी मुझे लोग पकड़ते हैं। ये तो आप स्वयं वेदन कर रहे हो। क्या घर में ऐसे शान्त बैठते हो ? नहीं बैठ पाते हो। यह चमत्कार है, आश्चर्य है कि यहाँ पर एकसाथ शान्त बैठे हो।

जो विद्या सीखनी है, उसके अध्यापक के पास बैठना पड़ता है। निज स्वरूप को पाना है तो ब्रह्मविद्या को जाननेवाले के पास जाना पड़ेगा। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का प्रभाव पड़ता है। पर द्रव्यक्षेत्र का भाव आता है, कि आपका जैसा मन चाहता है, वैसा आपका द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव बनता है ? जिस हाल में आप बैठे हो, इस हाल में 'समयसार' चल रहा है, इस हाल में ही शादी होती है। हे ज्ञानी ! जो परम अमंगल का कारण है, उसे मंगल कहता है, और जो परम मंगल है, उसे देखता नहीं है। भाव निर्मल हो तो क्षेत्र निर्मल हो जाता है। पर की गाली से प्रभावित मत होना, तेरे मस्तिष्क को प्रभावित करने का काम कर रहा है। ऐसी बातें डाली गई कि सोचने लग गया। मालूम चला कि जो घंटों-घंटों प्रवचन सभाओं को बाँधकर रखता है, वह उन्मत्त हो रहा है। विक्षिप्त हो जाओगे। चार व्यक्ति आर्ये आपके कमरे में, एक-सी बातें करें, क्योंकि आप अकेले हो। चार की वर्गणाएँ एक-सी चल रही हों तो भ्रमित कर देंगे। आप साधु-संतों के पास नारियल चढ़ाने अकेले नहीं जाते, समूह में जाते हो। अन्दर की बात क्या है ? भीड़ की उपस्थिति ने आपको प्रभावित कर दिया। शादी में भीड़ रहती है, दूल्हे को घेरे रहते हो, माहौल बना देते हो, जिससे वह खुश हो जाता है। पर जब छोड़कर जाते हैं, तब मालूम चलता कि क्या हो गया।

चलते-चलते जब व्यक्ति थक जाता है तो थोड़ी देर पेड़ की छाया में बैठकर विश्राम करता है, फिर उसी रफ्तार से चलता है, जबकि उसने कुछ खाया भी नहीं था, पीया भी नहीं था। यह शक्ति कहाँ से आई फिर से चलने की ? आप जब चल रहे थे, तो वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम नष्ट हो रहा था। आप बैठ गये, तो जो व्यय होनेवाली शक्ति थी, वह इकट्ठी हो गई, शक्ति बढ़ गई। जो जितना बैठता है, स्थिर रहता है, उतनी शक्ति उसकी इकट्ठी होती है, जो ऊपर की ओर ले जाती है। शक्ति को वाष्पित करने की विद्या सीख लो, तो जगत में परम कल्याण बन जाये। बस, जो ज्ञान ज्ञेय में जा रहा था, उस ज्ञान को ज्ञाता में लाओ।

गाय के दूध को गाय को पिलाइये शाम को, सुबह दूना दूध निकाल लो गाय से। किसान गाय को हरी घास खिलाता है, और गाय का दूध गाय को ही पिलाता है तो दूध ज्यादा मिलेगा। ध्यान दो, ज्ञान को ज्ञेय में ले जाइये, परमशुद्ध ज्ञाता बनाइये। ज्ञान को निज ज्ञेय में ले जाइये, ज्ञाता बनाइये। वह बाहर नहीं जायेगा, वह ऊपर ले जायेगा। विशुद्धि अंश बढ़ते हैं न। विश्वास रखना, मस्तिष्क का ज्यादा उपयोग करोगे, तो विशुद्धि अंश ज्यादा नहीं बढ़ते, थकान आती है। मस्तिष्क का काम कम कर दो, परिवार से हटा लो, आँखों को बंद करके बैठ जाओ तो शक्ति बढ़ेगी, विशुद्धि प्रदान करेगी। शक्ति तो शक्ति है, विद्युत तो विद्युत है। आप बिजली को संचित कर लेते हो बैटरी में। हीटर जलाओगे तो जल्दी नष्ट होगी। इसलिए आप कम-से-कम जलाते हो, तो रात्रि भर प्रकाश में रहते हो। चैतन्य के प्रकाश में तू भेदविज्ञान का दीप जलाता है, तो चित् ज्योति का प्रकाश तेरे चैतन्य भवन में होता है। भोगों का हीटर जला डाला, तेरी शक्ति नष्ट हो गई, तो क्या करेगा? शील को पालने वाला एक अरसी साल का भी उछलता-कूदता है और अट्टाईस साल का युवक जिसका शील भंग है, वह थका दिखता है। यह है ध्रुव सत्य। शक्ति जैसी मेरे पास है, वैसी आपके भी पास है। अंतर इतना है कि एक ही बल्ब जलाओ तो रातभर प्रकाश में रहेंगे, तुमने हीटर आदि सारी लाइट जला डाली, तो बैटो अंधेरे में। हम कमण्डलु को बड़े मुख से भरवाते हैं और टोंटी से निकालते हैं। ज्ञानी! तत्त्वदृष्टि को मुख से भरना चाहिए और निकालना टोटी से चाहिए। क्या करूँ? आवक है टोटी से, निकाल रहे मुख से।

स्वकार्य में होने पर भी कार्य तेरा स्वकार्य नहीं है। अपने स्वकाय में वस्त्र है, स्वकाय में शरीर है, चैतन्य है, फिर भी तेरा चैतन्य स्वकार्य नहीं कर रहा है, इसलिए पर का भान किये बैठा है। वस्त्र अपने चतुष्टय में है। ये सभी द्रव्य, गुण, पर्याय स्वतंत्र हैं। पर स्वकाल में ही स्वकार्य नहीं कर रहे हो। स्वकाल में स्वकार्य नहीं होगा, तो स्वतंत्र नहीं हो पाओगे। स्वकाल में स्वकार्य होना अनिवार्य है। इसका नाम संयम है। इस 'समयसार' ग्रन्थ से कई मिथ्यात्व निकालते हैं। आप विश्वास मानिये। हे मुमुक्षु! हर वस्तु का कार्य स्वकार्य नहीं होता, अन्यथा सुरापान को मोक्ष मानने वाले भी सम्यग्दृष्टि हो जायेंगे। दर्शनशास्त्र विशाल है। ऐसे-ऐसे दर्शन हुए हैं, जिनमें सुरा-सुंदरी के सेवन को मोक्ष माना है। चार्वाक कहता है कि प्रत्यक्ष प्रमाण को माननेवाला भी मिथ्यादृष्टि होता है। क्यों? प्रत्यक्ष-प्रमाण के सामने न महावीर आयेंगे, न आदिनाथ आयेंगे, न आपके दादा आयेंगे, न दादी आयेगी। प्रत्यक्ष-प्रमाण को माननेवाले के सामने न भूत आयेगा, न भविष्य आयेगा, मृत्यु नहीं होगी, अगर हो जायेगी तो जन्म नहीं होगा। प्रत्यक्ष-प्रमाण को मानने वाला अपने घर नहीं पहुँच पायेगा। कैसे? प्रत्यक्ष-प्रमाण मात्र मानना घोर मिथ्यात्व है। कभी-कभी धर्मग्रंथ को पढ़ते-पढ़ते भी मिथ्यात्व नहीं जाता। कोई 'मत' मानकर बैठ गया। बहुत से लोग मंदिर जाते हैं, दुकान के लिए, बेटे के लिए। यह सब शुद्ध मिथ्यात्व है। क्योंकि उसने भगवान् को कर्त्ता बना दिया। जबकि भगवान् की भक्ति करोगे तो असाता कर्म का संक्रमण होगा, पुण्य उदय आयेंगा, तो तुम्हारे काम बन जायेंगे, भगवान् कुछ नहीं करेंगे। एकत्व-विभक्त्य भावना में तो रहना है, परन्तु परम्परा से भी दूर रहना है, नहीं तो विपरीत दशा फैल जायेगी, सिद्धांत नष्ट हो जायेगा।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

५ ५ ५

सत्यार्थदृष्टि सम्यग्दृष्टि। यहाँ व्यवहार को अभूतार्थ कह रहे हैं, निश्चय को भूतार्थ कह रहे हैं।



परन्तु अभूतार्थ का अर्थ अभाव ग्रहण नहीं करना। यदि अभूतार्थ को अभावरूप में सर्वथा ले लो, तो 'एकम खलु द्वितीयो नास्ति' यह सिद्धांत, जो ब्रह्म अद्वैतवादियों का है, आपके यहाँ प्रारंभ हो जायेगा। 'समयसार' एक ऐसा अलौकिक ग्रन्थ है, जिसमें शुद्ध तत्त्व का व्याख्यान है। अगर व्याख्याता और श्रोता दोनों सजग नहीं हैं, तो एकान्त में डूब जायेंगे। यदि हमने अभूतार्थ का अर्थ अभावरूप में ग्रहण कर लिया तो, पूर्ण असत्य रूप ही ग्रहण कर लिया। जैसा ब्रह्मद्वैतवादी कहता है, कि एकमात्र शुद्ध तो ब्रह्म ही है, बाकी कुछ नहीं है। यदि कुछ नहीं है, तो ब्रह्म की सिद्धि कैसे होगी? ब्रह्म की सिद्धि ब्रह्म से नहीं होती है, ब्रह्म की सिद्धि अब्रह्म से होती है। प्रथम पक्ष ही नहीं है तो द्वितीय पक्ष क्या? विपक्ष ही तो सपक्ष की सिद्धि कराता है। वादी हो और प्रतिवादी न हो, तो यह वाद किसके लिए? ब्रह्म है, तो अब्रह्म भी है। अब्रह्म का अभाव ही तो ब्रह्म है। विपक्ष की व्यावृत्ति तब होगी, जब सपक्ष सत्य होगा। सत्य ही नहीं है पक्ष-विपक्ष का, फिर सिद्धि किसकी? इसलिए ध्यान रखना, ग्यारहवीं गाथा पर ज्ञानी जोर तो देते हैं, पर चारों ओर से नहीं समझाते, तो दोनों ओर विकल्प खड़े हो जाते हैं। आप अब्रह्म को ही ब्रह्म मत मान लेना, आप अब्रह्म से ब्रह्म का नाश मत कर देना, क्योंकि अब्रह्म के बिना ब्रह्म प्रगट होता नहीं है। निश्चय, निश्चय है; व्यवहार, व्यवहार है। निश्चय की अपेक्षा से व्यवहार अभूतार्थ है। मिट्टी मिला पानी शुद्ध नहीं है, तो पानी नहीं है क्या? पानी तो है, लेकिन शुद्ध नहीं है। ऐसा ही व्यवहार पक्ष है, शुद्ध नहीं है, इसलिए अभूतार्थ कह रहे हैं। पर अभावभूत अभूतार्थ नहीं है। समझ में आ रहा है न?

जो टीका आचार्य अमृतचन्द्र करने जा रहे हैं, इस टीका में शुद्धनय की प्रधानता से कथन है। मैं इसलिए समझा रहा हूँ कि जब टीका करूँगा, तो प्रश्न न करना पड़े कि व्यवहार का नाश तो नहीं हो जायेगा? व्यवहार का नाश नहीं होगा। व्यवहार आत्मा का स्वभाव नहीं है। शैवाल पानी पर है, शैवाल का अभाव नहीं है, पर शैवाल पानी का स्वभाव नहीं है। कर्म आत्मा में है, कर्मों का अभाव नहीं है, पर कर्म आत्मा का स्वभाव नहीं है। देखो, व्यवहार पक्ष से कह रहा हूँ। आप निश्चय को नहीं जानोगे, नहीं समझोगे, तो साधना किसके लिए, क्या उद्देश्य है साधना करने का? पानी पीना ही था, तो पानी पी लेना चाहिए था तालाब में जाकर, हाथ मारने की आवश्यकता नहीं थी। हाथ से शैवाल को अलग क्यों करते हो? शैवाल के नीचे पानी है, आप इतने ज्ञानी हो, पानी से शैवाल को हटकार पानी पीते हो। ऐसे ही व्यवहारनय कहता है कि मैं शैवालरूप आच्छादित हूँ, मेरा अभाव नहीं है, पर पानी मेरा स्वभाव नहीं है। मेरे हटाये बिना स्वच्छ पानी पीने को मिलता नहीं। कर्म कहते हैं कि मैं व्यवहार से आत्मा में हूँ, परन्तु मैं आत्मा नहीं हूँ। मेरे को गौण किये बिना आत्मा का स्वाद आता नहीं। इसलिए शैवाल अभूतार्थ है। अभूतार्थ का अर्थ अभाव नहीं लेना। प्रयोजनभूत नहीं है। भूल यहाँ कर लेते हैं लोग, कि भावुकता में अप्रयोजनभूत को अभावभूत बोल देते हैं। बहुत बड़ी गलती है। अभूतार्थ का अर्थ है कि यह प्रयोजनभूत नहीं है। जो प्रयोजनभूत नहीं है, वह हमारे लिए असत्यार्थ है और जो प्रयोजनभूत है, वह हमारे लिए सत्यार्थ है।

सुनो, व्यवहारिक भाषा में सुनो, एक गृहस्थ को वंश चलाने के लिए स्त्री भूतार्थ है, पर ब्रह्म-वंश को चलाने के लिए स्त्री अभूतार्थ है। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए स्त्री अभूतार्थ ही है। अभूतार्थ का मतलब 'प्रयोजनभूत नहीं है', इसलिए अभूतार्थ है। इतना अंतर आपके लिए निश्चय और व्यवहार में है। शुद्धात्मा भूतार्थ है, अशुद्ध आत्मा अभूतार्थ है। अशुद्ध आत्मा का विषय बनता है व्यवहार से, शुद्ध आत्माका विषय बनता है निश्चय से।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी अब व्याख्या कर रहे हैं। मैं भी अब निश्चय पर ही बोलूँगा, व्यवहार को

नहीं बोलूँगा। आप घबड़ाना नहीं। समयसार कहता है, पात्र बदल रहे हैं, पर्दा गिर रहा है। यह सब नाटक है। व्यवहार अपना दृश्य दिखाकर चला गया, अब निश्चय प्रवेश कर रहा है। दृष्टि बदल दीजिए, समयसार का हर अधिकार रंगमंच रूप है, यानी जैसे रंगमंच पर पात्र आता है, ऐसे ही व्यवहार को अभूतार्थ कहते हुए, निश्चय को भूतार्थ कहते हुए यह कथन प्रारंभ हो रहा है। अब आप वही समझना जैसा कहा जा रहा है। व्यवहारनय अभूतार्थ है क्योंकि व्यवहारनय अभूतार्थ होने से अभूतार्थ को प्रगट करता है। शब्दों पर ध्यान दो। नीम कड़वी होने से मिश्रीपन का अभूतार्थपना है। अभूतार्थ को प्रगट कर रहा है, इसलिए अभूतार्थ है। मेरा प्रयोजन मिश्री खाने का था, पर दी गई है नीम, तो नीम मिश्री है क्या ? नहीं है। मिश्री की अपेक्षा से नीम अभूतार्थ है। अभूतार्थ होने से अभूतार्थ को प्रगट कर रहा है। व्यवहार अभूतार्थ है, क्योंकि मेरी दृष्टि परमार्थ पर है।

बिल्कुल तन्मय होकर सुनना। अभी मैं अध्यात्म की भाषा में नीति का, वैराग्य का कथन भी नहीं कर रहा हूँ। यह कारिका अध्यात्म के सिद्धान्त को ग्रहण कर रही है। हर नय का अपना-अपना सिद्धांत होता है। यह द्रव्यानुयोग का सिद्धांत है, यह समझ में आ गया तो पूरा समयसार समझ में आयेगा। मुझे मिश्री चखना है। तो नीम में मिश्रीपना है क्या ? नहीं है। नीम मिश्री से अभूतार्थ है, वह अभूतार्थ को ही कह रही है, मैं मिश्री नहीं हूँ। अशुद्धात्मा मनुष्यादि शरीर से युक्त नीम स्थानीय है। शुद्धात्मा मिश्री स्थानीय है। नीमस्थानीय अशुद्धात्मा व्यवहार है। व्यवहार पक्ष है प्रतिक्रमण करना, सामायिक करना, प्रत्याख्यान करना। हे ज्ञानी ! ये छोड़ना-छोड़ना, पर को भी छोड़ना है। पर से ही छोड़ना है। इसके छोड़ने का राग भी निज भाव नहीं है। परभाव तो परभाव से हुआ है। निजभाव में लीन नहीं हो रहा है, इसलिए व्यवहार अभूतार्थ है। एक जीव कहता है कि मैं इस पाटे का प्रत्याख्यान करता हूँ, पाटा मेरे से भिन्न है, मैं पाटे से भिन्न हूँ, मैं शब्द से भी भिन्न हूँ। पाटा तो अत्यन्ताभाव रूप भिन्न था, 'मैं' भी अन्योन्य अभाव है। 'मैं' शब्द भी पुद्गल की पर्याय है। 'मैं' शब्द मैं नहीं हूँ। जो 'मैं' शब्द बोल रहा है, वह अशुद्धात्मा है। अशुद्धात्मा मेरा धर्म नहीं है, इसलिए अभूतार्थ है। ज्ञानी ! अब व्यवहार को समझा रहा हूँ, निश्चय के लिए। उस परम योगी से कहा जा रहा है, कि तू यह मत मान बैठना, कि मैंने सिंहासन का प्रत्याख्यान कर दिया है। तो क्या निश्चय प्रत्याख्यान हो गया ? तेरे सिंहासन के त्याग में कहीं दूसरे का सिंहासन तो नहीं आ गया, कि मैं कितना महान हूँ, मैंने तुरन्त ही सिंहासन छोड़ दिया, पर इसने अभी तक सिंहासन नहीं छोड़ा। ज्ञानी ! तू सिंहासन से तो उतर गया, पर सिंहासन के सिंहासन भाव से नहीं उतरा। अपना छोड़ा, तो दूसरे के सिंहासन पर बैठ गया। बोले, मैंने गाँव छोड़ा, ये शब्द तेरे दिमाग में आने लग गया, कि मैंने अपना गाँव छोड़ा, यानी कि तू दूसरे के गाँव में है। अभी तेरा गाँव नहीं छूटा, ग्राम छूटा है। अभी देह-निवासस्थान छूटा है, पर देह में राग का निवास नहीं छूटा है। इन्द्रियग्राम नहीं छूटा, ग्राम छूटा है। वासनाग्राम नहीं छूटा है, ग्राम छूटा है। मानगाँव नहीं छूटा, गाँव छूटा है।

इस 'समयसार' ग्रंथ को, विश्वास रखो, इसलिए कुछ लोग नहीं पढ़ते, कि यदि इसको पढ़ने लग जाऊँगा तो जो मेरा व्यापार चल रहा है, वह छूट जाएगा। एक से कहा कि समयसार का स्वाध्याय कर लो। बड़े प्रेम से कहता है, आप ध्रुव सत्य कह रहे हो, मार्ग यही है, पर अभी कुछ करना चाहता हूँ। इसे पढ़ूँगा तो कुछ कर नहीं सकूँगा। उसने सत्य तो बोला। सत्यार्थ की मुद्रा को प्राप्त करके भी सत्यार्थ प्राप्त नहीं कर पा रहा है, यह दुःख की बात है। आपने अध्ययन किया, डॉक्टर/इंजीनियर की डिग्री प्राप्त करने में धन का व्यय किया। उस जनक-जननी से पूछना कि तूने क्या किया ? और जब तेरी संतान बड़ी होगी, वह क्या

बोलेगी ? 'मेरा पिता कैसा अभागा था, जिसने डॉक्टर/इंजीनियर की पढाई की, पर सर्विस नहीं की, इसकी बुद्धि को क्या हो गया ?' हे ज्ञानी ! जब तूने जिनमुद्रा को प्राप्त करके परम डॉक्टर को प्राप्त कर लिया, और यदि इसको प्राप्त करके आपने चैतन्य की सर्विस नहीं की तो तेरे कर्म की संतान खड़ी हो जायेगी, वह तो ठंडा बैठेगा, वही कर्म कहेगा कि तू कैसा पागल था, कि मुद्रा को प्राप्त करके मुद्रित नहीं हो सका ।

आगम लिखने का उद्देश्य मात्र इतना है, कि जो पात्र पात्रता को समझ नहीं रहे, उनसे कहा जा रहा है । नहीं तो ग्रंथ बंद करके अलमारी में रख दो । वह आपसे कब कुछ कह रहा है ? वह तो आचार्यदेव की परम करुणा है, कि ऐसी विधि लिखकर चले गये ।

भूतार्थ भी सत्यार्थ है, अभूतार्थ भी सत्यार्थ है । भूतार्थ को सत्यार्थ कहने वाले लाखों है, परन्तु अभूतार्थ को सत्यार्थ नहीं कह पा रहे हैं । अभूतार्थ अभूतार्थरूप में सत्यार्थ है और भूतार्थ भूतार्थरूप में सत्यार्थ है । श्रावक श्रावक की अपेक्षा सत्य है । श्रावक मुनि नहीं है, इसलिए अभूतार्थ है । पर श्रावक भी नहीं है, ऐसा नहीं कहना । कर्म भी सत्यार्थ है । कर्म को सत्यार्थ नहीं मानोगे, तो कर्म की क्षपणा करने का पुरुषार्थ क्यों ? लेकिन कर्म आत्मा का धर्म नहीं है, इसलिए असत्यार्थ है ।

दृष्टांत बहुत हो गये, अब दृष्टांत की ओर चलिए । मैंने आत्मा को जाना है, यह शब्द भी असत्यार्थ है । मैंने शब्द से आत्मा को किंचित भी नहीं जाना । जिसने आत्मा को जाना है, वह शब्दरूप नहीं है । मैंने आत्मा को पहचाना ? 'मैंने' शब्द ने आत्मा को किंचित भी नहीं जाना, क्योंकि आत्मा अलिंगी है । मैंने आत्मा का स्पर्श किया ? मैंने शब्द से आत्मा का स्पर्श किंचित भी नहीं किया, क्योंकि आत्मा अस्पर्श-स्वभावी है । आत्मा अगंध-स्वभावी है । 'मैंने आत्मा को देखा है ?' ये शब्द ही असत्य हैं, क्योंकि आत्मा देखी नहीं जाती है । आत्मा तो अचाक्षुष है, अमूर्तिक है । मैंने आत्मा को कहा कि 'मैंने' और 'आत्मा' शब्द लिख दो एक कॉपी पर । अब देखो, 'मैंने' शब्द जीव है क्या ? मैंने आत्मा को देखा, जो 'देखा' शब्द है, वह जीव है क्या ? 'मैंने आत्मा को देखा' शब्द ही, इंगित करता है कि मैंने आत्मा को नहीं देखा । 'आत्मा को कहा', आत्मा को कहा नहीं जाता, क्योंकि आत्मा अवक्तव्य है । फिर आत्मा क्या है ? 'मैंने-मैंने' जो है, ये सब कुछ समाप्त हो जाये, सो आत्मा है । जो बचा, सो आत्मा । यह भी अभूतार्थ है । पुद्गल की पर्याय सत्य है । वह आत्मा नहीं है । जब योगीश्वर यह कहते हैं कि मैं तो भिन्न हूँ, तो ये 'भिन्न हूँ' शब्द में चला गया, तब तू आत्मा से भिन्न है, तभी भिन्न-भिन्ना रहा है । अभिन्न होता, तो शांत होता ।

सुनते चलो, कम-से-कम इतना तो बोध हो जाये कि जो कुछ है, वह आत्मा नहीं है । आत्मा रागी नहीं है । यह तो रागी है, इसका राग सता रहा है नहीं होने का । आत्मा तो विरागी है, तो विराग का राग क्यों है तुझे ? डॉक्टर ! आप जो शल्यक्रिया करते हो, आपके हाथ में शल्यक्रिया के उपकरण होते हैं । आँख देखती है, आपके हाथ में अस्त्र है, उपकरण हैं । यहाँ हाथ पर हाथ रखकर अंदर अस्त्र चलता है, कि कुछ दिखना नहीं चाहिए है । है है, नहीं नहीं । पर 'नहीं' और 'है' के बीच में जो है, वही है । जो कुछ नहीं कहता है, वह आत्मा है । यह पंख चिड़िया है, कि यह चिड़िया पंख है । पंख चिड़िया है तो लोग पंख निकाल देते हैं, तब भी चिड़िया होती है । चिड़िया में पंख हो सकते हैं, परन्तु चिड़िया पंख नहीं है । तो यह चिड़िया, कि वह ? दोनों नहीं । तो पंखों के बीच में बैठी वह चिड़िया ? वह भी नहीं । जो इन सबसे रहित है, वह चिड़िया है । जिसे कहा नहीं जाता, वह परम चिड़िया है । चिड़िया चिड़िया बनी, कि आत्मा चिड़िया बनी ? आत्मा बनी । तो चिड़िया तो चिड़िया नहीं है न, चिड़िया तो आत्मा नहीं है न, आत्मा तो चिड़िया नहीं है न ? साँचा तो साँचा है । साँचा ईट नहीं है । साँचे में ईट बनती है । ईट साँचा नहीं है, साँचे में ईट है । तो साँचे में ईट भिन्न

है, कि अभिन्न है ? साँचे में आत्मा है । भिन्न है, कि अभिन्न है ? भिन्न है । पुद्गल को तुरन्त अलग करके निहारते हो, परन्तु पुद्गल स्थानी साँचे को जानो उसे अलग करो । ईट बनते नहीं देखा क्या ? पानी भी रखे रहता है, धूल भी रखे रहता है, क्या आश्चर्य की बात है । बिना धूल छिड़के ईट साँचे से निकलती नहीं, जबकि मिट्टी गीली करके ईट बनाई थी, फिर भी धूल चाहिए थी । क्यों ? ईट निकलेगी कैसे ? धूल चाहिए सूखी, समझो । बिना सूखी धूल के ईट निकलती नहीं, नहीं तो साँचे में चिपक जायेगी ।

हे ज्ञानी ! इस शरीर रूपी साँचे में ईट पल रही है, इसमें चारित्र की धूल डाले बिना वह निकलेगी नहीं, चिपक जायेगी, भेदविज्ञान की धूल नहीं डाली तो चिपके ही रहोगे । छूटना है, तो धूल डालना पड़ेगी । वही बात कह रहे हैं । शुद्धनय ही भूतार्थ है, क्योंकि वह भूतार्थ को ही प्रकाशित करता है । (कहता है) । जैसे- कोई एक पुरुष प्रबल कीचड़ से मिश्रित या युक्त, निकल चुकी है जहाँ पर स्वच्छता परिपूर्णरूप से, यानी जिस पानी में स्वच्छता का अभाव है और कीचड़ का सद्भाव है, ऐसे कीचड़ मिश्रित पानी को अनुभव करने वाला पुरुष कीचड़ और पानी में भेद किये बिना जो स्वच्छ नहीं है, उसे ही अनुभव करता है । जो देहात में रह रहा है, वह बिना फिटकरी पड़े पानी को पी रहा है, उसने कभी जल को फिल्टर होते नहीं जाना । वह उसे ही स्वच्छ पानी कहता है । उसने स्वच्छ पानी का स्वाद लिया ही नहीं है । वह मटमैला पानी भी बड़े चाव से स्वच्छ मान कर पीता है । वह स्वच्छ था कहाँ ? स्वच्छ होता तो पीलापन क्यों ? यही कारण है कि दान-पूजा-अनुष्ठान आदि में जिसने धर्म मान लिया, लिंग आदि में धर्म मान लिया, वह कहता है कि यही धर्म है । अगर ये धर्म होता, तो अशरीरी स्वरूप क्या होता? कर्दम मिश्रित पानी पीते-पीते आदी हो गया, तो कर्दम को कर्दम नहीं मान रहा है । न मानो तो इन माताओं से पूछो । आप बुरा बनाते हो, तो शक्कर में मैल दिखता नहीं है, परन्तु जब कढ़ाई में रखते हो, तब दिखता है । उसमें निर्मली डाल दो, तो मैल ऊपर आ जाता है, तो उसे आप बाहर कर देते हो । ऐसे ही इस जीव ने व्यवहार रत्नत्रय को प्राप्त कर लिया, और व्यवहार रत्नत्रय की क्रिया में लीन हो गया, पाँच समिति तीन गुप्ति आदि में लीन हो गया। उसे स्वभाव व स्वद्रव्य का भान नहीं है। वह मैल मिली शक्कर का पान कर रहा है, वह शुद्ध बूरे का स्वाद ले नहीं पायेगा । शक्कर, गुड, मिश्री में भेद क्यों है ? फैक्ट्री गन्ने से शक्कर को निकालती है । ऐसे ही शरीर एक अशुद्ध फैक्ट्री है, इसमें से शुद्धात्मा को निकाला जाता है । कब तक पीते रहोगे मिट्टी मिश्रित पानी ? रहो देहात में, पीयो पानी टंकी का । नगर में जाओ, तो फिल्टर का पानी मिलेगा । आत्म नगर में जाओ तो फिल्टर का पानी मिलेगा, देह ग्राम में रहोगे, तो समन पानी ही मिलेगा । भीलों को देखा सम्मेद शिखर में? वे उसी भूमि पर हैं। वे आपको देखते स्वच्छ कपडे पहने, फिर भी अपने को नहीं बदलते हैं । वे आपसे बाबूजी कहेंगे, पर स्वयं के बाबू को नहीं पहचानते हैं । तन पर वृक्ष का छिलका तो लपेट लेंगे, पर दिगम्बर नहीं हो सकते, ऐसा क्यों ?

**यो यत्र निवसन्नास्ते, स तत्र कुरुते रतिम् ।**

**यो यत्र रमते तस्माद् न्यत्र स न गच्छति ॥४३॥ इष्टोपदेश ॥**

जो जहाँ निवास करता है, वहीं राग को प्राप्त करता है । अज्ञानी जीव राग और मोह की भीड़ में निवास कर रहे हैं, उसे छोड़ना नहीं चाहते, उसमें ही आनंद मना रहे हैं । भीलों की बस्ती है और मरत्त हो रहे हो । म्लेच्छ ही म्लेच्छ हैं । ब्राह्मण म्लेच्छों की बस्ती में जाते हैं, वहाँ कहें कि दूधों नहाओ, पूर्तों फलो । उनको समझाने के लिए तो कहता है, पर अपने ब्राह्मणपने को नहीं छोड़ता है । ऐसे ही व्यवहारीजनों को व्यवहार से समझाओ, पर निश्चय को मत भूल जाओ । ब्राह्मणत्व मत छोड़ दो । निश्चय ही ब्राह्मण की भाषा है, व्यवहार ही म्लेच्छ की भाषा है । परमार्थ का उपदेश बिना व्यवहार के नहीं दिया जाता, पर परमार्थ को

समझने के लिये व्यवहार है, परन्तु व्यवहार परमार्थ नहीं है। भूल क्यों कर रहे हो ? स्वास्थ्य ठीक रहे, इसलिए औषधी खाना, पर औषधी स्वास्थ्य नहीं है। व्यवहार तो व्यवहार है, परमार्थ तो परमार्थ है। जितना भी व्यवहार का पालन करो, वह परमार्थ के लिए करना, परन्तु व्यवहार को परमार्थ मत मान लेना।

भूल कहाँ चल रही है ? लोगों को इन शब्दों में राग हो जाता है। परमार्थ की भाषा को बोलने का राग भी परमार्थ नहीं है। कोई कहे कि महाराज अध्यात्म बोलते हैं। अध्यात्म बोलना अध्यात्मपना नहीं है, व्यवहार है। जबकि आत्मा में लीन हो जाना अध्यात्मपना है। 'में आत्मा में लीन होता हूँ', यह राग छोड़े बिना आत्मा में लीन हो नहीं सकता। यह भी राग है। कैसे रहूँ, कैसे जीऊँ ? जैसे हैं, वैसे रहना ही अध्यात्म है। जीऊँ आदि छोड़ूँ। अप्रमत्त दशा में जेवण नहीं होता है। सब ने 'जेवण' का अर्थ खाना कर दिया। प्रेम से बोलते कि जीम लो। जब तक जीमूँ/जेवण है, तब तक जीवन नहीं। पर कोई प्रजावंत जीव अपने हाथों से फिटकरी को पानी में डाल देता है, तो पानी और पंक को अलग कर देता है। ऐसे ही पुरुष अपनी आत्मा से कर्म और पुरुष को अलग कर देता है। कढ़ाही पर बुरा रख दिया, अग्नि नीचे जल रही है। पहले क्रिया हुई, कि स्वच्छ बुरा दिखा ? व्यवहार कहेगा, कि क्रिया पहले हुई, निश्चय कहेगा कि स्वच्छ बूरे का भान न होता, तो क्रिया क्यों करते ? व्यवहार कहेगा कि क्रिया पहले हुई, तो शुद्ध देख पायेगा। पर निश्चय ने आँख बंद कर कहा कि इसमें मल है, यह हट जाये तो निर्मल हैं। अशुद्धात्मा, संसारी, चतुर्थादि गुणस्थान में बैठा जीव आँख बंद करके बैठा, क्रिया करेगा क्यों ? वस्तु ही नहीं, तो क्रिया करेगा क्यों। वस्तु त्रैकालिक है, संयम की कढ़ाही है, ध्यान की अग्नि है, भेदविज्ञान की चम्मच है और मेरी आत्मा मिटाई बना रही है। इतना लीन हुआ कि स्वच्छ को ही देख रहा है। अशुद्ध आत्मा भी शुद्धात्मा का वेदन करता है। यह सत्य कह रहा हूँ, पर हमारे व्यवहारी इसे पकड़ नहीं पा रहे हैं और हमने कहा कि अशुद्धात्मा शुद्धात्मा है, तो वे कर्मों को पकड़कर बैठ जाते हैं। वह समझ नहीं रहे कि हम कर्मों को गौण करके स्वच्छता को निहार रहे हैं। आत्मा त्रैकालिक शुद्ध है। कर्मातीत निहारिये। स्वभाव से "सत्त्वे शुद्धा हू शुद्धणया।" इस शुद्धात्मा का जो वेदन करता है, वही अप्रमत्त दशा में बैठा योगी, उसे कहना शुद्धोपयोगी। निज द्रव्य में शुद्ध उपयोग जिसका है, वही है शुद्धोपयोगी। डॉक्टर ने फोड़ा देखा, अंदर का रक्त खराब देखा। वह फोड़ा अंदर हुआ क्यों ? इसके रक्त में खराबी है। रक्त शुद्ध करो। जो इस पर्याय को शुद्ध करना चाहता है, उससे बड़ा अज्ञानी कोई नहीं मिलेगा। यह पर्याय तो राख होना है, इसे साफ मत कीजिए। इसमें विकार क्यों आ रहे हैं, उस रस को ठीक कीजिए। बहुत अच्छे से समझ में आता है।

आयुर्वेद से भी जैन सिद्धांत को समझाया जा सकता है। 'प्रमेय-कमल-मार्तण्ड' न्याय का ग्रंथ है, उसमें आचार्य प्रभाचन्द्र ने औषधियों का वर्णन किया है। वर्णन तो कर गये, पर किसको पकड़ में नहीं आता है। पैर के तलवे पर घी मलो तो आँख की ज्योति बढ़ती है। पर ध्यान दो, कब ? जब नेत्रों में क्षयोपशम है, तब। 'वृहद् द्रव्य संग्रह' में आचार्य ब्रह्मदेव सूरि लिखते हैं- "बादाम का सेवन करने से बुद्धि बढ़ती है। घृत से ज्योति व बुद्धि दोनों बढ़ती हैं। पर किसको ? जिसका क्षयोपशम है। न कि पागल को। उसको तो उन्मत्तता का कारण बन जायेगा। दूध पीने से शरीर स्वस्थ होता है, चमक आती है, बुद्धि में तेज रहता है, चेहरे में तेज होता है। पर किसको ? अरसी साल वाले को नहीं। जिसका शरीर किशोर/युवा है, उसके लिए। अरसी साल वाला दूध खराब करेगा, फिर भूमि खराब करेगा। इसलिये विवेक से उपयोग करना। देखो, आप सबजी बनाते हो, चाकू लग जाता है, पर आपको पता ही नहीं चलता, आप बनाते रहते हो। पर जैसे ही रक्त देखते हो, दर्द होना शुरू हो जाता है। पहले नहीं हो रहा था, पर देखते ही शुरू हो जाता है। इससे

मालूम चलता है कि तन भिन्न है, चैतन्य भिन्न है। उपयोग जाये बिना वेदना होती नहीं, वेदन होता नहीं। पूरे द्वादशांग का सार इतना है, कि उपयोग बदल दो, यही ब्रह्मचर्य संयम है। उपयोग बदलना चाहिए। इन्द्रियाँ सब रहती हैं, पर उपयोग बदला रहता है तो विषय में रुचि नहीं जाती। अशुद्धात्मा में भी शुद्धात्मा की अनुभूति होती है। अन्यथा शुक्लध्यान नहीं बनता, श्रेणी आरोहण नहीं बनता। जिसे करणानुयोग श्रेणी आरोहण कहता है, उसे द्रव्यानुयोग परम शुद्धोपयोग कहता है। जिसे करणानुयोग शुक्लध्यान कहता है, वह शुद्धोपयोग है। कर्मसापेक्ष अशुद्ध ही है आत्मा। कर्म को निरपेक्ष करके जो वस्तुस्वरूप है, उसे वेदन कर रही है, उस समय वेदक की अपेक्षा से वेद शुद्धात्मा है।

जब तेरा ज्ञान जो ज्ञाता है, प्रमाता है, उसे निहारेगा। इसलिए कारण कार्य, उपचार से वह भी शुद्ध है, पर है अशुद्ध। आज आप व्यवहार से (प्रयोग) करके देखना, अपने आपको आचार्य के रूप में देखना, तन्मय होकर देखना, बिल्कुल शांत होकर देखना। प्रबल कर्म के सहयोग से निकल चुका है, ज्ञायक स्वभाव आत्मा के अनुभव से। आत्मा कर्म में विवेक न करते हुए, यहाँ विवेक का अर्थ भिन्न लेना, जिसका हृदय व्यवहार से विमोहित है, जगत में सर्वाधिक जीव व्यवहार से मोहित हैं। परन्तु जो विशद, निर्मल, अनेकान्त रूप है, शुद्धात्मा का स्वभाव है, उस परमार्थ को जानने वाले, अपनी विवेक बुद्धि से, बोध से प्राप्त यानी आत्मा व कर्म में विवेक करके, भेद करके, जो मैं एक शुद्धात्मा ज्ञायकस्वरूप मात्र हूँ, उसका ही वेदन करता है। तब वह भूतार्थ का आश्रय करता है, उसको ही अच्छी तरह से देखता है, वही परमार्थ से सम्यक्दृष्टि है। शुद्धनय से शुद्धात्मदर्शी है, उनको व्यवहारनय का अनुसरण नहीं करना चाहिए। आपको नहीं, जो शुद्धात्मानुभूति ले रहे उसके लिए। इसलिए कभी कदाचित् भी प्रयोजन में अपवाद नहीं है। व्यवहारनय अभूतार्थ है। व्यवहार की अपेक्षा भूतार्थ है, निश्चय की अपेक्षा अभूतार्थ है।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

प प प

आचार्य कुंद कुंद स्वामी 'समयसार' ग्रंथ में आत्मा के भूतार्थ स्वभाव का कथन कर रहे हैं। निजदृष्टि को भूतार्थ करके ही इस ग्रंथ को समझ पायेंगे। किंचित् भी निमित्त दृष्टि के आश्रित होकर समयसार को सुना, तो समयसार शब्दों में तो समयसार रहेगा, लेकिन श्रद्धा में नहीं आ पायेगा। आपके ऊपर किसी ने एक मुड़ी कीचड़ फेंक दिया तो, ज्ञानी ! ध्रुव सत्य बोलिए, इसने आपको गंदा किया, कि नहीं किया है ? भूतार्थ यह कहेगा कि शरीर गंदा हुआ ही नहीं, गंदी तो कीचड़ ही थी। यदि शरीर गंदा हो गया है, तो फिर पानी डालने पर भी साफ नहीं होगा। पर कीचड़ ही गंदी है। कीचड़ चिपक ही सकती है, पर गंदा नहीं कर सकती। जब हमारे परिणाम गंदे होते हैं, तब हमारा शरीर कीचड़ से गंदा नजर आता है और जिसने फेंका था, उसके भाव अशुद्ध थे। वह गंदे भावों को ही गंदा कर सकता है। पर किसी के भावों को भी गंदा नहीं कर सकता। यदि आपके परिणाम निर्मल हैं तो, क्योंकि हमने आपको पहले ही कह दिया है, आप बाहरी निमित्तों को गौण करके सुनेंगे, तो समयसार समझ में आयेगा, समझ आयेगी, अन्यथा तो उसने मात्र कीचड़ फेंकी थी, पर तुमने परिणामों को कीचड़ कर डाला और आँखों को लाल करके भावों की कीचड़ फेंकना प्रारंभ किया। यदि उसके परिणाम विशुद्ध रहे तो तेरी भावों की कीचड़ फेंकी थी, पर पारसनाथ का कुछ नहीं बिगड़ा, वे तो केवली भगवान् बन गये। जो कीचड़ को स्वीकारता है, वह नीचे गिरता है। जो कीचड़ को कीचड़ ही देखता है, निज में कीचड़ नहीं देखता है, वह ध्रुव ज्ञायकस्वभाव को प्राप्त होता है। इतनी सामर्थ्य चाहिए, ये भी ध्यान रखना। इतना सबकुछ सहन करने के लिए वार्यान्तर कर्म का क्षयोपशम भी चाहिए और तत्त्वज्ञान का

एपरम पुरुषार्थ चाहिए, खोखला ज्ञान नहीं चाहिए। इतना समझ में आ जाये, कि कीचड़ ही तो गंदी है, तन को गंदा नहीं किया है। जब कीचड़ तन को गंदा नहीं कर सकती है, तो वह कीचड़ मन को गंदा कैसे कर सकती है ? कारण समझना। समयसार सुन रहे हो, इसलिए यहाँ-वहाँ के प्रश्न करना नहीं। जिस सत्यार्थ को समझना चाहते हो, उस सत्यार्थ पर चलिए।

हे ज्ञानी ! जब तू मुनिराज बनेगा और कीचड़ को कीचड़ देखेगा, तो तू समता में कैसे रह पायेगा ? तुम तन के मुनिराज तो बन जाओगे, पर मन के मुनिराज नहीं बन पाओगे। जो मन में मुनिराज थे, वे कीचड़ के पड़ने से नहीं, वे तलवार के गिरने पर भी यही कह रहे थे, तन पर ही गिरेगी, चेतन पर नहीं गिरेगी। लोहे के गर्म आभूषण पहनाये। कब तक नाम लेते रहेंगे पांडवो का, कार्तिकेय स्वामी का ? विश्वास रखो, जो यहाँ गाथा चल रही है, इस गाथा से ही जी पाये थे। वे कार्तिकेय स्वामी अगर वर्तमान की पर्याय को देखते, तो बहनोई था, जिसने कार्तिकेय स्वामी पर उपसर्ग किया था उसको दोष देते पर वे तत्त्व ज्ञानीजीव थे। अतः ऐसा नहीं किया। यदि आप पर कोई उपसर्ग करे और आप उसे देखेंगे, तो उसको दोष देंगे कि मैंने कुछ भी नहीं किया, फिर यह मुझे क्यों सता रहा है ? एक मिनट को आँख बन्द कर लेना और जाति के जैनपने को छोड़कर जैन सिद्धांत का जैन बन जाना, फिर वहाँ कहना -

**कर्त्ता यः कर्मणां भोक्ता, तत्फलानां स एव तू।**

**बहिरन्त रूपाभ्यां, तेषां मुक्तत्वमेव हि ॥१०॥स्वरूप संबोधन॥**

ऐसा मत कहना कि ये सब उपदेश में ही होता है, जीवन में कहीं होता है। पर ये ध्यान रखना, ऐसा जीवन में नहीं होता तो तुम भाव बना लो कि मोक्ष भी नहीं होता है। आज आचार्य जयसेन की टीका को पढ़ने से पहले उनकी दो गाथा और पढ़ना है। आपको किसी ने परेशान किया तो देखोगे तो दोष दिखेंगे। आँख बंद करना और चिन्तन करना। दोषी ने दोष किया है, कि जिसे तू निर्दोष कह रहा है, उसका दोष है ? सम्हल कर सुनना। जिसे दोषी मान रहा है, उसने दोष किया है। दोषी ने तो वर्तमान में दोष किया है, पर जिस पर दोष किया है, वो दोषी पहले से था। पहले से दोषी न होता, तो मुझे ही देखकर इनको परेशान करने के भाव क्यों आ रहे हैं ? अपने बेटे को परेशान क्यों नहीं करता ? यदि इसका परेशान करने का ही स्वभाव होता तो अपने घर में ही लोगों को परेशान करता होता। पर मुझे ही क्यों कर रहा है ? इसका मतलब है कि वर्तमान में मैं निर्दोषी जरूर हूँ, पर भूत का दोषी हूँ, जो वर्तमान में नजर आया है। जब-तक इतना धैर्य नहीं ला पायेंगे, तब-तक जिनशासन में दीक्षित होकर नहीं रह पाओगे। क्योंकि बाहरी निमित्त तो सर्वत्र हैं, अपने आपको भी तो निहारो। और यदि आप 'इन्होंने ऐसा किया, उन्होंने वैसा किया' इसमें लग गये, तो पर्याय ही नष्ट कर पाओगे, परिणाम ही बिगाड़ पाओगे, परन्तु कर्म नष्ट नहीं कर पाओगे। जिसके लिए आप यहाँ विराजते हो, वह यहाँ नहीं मिलेगा; जिसे नहीं चाहते थे, वही मिलेगा। निमित्त तो आयेंगे, उन्हें कब रोक पायेंगे। हम तो उपादान को ही संभाल पायेंगे, निमित्तों को नहीं रोक पायेंगे, मेरे कहने से निमित्तों का अभाव मत समझना। निमित्त तो आयेंगे। उनको मैं कब मना कर रहा हूँ ? उपादान को ही संभाल पाओगे। एक जीव है, वह दिनभर बहुत मेहनत करता है। नहीं है भाग्य प्रबल, तो क्या करेगा ? ज्ञानी ! एक तो तू मेहनत कमाने में कर रहा, सो कमजोर हो रहा है। दूसरा टेंशन में जीयेगा, तो तूने तन, मन, धन तीनों नष्ट कर डाले। जब तेरे अशुभ दिन आते हैं, तो तुझे धन कमाने के पुरुषार्थ के साथ परिणामों को धर्ममय करने की ज्यादा जरूरत है, क्योंकि यही फलित होगा, हाय-हाय फलित नहीं होगा। मैं बार-बार कहता हूँ आपसे, अशुभ के

समय किसी के घर मत जाना। जब घाटा ज्यादा लगने लग जाये तो ज्यादा व्यापार मत बढ़ाना, तुरंत हाथ खींच लेना। जितना लग गया, उतना ही सही। कम-से-कम 'गरीब' संज्ञा कहलायेगी, कर्जदार नहीं कहलायेगे। यदि अशुभ के दिनों में तुमने व्यापार बढ़ा लिया, तो गरीब तो थे ही, कर्जदार और हो जाओगे। जब अशुभ कर्म आते हैं, तो मुनिराज को भी कर्म सताते हैं। अपने ध्यान में होते हैं, पर उपसर्ग करनेवाला आ जाता है। कर्मों ने किसको छोड़ा? वह कहता है कि आप कौन हैं? मैं तीर्थेश को नहीं छोड़ता, तुमको भी नहीं छोड़ूंगा। पर मैं ईमानदार हूँ। बंध नहीं करोगे, तो मैं उदय में नहीं आऊँगा।

जब योगी का सामायिक में मन नहीं लग रहा हो, उदास दिख रहा हो, द्रव्यभेष मात्र दिख रहा हो, स्वयं में अशुभ-अशुभ ही हो रहा हो, तो समझ लेना कि अशुभ आयु का बंध है। अशुभ कर्म के उदय में कष्ट आये, इसमें तो संयम और चारित्र्य है, सम्यक्त्व भी है। यह अशुभ जो उदय में आया, वह पूर्वकृत कर्म चल रहा है। लेकिन अशुभ कर्म के उदय में अशुभभाव ही होने लग जायें, तो पूर्वकृत कर्म के साथ भविष्य की आयु बंध की सूचना है। इसलिए साधना में मन नहीं लग रहा है, नहीं तो अशुभ के समय में भगवान् का नाम लेने के परिणाम होते हैं। "दुःख में सुमरन सब करें" यह तो लोकप्रसिद्ध है, पर जो दुःख में भी भगवान् का नाम न लेता हो, विश्वास रखना, अशुभ आयु का बंधक है। साधना के मार्ग पर आकर साधना की ओर दृष्टि नहीं जा रही है, इधर-उधर बात करने के परिणाम हो रहे हैं, छुपकर क्रिया को भंग करता हो, तो समझ लेना कि तेरी वह अशुभ आयु का बंध हो चुका है, जो संयममार्ग पर मायाचारी कर रहा है। तिर्यञ्च आयु का बंधक होगा तो मुनिदीक्षा लेने के बाद भी, इस संयम भेष में आकर के संयम में मायाचारी करेगा। जब सामायिक का समय होगा, तब सोयेगा। जो पर को सतायेगा, उसे भी उस कर्म का फल भोगना पड़ेगा।

तत्त्व को अनुभव करके समझना। जिसने जैसा किया, वैसा भोगा। "होता स्वयं जगत परिणाम।" आप अपने राग-द्वेष परिणामों के कर्त्ता हैं, पर के सुख-दुःख के कर्त्ता नहीं हैं। अपने सुख-दुःख का कर्त्ता मेरा ही राग-द्वेष भाव है, शुभाशुभ भाव है। निमित्त तो अनेक रूप में आ सकते हैं। पिता के रूप में भी आ सकते हैं, भाई के रूप में भी आ सकते हैं, पुत्र के निमित्त में भी आ सकते हैं, गुरु-शिष्य के रूप में भी आ सकते हैं। आज ही नहीं, भूत में भी ऐसा हुआ है, इतिहास उठाकर देख लो। चौथे काल में भी ऐसे व्यक्ति हुये, जिन्होंने तलवार गाढ़कर संकल्प लिया, कि जिनधर्म को नष्ट करना है, बदनाम करना है। उसने पहले दीक्षा ली और दीक्षा लेकर, मुनिवेश को बदनाम करने के लिए सम्राट की रानी के साथ अब्रह्म का सेवन किया और हिंसा भी की, जिससे सम्राट गुरसे में आकर चतुर्विध संघ को नष्ट कर दे। वह तो आचार्य ज्ञानी थे, उन्होंने उसी तलवार से दीवाल पर लिखा कि यह विधर्मी था, धर्म को बदनाम करने के लिए मुनिवेश धारण किया था। जीते जी तो राजा न मानते उनकी बात, तो धर्म की रक्षा के लिए पंचगरमेष्ठी का ध्यान कर अपघात कर लिया यह उत्कृष्ट समाधि नहीं इसे हीन समाधि कहते हैं। उन्होंने आत्मघात कर लिया अगर ऐसा नहीं करते तो सम्राट चतुर्विध संघ को नष्ट कर देता। यह चौथे काल में हुआ। हम इनको दीक्षा देते हैं, तो साल भर रख लेंगे, ऊपर से ही देखेंगे, फिर भी किसी के भीतर कोई नहीं बैठा है कि तुम किस दृष्टि से आये हो। क्योंकि चतुर्थ काल के आचार्य नहीं पकड़ पाये उसको, ऐसा भी हुआ है।

कर्म किसी भी काल में किसी का होता नहीं और कर्म किसी भी काल में किसी को छोड़ता नहीं। निमित्त किसी भी रूप में आ जायेगा। पुण्य भी अपना काम नहीं छोड़ता, पाप भी अपना काम नहीं छोड़ता। जब पुण्य प्रबल आता है, तो कषायी जीव भी धन्यधान्य से सम्पन्न देखे जाते हैं। क्योंकि पूर्व का पुण्य इतना



प्रबल खड़ा है कि अशुभ कृत्य करते हुये भी मरती में जी रहे हैं। जितनी उत्कृष्ट संक्लेशता से कर्म का बंध किया था, उतनी उत्कृष्ट विशुद्धि से निर्जरा होगी।

अब सिद्धांत को दूसरी भाषा में प्रयोग करो। जिस संक्लेशता से बंध किया, तदरूप संक्लेशता से ही निर्बंध होगा। वहाँ संक्लेशता अशुभरूप थी, यहाँ संक्लेशता शुभरूप होना चाहिए। शुभोपयोग भी संक्लेश परिणाम है। आत्मप्रदेशों का चंचल होना संक्लेशभाव है। जब शुभ की क्रिया में लगोगे, तब भी आत्मप्रदेश चलाचल होते हैं। अशुभ की क्रिया में लगोगे, तब भी होते हैं। जब तुम योग को भी संभाल के बैठोगे, तब चंचल नहीं होगे। इसलिए ध्यान में चंचलता कम होती है। पूजन कर रहे, ताली बजा रहे, तब उपयोग की चंचलता है, इसलिए आस्रव ज्यादा है, संवर-निर्जरा कम है। भले पुण्य का हो रहा हो, पर आस्रव है। लेकिन दोनों संक्लेशता है। चाहे तुम शुभ करो, चाहे अशुभ करो, संसार ही होगा। एक स्वर्ग तक ले जायेगा, एक नरक तक ले जायेगा, पर मोक्ष दोनों ही नहीं दिला रहे हैं। सुनो, रात्रि में भोजन का त्याग है, पर आपने रोटी की जगह दूध पी लिया, तो मुख दोनों से जूटा हुआ, रात्रिभोजन-त्याग का व्रत भंग हुआ। सीमा में तो आ गये, पर दोष नहीं टला रात्रिभोजन का। और इसको भी शुभोपयोग कहते हैं। जो शुभ संक्लेश है, उससे भी बंध है। अशुभ संक्लेश है, उससे भी बंध है। संक्लेशता मोक्ष का साधन नहीं है, संक्लेशता बंध का ही कारण है। मोक्ष का कारण क्या है ?

**विशुद्धीसंक्लेशांङ्ग चेत् स्वपरस्य सुखासुखम् ।**

**पुण्य पापास्रवौ युक्तौ न चेद्व्यस्त्रवार्हतः ॥६५॥ आप्त मीमांसा ॥**

विशुद्धि मोक्ष है, संक्लेशता बन्ध है। इसलिए प्रयास क्या करना है, कि हे भगवत् देव ! आपके चरणों में संक्लेशता की हानि के लिए विराजता हूँ, संक्लेश के लिए नहीं। शुद्धि के लिए विशुद्धि होती है। आत्मा के परिणामों की जो विशुद्धि है, वह कारण है, और शुद्धि कार्य है। विशुद्धि और शुद्धि में अंतर है। दोनों भिन्न हैं। कारण, कार्य भाव है। कैसा ? सम्यक्दर्शन कारण है, सम्यक्ज्ञान कार्य है, जबकि होते युगपत् हैं, तब भी कारण कार्य भाव है। सम्यक्त्व के अभाव में सम्यक्ज्ञान नहीं होता। एक सत्य होने के उपरान्त भी कारण कार्य भाव है। इसी प्रकार विशुद्धि से ही शुद्ध होता है, पर विशुद्धि शुद्धि नहीं है, और शुद्धि विशुद्धि नहीं है। विशुद्धि कारण है और शुद्धि कार्य है। आचार्य जयसेन स्वामी की टीका गाथा -

**गाणह्यि भावणा खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य ।**

**ते पुण तिण्णिवि आदा तह्मा कुण भावणं आदे ॥११॥**

ज्ञानी ! हम व्यवहार पक्ष को बहुत अच्छे से जानते हैं। जैनकुल में जन्म लेना ही बहुत सारा ज्ञान करा देता है और जिसे जैनकुल में जन्म लेने के उपरान्त भी जैनत्व का ज्ञान नहीं है, उसने जैनकुल में जन्म लेकर जैनकुल को नहीं समझा। तो जो व्यवहार पक्ष है, वह तो आपको कुलकृत प्राप्त है। कैसे चलना, कैसे उठना, कहाँ बात करना, ये तो तेरी कुल परम्परागत बातें हैं। जब इनको ये जीव नहीं समझता, तो वह धर्म को क्या समझेगा ? यदि इनको आप समझ चुके हैं, अब यहाँ जो समयसार की गाथा बोल रही है, वह कहेगी कि अब आप मुझसे कुलपरम्परा मत पूछो। कुल से रहित कैसे होना पड़ता है, वह मुझसे पूछो। कुलपरम्परा पूछना है तो श्रावकाचार से पूछो। मुनियों की कुलपरम्परा पूछना है, तो 'मूलाचार' से पूछो। पर मैं मूलाचार नहीं, श्रावकाचार नहीं, समयसार हूँ। मेरे में कुल मत खोजो, मेरे में कुलातीत खोजो। मक्खन खोजना है, तो दही को मथो, मक्खन मही में नहीं मिलेगा। लेकिन घृत में मक्खन खोजने मत जाना अन्यथा आपको

पागल कहकर भगा दिया जायेगा। घी में मक्खन खोज रहा है, जबकि इन सब से ऊपर की व्यवस्था हो चुकी है। मक्खन खोजना है तो प्रेम से दही में खोजो। लेकिन घृत में मक्खन की खोज, ये तो प्रज्ञा-विहीनता है। घृत का स्वाद चखिये, उसमें खोज मत कीजिए। इसमें गुणस्थान मत खोजना, इसमें मार्गणास्थान मत खोजना। वह विषय अपनी प्रज्ञा से समझो। 'गोमटसार' से मिलो, गुणस्थान देखना है तो। बंधस्थान देखना है तो 'महाबंध' से मिलो। लब्धिस्थान देखना है तो 'लब्धिसार' से मिलो।

**मग्गण-गुण-ठाणेहि य, चउदसहि हवंति तह अशुद्धणया ।**

**विण्णेया संसारी, सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ॥१३॥ वृ.द्र.सं. ॥**

ये शुद्धनय की व्याख्या है, इसे ऐसे ही रहने दो। मिश्रण करोगे तो शुद्ध को कहीं नहीं पायेंगे। जो यह कहते हैं कि समयसार में ऐसा लिखना चाहिए ऐसा नहीं लिखना चाहिए। समयसार जैसा है उसे वैसा ही रहने दो। यदि घृत में मक्खन डाल दिया जायेगा तो मैं शुद्ध घृत को कहाँ बता पाऊँगा। इस ग्रंथ में कुछ करने की आवश्यकता नहीं है आपको। बकरी का दूध तो पचा नहीं पा रहे, क्या भैंस के दूध को पचा पाओगे? ये बकरी का दूध नहीं, भैंस का भी नहीं, सिंहनी का दूध है, जो स्वर्णपात्र में ठहरता है। समयसार की व्याख्या परिणामों में परिणामी का ठहरना है। इस ग्रंथ में शुद्ध तत्त्व को निहारना। मिलावट कर दी, तो शुद्ध तत्त्व का ज्ञान नहीं हो पायेगा। तत्त्वज्ञान से विहीन निर्ग्रन्थपना भी निष्फल है। निर्ग्रन्थ मुद्रा से मोक्ष नहीं मिलता, पर निर्ग्रन्थ मुद्रा के बिना भी मोक्ष नहीं मिलता। निर्ग्रन्थ मुद्रा के साथ तत्त्वज्ञान होना आवश्यक नहीं, अनिवार्य है। आवश्यक से अनिवार्य बड़ा है। नहीं तो कहीं जाओगे तो आँखों में आँसू बहाओगे। तत्त्वज्ञान है तो श्मसानघाट पर भी मुस्कराओगे। क्यों? भवन नहीं बना, इसलिए श्मसान है, पर श्मसान तो पूरी पृथ्वी है। आपका घर श्मसान है कि नहीं? कितने चूहे मरे, कितने मच्छर, मक्खी आदि कीड़े मरे हैं रोज घर में? आदमी भी घर में ही मरता है। दीवालें खड़ी हैं, इसलिए मकान है, परन्तु वास्तव में तो यह सब श्मसान है।

यहाँ गुणस्थान, मार्गणास्थान, जीवसमास की बात नहीं कर रहे, यहाँ रत्नत्रय से मण्डित शुद्धात्मा की बात कर रहे हैं।

हे ज्ञानी! निश्चय से किस को भाना चाहता है? आत्मा में अनंत स्वभाव हैं, अनंत धर्म हैं, पर उन सबमें ज्ञान ही को प्रधान कहा है। यहाँ पर दर्शन भी ज्ञान है, ज्ञान भी दर्शन है। सम्यक्त्व भी ज्ञान है और ज्ञान भी सम्यक्त्व है। चारित्र किसमें प्रगट हुआ है ज्ञान से? जो सम्यक्ज्ञान प्रगट हुआ है, वह ज्ञान में ही हुआ है। ध्रुव सत्य यह है कि परमस्वभाव अपेक्षा आत्मा एकमात्र ज्ञायकस्वभावी है। पर व्यवहारीजनों से कहें, तो वह कहते हैं कि दर्शन को गौण कर दिया, चारित्र को गौण कर दिया। नहीं, आप ध्यान दो। आप विकल्प मत कीजिए, तत्त्व को समझिये। घी, दूध, दही, छाँछ, मक्खन, पनीर आदि नाम ले लीजिए, पर गोरस एक है। तत्त्व त्रयात्मक है। जिसने नियम लिया कि मैं दूध ही पीऊँगा, वह दही को नहीं खाता। जिसने नियम लिया कि मैं दूध नहीं पीऊँगा, वह दही खाता है। पर जिसने गोरस का त्याग किया है, वह दूध, घी, दही कुछ भी नहीं खाता। इसलिए एकमात्र ज्ञायकभाव में सम्पूर्ण स्वभाव है। लेकिन गोरस, गोरस है। जितनी पर्यायों के नाम लिये, सबके स्वाद भिन्न-भिन्न हैं। ज्ञायक है गो-रस। इसलिए निश्चय से कहना चाहिए कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र वे तीनों आत्मा में हैं, इनका अधिकरण आत्मा है, इसलिए आत्मा की भावना करो। समयसार पंथ रूप में कही भी प्रचारित हो, पर पूरा समयसार नहीं बताते। कुछ गाथायें बताते हैं। तत्त्व का खुलासा होना चाहिए। तत्त्व नहीं खुला, कपडे खुल भी गये, तो तत्त्व नहीं मिलेगा। सम्यक्दर्शन-ज्ञान-

चारित्र की जो भावना है, वह करना चाहिए। वह तीनों आत्मा में हैं। आपको दर्शन की भावना होना चाहिए, ज्ञान की भावना होना चाहिए, चारित्र की भावना होना चाहिए। तीनों आत्मा में हैं, इसलिए शुद्ध भावना होना चाहिए। शुद्ध भावना चाहिए।

अरहंत पर श्रद्धा है, परन्तु आत्मा पर श्रद्धा नहीं है, तो वह सम्यग्दृष्टि नहीं है, यह ध्रुव सत्य है। आपको सात तत्त्व पर श्रद्धान है, पर निज की आत्मा का नाम लेने पर चिल्लाता है। अरे! सात तत्त्व में तू एक तत्त्व है कि नहीं? फिर इसके कहने में दोष क्या है? सात तत्त्व कागज पर लिखे, उस पर श्रद्धा करना सम्यक्त्व नहीं। पर जो सात तत्त्व दृष्टिगोचर हो रहे हैं, उन पर श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। घर में भाई को चाँटा मार रहा है, और मंदिर में बोल रहा है, कि सात तत्त्वों पर श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। भाई में जीवतत्त्व था कि नहीं? एक तत्त्व का अविनय किया, तो तू मिथ्यादृष्टि है। पकड़ो, ऐसी व्याख्या हो, ध्रुव सत्य है। ऐसा ही है। बोले व्यवस्था, परिवार, घर में बैठो, मत सुनो, क्यों? यहाँ परिवार संभालने का कथन नहीं चल रहा, परिणति संभालने का चल रहा है। इधर परिणति के सामने परिवार मत बोलना। ये परिणति मोक्षमार्ग है, परिवार मोक्षमार्ग नहीं है, न संसार मार्ग है। परिणति यानी आत्मा के परिणाम। परिणति ही संसार है, परिणति ही मोक्ष है। अशुभ परिणति संसार है, और शुभ परिणति मोक्ष है। यहाँ पर यह मत पूछना कि आप कह रहे हो, तो फिर परिवार कैसे चलेगा? ये परिवार चलाने का ग्रंथ नहीं है, परिणति में चलने का ग्रंथ है। इस ग्रंथ में परिवार को मत खोजना, परिणति को खोजना। आप सुन रहे हो, यह आपका भाग्य है, पर ग्रंथ मुनिराजों के लिए चल रहा है। यह निर्ग्रन्थों का ग्रंथ है, सग्रंथों का नहीं। सग्रंथ समझो, निर्ग्रंथ बनो। अशरीर बनने का ग्रंथ है। स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द लिख रहे हैं -

**जो आदभावणमिणं णिच्चु वजुत्तो मुणी समाचरदि ।**

**सो सय्य-दुक्ख-मोक्खं पावदि अचिरेण कालेण । १२॥ ता.वृ.(अति गाथा)**

जो णिच्च भावना से युक्त है, ऐसा मुनि अच्छी तरह से आचरण करता है। ऐसा परम योगी सम्पूर्ण दुःखों से मुक्त होता है, शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करता है।

जब घर में कुछ हो जाये, तो दुःख होता है। तो क्लेश करने से शांत होगा, कि शांत बैठने से शांत होगा? कितना भी हल्ला कर लो, आखिर में शांत ही बैठना पड़ेगा। शांत बैठना पड़ता है, तो पहले से ही शांत रहो, तो निर्ग्रन्थ हो जाओगे। दुःखों से मुक्त होना है, तो निज आत्मतत्त्व की भावना भावो। निज तत्त्व से रहित कोई तत्त्व होता नहीं है। परतत्त्व को जानना ज्ञेय है, प्रमेय है, पर प्रमिति नहीं है। प्रमिति अज्ञान का नाश है। आज से घर में क्लेश मत करना। जब भी आनंद आयेगा, तो शांतता से ही आयेगा। समरसी भाव पर दृष्टि डालना है, तो आत्मा की भावना भावो। अब कहो, सम्यक्त्व भाव को क्या कहूँ। जो सम्यक्त्व भाव है, उसमें ज्ञायकभाव कैसे घटित होगा? जो आत्मस्वभाव को परभाव से भिन्न निहार रहा है, वही तेरा ज्ञायकस्वभाव है और होना भी चाहिए। इसके बिना सम्यक्त्व कहाँ झलकता है? वह विषय भिन्न है कि मैं लिप्त हूँ, कैसे क्या करूँ? अरे भैया! लिप्तता चारित्रमोहनीय कर्म का दोष है, पर ज्ञायकभाव सम्यक्त्वी का स्वभाव है। लिप्त हूँ, इसे जानता है। होली के दिन किसी ने तुम्हारा चेहरा काला कर दिया, काला है, यह जानते हो कि नहीं? अगर नहीं जानते, फिर चेहरा धोवोगे क्यों? तो ज्ञायकभाव तो त्रैकालिक भाव है। लिप्त को लिप्त नहीं जानेगा, तो धोयेगा कैसे? ज्ञायकभाव में कालिमा नहीं है, पर ज्ञाता में कालिमा है। समझो। तो ज्ञाता ज्ञायकभाव से कालिमा को देखता है, फिर कहता है -

“आत्मस्वभावं परभाव भिन्नं .....।”

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

५५५

वस्तुधर्म और वस्तु इन दोनों में अन्तर है। वस्तु एक हो सकती है, पर वस्तु में धर्म अनेक हो सकते हैं। एक वस्तु अनेक धर्मात्मक है। वस्तु पदार्थ है, वस्तु धर्म गुण है। लोक में वस्तु को जाननेवाले अनेक धर्म हैं, पर वस्तु-धर्म को जाननेवाले उँगलियों पर गिनने लायक हैं। ध्यान दो वस्तुओं को जानने से मोक्ष नहीं होता, वस्तुधर्म को जानने से मोक्ष होता है। वस्तुधर्म गुणदृष्टि है, द्रव्य पर्यायदृष्टि है। वस्तुधर्म गुणात्मक है, वस्तु तो युगपत् है। द्रव्य, गुण, पर्याय युगपत् जिसमें हैं, वह वस्तु है। और वस्तु को जाने कैसे? धर्म को ही धर्मी से भिन्न किया जाता है। बिना धर्म को जाने धर्मी का बोध नहीं होता। धर्म लक्षण है, धर्मी लक्ष्य है। लक्ष्य की प्राप्ति लक्षण से ही होती है। लक्ष्य का लक्षण ज्ञात नहीं है तो वह लक्ष्य में जायेगा, कि अलक्ष्य में जायेगा?

**व्यतिकीर्ण वस्तुव्यावृत्ति हेतुर्लक्षणम् ॥ (न्यायदीपिका)**

जिसके माध्यम से अनेक द्रव्यों से एक द्रव्य को पृथक् किया जाये, उसका नाम लक्षण है। हे जीव ! तेरा लक्षण स्पर्श, रस, गंध, वर्ण नहीं है। तेरा लक्षण ज्ञान-दर्शन है। तुझे अपने लक्षण का ही ज्ञान नहीं है, तो लक्ष्य को कैसे प्राप्त करेगा? लक्ष्य की प्राप्ति लक्षण से होती है। तेरा लक्षण ज्ञान-दर्शन है, तेरा लक्षण ज्ञायकभाव है।

प्रश्न- भगवन् ! इस भावना के भाने का क्या फल है ?

समाधान - जो आदभावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि ।

सो सव्व-दुक्ख-मोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥ता.वृ.अ.गाथा ।

हे मुनीश्वर ! हे योगीश्वर ! हे ऋषीश्वर ! जगत् में इतने पवित्र शब्दों की संज्ञा नहीं दी जाती। ये पवित्र संज्ञा मात्र उसे दी जाती है जिन्होंने दन्ति का दमन किया है। जिसने दन्ति का दमन किया है, वह भदन्त है। दन्ति यानी हाथी, दन्ति यानी इन्द्रियों। जिसने हाथी जैसे दन्ति का दमन किया हो, वही भदन्त है ऐसा भदन्त ही ऋषीश्वर है। वही योगीश्वर है। मुझे भगवान् कहने में आनन्द नहीं आ रहा, जितना योगी कहने में आनन्द आ रहा है। भगवान तो लक्ष्य की पूर्ति है। लक्ष्य की पूर्ति का विषय भिन्न है। पर लक्ष्य प्राप्ति की ओर होता है। लक्ष्य दिख जाये जिसे उसे आनन्द कितना आता है। जो वस्तु चाहिए थी, वह वस्तु भले मिले न, पर मिलते दिखने लग जाये, दीक्षा का मुहूर्त निकल आये, दीक्षार्थी को मालूम चल जाये कि अमुक तारीख को दीक्षा की संभावना है। जिस दिन दीक्षा होगी वह आनन्द भिन्न होगा, आज का आनन्द भिन्न है। क्योंकि दृष्टि लक्ष्य का ज्ञान हो चुका है। निर्ग्रन्थ दशा लक्ष्य प्राप्ति का ज्ञापक भाव है, और स्नातकदशा लक्ष्य प्राप्ति की लीनता है।

अब आगम भाषा में बोलो। मुनिदशा भगवत् दशा प्राप्ति का मार्ग है। अरहंत भगवत्-स्वरूप हैं। अरहंतदशा भगवत् ही है, निर्ग्रन्थ दशा भगवत् दशा प्राप्ति का मार्ग है। मार्ग और मार्ग का फल दो हैं न। ये मुनिदशा है मार्ग, और अरहंत दशा है फल। जाना कैसे? प्रमाण से। जाना किससे? प्रमाण से जाना।

किसने ? प्रमाता ने । क्या जाना ? प्रमिति, प्रमाण का फल । अब मैं नहीं जानना चाहता अन्य को, नहीं जानना चाहता अन्य से, नहीं जानना चाहता हूँ अन्य, मैं नहीं जानना चाहता हूँ अन्यो के लिए । मैं जानना चाहता हूँ निज को, निज के लिए, निज से ही, अपादान से, परभावों से भिन्न स्वभाव को । आत्मा का स्वभाव परभावों से भिन्न है । मैं जानना चाहता हूँ निज में ही । मैं ही लक्ष्य हूँ, मैं ही लक्षण हूँ, मैं ही प्रमाता हूँ, मैं ही प्रमिति हूँ, मैं ही प्रमाण हूँ । हे योगी ! जगत् को जानने के स्थान अनंत थे । 'समयसार' का सार है ये गाथा ।

यत्र-तत्र देखोगे और सुई में धागा डालोगे ? हे तत्त्वप्रेमी ज्ञानी जीव ! सुई में धागा डालने के लिये, उपयोग को एकाग्र करना होता है, स्थिर करना होता है । हे मुनीश्वर ! निज के चैतन्य में चिदशक्ति का धागा पिरोना है, तो अपने आत्मभाव में नित्य ही उपयुक्त हो जाओ ।

खोट मिलाकर आभूषण बनाये जा सकते हैं, पहने जा सकते हैं, पर खोट के आभूषण लाखों में बेचे नहीं जा सकते हैं । भटकना नहीं, नहीं तो सुनार की दुकान पर जाकर बेच कर देख लेना, तुरन्त बता देगा कि इतनी खोट है, इसके पैसे नहीं । सुनार शुद्ध के ही दाम देगा । जो 'चलेगा' शब्द चल रहा है, वह शिथिलाचार अधिक-से-अधिक स्वर्ग तक ही ले जा पायेगा, सिद्धालय में नहीं ले जा पायेगा । शिथिलाचार तो स्वयं के प्रमाद के कारण स्वयमेव आता है । इसे लाना क्यों ? जो लिखा है, उतना ही तत्त्व नहीं है । लिखा तो सूत्र है, और बाकी विस्तार है । गुलाब का पुष्प कितना बड़ा होता है ? गुलाब का फूल इतना-सा है, पुष्प का संघात इतना है, पर उसकी सुगंध इतनी नहीं है । जब खिलता है, तो कितने प्रदेशों को महका देता है ? सुगंध के परमाणु विस्तीर्ण थे । पुष्प को नहीं, पराग को नहीं, सुभाषित को देखो । सूत्र में संघात है, वह संघात विस्तीर्ण होता है तो कितना होता है ? आचार्य विद्यानंद स्वामी 'अष्टसहस्री' में लिख रहे हैं, पुष्प कितना है ? कली कितनी है ? सुगंध कितनी है ? धूप हाथ में लिये कितनी सी है ? अग्नि में डालो तो चारों तरफ सुगंध फैलती है । यही कारण है कि संघात में आत्मा मति श्रुतज्ञान में विराजती है । यही ज्ञानशक्ति-  
"सम्यग्दृष्टिर्भवति नियतं ज्ञान वैराग्यशक्तिः"

वही ज्ञानशक्ति जब वैराग्यशक्ति से समन्वित होती है, तब चारित्ररूप परिणत होती है । जब चारित्र रूप परिणत होती है, तो कैवल्य को प्रगट करती है । जो संघात में थी, वह विश्वज्ञाता बन गई । किसमें थी ? अल्प में । विश्व झलक रहा है कि नहीं ? झलक रहा है, इतना विशाल हो गया कि नहीं ? और जगत् का जितना वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम था, वह क्षय हो गया । और तीर्थकर केवली जैसा वरिष्ठ कोई होता नहीं । केवल ज्ञान पहले प्रगट होता है कि अन्तराय कर्म का क्षय पहले होता है ? केवल ज्ञान हो जाता है, तो अन्तराय कर्म के क्षय की क्या आवश्यकता थी ? जब तक अनंतशक्ति नहीं होगी, तब तक अनंतज्ञान रह नहीं सकता । अनंतज्ञान रखने के लिए अनंतबल चाहिए । शक्तिरूप में रखा रहने से कुछ नहीं होता । उसके लिए दृष्टांत लाइये । धमाका (बम) बंद है तो कुछ नहीं कराता, पर फूट जाये तो भवन गिरा देगा । यह संघातशक्ति है । संघात में गुप्त है, विस्तीर्ण में फैल गया । धमाका (बम) ने क्या किया ? विस्फोट किया । स्फुटित हो गया, जब धमाका स्फुटित होता है तो कितनी आवाज करता है, कितना विनाश करता है । जब भेदविज्ञान की शक्ति से आत्मभावना से युक्त योगीश्वर के कर्मों का विस्फोट होता है, तब अपने ज्ञानतत्त्व के कर्म, प्रदेश विस्तीर्ण होते हैं, लोक में व्याप्त होते हैं, जैसे धमाकों में कितने काम होते हैं । कंकण अलग होते हैं, कागज अलग फिकते हैं, प्रकाश, आवाज अलग-अलग होती है और हृदय अलग

फूटता है। बिना अग्नि के धमाका नहीं चलता। जैसे-ही ध्यान रूपी अग्नि लगाई, वैसे-ही धीमे-धीमे आत्मभावना में मुनि समाता है, स्फुटित होता है। धमाके में भी प्रकाश होता है और ऊपर उठता है, ऊपर जाकर रुकता है। जैसे धमाके में फुलिंगें छूट रही हैं, वह चिंगारी बीच की ऋद्धियाँ, सिद्धियाँ है। जब प्रकाश कैवल्य का होगा, ध्वनि दिव्यध्वनि की होगी, तब कंकण घातिया, अघातिया कर्मों के फिकेंगे। ये सब चिंगारी है। कुछ है।

केवलज्ञान से चार कर्म गये हैं, चार बचे हैं। पाँच पाप गये हैं, पुण्य कहाँ गया है? पाप जल्दी चले जायेंगे, पर पुण्य को जाने में देर लगती है। बात गहरी है, पचा नहीं पाओगे, पर सुन लो। मिर्च, नमकीन जल्दी छोड़ देते हो, मीठा छोड़ने में विचार करते हो। नमक जल्दी छूट जाता है। नमक भोजन में ज्यादा आ जाये तो मुँह सिकोड़ता है, पर मीठा आ जाये तो वह खाता रहता है। अशन दोनों है, वासनायें दोनों में हैं, निज आसन में दोनों रहने नहीं देंगे, आयुर्कर्म ही सब से बड़ी पुण्य प्रकृति है। मनुष्य आयु, सातावेदनीय कर्म, शुभनाम, शुभ गोत्र। तीर्थकर प्रकृति नामकर्म की सातावेदनीय ने समवसरण लगवा दिया, वीर्यान्तराय कर्म का क्षय (दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, इनका क्षय) करवा दिया। अब इन्हें भोगे बिना जायेगा कैसे ? अब आयुर्कर्म ज्यादा बचा है, शेष कर्म की स्थिति आयुर्कर्म के बराबर करना है। आयुर्कर्म की स्थिति कम है, शेष की स्थिति ज्यादा है, उन कर्मों को बराबर करने के लिए, साडी को पानी में डुबोओ और रख दो तो समय लगता है, सूखने में, और फैला दो तो शीघ्र सूख जाती है। पर ध्रुव सत्य यह है, कि करने धरने के भाव भाषा में है, पर वहाँ शुद्ध ध्यान का तीसरा पाया सहज प्रगट होता है। सहज होने पर भी पुरुषार्थ आत्मा का है, सहज भी है पुरुषार्थ। क्यों ? तुम सभा में आये, बैठे हो, सहज में अच्छा लग रहा है, परिणाम अच्छे है न ? हे मुमुक्षु ! ये भी पुरुषार्थ ही चल रहा है। प्रकृष्ट पुरुषार्थ है। सहज है।

दीक्षा तो एक या आधे घंटे में होती है। निर्वाण अ, इ, उ, ऋ, लृ के उच्चारण मात्र समय में होता है। दीक्षा और निर्वाण के बीच का जो समय है, उसमें क्या करोगे ? विश्वास मानना, निर्वाण में समय नहीं लगता, दीक्षा में समय नहीं लगता, पर निर्वाण और दीक्षा के काल में जो बीच का समय है, उसे बहुत संभाल के रखना पडता है। इस बीच के काल को कैसे संभालेंगे? अब आपको प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता में अपने को लगाकर चलाना पड़ेगा। ज्ञान के अंकुश के अभाव में वैराग्य का हाथी भाग जायेगा। इसलिए जो समान कथन कर दिया, वह सामान्य हो गया। विशेष कथन करोगे, तभी प्रज्ञा खुलती है, और तभी विश्वास जगता है, यानी भेदविज्ञान की शक्ति उद्घाटित होती है। क्योंकि जब आप गाड़ी में पेर रखते हो तो कितनी देर लगी? थोड़ी-सी। उतरने में भी थोड़ा समय लगता है, पर मार्ग में चलते समय अधिक लगता है। ये जो चलने का मार्ग है, वह संभलने का मार्ग है। जो चलते योगीश्वर मार्ग में संभल नहीं पाते, वे आत्मभावना को प्राप्त कर नहीं पाते। ये संभलने के लिए समय है। तो कैसे लगायें उपयोग को ? प्रमाण, प्रमाता, प्रमिति, ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञप्ति। हेय, उपादेय, उपेक्षा। तीन को जान लिया होता तो तीनलोक का नाथ बन गया होता। जब भी आपके भाव पिच्छी लेने के आयें, तो तीन बातों पर ध्यान देना। उपेक्षा के अभाव में संयम किंचित भी नहीं पलता। जगत में किस-किस को देखोगे, किस-किस को सोचोगे? मैं सामायिक कब करूँगा? फिर करुणा भी अकरुणा है। जब मैं करुणा कर रहा था, तब ध्यान नहीं लग रहा था। भटकना नहीं। करुणा में संकल्प होता है, करुणा में विकल्प होता है। तड़पते देखकर मेरे नयनों में नीर होता है। पर मैं जब आत्मभावना में

रहता हूँ, तो करुणा/अकरुणा से शून्य स्वात्म करुणा में लीन होता हूँ। तब कोई सुखी-दुखी दिखता ही नहीं है। मैं तो स्वयं में देखता हूँ, यही मेरी परम करुणा है। हे करुणाशीलो ! पर पर करुणा की है, पर निज को रूला के रखे हो, पर तेरी करुणा को मैं हिंसा घोषित कर सकता हूँ। तेरी करुणा नहीं, तेरी हिंसा है। तू सिद्धत्व की ओर जा रहा था, तू स्वयं में लीन था। ओ ज्ञानी ! सिद्धभूमि पर विराजनेवाला सर्वार्थसिद्धि पर रह गया। अब तू पुनः एक माँ को कष्ट देने आयेगा। फिर नौ माह सतायेगा, कोटि-कोटि जीवों का घात करायेगा। ये तेरी करुणा कैसी है? मैं इस पृथ्वी पर विचरता हुआ भी पर का घात देख रहा था, फिर भी पर-घाती नहीं था। अनुमोदक भी नहीं था। क्योंकि मैं निज की करुणा में भी नहीं था। ध्यान रखना, आपको किसी को इसका व्याख्यान नहीं करना है ! हमारा व्याख्यान हमारे तक ही रहने देना। ये गंभीर रहस्य है। करुणा में जा रहा था, करुणा शुद्धोपयोग नहीं है, करुणा शुभउपयोग है। शुभउपयोग में आ गया तो स्वर्ग में ही जा पायेगा, शुद्ध नहीं बन पायेगा। जब स्वर्ग जायेगा, फिर नीचे आयेगा, फिर माँ को रूलायेगा, मृत्यु करेगा तो माँ बिलखेगी, जन्म लेगा तो माँ तड़पेगी, बिलखेगी नहीं क्योंकि पुत्र का राग सुख दे रहा है, पर पुत्र की उत्पत्ति में जो वेदना हो रही है, शरीर में, वह तड़फा रही है। एक माँ प्रसूति के लिए तैयार थी। हम लोग सो रहे थे। वह बहुत जोर से रो रही थी, तो हम जाग गये। सोचा कि किसी से झगडा हो गया, या कोई पीट रहा है। बाद में मालूम चला कि शिशु को जन्म दिया है। जो करुणा थी वह इसीलिए थी कि कोई तड़फे न। पर तेरी करुणा से तड़फ भी रहा है, बिलख भी रहा है, करुणा वह होती है, जो संसार का कारण नहीं होती हो। जो संसार का कारण है, वह करुणा कैसी ? पर जब-तक उस उत्कृष्ट स्थिति को नहीं छू पाये हो, तब तक करुणा करते रहना।

काश ! आज इन चार की जगह सभी मुनि होते, तो मैं आपको और ऊँचे ले जाता।

योगी आत्मभावना में चलता है। विद्युत होते हुये भी बल्ब बुझा देखा जाता है। करंट भी है, फ्यूज भी नहीं हुआ है, जल भी रहा था, पर जलते-जलते बंद हो गया, कारण क्या ? बात ऐसी थी, कि नीचे कक्ष में दो हीटर चालू कर दिये थे, तो बोल्टेज कम होने से बल्ब बंद हो गया। हे योगीश्वर ! आत्म-तत्त्व का प्रकाशमान बल्ब जल गया था। इधर किसी रागी ने आकर के भोगवृत्ति की चर्चाओं का हीटर जला दिया, तो यह अंदर का शुद्धात्म तत्त्व का बल्ब बुझ गया, जबकि शक्ति थी, पावर था, सबकुछ था। इसलिए मुनियों को गृहस्थों से दूरी बनाये रखना चाहिये। भैया ! मेरी रक्षा करना। आप दूरी बनाये रहा करो।

ये समयसार है। तेरे अन्दर वैराग्य शक्ति है, पर घने-घने रागियों के बीच बैठते है तो शक्ति टिमटिमा गई, जो धारा विद्युत की थी, वो जाकर के हीटर में समा गई। अब चाहे रोटी सेंक लो, चाहे दूध गरम कर लो।

आत्मभाव चिद्रूप भाव है। एकत्व भाव रहेगा, तो विभक्त भाव नहीं रहेगा। आत्मा को समझने के लिए आत्मा को कितना पुरुषार्थ करना पड़ता है। आत्मा की जानकारी है अभी, जाननानुभूति नहीं है। पर ये जानकारी आत्मा जो ले रही है, वह ऊपरी सतह है। पर जिस दिन भीतर से जान लेगा, उस दिन बाहर में आयेगा नहीं, उपाय करो। मार्ग पर चलो, स्वीकार है, पर मार्ग पर चलना मात्र मार्गी नहीं है। रोटी बनाओ, सत्य है। चूल्हा जलाओ, सत्य है। रोटी का ग्रास तोड़ो, सत्य है। मुख नें रख लो, सत्य है। फिर भी स्वाद नहीं है। मुख में पहुँच गया, खुश मत हो जाना कि स्वाद मिल ही जायेगा, अन्दर जायेगा ही। मुख में रखा, बाल आ गया मुंह में, तो मुख का भी बाहर आ गया। मुख में पहुँचे, ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँचे, फिर भी जीव नीचे

गिर गया। पुरुषार्थ की कमी थी, इसलिए ऐसा हुआ। क्यों? मुनिराज बन गये, सामायिक में बैठ गये, इसी बीच में कुभावों का बाल आ गया तो, भीतर जाने वाले थे, परन्तु बाहर रह गये। छोटा-सा बाल भी अंतराय डाल देता है। तनक-सी मन की अशुभ परिणति शुद्धात्म-स्वरूप में अंतराय डाल देती है। आपको तन के मुनि दिखते हैं, हमें मन में मन के मुनि दिखते हैं। मैं तन के मुनि के साथ मन के मुनि को देखता हूँ। जितना मन का मुनि रहता है, उतना ही मुनि होता है, शेष समय तन का मुनि होता है। मुझे लगता है कि मैं चार-छः दिन ऐसी व्याख्या कर दूँ, तो तुम मुनि को नमस्कार करना छोड़ दोगे।

**भावविरदो दु विरदो, ण दव्व विरदस्स सुगई होई।**

**विसयवण रमणलो लो धरियव्वो तेण मणहत्थी ॥९९७॥ मूलाचारा॥**

मैं तो सत्य इसलिए कहता हूँ, तुम चल न पाओ तत्त्व पर, पर तत्त्व का कथन असत्य मत करना। सत्य कहते रहोगे, तो तुमको ठेस लगेगी, तो तुम बनने का पुरुषार्थ करोगे। जो भावों से विरक्त है, वही विरक्त है।

द्रव्यवृत्ति की सुगति नहीं होती,

जो विषय रूपी उद्यान में मन-हस्ति है, उसे ज्ञान-अंकुश से पकड़ लो। वह भाव-मुनि कैसा है? जिसमें मिथ्यात्व का मल नहीं है, जिसमें असंयम का शैवाल नहीं है, जिसमें कषाय का खारापन नहीं है, जिसमें राग की चिकनाई नहीं है, शुद्ध शीतल पाताल नीर है तो वह भाव-मुनि है। यह सब लिखा है, कि आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा ही आत्मा है, जो सम्पूर्ण दुःखों से मुक्त होता है। 'पाबदि अचरेण कालेण' जो नित्य उद्यत रहता है, ऐसा मुनि।

यह ग्रंथ मुनियों के लिए है। आप सुन सकते हो समझ सकते हो, लेकिन अनुभव इस ग्रंथ का किसके लिये है? तपोधन, तपस्वी मुनि के लिए है। वो सम्पूर्ण दुखों से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं, निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय भावना की दो गाथाओं के द्वारा चौथा स्थल समाप्त हुआ।

**॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥**

५ ५ ५

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी 'समयसार' ग्रंथ जी में, परम तत्त्व के रहस्यों को उद्घाटित कर रहे हैं। कल आपने देखा, कि करुणा भी अकरुणा है। 'पर' पर की गई करुणा निज पर अकरुणा है निश्चय से, क्योंकि करुणा से शुभास्रव ही होगा, उस शुभास्रव से स्वर्ग ही जा पाओगे, मोक्ष नहीं। सम्यग्दृष्टि जीव की करुणा परम्परा से मोक्ष का कारण है, परन्तु मिथ्यादृष्टि की करुणा संसार ही का कारण है। सिद्धांतदृष्टि से देखें तो प्रशम, अनुकम्पा, संवेग, आस्तिक्य सम्यग्दृष्टि के ही घटित होते हैं, मिथ्यादृष्टि के नहीं, ऐसा विद्यानंद स्वामी ने 'श्लोकवार्तिक' में कहा है। पंचाध्यायीकार ने प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य ये मिथ्यात्वी में भी घटित किये हैं। परन्तु विद्यानंदस्वामी ने तर्क के साथ खंडन किया है इस बात का। बोले कि ऐसा नहीं हैं। क्योंकि किसी जीव को आस्तिक्यपना है, पर यह अस्तिक्यपना है किसके प्रति? अनंतानुबन्धी कषाय के सद्भाव में जो आस्तिक्य भाव है, वह मिथ्यात्वरूप ही है, सम्यक्त्वरूप नहीं है। प्रशम यानी शान्त बैठा है कोई जीव और अनंतानुबन्धी के साथ है, तो इतना ध्यान दो, क्रोध कषाय का उपशम मात्र उपशमभाव नहीं है। लोग पकड़ते क्या हैं? चार कषायों में क्रोध स्पष्ट दिखाई देता है, पर क्रोध कषाय का उपशमन-मात्र



उपशमभाव नहीं है। धानी में पेल दिया फिर भी आवाज तक नहीं आयी, तो आप कहेंगे कि कितना उपशमभाव है। अरे ज्ञानी ! इतना ध्यान क्यों नहीं देते हो, कि मैं आवाज करूँगा तो लोग हँसी करेंगे, इसलिए प्रशंसा नहीं होगी, ऐसा विचार करके शांत बैठा है। ज्ञानी ! मान-कषाय का उपशमन कहाँ है ? और छल से शांत बैठा है तो माया का उपशमन कहाँ है ? प्रशंसा का लोभ है। क्रोध कषाय को पकड़ लिया, शेष कषाय को छोड़ दिया। ये धर्म की परिभाषा है क्या ? एक कषाय को आपने प्रधान बना लिया, शेष कषायों को गौण कर दिया। अरे ज्ञानी ! आपको यह समझना चाहिए, कि उपशम भाव यह कहता है कि चारों कषायों का उपशमन है कि नहीं ? कभी-कभी क्या होता है कि मिथ्यादृष्टि जीव है, क्रोध नहीं कर रहा, प्रसन्न रहता है, तो लोग समझते हैं कि कितना उपशम भाव है। पर, हे ज्ञानी ! इसे उपशम कहोगे ? मिथ्यात्व को लिए बैठा है, भाव कषाय और कह रहा है, तो क्या उपशम भाव है? श्लोकवार्तिक में कहा है कि मिथ्यात्व में प्रशमभाव होता ही नहीं है। शुभलेश्या के अंश में कषाय की मंदता तो हो सकती है, पर उपशम भाव नहीं होता। जैसे-कि असंयमी जीव को व्रत करते देखा जाता है, पर व्रती नहीं होता, क्योंकि व्रत वह सीमा में कर रहे हैं, पर कषाय की असीमितता थी। जब तू पालन कर ही रहा है, तो प्रतिज्ञा क्यों नहीं लेता ? यह प्रश्न खड़ा कीजिए, क्योंकि अंतरंग में कषाय बैठी है। कभी आवश्यकता पड़ गई तो, मेरे से पालन नहीं हुआ तो। यह 'तो' असंयमभाव है, वह त्रैकालिक विराजमान है, इसलिए व्रत पालन तो है, पर संयम नहीं है। जितने अंश में पाल रहा है, तद्रूप शुभास्रव हो जायेगा, लेकिन अव्रती के अभावरूप जो निर्जरा होने वाली थी, वह नहीं है। चारों अनुयोगों में धितन को विशाल बनाओ। अव्रती व्रत का पालन कर रहा है, पर व्रत की प्रतिज्ञा क्यों नहीं ले रहा है? व्रत का पालन मंद कषाय में चल रहा है, पर कषाय की तीव्रता व्रती नहीं होने दे रही है। क्या सिद्धांत है ? अंदर में राग बैठा है, अंदर की कमजोरी है, एक जरा सी कमजोरी आपको फैल कर देती है। औषधि के लिए सम अनुपात चाहिए, और परिणामों का सम अनुपात चाहिए। विसम अनुपात में औषधि दोगे, तो रोगी मरण को प्राप्त हो जायेगा। चारों कषायों का सम अनुपात चाहिए। एक भी कषाय की तीव्रता रहेगी तो ज्ञानी ! सम्यक्त्व का मरण हो जायेगा। रोटी में नमक डालते हैं, पर आप संभल कर ही डालते हो, अन्यथा पूरी रोटी खराब हो जायेगी, अतः समानुपात चाहिए। आगम क्या बोल रहा है? तपस्या करने के लिए समानुपात चाहिए। क्यों ? तपस्या बढ़ गई, कषाय बढ़ गई, उपशमभाव घट गया, काम बिगाड़ लिया आपने। साधना बढ़ाना थी। इधर ध्यान रखना था कि मेरी साधना बढ़ते हुये मेरी ही साधना पर मेरी ही श्रद्धा बढ़ रही है कि नहीं। कभी-कभी खिंचाव में साधना बढ़ा ली, फिर शरीर टूटना शुरू हुआ। दस उपवास करना है, प्रचार हो गया, अब लोक की मर्यादा रखते हुए उपवास कर रहा है, पर उपशमभाव घट रहा है, शरीर टूट रहा है। साधना बाहर की दिखती है, लेकिन साध्य तेरा छूट रहा है। संभल के सुनना। उपशम भाव नहीं घटना चाहिए और साधना होना चाहिए। उपशमभाव घट गया तेरा, साधना बढ़ गई, तो बहिरंग साधना तो हो जायेगी, पर अंतरंग साधना घट जायेगी। सल्लेखन के काल में अंतरंग साधना ही संभलवाना पड़ती है। किसी अनाड़ी को निर्यापकाचार्य नहीं बना देना। वह कहेगा, 'नहीं तो चलो बैठो सामायिक करो, सामायिक बैठकर करना पड़ती है।' अरे ! उसका शरीर कमजोर है, वह बैठ नहीं सकता तो उससे कहना कि तन लेटा है तो कोई विकल्प नहीं, मन को स्थिर कर सामायिक करो। सामायिक के

**उपविष्ट अवशिष्ट, उपविष्ट उत्थित, उत्थितो-उत्थित, उत्थितो-उपविष्ट ये चार भेद हैं।**

श्रेष्ठ साधक, श्रेष्ठ सामायिक, श्रेष्ठ कायोत्सर्ग, प्रथम "उत्थितो-उत्थित। जो तन से भी खड़ा है, और अंदर से भी खड़ा है। सामायिक में यह श्रेष्ठ साधना है। दूसरा है "उत्थितो उपविष्ट" तन से खड़ा है परन्तु भीतर से विकल्प चल रहा है कि मैं सामायिक कर रहा हूँ, कोई देख रहा है कि नहीं? ज्यादा भीड़ देख रही है तो एक पैर पर खड़ा हो गया। और कोई फोटो खींचने आ गया, तो और सावधान होकर खड़ा हो गया। वह खड़ा होने पर भी बैठा है। किसी का स्वास्थ्य ठीक नहीं है तो वह बैठा है, या लेटा है, परन्तु भावों से खड़ा है तो यह उपविष्ट उत्थित है। तन से बैठा है, परन्तु मन से खड़ा है। और चतुर्थ उपविष्ट-उपविष्ट तन से भी बैठा, मन से भी बैठा, मन भी नहीं लग रहा और तन से भी सामायिक नहीं कर रहा। सबसे हीन कोई है तो उपविष्ट-उपविष्ट है।

ये भंग क्यों सुना रहा हूँ? किसी अस्वरथ को तुम बैठा मत देना। तन से बैठा दिया, तो मन में संक्लेशता बढी। इसलिए तन से भी बैठा मत देना। ये तो समयसार है। तन को नदी या समुद्र में भी पटका गया था, पर मन को कहाँ डुबाया समुद्र में? वे तो सिद्ध हो गये। समुद्रसिद्ध, नदीसिद्ध, जलसिद्ध, स्थल सिद्ध, नभसिद्ध 'तत्त्वार्थ सूत्र' में आचार्य उमास्वामी ने वर्णन किया है। कोई पूर्वभव का बैरी आया और मुनिराज को उठाकर नदी या समुद्र में पटक दिया। इधर वह पटक रहा था, उधर उनका शुक्ल ध्यान चला, क्षपक श्रेणी में आरूढ़ हुआ और कैवल्य को प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त कर लिया, ये जलसिद्ध हैं। सबसे ज्यादा पुरुषार्थ है मन को स्थिर करना। उत्कृष्ट साधना है खड़े होकर। चौबीस तीर्थकर में मात्र तीन तीर्थकर पद्मासन से मोक्ष गये हैं। पर बहुत अच्छा हुआ जो कि वे चले गये, नहीं तो किसी को पंचमकाल के लोग बैठकर साधना करने ही नहीं देते।

संहनन पहला ही चाहिए निर्वाण पाने के लिए। किसी भी संस्थान से मोक्ष होता है, पर संहनन वज्रवृषभ नाराच ही होता है। भगवान्-आदिनाथ, वासुपूज्य, नेमिनाथ पद्मासन से निर्वाण को प्राप्त हुए, शेष तीर्थकर कायोत्सर्ग खड़े होकर ही निर्वाण को प्राप्त हुए। खड़े होकर साधना करना उत्कृष्ट साधना है। शक्ति के अनुसार साधना करना चाहिए, खींचना नहीं चाहिए। कायोत्सर्ग यानी जिनमुद्रा, आपके दोनों हाथ जंघा तक जाना चाहिए। तीन भगवानों की उत्कृष्ट साधना नहीं थी, पर नियोग ऐसा बना कि उस मुद्रा में ही निर्वाण हो गया, उठने-बैठने को उत्कृष्ट-जघन्य साधना नहीं कहना। उत्कृष्ट कायोत्सर्ग है उत्थित-उत्थित। परन्तु परिणामों की दशा है।

### "प्रमादः कुशलेष्वनादराः।" (सर्वार्थ सिद्धि)

कुशल क्रियाओं में अनादर करने का नाम 'प्रमाद' है। और कुशल क्या है? पुण्य ही कुशल है, और पाप ही अकुशल है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कितनी सुंदर बात कही। जो योगी आत्मभावना में लीन होकर और नित्य ही तद्उपयोगमय है, वह शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त कर लेता है, इस बात का कथन किया है। आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी की टीका है, उसका व्याख्यान जयसेन स्वामी कर रहे हैं। भूतार्थ क्या है? व्यवहारनय असत्यार्थ होता है। संभलकर सुनना। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने परमार्थदृष्टि से ही असत्यार्थ कहा, पर आचार्य जयसेन स्वामी कह रहे हैं, कि सत्यार्थ भी है, असत्यार्थ भी है। भूतार्थ को सत्यार्थ कहा है शुद्ध निश्चयनय से। व्यवहारनय से सम्यग्दृष्टि होता है, कि निश्चयनय से सम्यग्दृष्टि होता है? भूतार्थ से कि अभूतार्थ से? भूतार्थ निश्चय का आश्रय लेता है। यह आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी की टीका का व्याख्यान

है। दूसरा व्याख्यान, कि व्यवहारनय अभूतार्थ है और भूतार्थ भी है। केवल व्यवहार ही भूतार्थ व अभूतार्थ नहीं है, शुद्धनिश्चय नय भी भूतार्थ भी है और अभूतार्थ भी है। यह समझ में आ जाये, तो विसंवाद समाप्त हो जाये। विसंवाद क्यों हो रहा है? एकनय से कह देते हैं, कि व्यवहार तो अभूतार्थ ही है, निश्चय भूतार्थ ही है। नहीं, निश्चय तो निश्चयनय की अपेक्षा से भूतार्थ ही है। व्यवहार की अपेक्षा से निश्चय अभूतार्थ है, निश्चय की अपेक्षा व्यवहार अभूतार्थ है। व्यवहार तो व्यवहार की अपेक्षा भूतार्थ ही है। क्यों है? जो व्यवहार-व्यवहार ग्रहण कर रहा है, उसे निश्चय ग्रहण नहीं करता। ध्यान दो, रोटी तो रोटी है, पुड़ी तो पुड़ी है, दोनों गेहूँ द्रव्य से बनी हैं। पर दोनों की पर्याय की प्रत्याशक्ति भिन्न-भिन्न है। तो दोनों में स्वाद कैसा? जिसको पुड़ी रुचती है, उसके लिए रोटी अभूतार्थ है, और जिसको रोटी रुचती है, उसको पुड़ी अभूतार्थ है।

जिसकी योग्यता निश्चय में है ही नहीं, उसके लिए व्यवहार ही भूतार्थ है। शुद्धात्मा को जानते ही नहीं हैं, व्यवहार सम्यक्त्व का ज्ञान ही नहीं हैं, उससे कहना कि तुम देवशास्त्रगुरु की पूजा करो, कम-से-कम द्रव्य-मिथ्यात्व से तो बचो। भूतार्थ है, लेकिन जैसे म्लेच्छ के लिए 'स्वस्ति' शब्द अभूतार्थ था, उसी प्रकार जिसने शुद्धात्मा को जाना नहीं, समझा नहीं, उसके लिए निश्चय तो अभूतार्थ है, परमशुद्धोपयोगी ज्ञानी मुनि के लिए भूतार्थ है। यह बारहवीं गाथा में स्पष्ट होगा।

चौदह गाथाएँ 'समयसार' की पीठिका है। निर्मलभाव से यह चौदह गाथाएँ समझ में आ गई, तो आगे पूरा समयसार समझ में आ जायेगा। और जो चौदहगाथा पर ही अटक गया है, वह आगे अटका ही रहेगा, नहीं समझ पायेगा। सबसे गहन गाथा तो ग्यारहवीं ही है, जो कि भूतार्थ और अभूतार्थ को कहने वाली है। लोगों ने इसे रट लिया। जब भी व्यवहार का कथन होता है, वह धीरे से घी का घड़ा कह देता है। हे ज्ञानी! 'घी का घट' यह दृष्टांत व्यवहार का नहीं है। सदभूत व्यवहारनय से 'घी का घट' नहीं है, असदभूत व्यवहारनय में घी का घट लग जायेगा, वह भी उपचरित असदभूत। स्वजाति उपचरित असदभूत, विजातीय उपचरित असदभूत स्वजातिय विजातिय उपचरित असदभूत। शुद्ध सदभूत, अशुद्ध सदभूत। अध्यात्मनय भिन्न है और आगमनय भिन्न है। यदि नयों को समझ लिया, तो प्रमाण अच्छे से समझ में आता है। प्रमाण, प्रमा, प्रमाता। प्रमा यानी क्या? जब तूने प्रमाता होकर के भी प्रमेय को नहीं जाना, प्रमा को छोड़कर, प्रमाता होकर प्रमेय को नहीं जाना, तब प्रमिति क्या होगी? प्रमिति यानी फल। इसलिए एक नय से नहीं चला जाता। एक दृष्टि से परिवार नहीं चलता। जिसकी जैसी योग्यता होती है, वैसा काम दिया जाता है।

**“जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवाया” 13/४७ । (सन्मतिसूत्र)**

जितने वचनवाद, उतने नयवाद। यह तो व्यवहारिक बात है, कि जब भोजन बनाते हैं, तब भिन्न नय होता है, और जब भोजन करते हैं, तब भिन्न नय होता है। जीभ ने अधरों से ग्रास पकड़ा, जीभ ने ग्रास को घुमाया, दाँतों ने ग्रास को चबाया। उस समय तू भोजन कर रहा था क्या? एवंभूतनय से बोलिये। हे ज्ञानी! द्रव्य निक्षेप और वर्तमान नैगमनय कह देगा, कि भोजन कर रहा है, परन्तु एवंभूतनय नहीं कहेगा। क्यों? यदि मुख में रखने को, चबाने को भोजन करना हो जाता, तो चिडिया अपने मुख में लाती है और चबाती भी है, पर स्वयं नहीं खाती, बच्चे को खिलाती है। नहीं कहलायेगा न? सूक्ष्म की बात करो। जब तुम अंदर में स्वाद ले रहे होंगे, तब एवंभूतनय कहेगा कि भोजन कर रहा है। और इसके पहले भोजन चबा रहा है। एवंभूतनय से जो होगा, वह निश्चित है। जो निगला है, उसका स्वाद ले रहा है, तब भोजन कर रहा है। शेष

भोजन करने की तैयारी है।

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती को भी मोक्षमार्गी कहा जाता है, पर ध्रुव सत्य यह है कि छटवें गुणस्थानवर्ती को ही मोक्षमार्गी कहा जाता है। रत्नत्रय नहीं है चौथे गुणस्थान के पास। असंयत सम्यग्दृष्टि (अविरत सम्यग्दृष्टि) में अभी संयत शब्द नहीं आया। सिद्धांत की भाषा में कहें तो जब-तक सिद्धांत और चरणानुयोग का संयत नहीं आयेगा, तब तक संयमी संज्ञा नहीं होगी। द्रव्यानुयोग का भिन्न विषय है, वह गुणस्थानादि को गौण करके बोलता है। वह आपको वस्तुस्वरूप का ज्ञापक है, प्रापक नहीं है। यानी आपको इन आँखों से दूध में ही घृत का ज्ञान करा दिया अतः ज्ञापक। पर प्रापक तब ही होगा, जब पूरी क्रिया होगी। द्रव्यानुयोग शुद्धस्वरूप का ज्ञापक है कि स्वरूप ऐसा है, परन्तु प्रापक तो आपका चरणानुयोग, करणानुयोग है। करणानुयोग कहेगा कि इतनी प्रकृतियों का क्षय कीजिए, चरणानुयोग कहेगा कि यथाख्यात चारित्र को प्राप्त कीजिए, तो द्रव्यानुयोग कहेगा कि निगोदिया भगवान् आत्मा ज्ञापक है, जबकि प्रथमानुयोग केवल ज्ञान से युक्त समवसरण में विराजे अथवा सिद्धशिला पर विराजे भगवान् को ही शुद्धस्वरूपी कहेगा। पर प्राप्ति कौन करायेगा? कर्म की प्रकृतियों का क्षय कीजिए। कैसे करूँ? यथाख्यात चारित्र को प्राप्त कीजिए, शुक्लध्यान को प्राप्त कीजिए, क्षपक श्रेणी का आरोहण कीजिए और शुक्लध्यान में लीन होइये। इतनी क्रिया हुये बिना जानने मात्र से प्राप्ति नहीं होती है। ज्ञप्ति है। दर्शनशास्त्र का ज्ञाता 'ज्ञप्ति' और 'प्राप्ति' में अंतर न डाले तो दर्शनशास्त्र कैसा? ज्ञप्ति ज्ञप्ति है, प्राप्ति प्राप्ति है। ज्ञप्ति यानी जानन क्रिया, प्राप्ति यानी उपलब्धि अर्थात् अनुभवन क्रिया।

लोग चतुर्थ गुणस्थान में ही संतुष्ट हो रहे हैं, बस इक्तालीस कर्म प्रकृतियों का नाम लेकर हम तो संवर व निर्जरा में लग गये। संतुष्ट मत हो। ये हो रही हैं, इन्हें कौन मना कर रहा है? इनसे मिल कुछ नहीं रहा है। साधकतम् करण चौथे गुणस्थान में शुद्धात्मानुभूति का निषेध है, आत्मानुभूति का निषेध नहीं है। अगर निषेध कर दोगे, तो सम्यक का अभाव हो जायेगा। 'आत्मानुभूति' शब्द लेकर निषेध प्रारंभ कर देते हैं। निगोदिया जीव को आत्मानुभूति होती है कि नहीं? प्रत्यक्ष होती कि परोक्ष? मति श्रुत ज्ञान को सिद्धांत में परोक्ष कहा है, इसलिए परोक्ष होती है। पर यह बताओ कि वह मति श्रुत ज्ञान होता किसमें है? ज्ञान आत्मा है, कि आत्मा में ज्ञान है? आत्मा से ज्ञान जाना जाता है, कि ज्ञान से आत्मा जानी जाती है? भिन्न होकर जानी जाती है, कि अभिन्न होकर? प्रत्यक्ष से जानी जाती, कि परोक्ष से? जो सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष है, वह लोक को समझाने के लिए है, आपको समझाने के लिए नहीं है। जो सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष है, वह आत्मा से अभिन्न है ध्यान रखना न्याय व दर्शन की अपेक्षा से वह प्रत्यक्ष है। प्रमाण क्या है? वृहद् द्रव्यसंग्रह, परमात्म प्रकाश, अष्टसहस्री।

जो सप्तम गुणस्थान है, स्वात्मानुभूति है वह प्रत्यक्ष है, कि परोक्ष? जिसे अध्यात्म में प्रत्यक्षानुभूति कहा जा रहा है, यथार्थ में सिद्धांत से वह भी परोक्ष है, क्योंकि मति श्रुत ज्ञान से विषय चल रहा है। परन्तु आचार्य-भगवान् ब्रह्मदेव सूरि ने 'वृहद् द्रव्यसंग्रह' की और 'परमात्म प्रकाश' की टीका में प्रश्न किया शिष्य ने ये स्वात्मानुभूति कैसे? प्रत्यक्षानुभूति कैसे? सूत्र में "आद्ये परोक्षम्" लिखा है। सत्य है। लेकिन इन्द्रियमन की सहायता के कारण परोक्ष कहा जाता है। प्रत्यक्ष क्यों? अक्ष यानी आत्मा। आत्मा से परे ज्ञान नहीं होता है। इसलिए मति श्रुत है, वह भी प्रत्यक्ष है। अन्यथा स्वात्मानुभूति, शुद्धात्मानुभूति घटित नहीं

होगी। इसलिए शुद्धात्मानुभूति परोक्ष नहीं, प्रत्यक्ष है। आगम से दोनों सत्य हैं। सिद्धांत की भाषा में परोक्ष है और अध्यात्म की भाषा में प्रत्यक्ष है। एक प्रश्न और खड़ा है - बाह्य प्रमेय और भाव प्रमेय। ये दो समझ में आ जायें, तो सम्पूर्ण प्रश्न समाप्त हो जायें। बाह्यप्रमेय मिथ्यात्व होता है, कि भाव प्रमेय मिथ्यात्व होता है इसे सोचना। आगे बतायेंगे। भाव प्रमेय की अपेक्षा कोई भी ज्ञान मिथ्यात्व नहीं होता। बाह्यप्रमेय की अपेक्षा मिथ्यात्व-सम्यक्त्व होता है। अब सोचना है कि क्या मिथ्यादृष्टि भी सत्य है ?

## ॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

५ ५ ५

आचार्य भगवान् कुन्दकुन्द 'समयसार' ग्रंथ में आलोकित चर्चा कर रहे हैं। भूतार्थ दृष्टि, भूतार्थ वस्तु। वस्तु त्रैकालिक भूतार्थ ही होती है, तुम्हारी दृष्टि भूतार्थ या अभूतार्थ है। जो-जो वस्तु है, वह सत् की अपेक्षा से भूतार्थ है। जब स्वभाव का कथन करते हैं, तो वस्तु भी भूतार्थ या अभूतार्थ होती है। 'स्कन्ध' स्वभाव की अपेक्षा अभूतार्थ है, 'परमाणु' भूतार्थ है। वस्तुत्व गुण की अपेक्षा से दोनों ही भूतार्थ हैं। समझ में आया ? आत्मा तो आत्मा की अपेक्षा से भूतार्थ है। संसारी आत्मा और मुक्त आत्मा जब यह दो भेद करेंगे तब संसारी आत्मा अभूतार्थ है, मुक्त आत्मा भूतार्थ है। परन्तु सत्-अपेक्षा दोनों भूतार्थ हैं। कल प्रश्न किया था भावप्रमेय, बाह्यप्रमेय। लोक में जितने पदार्थ हैं वह सब भाव प्रमेय की अपेक्षा से प्रमाण स्वरूप हैं। बाह्यप्रमेय की अपेक्षा से प्रमाण, प्रमाणाभास। भावप्रमेय की अपेक्षा से प्रत्येक पदार्थ प्रमाण स्वरूप है। बाह्यप्रमेय की अपेक्षा से पदार्थ प्रमाण, प्रमाणाभास है। भावप्रमेय में विकल्प नहीं करता।

यह कर है, कि पंजा है, कि पाणि है? बाह्यप्रमेय, भाव प्रमेय। भाव प्रमेय यानी ज्ञान-सामान्य, बाह्यप्रमेय और ज्ञान-विशेष। अब बाह्य में ज्ञान विशेष क्यों दे दिया ? क्योंकि बाह्य प्रमेय पदार्थों की पर्यायों की प्रमाण प्रधानता है। वह नाना रूप लेके चलता है। भावप्रमेय यानी ज्ञान-सामान्य। भावप्रमेय की अपेक्षा से कुछ भी प्रमाणाभास नहीं होता। बाह्य प्रमेय की अपेक्षा प्रमाण, प्रमाणाभास होते हैं। दोनों को ग्रहण करता है। भाव प्रमेय की अपेक्षा प्रमाण ही होता है, प्रमाणाभास नहीं होता। कैसे ? ये कर (हाथ) है, ज्ञप्ति है जाना। जाना है, चाहे मिथ्या हो, चाहे सम्यक् हो। चाहे साधु का हाथ हो, चाहे असाधु का हाथ हो, सामने दर्पण है, उसमें साधु का हो, तो झलकेगा, असाधु का हो तो झलकेगा ? वह तो दोनों को झलकायेगा। वह यह नहीं कहेगा कि साधु है कि असाधु। क्या झलकेगा? हाथ झलकेगा। वह हाथ झलक रहा है, वह सत्य झलक रहा है, कि असत्य ? सत्य है। दर्पण में तो हाथ है भावप्रमेय में विकल्प नहीं होता, पदार्थ होता है। मिथ्यात्व जो है वह भी सत्य है, मिथ्याज्ञान है वह भी सत्य है, प्रमाणाभास नहीं है। जो मिथ्यात्व को जान रहा है, वह किससे जान रहा है? ज्ञान से। मिथ्याज्ञान को जान रहा है, किससे ? ज्ञान से। मिथ्या चारित्र को जान रहा है, किससे ? ज्ञान से। ज्ञान में मिथ्यापना नहीं है, ज्ञान में सम्यक्पना नहीं है। ज्ञान में ज्ञप्ति क्रिया है। मिथ्यात्व भी मिथ्यात्व की अपेक्षा से सत्य है। सम्यक् भी सम्यक् की अपेक्षा से सत्य है। बाह्य प्रमेय में जब हम आते हैं, तो क्रियारूप विषय बनता है। बाह्य प्रमेय में आते हैं, तो सम्यक् 'श्रद्धा' का विषय बन रहा है। मिथ्यात्व 'अश्रद्धा' का विषय बन रहा है। पर जब हम ज्ञान में देखते हैं तो ज्ञान के विषय दोनों हैं, सत्य है भाव प्रमेय से।

प्रमाण में आओ। सोना तो सोना है। उसी में, उस डली के आधे से कुण्डल बना लिया, आधे से

मुकुट बना लिया। यानी दो भेद खड़े हो गये, कुंडल और मुकुट। ज्ञान में पकड़िये। कुंडल, मुकुट, कि सोना ? सोना है। पर्यायों को गौण करके विशेषों को लेकर विशेषित हो जाता है और अवशेष को, अशेष को खो देता है। अशेष को अवशेष रखना है, विशेषों को गौण करके स्वभाव को ग्रहण करना है। प्रमाणाभास कुछ भी नहीं है। भाव प्रमेय में कोई भी प्रमाणाभास नहीं है। ज्ञान-सामान्य है। बाह्यप्रमेय में प्रमाण तो प्रमाण है और प्रमाणाभास प्रमाणाभास है। अब कहने की क्या आवश्यकता? तत्त्व में विराजमान कैसे होंगे आप ? जो यह विषय चल रहा है, समझाने का कम है, समझने का ज्यादा है। देखो, जो आप नाडी देखना सीखे न, वह सीखे कम हो, समझे ज्यादा हो। सीखे हुये देखेंगे तो असफल हो जायेंगे। और समझे हुए जो देखेंगे, वे प्राणों की रक्षा कर देंगे, अकाल मरण से बचा देंगे। सीखनेवालों से नहीं मिलना। साधु और वैद्य इन सीखनेवालों से नहीं मिलता है, समझने वालों से मिलता है। जो सीख रहा है, घोड़ा उसे गड्डे में पटक सकता है। जो समझ चुका है, वह संभाल कर ले जायेगा। आपको मालूम होना चाहिए कि कभी-कभी घुडसवार को मार्ग मालूम नहीं होता। वह नकेल खींचता है, तब भी घोड़ा सही मार्ग पर ले जाता है। जो दिन-रात बैलगाड़ी पर जाते हैं, वे गाड़ी पर सो जाते हैं और वे बैल चलते रहते हैं, और ठीक स्थान पर जाकर रुक जाते हैं। वे समझ चुके हैं।

मोक्षमार्ग सीखने का मार्ग नहीं है, यह समझदारों का मार्ग है। सीखना चाहिए है ब्रह्मचारी आदि अवस्था में। पिच्छी लेकर तो समझदारी का, संभलने का मार्ग है। भाव प्रमेय, बाह्य प्रमेय, इनको जानने की क्या आवश्यकता है ? राग-द्वेष की हानि होती है। कितना दृढ श्रद्धान बन रहा है? जीव, स्त्री नहीं देखेगा, पुरुष नहीं देखेगा, कीड़े-मकोड़े आदि कुछ भी नहीं देखेगा। क्या देखेगा ? जीवद्रव्य देखेगा। सात तत्त्व में जीव नाम का तत्त्व है। पर्यायों को देखोगे तो परिणति बिगड़ेगी। द्रव्य सामान्य को देखोगे, तो परिणति निर्मल होगी। द्रव्य को देखना है, तो अपरिचित होकर परिचय में रहोगे, तो सत्य में जी पाओगे और अधिक समय अपने लिए दे पाओगे। जैसे कि आप अध्यापन कार्य करा रहे हैं किसी कालेज में, वहाँ आप विवेकशील हैं, तो विद्यार्थियों से अपरिचित रह कर उनको क्लास मात्र में अपना परिचय देना, बाकी अपरिचित रहना। हे ज्ञानी ! परिचय तो हो जायेगा, परन्तु तू अपरिचित रहेगा, जिससे समय बचेगा, और तू अपना परिचय स्वयं में लेता रहेगा। और यदि उनसे परिचय बढ़ा लिया, तब वे तेरे तन का परिचय लेने आ जायेंगे और तू मन की कहना प्रारंभ कर देगा, तो जो तेरा ज्ञान बढ़ रहा था, वह कम हो जायेगा। जैसे पंडितजी उपदेश करने गये बाहर, इतने गंभीर बैठे सभा में आकर कि तत्त्व का परिचय दे, स्वयं के परिचय से अपरिचित रखें। पर के परिचय को अपरिचित रखो। तत्त्व बोध देकर आ जाओगे, तो आपका परिचय तो हो ही जायेगा। ज्ञानी ! आप अपने परिचय से अपरिचित नहीं रह पाओगे। और जहाँ हमने परिचय बढ़ाया, तो लोगों का आना प्रारंभ होता है, और जो समय आपको मिलना चाहिए था, वह पर में चला जाता है। निज का परिचय पर से अपरिचित रहने में ही होता है। पर से परिचित रहोगे, तो निज से अपरिचित होते चले जाओगे। जो-जो ज्ञानी पुरुष हुये हैं, वे प्रारंभ में अपरिचित होकर ही जिये हैं। क्योंकि विद्या का और पर-परिचय का संबंध बध्य और घातक का संबंध है। जैसे कि नकुल और सर्प। यह न्याय की भाषा का प्रयोग किया है। अंधकार में प्रकाश नहीं रहता, प्रकाश में अंधकार नहीं रहता। पर-परिचयों में स्वात्म परिचय नहीं होता, स्वात्म परिचय के काल में पर-परिचय नहीं होता।

साधु बनकर साधना नहीं की है आपने, पर विद्यार्थी तो बने हो न ? गहरी पढ़ाई एक घंटे में हो जाती है, अपरिचित भाव में। परिचित भाव में दस-दस घंटे पढ़ो, दूसरों को बैठा लेना बगल में, पृष्ठ पलट जायेंगे, परन्तु पढ़ाई नहीं होती। ऐसे ही पर पर्याय में, राग को पास में बैठा करकर साधना करेगा तो वर्ष-के-वर्ष व्यतीत हो जायेंगे, परन्तु साधु-स्वरूप की अनुभूति नहीं आयेगी। इसमें अपरिचित रहना, यही भूतार्थ है। भूतार्थ क्यों ? स्वलक्ष्य की अपेक्षा से भूतार्थ है। परलक्ष्य मेरे स्वलक्ष्य के लिए अभूतार्थ है। स्वलक्ष्य तो स्वलक्ष्य के लिए भूतार्थ है। कठिन हो रहा है ? भूतार्थ जो है, वह भूतार्थ है। अभूतार्थ है, वह अभूतार्थ है। एक ही द्रव्य में दोनों धर्म है। और युगपत् हैं। कथन युगपत् नहीं है, परन्तु वस्तुस्वरूप युगपत् है। आपके पास जो बैठे हैं, वह मित्र हैं कि अमित्र हैं ? ये शब्दागम है, कि भावागम है ? आपने तो कह दिया कि मित्र है या कि अमित्र है। द्रव्यआगम से बोल रहे हो कि भावागम से ? आपका तो एक ही हो सकता है, पर वह अपने आपमें दो हो सकता है। जो केवली भगवान बनने जा रहा है जीव, वह वस्तुओं को देखकर भगवान नहीं बनता, वस्तुओं के स्वरूप का वेदन करने से बनता है, क्योंकि देखना तो सीमित है जबकि अनुभव असीम है। जीभ पर रखना सीमित है, वेदन करना असीम है। जितना बंध भोग को भोगते हुए नहीं करते, उतना बंध भोगों के आगे-पीछे करते हो। रसानुभूति विशाल है, रस अल्प है। एक व्यक्ति ने किसी को गाली दे दी और दोनों दूर हो गये, समय का काम हो चुका था। घर में जाकर चिंतन प्रारंभ कि मुझे वह गाली क्यों दे गया ? गाली कितनी बड़ी थी ? ज्ञानी ! जैसी थी, वैसी थी, पर वह शब्द शक्ति इतनी संघात रूप में थी, उसकी तरंगे इतनी विशाल हो गई कि चौबीस घंटे चलीं है, फिर भी समाप्त नहीं हुई और ज्यादा गहरे में चली गई, हृदय की धडकन बढ़ गई। और ऊपर चले गये, परन्तु गाली नहीं गई।

हे ज्ञानियो ! जैसे गाली को स्वीकार किया है, वैसे भगवत् वाणी को स्वीकार कर लो, तो भगवान् बन जाओगे। जितनी कर्म निर्जरा वंदन कायोत्सर्ग आदि शरीर की क्रियाओं से नहीं होती, उससे अधिक निर्जरा ध्यान करने में होती है। तन द्वैत रूप काम करता है, मन एकरूप करता है। कोई चाँटा मार दे तो दो धाराओं में दर्द बँट जाता है। जहाँ चाटा मारा उस जगह और मन में। परन्तु कोई गाली दे दे, तो एक धारा सीधे मन पर जाती है। उपयोग को जैसे किसी की गाली के ध्यान में लगाता है, वैसे ही ध्यान करे तो भगवत् स्वरूप को प्राप्त कर ले। जैसे किसी की बात लग जाती है तो व्यक्ति सदमा में, तनाव में पहुँच जाता है, उसका बोलना खाना-पीना, हाथ-पैर चलना सब बंद हो जाता है। ऐसा सदमा स्वरूप पर लगाये, जो निर्विकल्प निश्चय ध्यान है। जहाँ खाना समाप्त, बोलना समाप्त, देखना समाप्त। गहरे में व्यक्ति चला जाता है। यहाँ तनाव, सदमा से तात्पर्य गहरी सोच से लेना है, एकाग्रता से लेना है। अभी व्यक्ति को ध्यान का सदमा लग नहीं रहा है, गहरे में जा नहीं रहा है, परभावों की गहराई में जाता है तो सहज नेत्र बंद होकर अनुभूति लेने लगता है, ऐसे अरूपी आत्मा की गहराई में जाये, तो सहज अनुभूति प्रारंभ हो जाये।

क्या आपने अपने जीवन में कठपुतलियों के खेल नहीं देखे ? शब्द कहीं होता है, क्रिया कहीं होती है। शब्दों की कसरत मुख में है, पर चिंतन अन्तस् में नहीं है। बिना चिंतन के शब्द बोलिये आप, बिना सोच के शब्द बोलिये। जितने गहरे शब्द आयेंगे, उतना गहरा सोच होगा। जिस क्षण गहरे सोच से शब्द आयेंगे, वहाँ तत्क्षण उतनी शुचिता अंदर में होगी। धूम इतना विशाल दिख रहा है, तो अग्नि उतनी ज्यादा होना चाहिए। मन के वचन नहीं होंगे न, तो पकड़ा जायेगा और भावप्रमेय की अपेक्षा से मन के वचन नहीं है, वे भी

सत्य हैं। बाह्यप्रमेय की अपेक्षा से भेद है। गहरे में जाओगे तो गहरे में आओगे। भावप्रमेय में कोई जाने की बात करता नहीं, परन्तु भावप्रमेय में जाये बिना भव का नाश होता नहीं। जो-जो बातें हो रही हैं न, बाह्य प्रमेय में दौड़ रहा है जगत्। भावप्रमेय में नहीं पहुँचता। भाव प्रमेय में जायेगा तो तटस्थ होगा। बाह्य प्रमेय में चंचलता है। सामान्य द्रव्य, सामान्य गुण, सामान्य पर्याय, विशेष कुछ नहीं। विशेषणों में निज की विशेषता समाप्त होना प्रारंभ हो जाती है।

अपरिचित रहने में बड़ा आनंद है। न राग, न द्वेष। दिगम्बर मुनियों के विहार करने का क्या कारण है। मात्र एक कारण है विशेष जो अन्दर का है। नवीन-नवीन नगरों में रहोगे, तो राग-द्वेष नहीं आयेगा। जब तक परिचय का समय आयेगा, तब तक विहार कर जाओगे। प्रांत-के-प्रांत बदल देते हैं, नगर-के-नगर बदल देते हैं। चार या पाँच महीने का चातुर्मास, दो महीने ग्रीष्म/शीत की वाचना। बोले कि अपरिचित रहने से परिचय सुरक्षित रहता है, और परिचित रहने से, स्वपरिचय से अपरिचयपना प्रारंभ हो जाता है। और न मानो तो सौतेली माँ से पूछो, अथवा उस पुरुष से पूछो जिनकी दो पत्नियाँ हैं। भले ही आप चाहे दोनों पर बराबर अनुराग रखेंगे, लेकिन कहीं-न-कहीं कमी तो आती है। कमी आयेगी। ऐसे ही स्वपरिचय और पर-परिचय में सौतेला भाव है। एक-दूसरे को सुहाते (पसंद) नहीं हैं। इसलिए ध्रुव सत्ता को समझना है, तो परभावों से निजभाव को भिन्न स्वीकारना पड़ेगा। "आत्मस्वभावं परभावं भिन्नं" इतना ही तत्त्व है।

ग्यारहवीं गाथा की टीका समझ लो।

भूतार्थ, सत्यार्थ, निश्चयार्थ, ये एकार्थी शब्द है। व्यवहार को भूतार्थ कहा है। व्यवहार को ही नहीं कहा, शुद्ध निश्चयनय के व्याख्यान में भी भूतार्थ, अभूतार्थ व्याख्यान में आयेगा। अपने स्वरूप की अपेक्षा से भूतार्थ है, पर रूप की अपेक्षा से अभूतार्थ है। इसी प्रकार व्यवहारनय स्वसमय की अपेक्षा भूतार्थ है, पर स्वरूप की अपेक्षा अभूतार्थ है। भूतार्थ यानी सत्यार्थ, अभूतार्थ यानी असत्यार्थ। असद् नहीं, असत्यार्थ। इन दोनों में अंतर है। शुद्धनिश्चयनय, अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा निश्चयनय भी दो प्रकार का है। निश्चय, शुद्धनिश्चय, अशुद्ध, अशुद्धनिश्चयनय ये चार नय हो गये। जैसे - कोई एक ग्रामीण पुरुष कीचड़ सहित पानी पीता है परन्तु जो नागरिक होते हैं, विवेकीजन कतक फल (फिटकरी) डाल कर निर्मल पानी पीते हैं। जो संवेदन रूप भेदभावना से शून्य पुरुष हैं, वे मिथ्यात्व, रागादि विभाव परिणाम से आत्मा का अनुभव करते हैं। वह भी वेदन कर रहा है। कैसी आत्मा को वेद रहा है, मिथ्यारूप, असंयम रूप, अचारित्ररूप, अज्ञानरूप वेद रहा है। सर्वाधिक जीव उसी में डूबे हैं। गली-गली में घूम रहे हैं। यह भी मिथ्यात्व अनंतानुबंधी की मंदता में आनंद लूट रहा है। नाचता है, गाता है, बजाता है, आनंद लूटता है। बिना सुख के रह नहीं सकता है। सुख आत्मा का धर्म है, और धर्म का कभी विनाश होता नहीं है। चाहे विषयरूप हो, इन्द्रियरूप हो, अतीन्द्रिय रूप हो। सुख त्रैकालिक है। जो विषय-कषाय में लीन है वह सुख की अनुभूति विषयरूप कर रहा है। और जो सम्यक्चारित्र से युक्त है, निर्विकल्प अतीन्द्रिय रूप है और कर्मातीत है, वह आत्मा से आत्मा का वेदन कर रहा है। सुख गुण कभी नष्ट नहीं होता। जैसे- श्रद्धागुण है कि सम्यक् गुण है? उपधार से कह लो, कि सम्यक् गुण है, श्रद्धागुण है। जब सम्यक् गुण होता है तो सम्यक् श्रद्धा गुण है। और मिथ्यात्व श्रद्धा विपरीत में चली जाये तो मिथ्याश्रद्धा है। श्रद्धागुण ही मिथ्यात्व में डुबाये है। श्रद्धा समीचीन हो जाये, तो सम्यक् दर्शन हो जाये। आगम में बहुत गहरे उतर कर अध्ययन करना पड़ेगा, गहरे में उतरना पड़ेगा।



स्वर्गों में सुख है कि नहीं ? यदि नहीं है, तो बताओ। नरकों में दुःख है कि नहीं ? इन्द्रिय-सुख की चरम सीमा है स्वर्ग और वेदना की चरम सीमा है नरक। मध्यलोक में सुख एवं दुःख मध्यम है।

देवों का जो सुख है, वह किसके माध्यम से भोग रहा है ? यह सब उसके कब काम में आयेंगे? जब सुख गुण होगा तब। वेदनीय कर्म के मन्द उदय में इन्द्रिय-सुख भोगता है, तो अरहंतों में सभी इन्द्रियाँ है और वेदनीय कर्म भी है और साता भी है। वहाँ पर भी सुख-दुःख हो जायेगा। यहाँ सुधार कर लो। वेदनीय का काम भोगना ही नहीं है, वेदन भी कराना है। मोहनीय का काम भोग गृह्यता से कराना है।

ज्ञानी ! यह पेन है। यह आपको जानने में आ रहा है, कि ऐसा है। वेदन भी आप कर रहे हैं, लेकिन आपको इसके बारे में सुख-दुःख नहीं हो रहा। क्यों नहीं हो रहा ? क्योंकि मेरे हाथ में है। यदि आपको दे दूँ और इतने में दूसरा आपसे ले जाये, तो दुःख देना शुरू हो गया। क्यों हो गया ? इतने क्षण में आपने पेन में राग कर लिया और समझो, आपकी धर्मपत्नी किसी की पुत्री थी और आप अपरिचित थे, उसके सिर में दर्द हो रहा था, तो आप किसी डॉक्टर को बुलाने नहीं गये, आपको उसका कोई टेंशन नहीं था। पर जब से सात फेरे लिए, तब से उसके सुख-दुःख की चिंता हो गई। क्यों ? क्योंकि सात फेरों में आपने मोह बाँध लिया था। सिद्धांत देखो। यदि आप ऐसा कहोगे, कि साता-असाता से वेदन कर रहा हूँ। इसलिए पहले ऐसा कहिए, मोहनीय के कारण साता-असाता का वेदन हो रहा है। (मोहनीय नहीं मानोगे तो केवली भगवान भी इच्छापूर्वक सुख-दुःख का वेदन शुरू कर देंगे) "एकादश जिने" जो हमारे दूसरे भिन्न भाई हैं, वह साता-असाता का उदय मानकर कवलाहार कराते हैं। यही प्रकरण है। पर हम किस बात से निराकरण करते हैं? मोहनीय के अभाव से ही हम केवली को कवलाहारी नहीं मानते हैं। इसके उत्तर में 'प्रमेय कमल मार्तण्ड' में आचार्य प्रभाचन्द्र स्वामी ने केवली भुक्ति, स्त्री भुक्ति का खण्डन किया है।

मोहनीय राजा चला जाये, तो शेष कर्म अपने आप चले जायेंगे।

## ॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

५ ५ ५

'मिथ्यादृष्टि' की प्ररूपणा के उपरान्त यह समझा रहे हैं। क्या सभी जीवों को सामान्य उपदेश देना चाहिए ? नहीं। जो जिसकी योग्यता है, उसको वैसा उपदेश दीजिए। योग्यता के अभाव में उत्कृष्ट उपदेश भी विफल हो जायेगा। और उत्कृष्ट की योग्यता है, यदि उसे हीन उपदेश दोगे तो उसकी वंचना होगी ? प्रवक्ता ने योग्यता को नापे बिना ही कथन प्रारंभ किया और जो योग्यता सम्पन्न थे, उनके सामने सामान्य विषय का व्याख्यान किया, तब यह तो उन श्रोताओं के समय का ही नाश किया। लघु प्रज्ञावन्त लोग थे, उनको बहुत कठिन उपदेश दे दिया, तब भी आपने उनकी प्रज्ञा के साथ छल किया। इसलिए हमारे आचार्यों ने स्पष्ट कह दिया, कि आर्य को आर्य की भाषा में समझायें और म्लेच्छ को म्लेच्छ की भाषा में। ध्यान रखना भाषा में ही समझाये, भाव दोनों का एक ही होना चाहिए, नहीं तो काम बिगड़ जायेगा। जो जैसा सुनना चाहता है, उसे वैसा नहीं सुनावें। जो सत्य तत्त्व है, वही कहना। हाँ, भाषा सरल कर दो, अन्यथा अभक्ष्यसेवी अभक्ष्य की पुष्टि चाहता है, चोरी करनेवाला चोरी की पुष्टि चाहता है। वह पोषण नहीं करना। लेकिन इतनी सुगम भाषा में समझा देना, जिससे कि उसको समझ में आ जाये। आगे बारहवीं गाथा में आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी इसी बात को स्पष्ट कर रहे हैं। जिसकी जैसी योग्यता है, उसे वैसा कथन करो।

## सुद्धो सुद्धादेसो णायध्वो परमभाव दरिसीहिं । ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे द्विदाभावे ॥१२ स.सा.॥

जो दर्शन ज्ञान-चारित्र की पूर्णता को प्राप्त है, जिन्होंने रत्नत्रय की ओर अपने कदम बढ़ा दिये हैं, व्यवहार रत्नत्रय से पूर्ण होकर निश्चय रत्नत्रय की ओर है, उनसे यही कहो, कि तुम कब तक क्रिया में लीन रहोगे। ये पूजा, ये पाठ, ये प्रभावना यह तेरा काम नहीं है। इनसे ऊपर चलो, यह चंचलता तो योगों की है। परावलम्बी धर्म है। हे योगीश्वर ! यह सब तो भव के अभिनन्दन के साधन हैं। भवातीत होना है तो इन क्रियाओं से अतीत हो जाओ। पर जिनका पूजा में ही मन न लगता हो, भगवान् के दर्शन करना ही न जानते हों, उनसे ऐसा नहीं कहना। उनसे यही कहना कि जैसे- वज्रपात के गिरने से पर्वत चूर-चूर हो जाता है। वैसे ही जिनेन्द्र भगवान् की वंदना करने से पाप चूर-चूर हो जाते हैं। एक वीतराग भगवान् को देखने मात्र से पाप रूपी जो हस्ती था, वह क्षत-विक्षत हो जाता है। इसलिए आप अरहंत की वंदना करो। जो अपरमार्थ में स्थित है, उनसे कहना कि पूजन करो, भक्ति करो, जाप करो। परन्तु जो परमार्थ में स्थित हो रहे हों, उनसे कहना कि आत्मा को आत्मा से लीन करो। कब तक करते रहोगे पर की आराधना ? कब तक पराधीन रहोगे? मैं ही आराध्य हूँ, मैं ही आराधक हूँ, मैं ही साध्य हूँ, मैं ही साधक हूँ, मैं ही प्रत्यय हूँ, मैं ही प्रत्यय का कार्य हूँ। किससे कहना? जो परमार्थ में स्थित है।

राज्यसभा में गणिका (नर्तकी) का नृत्य अच्छा लगता है। उसी राज्यसभा में पट्टमहिषी महारानी का नृत्य अच्छा नहीं लगता। पट्टमहिषी आकर राज्यसभा में नृत्य करे, और गणिका से सुन्दर करे, तब भी शोभा को प्राप्त नहीं होता। संगीतज्ञ संगीत करे, तो शोभा को प्राप्त होता है और यदि साधु संगीत करने लग जाये तो, पट्टमहिषी की तरह, शोभा को प्राप्त नहीं होता। क्योंकि साधु का हाथ-पर-हाथ रखना शोभा को प्राप्त होता है, कमर पर हाथ रखना शोभा नहीं देता।

आप सभी कभी निर्ग्रन्थों को संग्रन्थ की क्रिया में प्रेरित मत करना, भूल किये हो। आप ध्वजा चढ़ा रहे हो, तब साधु से मत कहना कि आप भी हाथ लगा दो। आपके लिए मंगलभूत है, परन्तु उनकी चर्या में अमंगलभूत है। बहुत सारे ऐसे विषय हैं, जो कि श्रावक साधु से कराते हैं। उन्हें ध्यान रखना चाहिए। ये योगी कपड़े की ध्वजा नहीं चढ़ायेंगे, ये रत्नत्रय की ध्वजा चढ़ायेंगे। 'सुद्धा सुद्धा देसो' जो जिस मार्ग पर है, वह उस तोमार्ग का कार्य करे, तो अच्छा है। इसलिए विद्या को जानना इतना कठिन नहीं है, विद्या को विसराना कठिन है। आप वैद्य हैं, आप मुनि बन गये, फिर वैद्यपने को छुपा कर रखना, अन्यथा मुनिपना नहीं पलेगा। महाराज! कल्याण का उपदेश दो। ये कल्याण का उपदेश नहीं है, शरीर का है। कल्याण का उपदेश तो रत्नत्रय धर्म है। आपने एक जड़ी-बूटी बता दी, कि जाओ, सफेद मूसली खा लेना, पुष्ट हो जाओगे। तो वह श्वेत मूसली उखाड़ने जायेगा जिससे अनंत जीवों का घात होगा। हे मुनिराज ! 'षट्काय जीव न हनन्ते, सब विधि दरबहिंसा टली।'

मैं यह क्यों सुना रहा हूँ? विद्वान् हैं, इनको नहीं पकड़ता। ये कलम नहीं चलाते, ये जिनवाणी सुनते हैं। जितने भी विद्वान् है, पढ़कर मुस्कराते हैं। इनको समझ में नहीं आता ये 'सुद्धा सुद्धा देसो'। क्या दृष्टि है मुनिराजों के प्रति विद्वानों की- 'ये हॉस्पिटल में उपयोग क्यों नहीं लगा रहे, ये विश्वविद्यालय क्यों नहीं खुलवा रहे? इनके हाथ में समाज है, ये जो कहेंगे वह होता है।' साधु को कहाँ ले जा रहें? यह निर्ग्रन्थ-मुद्रा

की वृत्ति है। यदि मैंने डॉक्टर से कह दिया कि जाओ, इसके फोड़े में चीरा लगा दो। हे ज्ञानी! आपका सिद्धांत कहेगा, महाराज! तड़प रहा था, आपने अच्छा किया। परन्तु माँ जिनवाणी कहेगी बेटे! यह गृहस्थों के लिए तो अच्छा था, पर आपने अनुमोदना की तो अनंतजीव का घात होगा। इसलिए साधु के कल्पना मत किया करो, इन्हें अपने धर्म में रहने दो। क्योंकि दोनों का धर्म विपरीत हैं। आप वहाँ अपना धर्म स्थापित करते हो। एक प्रसूतिगृह में एक माँ ने संतान को जन्म दिया, बताओ उस हॉस्पिटल को जो खुलवाया है, उसमें कितनी हिंसा होगी? इसलिए हमारे यहाँ दो धर्म हैं। यदि दोनों एक होते, तो दो कहने की आवश्यकता क्या थी ?

### “देशसर्वतोणुमहती” ॥६/२॥त.सू.॥

अणुव्रत, महाव्रत। हे अणुव्रतियो! आप महाव्रतियों से अपनी बात कराने का चिंतन बिल्कुल न लायें। आज लेखक/विद्वान् जो साधु के सिर पर बैठे लिखना शुरू कर दिये है, वे इस सभा में आयें, बड़े प्रेम से समझा सकता हूँ, वे कहकर जायेंगे, मेरी आकांक्षा करना मिथ्या है। मैंने एक अच्छे विद्वान् को पढ़ा, जिन्होंने ऐसा लिखा। कलम नहीं चलाना चाहिए, प्रज्ञा चलाना चाहिए। ‘गणिका का कार्य पट्टमहिषी को शोभा नहीं देता, ये लोकोक्ति है। मेश तो विचार है कि आपको किसी निर्ग्रन्थ योगी का चित्र देना हो तो हँसते-हँसते का न दें। उनका चित्र तो प्रशान्त दिखे। आपके घर में टँगा हो, बालक को दिखे तो वह सोचे कि हमारे मुनिराज ऐसे होते हैं। मुस्कराते चित्र एक्टर के भी मिल जाते हैं। ये वीतरागता का मार्ग है, इसमें वीतरागता झलकना चाहिए। आपने आधा चित्र महाराज का दे दिया, किसी अजैन बन्धु के हाथ में जायेगा, वह तो कहेगा कि कोई पुरुष है। बिना पिच्छि-कमंडलु के निर्ग्रन्थ मुद्रा कैसे? बिना पिच्छि कमण्डलु तो अरहंत मात्र ही होते हैं। आप देवगढ़ या खजुराहो जायें, वहाँ दिगम्बर मुनि के जो भी चित्र हैं, उनके साथ पिच्छि कमण्डलु भी मिलेगा, क्योंकि चित्र है। मुद्रा के अभाव में कागज की कीमत नहीं होती, उसी प्रकार पिच्छि कमण्डलु साधु की मुद्रा है।

मैंने विपरीत क्यों कहा? एक-दूसरे के धर्म का पालन कराना तो सापेक्ष है, पर एक-दूसरे के धर्म का पालन करना विपरीत है। मुनिराज नहीं होंगे, तो आपके अतिथि-सत्कार-धर्म कैसे होगा? तो उन्होंने आपके धर्म का पालन करा दिया। और श्रावक नहीं होगा तो मुनिचर्या कैसे होगी? लेकिन मुनिराज ही चौका लगाने लग जायें तो विपरीत हो गया। जब कोई श्रावक कह जाये, कि हमने चौका लगाया है। आपको देखना है, ‘देख लिया हमने, यही देख लिया’ इतना कहने मात्र से साधु पहुँच जाये, तब दोष लग सकता है। फिर जो स्वयं बनाने बैठ जायें, वे निर्दोष कैसे होंगे? इसलिए ध्यान दो, “सुद्धासुद्धा देसो” यह तो व्यवहारिक दृष्टि से कथन है। इसलिए यथार्थ मानना, द्रव्यानुयोग के विषय में द्रव्यानुयोग की भाषा का ही प्रयोग किया जाता है। द्रव्यानुयोग के सिद्धांत पर आप किंचित भयभीत होंगे, कि व्यवहार न चला जाये। इस राग में आकर ज्ञानी! न आप द्रव्यानुयोग को सुरक्षित करोगे, न व्यवहार को सुरक्षित करोगे। “सुद्धासुद्धा देसा” शुद्ध को, परमभाव दर्शी, जो परम निजात्मस्वभाव को देख रहे हैं, अनुभव कर रहे हैं, ऐसे वीतरागी योगी के लिए शुद्धनय का उपदेश देना। उनके लिए अशुद्ध का उपदेश देना विपर्यास है।

रोटी बन गई, बन के ठण्डी हो गई, खाना चाहिए की गर्म करना चाहिए? एक शब्द बोलना। रोटी बन गई, ठण्डी हो गई, खा तो लेना चाहिए पर गर्म करके नहीं खाना चाहिए! स्वाद तो आ जायेगा, पर

स्वास्थ्य चला जायेगा। जो एक बार पक चुका है, उसे पुनः पकाओगे, तो उसके गुणधर्म नष्ट हो जायेंगे। जो शुद्ध को प्राप्त हो रहे हैं, शुद्ध की क्षमता रखे हैं, उन्हें अशुद्ध का उपदेश देकर अशुद्ध में मत ले जाइये। दूसरा पक्ष - सभी श्रावकों और साधुओं से हमारा कहना है, कि आप क्या थे, ये भूल जाइये। आप कौन हो, इस पर ध्यान दीजिए। आप क्या थे, यह शब्द-स्मृति अब्रह्म है। आप क्या हो, यह ही ब्रह्म है। क्या होंगे, यह परमब्रह्म है। मैं सेठपुत्र था, व्यापारी था, मैं ऐसा करता था। धिक्कार हो। मुनि पर्याय को प्राप्त करके भी इतना समय किसमें निकाल रहा है? पूर्व के भोगों पर। एक क्षण को आप घर में मन ले जाओगे तो एक क्षण में सबकुछ दिख जायेगा, और सबसे पहले वही दिखेगा जो नहीं देखना चाहिए था। मैं क्या था, उसे भूल जाइये। मैं क्या हूँ, क्यों हूँ, इसे देखिए। मैं मुनि हूँ। क्यों हूँ? सिद्ध बनने के लिए। उसकी तो चर्या का पालन विशुद्ध है। और जो ऐसा कहता है कि मैं ऐसा था, वह तो पीछे हो रहा है, जैसे कि गाड़ी को रिवर्स करोगे तो पेट्रोल जलेगा कि नहीं? समय जायेगा कि नहीं? पहुँचोगे कहाँ? जहाँ से चले थे, वहाँ। मैं क्या था, वह नहीं कहना। मैंने अज्ञानता मैं ऐसे-ऐसे पाप किये हैं, मुझे उसकी आलोचना व प्रत्याख्यान करना है। पर ऐसा कहने वाले विरले हैं। वह तो यह कहेगा कि मैं विद्वान् था, मेरी सभा में बहुत भीड़ बैठती थी। अरे! क्या कहना चाहते हो? ये मानकषाय का चिन्तन चल रहा है। मैं श्रेष्ठी पुरुष था। मैं जहाँ जाता था, वहाँ गाड़ियाँ लगी होती थी। पर उन गाड़ियों में कितने जीव मरते थे, यह क्यों नहीं कहते? आपसे मैं नहीं कहूँगा कि जाओ, वंदना कर आओ द्रोणगिरि की। आप जा रहे हो। कहाँ? मैं तीर्थवंदना करने जा रहा हूँ। ठीक है, पर मैं आपको भेजूँगा नहीं। मैं तीर्थवंदना का निषेध नहीं करता, परन्तु आप गाड़ी से जाओगे, तो जीवहिंसा का दोष लगेगा। आप गाड़ी में जितना पेट्रोल जलाओगे, उतना हमारे यहाँ से माँस भेजा जाता है। कृत, कारित, अनुमोदना। जिनधर्म का पालन आपने व्यवहार से भी कर लिया, तो दुर्गति बच जायेगी। भावुकता में आकर विवेक मत खो देना। चिन्तन करो गहरा। आप पास के मंदिर को गाड़ी से जाते हो, तो आपके गमन के कारण माँस निर्यात होगा। आप पैदल जाते हो तो ईर्यापथ का तो पालन होगा ही, और जो माँस-निर्यात होना था तेरे कारण, वह नहीं होगा। पेट्रोल कहाँ से आता है, कैसे आता है, किसे मालूम नहीं है? सभी को पता है।

सिद्धांत को पढ़ना जानते हो, चरणानुयोग का पालन कितना करना? चरणानुयोग के पालन में किंचित कमी में चरणानुयोग, करणानुयोग की बातें करने से तत्सम्बन्धी निर्जरा होगी, लेकिन करण छेद मोक्ष जानेवाला था, वह नहीं होगा। कारण बनता श्रद्धान् बढ़ाने के लिए, अशुभ से बचाने के लिए। 'सर्वार्थसिद्धि' से पूछिए कि आपने चारित्र को अन्त में क्यों लिखा?

**“सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः”॥१/१॥ता.सू.॥**

जब तक अभी अपन छोटे क्लास में थे, तब तक चलता है। यह सूत्र क्या कह रहा है? चारित्र को अन्त में क्यों रखा? करण यानी साधना। साधकत्तं करणम्। जब भी व्याख्या करो, तो इस सूत्र को तो दिमाग में स्थित करके रखना। 'साधकत्तं करणम्' यह जैनेन्द्र व्याकरण का सूत्र है। और आचार्य अभिनवयतिभूषण ने 'न्याय दीपिका' में सुन्दर प्रयोग किया है। साधकत्तम् साधन मोक्ष के लिए सम्यक्त्व नहीं, ज्ञान नहीं। साधकत्तम् साधन है सही चारित्र। दो होने के बाद छूट भी जाते हैं, दो होने के बाद संसार भटक भी लेता है, परन्तु तीसरा होते ही बत्तीस भव से आगे भटक नहीं सकता।

आचारांग पहला है। यहाँ चारित्र की प्रधानता से कथन कर रहे हैं। 'आचरण तुम्हारा शुद्ध नहीं,

कल्याण तुम्हारा कैसे हो'। ज्ञान हम बढ़ा लेते हैं, जो क्षयोपशम का विषय है। जब आचारांग सूत्र कहता है कि जिसके पास अन्तिम विषय आ गया है तो पहले दो तो नियम से होंगे। चारित्र अन्तदीप है। सम्यक्चारित्र को ग्रहण करना। जहाँ सम्यक्चारित्र शब्द आ जाता है, वहाँ दो अपने आप मिलते हैं। जैसे दीपावली का पर्व आ रहा है तो बाजार में एक साथ दो मुफ्त में मिल रहे हैं। इसी प्रकार आप सम्यक्चारित्र को प्राप्त करो, दो मुफ्त है। यदि किसी जीव ने द्रव्यसंयम को प्राप्त कर लिया, फिर सम्यक् प्राप्त करता है, तो युगपत् तीनों ही होते हैं। पर पहले होना चाहिए द्रव्यसंयम। संज्ञी पंचेन्द्रिय, पर्याप्तक, कर्मभूमियाँ, इतना द्रव्य तुम्हारे पास है जो आवश्यक है। सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के लिए इतना आवश्यक है, जो आपके पास है। अब यही है कि भावना बने या न बने। मन तो होता है, भाव नहीं होते।

मन में व भाव में अंतर है। सिद्धांतों में जो किंचित-किंचित विकल्प हैं न, ये भावना और भाव में अंतर डालते हैं। ये जगत् के जीव भावना को ही भावसंयम मान रहे हैं। यह पहला मिथ्यात्व छोड़ दो आज से। भावना को भावसंयम कहना मिथ्यात्व है। "इष्टोपदेश भाष्य" में इसका स्पष्टीकरण किया है। भावनासंयम श्रावक के भी होता है और होना ही चाहिए। यदि वह नहीं है, तो सम्यक्दृष्टि भी नहीं है। यदि सम्यक्दृष्टि जीव को चौबीस घंटे में एक बार भी विषयों से हटने के परिणाम न आते हों, तो वह सम्यक्दृष्टि कैसा? जल बिन मीन, ऐसा होना चाहिए, तडपना चाहिए उसको, जैसे पानी के बिना मछली तडपती है,

**सम्यग्दर्शन शुद्धः संसार-शरीर-भोग-निर्विण्णः ।**

मैं आपको जप, तप का निषेध नहीं करता। बार-बार करो। परन्तु उन क्रियाओं के करते समय ध्यान रखना कि संसार, शरीर, भोग से भिन्न मानना है। तप, जप चल रहा था ऐसे कि मन में चल रहा था कि दुकान चले। आप वैसे ही कर रहे थे, जैसे नारायण चक्रवर्ती करता है। नारायण चक्रवर्ती नियम से उपवास करता है। कब करता है? जब कोटिशिला उठाता है। नारायण तब आठ उपवास करता है। विद्या देवता की आराधना करता है। चक्रवर्ती कपाट खोलता है, तो उपवास करता है। यह राजेश्वरी उपवास है। रावण ने कितनी साधना की थी, उपवास किये। भावसंयम 'भावना' नहीं है, भावसंयम भावसहित होता है। परन्तु भावना मात्र में भावसंयम नहीं होता। सम्यक्दृष्टि वही है जो संसार, शरीर, भोग से विरक्त होता है, और अपनी शक्ति से भी विरक्त होता है।

**"सम्यक्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञान वैराग्य शक्तिः"**

ज्ञान, वैराग्य शक्ति का प्रयोग नहीं कर रहे हो, तो अभी सम्यक्त्व विचारणीय है। और जगत्प्रसिद्ध उदाहरण समझिये। आप सब्जी लेने गये। एक दूसरे से कहता है कि लौकी खरीदना है। वह भाजी लेना चाहता था, पर सोचता है कि लौकी ले लूँगा तो उसमें पानी भी पड़ जायेगा, और घर में सभी को हो जायेगी। दूसरा कहता है कि भाजी खरीदूँगा, तो कम आयेगी, अतः लौकी खरीद लूँ। दूसरा कहता है कि भाजी नहीं खरीदना, लौकी खरीदना है। क्यों? पहला कहता है, क्योंकि लौकी को आने में एक जीव को कष्ट हुआ है और भाजी उगने में अनंत जीव को कष्ट होता है, इसलिए लौकी खरीदना है। देखो, दोनों ने लौकी खरीदी, पर दोनों के भाव में अंतर है। एक ने भाजी नहीं खरीदी, लौकी खरीदी, क्योंकि जीवों की हिंसा भाजी में अधिक है। उसकी ज्ञान शक्ति ने मना किया, और वैराग्यशक्ति ने खरीदने नहीं दिया। ऐसी ज्ञानशक्ति और वैराग्यशक्ति को हर जगह प्रयोग करना है। वैद्य ने कहा था कि रात्रिभोजन नहीं करना, अन्यथा बीमार पड़

जाओगे, इसलिए छोड़ रहा हूँ। एक कहता है कि रात्रि में बहुत जीव का घात होता है, इसलिए नहीं करना। एक बंधक है, एक अबंधक है। एक कहता है कि मंदिर जा रहा हूँ, थैला दे दो, उधर से सब्जी भी ले आऊँगा। दूसरा कहता है कि लाओ, मंदिर की डिब्बी दे दो, सब्जी लेने जा रहा हूँ, उधर से मंदिर भी चला जाऊँगा। दोनों के भावों में कितना अंतर है? एक ने प्रधानता भगवान को दी, दूसरे ने प्रधानता भाजी को दी। बस जिसकी दृष्टि में जो होता है, उसे ही प्रधानता देता है। धोबी को वस्त्र मत देना, पैसा देने पड़ेंगे, मैं धो लूँगा। परन्तु एक कहता है कि धोबी को वस्त्र नहीं देना, क्योंकि "नदियन बिच चीर धुबाये, कोशन के जीव मराये।" वह तालाब/नदी में वस्त्र धोयेगा, बिना छने पानी में धोयेगा तो अनंत जीव मरेंगे, इसलिए मैं धो लूँगा छने पानी कम पानी में और उस पानी को छत या सूखे स्थान पर डाल दूँगा, जीवों की रक्षा होगी। यह है सम्यग्दृष्टि की ज्ञान, वैराग्य शक्ति। पहले के लोग इस सूत्र में जीते थे। पहले भोजन करते थे, तो थाली को धोकर धोवन को पी जाते थे। आज के कहते हैं खाने को नहीं मिलता था इसलिये थाली धोकर पी गये। पर उसका उद्देश्य क्या था? दाना नहीं छोड़ना, अन्न देवता है। क्या पता फिर मिला कि नहीं, इसलिए पी जाओ। देखो, मिथ्यादृष्टि! इसलिए हर क्रिया देखकर प्रभावित मत हुआ करो, पहले अंदर जाया करो। एक कहता है कि नहीं, दाना छोड़कर जाओगे तो सम्मूर्छन जीव हो जायेंगे, मक्खी मरेगी, इसलिए थाली धोकर पी गया। सम्यग्दृष्टि की यह ज्ञान-वैराग्य शक्ति है। काम दोनों का एक था, पर दृष्टि भिन्न थी। बिना द्रव्यानुयोग के चरणानुयोग अधूरा है। आज समझ में आया कि नहीं, बिना चरणानुयोग के द्रव्यानुयोग शून्य है।

'वह घड़ी कब आये जब मैं मुनि बनकर वन-वन डोलूँ' ये भावमुनि नहीं है, भावना का मुनि है। पर आप इस पंक्ति को पढ़कर भावमुनि बन गये हो। तत्त्व का विपर्यास कैसे हो सकता है? मुनि बनकर वन-वन डोलोगे यह मुनि बनने की भावना है। जिनदीक्षा लेना, संयम स्वीकारना अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानाचार कषाय, प्रत्याख्यानचार कषाय, इन सर्वघाति प्रकृतियों का उदयाभावी क्षय, इन्हीं का सद्वस्धारूप उपशम और देशघाति प्रकृति संज्वलन कषाय का उदय होने पर जो जीव के परिणाम है इसका नाम भावमुनि है। ये भावमुनि प्रमत्त हैं संज्वलन का मंद उदय यानी ध्यान में अप्रमत्त हैं। तीव्र संज्वलन का उदय यानी प्रमत्त। जितना गहरे से करणानुयोग बोलो, चरणानुयोग बोलो, पर करणानुयोग की बात इतने गहरे से बोलना जिससे किसी भी अनुयोग के लिये कुछ कहना ही न पड़े।

यहाँ पर द्रव्यश्रावक व भावश्रावक की परीक्षा कर सकते हैं। पूजा कर रहे थे आदिनाथ की, बाहर खड़ी थी गाड़ी। किस की पूजा कर रहे हो? परिणमन करना स्वभाव है, मुनिराज भी छटवे-साँतवे में जाते हैं। घड़ी का पैण्डुलम आता है, जाता है, पर उसे तोड़ मत देना। पूजा को छोड़ मत देना। इसलिए द्रव्यमुनि या भावमुनि कहकर अश्रद्धा में मत डूब जाना। द्रव्यमुनि भी पूज्य हैं, भावमुनि भी पूज्य हैं।

द्रव्यानुयोग की भाषा में निज शुद्धात्म स्वरूप में लीन है भावमुनि और अड्डाईस मूलगुणों का पालन कर रहे हैं, द्रव्यमुनि। दोनों सम्यक्दृष्टि हैं, द्रव्यसंयम का पालन कर रहे हैं, पहले गुणस्थान में विराजे हैं, द्रव्यमुनि हैं। सम्यक् सहित द्रव्यसंयम का पालन कर रहे हैं, तो करणानुयोग कहेगा भाव मुनि और द्रव्यानुयोग कहेगा द्रव्यमुनि। क्यों? क्योंकि शुद्धोपयोग में लीन नहीं हैं।

### “पञ्जयमूढा हि परसमया”

इस शब्द को पकड़कर भटक मत जाना। द्रव्य, गुण, पर्याय के चिंतन किये बिना, शुक्लध्यान नहीं होता। कितना स्पष्ट करूँ ? “पञ्जयमूढा हि परसमया” का अर्थ यह मत समझना। द्रव्य, गुण, पर्याय का चिंतन करना पञ्जयमूढता नहीं है। पर्याय की परिणति को निज स्वभाव मानना पञ्जयमूढता है। यह द्रव्यानुयोग है, उसको समझने के लिए बहुत पढ़ना, चिंतन करना पड़ता है। मैं तुम्हें सुनाने नहीं आता, विश्वास करना। जितना उपदेश करो, उतना मिलता है। जितना लिखूँ, उतना लिखने को मिलता है। एक ग्रंथ लिखूँ तो पन्द्रह बीस ग्रंथों का अध्ययन हो जाता है। जैसे श्रोता मिलते हैं, वक्ता वैसा हो जाता है। “तत्त्वसार” का व्याख्यान विदिशा में किया था। विदिशा में शुद्ध मुमुक्षु थे, तो पूरा तत्त्व चला। वह कहते थे कि तत्त्व ऐसा ही है।

अच्छा यह बताओ वैराग्य गृहस्थ को होता है, कि मुनि को ? जब गृहस्थ वैरागी होगा तभी मुनि बनेगा। पर ध्यान रखना, मुनि बनने के बाद वैराग्य को निकाल मत देना। गृहस्थ का वैराग्य मुनि बनने के लिए होता है और मुनि का वैराग्य मुनि-अवस्था को सुरक्षित रखने के लिए होता है। जब इस ग्रंथ की गाथा इतनी गहरी है, फिर टीका कितनी गहरी होगी ?

**पञ्जयमूढा का अर्थ** = द्रव्य, गुण, पर्याय को समझना पञ्जयमूढता नहीं है। मैं कहता हूँ कि मैं मनुष्य पर्याय में हूँ तो बोल दो पञ्जयमूढा ? ज्ञान का अर्थ मूढता नहीं है। दर्शनमोह में लीन होना मूढता है। परभाव को निजभाव स्वीकार लेना मूढता है। परभाव को परभावरूप जानना, निजभाव को निजभाव रूप जानना यह ज्ञानगुण का विषय है, लेकिन मूढता नहीं है। अब कोई कहे कि “पञ्जयमूढा ही परसमया”, तो पूछना - शुक्ल ध्यान का विषय बताइये। अर्थसंक्रान्ति, व्यंजन संक्रान्ति, योग संक्रान्ति, द्रव्य संक्रमण, गुणसंक्रमण पर्याय संक्रमण ये सब चलता है और तत्त्व को जानना मूढता हो जायेगी, तो लोकसंस्थानविचय धर्म्यध्यान में लोक के आकार प्रकार का ध्यान करना होता है। लोक में स्थित नाना द्रव्यों के गुण पर्याय का भी चिंतन होता है। द्रव्य का ज्ञान पर्याय मूढता नहीं समझना, अन्यथा लोकविचय धर्म्यध्यान का अभाव हो जायेगा।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कहने वाले हैं टीका में जो व्यवहार का लोप करता है, वह व्यवहारतीर्थ का शत्रु है। जो निश्चय का लोप करता है, वह निश्चयतीर्थ का शत्रु है। व्यवहार का अभाव है, तो मंदिर क्यों ? धर्मशाला क्यों ? आयतन क्यों ? शिविर क्यों ? ग्रंथालय क्यों ? ये सब व्यवहार हैं। व्यवहार के बिना निश्चय प्राप्त होता नहीं, परन्तु व्यवहार कभी निश्चय होता नहीं यह निश्चय जानो। हे ज्ञानी ! परमभाव सप्तम गुण स्थान में होता है जब निज में निज गूँजेगा, “आत्म स्वभावं परभाव भिन्नं” ये शब्दों में नहीं रहेगा। तो आत्मस्वभाव को परभाव से भिन्न स्वीकारना।

### ॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

भूमिका के अनुसार कथन करना, यह वक्ता का लक्षण है। अगर नहीं करता है, तो श्रोता भ्रमित हो जाता है। परन्तु आगम के कठिन शब्दों का ही व्याख्यान करना चाहिए। कठिन शब्दों का व्याख्यान करके, फिर उन्हें सरल भाषा में समझाना चाहिए। पूर्व से ही सरल भाषा का प्रयोग कर दोगे, तो श्रोता तत्त्व को सामान्य समझेंगे। इसलिए कठिन विषय से ही शुरू होना चाहिए। क्योंकि लोक की यह सामान्य नीति है।

आपके यहाँ व्यापार में कोई व्यापारी पहुँचता है। उसे ऊँची गुणवत्ता की वस्तु दिखाते हो, जब नहीं लेता है तो सामान्य वस्तु दिखाते हो। इसी प्रकार हमारे आचार्यों ने कहा कि पहले मुनिधर्म का व्याख्यान करना चाहिए, जब वह श्रावक मुनिधर्म को पालन करने में समर्थ न हो, तब श्रावक धर्म का व्याख्यान करना चाहिए। इस क्रम को भंग करके जो कथन करता है, वह दंड का पात्र है। इसी प्रकार से जैनदर्शन के परिभाषित शब्द है, वे जरूर बोलना चाहिए। अगर न समझें, तो सरल कर देना चाहिए। अन्यथा नया शिष्य यह समझेगा कि जो मेरी भाषा है, वही आगम की भाषा है। अरे ! आगम की भाषा तेरी भाषा नहीं है। आगम से अपनी भाषा को निर्मल कीजिए, अपनी भाषा से आगम की भाषा को निर्मल करने की आवश्यकता नहीं है। आगम तो आगम है, आपको अलग से कहने की किंचित भी आवश्यकता नहीं है। ऐसा कहना भूल जाइये कि आगम की भाषा सरल होनी चाहिए। आगम की भाषा जैसी है, वैसी ही होना चाहिए। आपको अपनी प्रज्ञा से उसको समझना चाहिए। आगम पर कलम नहीं चलाना, वरना वह आज का आगम हो जायेगा। बात गहरी समझिये। फिर आप नहीं कह पाओगे। महावीर की वाणी है, प्रमाण नहीं दे पाओगे। क्यों ? लोग कहेंगे कि आपकी लिखी हुई है। इसलिए आचार्य भगवंतों ने यह नहीं लिखा कि मैं लिखता हूँ। यह लिखा, कि मैं कहता हूँ। 'वोच्छामी' लिखा है। 'लिखता हूँ' नहीं लिखा। 'कहता हूँ' मतलब जो पूर्व में कही है उसे कहता हूँ। मैं बताता नहीं हूँ, कहता हूँ। सर्वज्ञ ने जैसा कहा, गणधर परमेष्ठी ने जैसा कथन किया और तदनुसार आचार्य-परम्परा में चला आ रहा है। जीवादि सात तत्त्व भगवान ने भी कहे हैं, बनाये नहीं है।

**तव वागमृतं श्रीमत्, सर्वभाषा-स्वभावकम् ।**

**प्रीणयत्यमृतं यद्भत्, प्राणिनो व्यापि संसदि ॥ स्वयंभू स्तोत्र ॥१७॥**

आचार्य समन्तभद्र स्वामी कह रहे हैं, हे प्रभु ! आपके वचनामृत हैं, वह सर्वभाषामयी है। और जगत में जितने पीड़ित प्राणी हैं, वह अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं। इसलिए समन्तभद्र स्वामी ने भगवान् की वाणी को सर्वभाषामयी ही स्वीकार किया है। अनक्षरी क्यों कहा ? ध्वनि रूप होने के कारण। वर्ण रहित होने पर भी सर्वभाषामयी है। क्योंकि भगवान् की भाषा में सर्वभाषा समाहित है। गणधर परमेष्ठी झेलते हैं, और गुंथन करते हैं।

**जीवमजीवं दय्यं जिणवरवंसहेण जेण णिद्धिं ।**

**देविंदविंद वंदं, वंदे तं सय्यदा सिरसा ॥१॥ द्रव्य संग्रह ॥**

इसलिए अपन को उभय आचार्य की बात मानना है। जीव आदि तत्त्व जिनेन्द्रदेव ने कहे हैं। आप लिखें तो यह न लिखें कि मैंने कहे हैं, मैं कर्त्ता हूँ। आप कर्त्ता नहीं हो, व्याख्याता हो सकते हो। तत्त्वों का कर्त्ता कौन होगा ? बनाये किसने ? सर्वज्ञदेव ने भी कहे ही हैं, बनाये नहीं हैं और जिस दिन सर्वज्ञ बनाने लग जायेंगे, मैं तो नमस्कार नहीं करूँगा, आप भले ही करना। वे सर्वज्ञ नहीं बचेंगे, कर्त्तावादी हो जायेंगे। जो किया जायेगा, वह सत्य हो जायेगा, क्यों कि सत्य तो ध्रुव होता है। कितना स्वतंत्र दर्शन है, जिसमें परमात्मा तक को कर्त्ता स्वीकार नहीं किया जाता।

**कर्त्ता यः कर्मणां भोक्ता, तत्फलानां स एव तु ।**

**वहिरंतरूपायाभ्यां, तेषां मुक्तत्वमेव हि ॥१०॥ (स्वरूपसंबोधन)**

**पोगल-कम्मा-दीणं, कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो ।**



### चेदनकम्माणादा, सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥८॥ (वृहद् द्रव्यसंग्रह)

वे अशरीर भगवान् शुद्धनय से शुद्धभावों के कर्त्ता हैं। सर्वज्ञ सर्वथा अकर्त्ता भी नहीं हैं। वह अपने शुद्धभावों के कर्त्ता हैं व भोक्ता हैं। निज शुद्ध स्वभाव के कर्त्ता हैं, चैतन भाव के भोक्ता हैं। सर्वज्ञ संहारक है क्योंकि अष्टकर्मों का संहार करते हैं। तभी सर्वज्ञ बनते हैं। सर्वज्ञ रक्षक हैं, अपने स्वात्म चतुष्टय के रक्षक हैं। वे कर्त्ता भी हैं, वे संहारक भी हैं। लेकिन जैसा आप कहते हो, वैसे नहीं हैं। जैसे हैं, वैसे हैं। कैसे हैं, 'जो सो दु सो चैव'। इसलिए स्याद्वाद वाणी में सब सिद्धियाँ हैं, पर एकान्तवादी के पास कोई सिद्धि नहीं है। आप कर्त्ता हो कि नहीं? हे मुमुक्षु! आप वर्तमान में तो परभावों के ही कर्त्ता हो, परभावों के ही भोक्ता हो। यह शरीर जिसमें आप विराजते हो, उसका कर्त्ता कौन है? (शरीर) पर्याय का बंध पर्याय ने किया है न? यदि पर्याय में कर्त्ता-भोक्ता भाव है, तो मुनि बनना व्यर्थ हो जायेगा। क्यों? इसलिए कि पर्याय में बंध है, तो जब पर्याय यहाँ छूट जायेगी, तो उसमें बंध भी साथ में रह जायेंगे और पर्याय जलेगी तो कर्म भी जलेंगे, तो आत्मा शुद्ध चिद्रूप हो जायेगी। यदि ऐसा है तो फिर बंध किसमें है? मनुष्यपर्याय बंध कर रही है, कि मनुष्य पर्याय में पर्यायी बंध कर रहा है? इस मनुष्यपर्याय में जो शुभाशुभ हो रहा है, वह पर्यायी कर रहा है कि पर्याय कर रही है? पर्यायी कर रहा है, तो आप जो नवीनकर्म बंध कर रहे हो, जो अभिनव कर्म बंध हो रहा है, वह मनुष्य पर्याय को हो रहा है, कि मनुष्यपर्याय में विराजे जीव को हो रहा है? यदि आप यूँ कहे कि मैं कर्त्ता नहीं, मैं भोक्ता नहीं, तो शुभाशुभ का कर्त्ता आपकी पर्याय है, तो जो बंध होगा, वह पर्याय में होगा। जो पर्याय में बंध होगा, पर्याय छूट जायेगी, तो बंध भी यहीं रह जायेगा। जब ऐसा हो ही जायेगा, तो कितना अच्छा होगा, फिर तो जो करना सो करो? क्योंकि पर्याय का बंध पर्याय में होता है, पर्यायी स्वतंत्र है, तो नरक में पड़ा रहेगा, तब भी स्वतंत्र है। फिर जायेगी क्यों? वह पर्याय पर्यायी से शून्य हो जायेगी और जब पर्याय पर्यायी से शून्य हो जायेगी, तो द्रव्यत्व का ही विनाश हो जायेगा। क्यों?

### “गुणपर्ययवद् द्रव्यम्” ॥३८/४ त.सू.॥

द्रव्य बिना पर्यायों के रहता नहीं है, इसलिए तू नैयायिकवादी हो जायेगा। वर्तमान में जितने आपके मुमुक्षु जीव हैं, आप दर्शन को नहीं समझोगे, बातें तो करते रहोगे। जैन सिद्धांत कहेगा कि इसे मैं जैन नहीं मानता, आप जैन नहीं हो। इसलिए तू कर्त्ता है, भोक्ता है। जो-जो जीव होंगे, वे नियम से कर्त्ता, भोक्ता होंगे। चाहे वे शुद्ध हों, चाहे अशुद्ध हों। शुद्ध तो शुद्ध के कर्त्ता भोक्ता होंगे और अशुद्ध ही अशुद्ध के कर्त्ता भोक्ता होंगे, क्योंकि कर्तृत्व का अभाव जो समयसार में है, वह पर के कर्तृत्व-भोक्तृत्व का कथन है, निज के कर्तृत्व-भोक्तृत्व का कथन नहीं है। यहाँ भूल चल रही है कथन की। ईश्वरपन का खण्डन है, स्वकर्तृत्व का खण्डन नहीं है। मैं पर का कर्त्ता भोक्ता नहीं हूँ। पर मेरा कर्त्ता-भोक्ता नहीं है यह ध्रुव सत्य है। परन्तु मैं निज का भी कर्त्ता नहीं, निज का भी भोक्ता नहीं। तो फिर ईश्वर सिद्ध हो जायेगा, कोई-न-कोई होगा? जब तू स्व का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है, इसका मतलब, तू दिख रहा सामने, तो तेरा कोई दूसरा कर्त्ता है।

सदेव सर्व को नेच्छेत्, स्वरूपादि चतुष्टयात् ।

सदेव विपर्यासात्र चेन्न व्यतिष्ठते ॥१५॥ आप्तमीमांसा

स्वचतुष्टय की अपेक्षा से, प्रत्येक द्रव्य सत है, पर-चतुष्टय की अपेक्षा से प्रत्येक द्रव्य असत् है।

“स्याद् अस्ति नास्ति” लेखनी स्वचतुष्टय में है-अस्ति लेखनी माइक नहीं है- नास्ति। ऐसा कोई द्रव्य नहीं जिसमें दो धर्म न हों। आपके अंदर भी दो धर्म हैं। आप वर्तमान में शक्तिरूप में शुद्ध भी हैं, और अभिव्यक्ति रूप में अशुद्ध हैं। प्रत्येक द्रव्य में अनंत धर्म हैं। पदार्थ अनेकान्तात्मक है। व्याख्यान स्यादवाद है, वस्तु अनेकान्तात्मक है, स्यादवाद भाषा है, अनेकान्त वस्तु है। श्रमण संस्कृति में जो ‘संत’ शब्द का भी प्रयोग करोगे न, वह भी स्यादवाद अनेकान्त से सिद्ध करेंगे, अन्यथा हम मानेंगे नहीं। संत लिखो, फिर उसका विग्रह करो। सत्+अंत। यदि हम दिगम्बर मुनि के लिए जो संत शब्द का प्रयोग करें, तो लोक में व्याप्त ‘संत’ शब्द पर मत जाना। सत्+अंत में अंत यानि धर्म, जिसमें पाये जायें, उसका नाम है संत। सत् यानी सत्ता, लक्षण। अंत यानी धर्म। अनंत गुणों से युक्त जो जीव है, उसका नाम है संत। अनेकांतात्मक धर्म जिसमें अंदर विराजता है, उसका नाम ‘संत’ समझ में आ रहा है।

आप मंगलाचरण करते हैं -

**अनंतधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः ।**

**अनेकान्तमयी मूर्ति नित्यमेव प्रकाशताम् ॥ (अ.अ.क.) ॥२॥**

**परमागमस्य जीवं निषिदुजात्यन्धसिंधुरविधानम् ।**

**सकलनय विलसितानां, निरोध मदनं नमाम्यनेकान्तम् । पु.सि.उ.**

॥२॥

व्यक्ति की वंदना नहीं, वस्तु की वंदना नहीं, अनेक धर्मों से युक्त धर्मों की वंदना है। क्या स्यादवाद दर्शन है। जब व्यवहार दृष्टि में बैठता हूँ, और तत्त्व का चिंतन करता हूँ, तब मैं अपने को परम सौभाग्यशाली स्वीकारता हूँ। क्यों? क्योंकि मैं स्यादवाद दर्शन में जन्मा हूँ। पर्याय जन्म के लिए पर्याय प्राप्ति के लिए अच्छा नहीं मानता हूँ। परन्तु यह अच्छी बात है कि जब संसार हमें मिला ही है, रहना ही पड़ रहा है, तो अच्छा यह हुआ कि स्यादवाद दर्शन में जन्म लिया। नहीं तो कौन से मिथ्यात्व की पुष्टि करनी पड़ती। कौन से मंत्रों को बोलना पड़ता, क्या-क्या अनाचार नहीं करना पड़ते। ये कितना स्वच्छ दर्शन है, जिसमें बंधन को स्थान नहीं। कण-कण की स्वतंत्रता का सिद्धांत स्यादवाद से सिद्ध है। तत्त्व त्रैकालिक है।

शब्द कह रहा है -

**अयं अर्थोनायमर्थो इति शब्द वदन्ति नः ।**

**कल्ययोऽमर्थः पुरुषैस्ते व रागादि विप्लुताः ॥प्रमेय रत्नमाला ॥**

मेरा यह अर्थ है यह मैं बोलता नहीं हूँ। जगत के स्वार्थी जीवों ने मेरे अर्थ कई कर लिये हैं। शब्द ने कब कहा कि मेरा अर्थ यह है, कि वह है? बलि शब्द का दुरुपयोग लोगों ने किया है। ‘धवला’ जी नौवीं पुस्तक एवं ‘महापुराण’ में समवसरण का वर्णन है, उसमें चारो ओर बलिपीठ होता है। और वह बलिपीठ कर्नाटक के मंदिर में बना है। मंदिर के सामने चबूतरा बना रहता है। बलि यानी नैवेद्य। आपके यहाँ बलिपीठ है, पर आप प्रयोग नहीं करते उस शब्द का। जो बैच रखी रहती है मंदिर के सामने, वह बलिपीठ है। उस पर द्रव्य चढ़ाया जाता है। उसका नाम है बलिपीठ। पर लोगों ने ‘बलि’ शब्द को हिंसा में जोड़ दिया, और जीवों का वध करने लग गये, तभी से हमने ‘बलि’ शब्द का प्रयोग बंद कर दिया। काल के दोष से लोग दूषित चित्त वाले हुये, तो उनके दूषित चित्तों ने शब्द को भी बदनाम कर दिया। क्योंकि शब्द कहता नहीं है कि मेरा अर्थ

यह करो, वह करो। आपने अनर्थ कर लिया। एक शब्द से अर्थ का अनर्थ हो जाता है। अज का अर्थ पुराना धान्य होता है। आज अज्ञ प्राणियों ने अज का अर्थ बकरा बना लिया।

इसलिए जिनसूत्रों की व्याख्या अन्य धर्म वाले से कराना नहीं। वह अपने धर्म के अनुसार ही अर्थ करेगा।

आप अपने निजभाव के ही कर्त्ता-भोक्ता हो, परभाव के नहीं हो। ऐसा कहते हो, तो आज से आपका भोजन का त्याग। संसारदशा में दोनों का कर्त्ता-भोक्ता है। पौद्गलिक कर्मों का कर्त्ता है व्यवहारनय से। रागादि का कर्त्ता है अशुद्धनिश्चयनय से। चेतनभावों का कर्त्ता है शुद्ध निश्चयनय से। उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से यह मकान किसने बनाया? जो तत्त्व को समीचीन कहे, उनकी बात को सुन लेना। जो विपर्यास करके बोले तो उनसे पूछना कि, धर्मशाला, मठ, मंदिर, तीर्थ नये-नये बनाना क्यों? पहचान के लिए? जबकि नगर में कितने मंदिर हैं, फिर भी बना रहे हैं। जब तू कर्त्ता नहीं, भोक्ता नहीं, फिर किसके लिए? आत्मा का धर्म है समयसार, जिसके लिए ईट-चूने के भवन की जरूरत नहीं होती। चैतन्यभवन के धर्म को कहाँ पुद्गल भवन में रख रहे हो? अंतर क्या है? समयसार का फल होता है भवनों से बाहर निकल जाना। ये कैसा समयसार का फल है जो नये-नये भवन बना रहे हो? यह समयसार का फल नहीं है। ये सम्प्रदाय का फल है। मेरे से चर्चा करोगे तो मैं सिद्ध कर दूँगा कि भवन मेरा है। विजातीय उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से तू भवन का भी कर्त्ता है। समयसार में यह भी लिखा है। घटपट आदि का कर्त्ता है। और सद्भूत व्यवहारनय से तू निज स्वभाव का ही कर्त्ता है। शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय से शुद्ध चैतन्य का कर्त्ता है। अशुद्ध सद्भूत व्यवहारनय से तू अशुद्ध भावों का कर्त्ता है। इतना नय का ज्ञान होगा, तो कभी मिथ्यात्व में डूब नहीं सकता। सम्यक्त्व की रक्षा के लिए नय का ज्ञान होना अनिवार्य है। आचार्य देवसेन स्वामी नयचक्र में लिखते हैं नयनों से विहीन मार्ग पर चल नहीं पाता, मार्ग पर चले बिना मार्गी को प्राप्त कर नहीं पाता। जो निश्चय व व्यवहार दो नय से विहीन हो गया है, वह मोक्षमार्ग पर चलेगा कैसे? दोनों नय का ज्ञान अनिवार्य है। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी आज इसी बात को टीका में कह रहे हैं। तू जिनशासन का शत्रु है। जो निश्चय को नहीं मानता, वह निश्चयतीर्थ का घातक है, और जो व्यवहार को नहीं मानता, वह व्यवहारीतीर्थ का घातक है। उभयतीर्थ ही तीर्थ है। उभय तीर्थ तुम्हारे पास हैं। अनंत ज्ञेयों को अनंतरूप में जानना चाहिए, प्रमेयों को, प्रमाता को जानना चाहिए। परन्तु सभी प्रमेय प्रमाता के लिए उपादेय नहीं हैं। उपादेय प्रमेय को ग्रहण करता है, हेय प्रमेय को त्यागता है, उपेक्षणीय पर उपेक्षा करता है। परन्तु जानना सबको है। "बिन जाने ते दोष गुणन को कैसे तजिये गहिये"। वकील साहब! आपके पास कोई निर्दोषी व्यक्ति जिसे दोष में फँसा दिया हो, वह आया, बोला आप हमें निर्दोषी करा दीजिए। यह बताओ कि आप उस निर्दोष के निर्दोषपन को भी सुनोगे, कि उस पर लगे आरोप को भी सुनोगे? लक्ष्य सत्य का है, पक्ष उभय का है। लक्ष्य उपादेय का है, परन्तु पक्ष हेय न उपादेय का है। जब तक हेय व उपादेय दो पक्ष नहीं बनेंगे, तब तक आप हेय को छोड़ोगे कैसे? उपादेय को स्वीकारेंगे कैसे? वकील यदि 'परीक्षामुख' 'न्यायदीपिका' पढ़ ले, तो देश में विख्यात होवे। सपक्ष सत्य, विपक्ष व्यावृत्ति। आपके यहाँ बहुत आचार्य भगवान् हुये, वे कालेज आदि नहीं गये, तब भी प्रकाण्ड विद्वान् कैसे बन गये? उसका कारण था जैनदर्शन का न्याय ग्रन्थ। वह प्रज्ञा को विशाल करता है। लोक में कर्म की, धर्म की सभी व्यवस्था कैसी है वह पद्मपुराण में दी गई है।

## ॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

५५५

निश्चयनय, व्यवहारनय इन दोनों नयों से वस्तुभेद नहीं समझना । ये वस्तुभेद नहीं है । यह व्याख्यान-भेद है। आप जब व्यवहार धर्म की बात करें, व्यवहार धर्म और जब आप निश्चय धर्म की बात करें तो निश्चयधर्म । व्यवहार धर्म यानी पिच्छि-कमण्डलु को स्वीकार लेना, निश्चय धर्म यानी निज स्वरूप में लीन होना । ज्ञानी ! इसमें किंचित कमी है, यहीं भ्रम हो जाता है । पिच्छि-कमण्डलु, जिनमुद्रा, ये मुनि का भेष है, न कि दिगम्बर मुनि की चर्या । यह भेष मुनि का धर्म है, लेकिन चारित्र नहीं है । एक डॉक्टर की पहचान उसकी ड्रेस से हो जाती है । वह उसका भेष है, धर्म नहीं है । ऐसे है जिनमुद्रा को स्वीकार कर लिया है, यह द्रव्यसंयम नहीं है । यदि इसका नाम द्रव्यसंयम है, तो डॉक्टर का फोटो द्रव्य डॉक्टर हो जायेगा । बारहवीं गाथा है । पिच्छि-कमण्डलु, द्रव्य मुद्रा है, द्रव्यसंयम नहीं है । ज्ञानी ! कोई व्यक्ति डॉक्टरी पढा नहीं है, डॉक्टरी करता नहीं है, पर किसी ने उसके कान में डॉक्टर की जो पहचान होती है (आला) उसे लगा दिया, तो बताओ वह द्रव्य से डॉक्टर है, कि भाव से डॉक्टर है ? एक व्यक्ति ने ब्रह्मचर्य व्रत लिया नहीं, प्रतिमा धारण का नहीं, मात्र उसने सफेद वस्त्र धारण किया है, तो वह ब्रह्मचारी है, कि ब्रह्मचारी भेष है ? वह ब्रह्मचारी द्रव्य नहीं है, ब्रह्मचारी भाव भी नहीं है, ब्रह्मचारी भेष मात्र है । ऐसे ही जिनमुद्रा को स्वीकार किया, पिच्छि-कमण्डलु धारण किये, यह मुनिवेश है । वह द्रव्यमुनि भी नहीं है। अभी आप दो समझते थे, अब तीन करिये - (1) मुनिवेश (2) द्रव्यमुनि (3) भाव मुनि ।

हे ज्ञानी ! जो ब्रह्मचर्य व्रत को स्वीकार किये है, परन्तु अंतरंग में भाव नहीं लग रहे, फिर भी पालन कर रहा है, ये द्रव्य-ब्रह्मचारी है । और भावसहित पालन कर रहा है, वह द्रव्यसहित भाव-ब्रह्मचारी है । ऐसे ही जो अष्टाईस मूलगुणों में, पाँच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति आदि तेरह प्रकार चारित्र में किंचित भी दोष नहीं लगाता है और वे उसका पालन करते हैं, वे द्रव्यमुनिराज है । मुनिराज की विशद, निर्मल, उदासीन वृत्ति परभावों से भिन्न परिणत है तथा कषाय की तीन चौकड़ी का अभाव है । वे निश्चय से मुनिराज के भाव है, वह भावमुनि है ।

**चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोग-परिहरणात् ।**

**सकल-कषाय विमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ॥३९॥पु.सि.उ.।**

समस्त सावद्य क्रियाओं का जहाँ अभाव हो चुका है, वह द्रव्यसंयमी होता है । सावद्य यानी पाप रूप हिंसा रूप जो भी प्रवृत्ति है, उसका अभाव होता है । इसका नाम द्रव्यसंयम है और जहाँ काषायिक भावों का अभाव होता है, उसका नाम भावसंयम है । अब समझ में आता है, परन्तु खोज आप करना नहीं चाहते। क्यों ? क्योंकि हमारे प्रमाद से क्षयोपशम का विषय नहीं बनता । पर ज्ञान का विषय तो बनता है । हमें तीनों प्रकार का ज्ञान रखना अनिवार्य है । अन्यथा आभास की परिभाषा क्या है ? ततोऽयत्तदाभासम्'' परीक्षामुख के छठवें अध्याय का पहला सूत्र उससे अन्यत्र है जो भाषा अर्थात् जो मुनि के स्वभाव से अन्यत्र है वह तदाभासा है ॥ "सम्यक्ज्ञानं प्रमाणं" जो सम्यक् ज्ञान न हो, वह ज्ञानाभास, प्रमाणाभास है । ऐसे ही -

**विषयाशावशातीतो निरारंभो परिग्रहाः ।**

**ज्ञान-ध्यान-तपोरक्तः तपस्वी स प्रशस्यते ॥१० र.क.श्रा.॥**

ये तपस्वी की परिभाषा है, इससे अन्यत्र घटित हो तो तदाभास है। नय की जो परिभाषा है, उस नय से अन्यत्र हो तो नयाभास है। प्रमाण की जो परिभाषा है, प्रमाण से जो अन्यत्र हो, वह प्रमाणाभास है। श्रमण की जो परिभाषा है, उससे अन्यत्र होती है, तो उसका नाम है श्रमणाभास, जैनाभास। कितने संघ होकर चले गये, द्रविणसंघ, यापनीय संघ, गोपृच्छिका संघ। ये सब जैनाभास हैं। जो जिनदेव ने नहीं कहा, वैसा उन लोगों ने करना प्रारंभ किया, तो जैनाभास। सम्यक्त्व की रक्षा श्रमणों से होगी, जैनियों से होगी, जिनागम से होगी। आभासों से नहीं होगी। लगता है, परन्तु होता नहीं है, उसका नाम आभास है। संस्कार हुए, पर संकल्प नहीं लिया, तो काहे का संयम? संस्कार लोगों के थे, गुरु ने संस्कार लोगों से किये हैं, परन्तु संकल्प तो आत्मा से होता है। संकल्प नहीं है, तो संस्कार काम में नहीं आयेंगे। उसे कहना श्रमणाभास। संस्कार हो, परन्तु संकल्प न हो, उसका नाम है श्रमणाभास। संकल्प है, परन्तु संकल्प में विकल्प आ गये, तो श्रमणाभास। ज्ञानियों! जैनदर्शन के प्राचीन शब्दों का प्रयोग करती हुई श्रमणचर्या, श्रावकचर्या का व्याख्यान होना चाहिए, अन्यथा श्रमण संस्कृति समाप्त हो जायेगी, भौतिक संस्कृति खड़ी हो जायेगी।

हे ज्ञानी! श्रद्धा 'विश्वास' है, प्रतिज्ञा 'संकल्प' है। विश्वासपूर्वक प्रतिज्ञा होती है, श्रद्धापूर्वक संकल्प होता है। संकल्प भिन्न है और श्रद्धा भिन्न है। एक कारण है, और दूसरा कार्य है।

**कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि ।**

**दीपप्रकाश योरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघट्टम ॥३४॥पु.सि.उ.॥**

आपको विश्वास हो, कि मुनि बनकर मोक्ष होता है, तो मुनि बनोगे, तो निर्दोष संयम का पालन करोगे। और श्रद्धा बनी रहे, कि मोक्ष होता है, कि नहीं होता है, तो मुनि बने क्यों?

आचार्य पूज्यपाद स्वामि ने 'सर्वार्थसिद्ध' ग्रन्थ में मोक्ष का प्रकरण लिया, तो वैद्य का दृष्टान्त दिया कि आप वैद्य पर पहले विश्वास करते हो, उसके बाद उपचार करवाते हो। रोगी को वैद्य के अनुसार चलना पड़ता है, कि वैद्य रोगी के अनुसार चलता है? रोगी के अनुसार चलता है तो वह लोभी तो हो सकता है, पर वैद्य नहीं हो सकता। आप हमारे यहाँ आये हैं, तो हम आपसे पैसे ही नहीं खींचना चाहते, हमें अपना भी तो ध्यान रखना है, कि हमारा प्रचार क्या होगा, विचार करो। रोगी के अनुसार वैद्य नहीं चलता, वैद्य के अनुसार रोगी को चलना चाहिए इसी प्रकार रत्नत्रय धर्म रत्नत्रयधारियों के अनुसार नहीं चलता, रत्नत्रयधारियों को रत्नत्रय के अनुसार चलना चाहिए। धर्म के अनुसार चलना चाहो तो चलना, पर धर्म को अपने अनुसार नहीं चलाना और आप चला भी दोगे, तो आप चल नहीं पाओगे। कारण क्या है? आचार्य कुन्दकुन्द देव ने मृदुचर्या वालों पर करुणा नहीं की। उनसे करुणा की होती, तो आपकी चल जाती। चौरासी पाहुड लिख दिये, उनसे सब विधान संविधान लागू कर दिया। आप अन्यथा क्रिया करोगे भी न, तो संविधान को पढ़ने वाले कोई-न-कोई मिल जायेंगे और कहेंगे कि इनकी वृत्ति अनुकूल नहीं है। व्यवहार वही है, जिससे निश्चय की प्राप्ति हो निश्चय वही है, जो व्यवहारपूर्वक हो। भाषा का भेद है, वस्तुभेद नहीं है। सातों नयों में भाषा-प्रवृत्ति का ही भेद कर, वस्तु की प्ररूपणा की है। वस्तुभेद हो जायेगा, तो नय लगेगा किसमें? पदार्थ तो होंगे।

जिनको विशिष्ट नय समझना हो, यानी सबसे कठिन कोई नय है तो वह है नैगमनय। वह नैगमनय का विषय बहुत ही सूक्ष्म है। सभी की समझ में नहीं आयेगा। आपने भूत, भावि, वर्तमान तीन भेद कर लिये

और इतने से काम चला लेते हो। पर 'श्लोकवार्तिक' में नैगमनय का विशिष्ट वर्णन है। जो 'नय विवरण' नाम का ग्रंथ प्रकाशित हुआ है, वह 'नय विवरण' कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है। आचार्य विद्यानंद स्वामी का 'श्लोकवार्तिक' ग्रंथ उमा स्वामी के 'तत्त्वार्थ सूत्र' पर है। 'सम्मई सूत्र' तो सभी को पढ़ना चाहिए। 'द्रव्य स्वभाव प्रकाश नयचक्र' इन ग्रंथों को नय समझने के लिए पढ़ना चाहिए।

**नैगम संग्रह-व्यवहारर्जुसूत्र शब्द-समभिरुद्वैवंभूता नया: ॥३३॥तत्त्वार्थसूत्र ॥**

आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी की टीका देखें, उसमें आचार्य निश्चय-व्यवहार के लिए क्या कह रहे हैं? जब निश्चय का कथन करें, तो निश्चयमय हो जाना। जब व्यवहार का कथन करें, तो व्यवहारमय हो जाना तन्मय तो होना ही होगा, अन्यथा आनंद नहीं आता। तात्पर्य समझना। कोई विद्यार्थी जिस विषय को पढ़ रहा है, उस विषय को पूरी रुचि दे तो ही तो विषय तैयार होता है। एक रागी-भोगी जीव मंदिर में राग लेकर आया है, तो वंदना में आनंद नहीं आयेगा। और गृहस्थी के संकल्पों में डूबा हुआ है और वहाँ वैराग्य आ जाये, तो उसकी गृहस्थी भंग होना है। फिर भी परमार्थदृष्टि से गृहस्थ में परमात्मा का नाम आ जाये, तो अच्छा है, पर परमात्मा के नाम में गृहस्थी याद आ जाये तो अच्छा नहीं है। दूकान में भगवान् दिख जाये, तो भाग्यवान् है और मंदिर में दुकान दिखे तो अभाग्यवान् है। आपको स्वयं निर्णय करना है। आप भाग्यवान् हो या भाग्यहीन हो? गृहस्थी में भी आपको भगवान् की याद आये, वह वास्तव में भाग्यवान् है। परन्तु मंदिर में भी यदि दुकान दिखे, तो भाग्यहीन है। स्वप्न में जिनप्रतिमा, जिनवाणी, जिनगुरु समीचीन दिख रहे हैं तो आप भाग्यवान् हैं। पर स्वप्न में जिनप्रतिमा हँसते दिखे, तो आप अपना शांतिविधान करा लेना। स्वप्न में प्रतिमा लेटी या तिरछी दिख जाये, गुरु विश्राम करते दिख जायें, तो सुबह शांतिविधान कर लेना, भगवान् की माला फेर लेना। दिगम्बर मुनि हँसते नहीं दिखना चाहिए। आप आहार दे रहे हैं, यह तो प्रशस्त है, पर वह कहे कि आहार दे दो, यह अप्रशस्त है। आगम के अनुकूल दिखना चाहिए, विपरीत नहीं दिखना चाहिए। शुद्ध, शुद्ध हैं, अशुद्ध, अशुद्ध है। शुद्ध की अनुभूति लेनेवाला अशुद्ध पर जाता नहीं, अशुद्ध में तल्लीन होने वाला अशुद्ध को प्राप्त होता नहीं। अशुद्ध मिलने पर भी शुद्ध पर लक्ष्य है, तो सिद्धत्व को प्राप्त हो जाता है। जो चाहिए है, उसका लक्ष्य तो बनाना ही होगा। लक्ष्य बनाये बिना उपलब्धि होती नहीं। मार्ग होता है, मार्ग की प्राप्ति के पहले, मार्ग के पहले मार्ग का लक्ष्य होता है मार्ग को चाहने वाले के लिए।

आपने निश्चय का निषेध करना शुरू किया और व्यवहार परिपूर्ण कर रहे हो तो आपका व्यवहार कोई काम का नहीं है। आपने द्रव्यसंयम का पालन किया, लेकिन निश्चयनय अध्यात्म का निषेध करते हो चौबीस घंटे, तो आपका द्रव्यसंयम है किसलिए? त्यागियों को तत्त्व की भूल है, संयम का पालन बराबर कर रहे हैं, परन्तु द्रव्यानुयोग पर दृष्टि नहीं है, और जरा-सी कोई तत्त्व की बात करे, तो उसको भिन्न शब्द कहकर गौण कर देना। अब प्रश्न है कि आप साधना कर क्यों रहे हो? साधना, साधना के लिए होती नहीं, साधना के लिए साधना जो करे, वह उसकी प्रज्ञा की न्यूनता का प्रदर्शन है। साध्य की सिद्धि के लिए साधना करे, यह प्रज्ञा की प्रबलता का प्रदर्शन है। तो साध्य की सिद्धि के लिए साधना है। व्यवहार रत्नत्रय साधन है, निश्चय रत्नत्रय साध्य है। और निश्चय रत्नत्रय पर लक्ष्य ही न जाये, तो व्यवहार रत्नत्रय क्यों हो? सीढ़ी पर चढ़ने के लिए सीढ़ी पर चढ़ा जाता है, कि लक्ष्य पर पहुँचने के लिए सीढ़ी पर चढ़ा जाता है? इतना आप सबको ज्ञान है। ज्ञानियो! सीढ़ी पर चढ़ने के लिए सीढ़ी पर चढ़े तो पैर ही तोड़े, सीढ़ी पर चढ़ने के लिए सीढ़ी पर नहीं चढ़ा जाता। परन्तु सीढ़ी पर चढ़े बिना लक्ष्य पर नहीं पहुँचा जाता। निश्चय-व्यवहार

की भाषा सुनो। साधन के लिए साधना नहीं की जाती, साध्य के लिए साधना की जाती है। परन्तु साधना किये बिना साध्य मिलता नहीं है। इसलिए साधना करना ही चाहिए। पर साधना के लिए साधना करे, ये प्रज्ञा की न्यूनता है। यथार्थ मानिये, परम निश्चय वाला तो दिगम्बर मुनि होता है। क्यों? व्यवहार प्राप्त कर चुका है, निश्चय की प्राप्ति में लगा है। ऐसा नहीं करना कि व्यवहार प्राप्त कर लिया है अब व्यवहाराभास में जी रहा है। किसी ने दीक्षा ली, और मठ बनाकर बैठ गये और गाय-भैंस पाल ली, अब वे श्रमण बचे, कि श्रमणाभास हो गये। व्यवहार लिया था निश्चय के लिए, व्यवहार भी दे गये पर के लिए। कभी दिगम्बर मुनि बनके किसी भक्त के पीड़ित होने पर यह भूल मत कर बैठना कि मेरी तपस्या के जो क्षण थे, वह इसको दिये ताकि वह ठीक हो जाये। वात्सल्य बोल रहा है, कि जैन सिद्धांत का नाश बोल रहा है मेरी तपस्या का अंश इसको चला जाये। भो ज्ञानी! होता स्वयं जगत परिणाम, कण-कण स्वतंत्र है। पर की सत्ता में तेरी सत्ता चली गई, फिर तो हो गया काम। ये व्यवहार और वात्सल्य के पीछे जैनत्व के प्रति अवात्सल्य भाव है। मुझे आपसे वात्सल्य बाद में है, पहले जैन सिद्धांत के सूत्रों पर है। आपके राग में हम सिद्धांत के सूत्रों का खंडन नहीं कर पायेंगे। आपको यह भावना भाना चाहिए कि, भगवन्! इस जीव का कर्म विपाक शांत हो।

**सम्पूजकानां प्रतिपालकानां, यतीन्द्र-सामान्य-तपोधनानाम् ।**

**देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः, करोतु शांतिं भगवान् जिनेन्द्र ॥१४॥शांतिभक्ति ॥**

पद्य तो पढना चाहिए।

**आरोग्य बोहिलाहं दितु समाहिं च मे जिणवरिंदा ।**

**किंण हु णिदाणमेयं णवरि विभासेत्थ कायट्वा ॥५६८॥मूलाधार॥**

हे जिनवर देव! मुझे आरोग्य की प्राप्ति हो, मुझे समाधी की प्राप्ति हो। मुझे ही नहीं, मेरे संघ की श्रेष्ठ समाधि हो। ये आदेश नहीं है, यह भक्ति की भाषा प्रार्थना चल रही है। मुझे मालूम है, कि आप कुछ लेते नहीं, देते नहीं। आप देते-लेते होते तो छः महीने क्यों घूमते? हे प्रभु! यह मेरी प्रशस्त भावना है। आप तो -

**न पूजयाऽर्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ ! विवांतबैरे ।**

**तथापि ते पुण्य-गुण-स्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥ वासुपूज्यस्तवनम् ॥**

हे जिनवर देव! जो निन्दा करे, उससे आप बेर धारण नहीं करते, जो पूजा करे, उसको आप कुछ देते नहीं, फिर भी मैं आपकी कृतकारित अनुमोदित पूजा करता हूँ। क्यों? मैं अपने चित्त को पवित्र करने के लिए, दुरित कर्मों को नष्ट करने के लिए करता हूँ। चित्त की निर्मलता के लिए भगवत् भक्ति करना चाहिए, लेकिन भगवान् से माँगने के लिए किंचित भी नहीं करना। क्यों? 'होता स्वयं जगत परिणाम।' जो-जो कथन है, सब व्यवहाराश्रित है। जो-जो लक्ष्य है, वह सब निश्चयाश्रित है। इसलिए व्यवहार-भक्ति भी होती है, निश्चय-भक्ति भी होती है। 'नियमसार' में छः आवश्यक हैं। द्वैतभक्ति यानी व्यवहार भक्ति, अद्वैतभक्ति यानि निश्चयभक्ति। जहाँ में ही आराध्य व आराधक हूँ, यह निश्चय-भक्ति है। जहाँ पंचपरमेष्ठी आराध्य हैं, यहाँ है व्यवहार भक्ति।

ज्ञानियो! आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी कह रहे हैं कि मैंने तत्त्वों को गहराई से समझा है। सोलहताप का सोना ही स्वीकार होता है, मध्य के ताप का सोना आभूषण तो बनायेगा, पर शुद्ध डली का नहीं कहलायेगा। सोलह ताप के सोने से आभूषण नहीं बनते, मध्य के तापों से आभूषण बनते हैं। आभूषण नाना रूप होते हैं और डली एकरूप होती है। यह समयसार है। ये नाना रूप शुद्ध सोने में हैं, कि मध्य सोने में? अशुद्धभाव

तब तक सोने में है, जब तक नरक, निगोद, तिर्यञ्च, स्वर्ग, मनुष्य पर्याय रूप शोभित हो रहा है। सोलह ताप का हो जायेगा तो सिद्धशिला पर विराजमान हो जायेगा। यह परमभाव स्वरूप है वह तो है परमभाव रूप और सोलहताप 'स्वरूप' है और मध्यमभाव 'नाना' रूप है। अशुद्ध द्रव्य व्यंजन पर्यायभूत है नर-नरकादि चौरासी लाख योनियाँ।

ज्ञायकभाव, परमभाव, शुद्धस्वरूप चिद्रूप है। अपन को विद्यार्थी बनना है, जब तक केवली न बन जायें। और एक-एक समय के स्वयं के परिणामों को पढ़िये, और जब आप यहाँ पहली बार आये थे, आते कैसा लगा, उसको पढ़िये। फिर कुछ क्षण बैठे तो कैसा महसूस हुआ, वह पढ़िये। फिर चिद्रूप की बात प्रारंभ हुई तो कैसा लगा वह पढ़िये। मैं मंदिर जाता हूँ तब भी पढ़ाई करता हूँ। एक व्यक्ति सामायिक करता है उसको पढ़ता हूँ। आप पूजन करते हो तब भी पढ़ता हूँ। चन्दन घिसते हो आप, तब भी पढ़ता हूँ। आप भी पढ़ो, क्योंकि योग बदलेगा तो उपयोग भी बदलेगा। योगी भी बदल रहा है। बदलता है न? अभी सिद्धचक्रविधान चल रहा है, उसमें संगीत चलता है तो आपके पैर थिरकते हैं। जब शांतिधारा होती है तो आँखे स्थिर होती है। जब तत्त्व उपदेश होता है, तब इनका हृदय थिरकता है और परिणति स्थिर होती है। क्यों क्या है?

हर वस्तु का आनंद होता है। आप श्रीजी की पूजन के लिए चंदन घिसते हो न, उसमें भी आनंद होता है। यदि आनंद नहीं होता, तो आपका हाथ नहीं चल सकता था। एक ललक है, कि अपने हाथ से द्रव्य बनाता हूँ, श्रीजी का अभिषेक-पूजन करूँगा। वह भी एक आनंद है। उसमें कोई छेड़ दे, तो गुस्सा आने लगता है। फिर भी वह थाली लगाकर चल दे। मन कहाँ था? प्रभु के पास जा रहा हूँ। जैसे विद्युतधारा प्रवाहित है, बल्ब भी जल रहा है, इतने में कोई अपना अलग से तार लेकर आया, और तार में अपना तार डालने लगा, तो चिनगारी उत्पन्न होगी। हे ज्ञानी! ध्यान दो, मैं क्या समझा रहा हूँ। कोई पूजन को जा रहा है, कोई दान देने जा रहा है, सामायिक करने जा रहा है, तो उसे छेड़ना नहीं, उसे जाने देना। नहीं तो तुमने स्पर्श किया तो चिंगारी निकलेगी, और यदि संपर्क हो गया, तो पूरी लाइट गई। मंदिर में पूजा कोई कर रहा था, बार-बार टोका, तो वह पूजा छोड़कर कषाय की पूजा करने लगा, परिवर्तित कर दी। अपने बेटों को समझाना, परन्तु मर्यादा में। आपकी मर्यादा भंग न होने पाये, इतना समझाना। बेटा बीड़ी पीते दिख जाये, वह छुप रहा था, तो देखने मत जाना, नहीं तो अभी वह आपकी मर्यादा रख रहा था, अगर आप देखने पहुँच गये, तो उसकी मर्यादा समाप्त हो जायेगी, अब वह तुम्हारे सामने ही पियेगा। उसे तुम स्वयं मत समझाना कि तुम क्यों पीते हो? उसके मित्रों के माध्यम से समझवाना, उसकी माँ से बोलना, उसकी पत्नी से बोल देना। यह समयसार नहीं है, यह बहुत बड़ा नीति ग्रंथ है, भीतर की नीतियों से भरा है।

तो कहाँ पहुँच गये? शुद्ध सोने से आभूषण नहीं बनते। शुद्ध सोना तो डली है, फिर भी आभूषण में सोना तो है। आज कल भ्रम क्या खडा किया जाता है कि 'प्रवचनसार' जी में चरणानुयोग चूलिका में लिखा है कि अब वर्तमान में शुद्ध सोना नहीं है, डली का सोना नहीं है। जैसी महावीर की चर्या थी, वैसी वर्तमान की चर्या नहीं है, सत्य है। क्यों? वह उपेक्षा संयम था। वर्तमान में कौन-सा संयम है? स्थविरकल्प अपहृत संयम।

काँटा चुभ जाये, स्वतः निकले तो ठीक है, नहीं तो निकालना नहीं। ये उपेक्षा (जिनकल्प) संयम की चर्या है। सौंप शरीर पर आ जाये, स्वयं चला जाये तो ठीक है, नहीं तो बैठे हैं। उपेक्षा संयम है।

शुद्ध डली का सोना नहीं है, पर यह बताओ कि कुण्डल में शुद्ध सोना है, या नहीं है? कुण्डल सोने



का नहीं है क्या ? ज्ञानियो ! पंचमकाल में महावीर जैसी चर्या नहीं है, पर महावीर के द्वारा उपदिष्ट चर्या है कि नहीं? यह है स्वरूप। पर इसको गौण करके कथन किया जा रहा है। आचार्य कुन्दकुन्द की वाणी को स्वपक्ष से कथन करना, यानि जिनशासन की हत्या करना है। शुद्ध डली का सोना नहीं है, पर कुंडल में सोना है। ऐसे ही वर्तमान के जितने त्यागी हैं, वे डली के तो नहीं हैं, पर सोने के तो हैं। और शुद्ध डली के क्यों नहीं हैं? क्योंकि वैसा संहनन नहीं है, वैसा ताप नहीं है, जिससे सोना शुद्ध हो जाये। उतनी उत्कृष्ट अग्नि तो चाहिए न। सोलह ताप इतनी ऊष्मा तेरी स्यानाग्नि के तेज से इतनी उष्मा दे देना, कि तौबा, जस्ता रूपी जितने द्रव्यकर्म, भावकर्म हैं, वे सब पिघलकर बाहर फिक जायें। शुद्ध सोना शुद्ध उपयोग का नहीं, अशरीरी शुद्ध आत्मा का विषय है। प्रथम भूमि का शुद्धोपयोग भी मिलावट है, क्योंकि बारहवें गुणस्थान तक शुद्धोपयोग होता है। शुद्धस्वरूप स्वभाव है। छद्मस्थ के लिए शुद्धोपयोग स्वरूप है। वीतरागी शुद्धोपयोग के फल को भोगता है। वह सौ प्रतिशत सोने को नहीं देख पा रहा है, दस प्रतिशत अशुद्धि को देखने में लगा है।

एक बार एक व्यक्ति रो रहा था, पर उसकी पत्नी हँस रही थी। किसी ने पूछ लिया कि आपके पति रो रहे हैं, और आप हँस रही हैं, बात क्या है? बात कुछ नहीं है, इन्होंने गोदाम में माल भरा था, सोच रहा था कि पाँच लाख बचेगे, पर तीन लाख शुद्ध बचे हैं इसके लिये, पर दो दो लाख के टेंशन में रो रहे हैं। तीन लाख का सुख नहीं भोग रहा, कह रहा है कि दो लाख का घाटा पड़ गया। बताओ कहाँ पड़ा घाटा ?

हे ज्ञानियो ! पंचमकाल जैसे खोटे काल में तीन लाख बच रहे हैं। सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, उसकी तू चिंता नहीं कर रहा है, तू दो लाख का टेंशन कर रहा है। आज भी मोक्षमार्ग है। रत्नत्रय की एकता होने से मोक्षमार्गी हैं।

श्रद्धा में कमी बिल्कुल नहीं लाना। शरीर अस्वस्थ है, कुछ न भी कर पाओ, पर अपनी श्रद्धा को अस्वस्थ मत करना, यही कहना -

**श्रीमत्-परम-गंभीर, स्याद्वादा मोघ-लाञ्छनम् ।**

**जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिन शासनम् ॥३॥अर्हदभक्ति॥**

हे त्रिलोकीनाथ ! आपका शासन, जिनशासन जयवंत हो और आपका शासन जयवंत रहेगा तो मैं तो स्वयं जयवंत हो ही जाऊँगा। क्योंकि राजा सुरक्षित है, तो प्रजा भी सुरक्षित हो जायेगी। इसलिए अपने स्वार्थ के लिए नहीं जीना, जिनशासन को सुरक्षित रखना। बन जाना वीर निकलंक, अकलंक। पर इस सूत्र को मत भूल जाना जो स्याद्वाद के चिह्न से चिह्नित है। ऐसा 'जीयात् त्रैलोक्य नाथस्य शासनम् जिनशासनम्' हमारे बुजुर्ग ऐसा मंगलाचरण करते थे, जिससे हमारी जिनशासन में श्रद्धा बढ़ती थी। पर आज मंगलाचरण फिल्मी धुन पर होते हैं। लोग फिल्म में पहुँच जाते हैं, और मंगलाचरण नहीं सुन पाते, क्योंकि धुन में ही रम गये।

संस्कृत के शब्द समझ में नहीं आते हैं, फिर भी सुनने में अच्छा लगता है। शासन किसका है? जिन का है। अभी किसका है? भगवान् महावीर का है। भारत शासन है, उसमें प्रधानमंत्री या राष्ट्रपति कोई भी हो सकता है। कब तक शासन चलेगा? जब तक दूसरा चुन कर न आ जाये। ऐसे ही भगवान् महावीर का शासन चल रहा है। कब तक चलेगा? जब तक दूसरा कैवल्य को प्राप्त करके न आ जाये। अपन तो महावीर की प्रजा हैं, उन्हीं की बात कहने वाले हैं। अन्तिम ताव (ताप) से उतारे शुद्ध सोने की भाँति जो परमभाव का अनुभव करते हैं, उनके लिए। सत्य है, जिसको शुद्ध सोना मिल गया हो, और सौ, दो सौ किलो मिला हो, उनसे कोई

कहे कि हमारे कान की वारी (कुण्डल) ले लो, तो आप हंसोगे। क्यों ? जिसके पास शुद्ध सोना रखा हो, वह कान की वारी क्या करेगा ? ऐसे ही जिसने सोलह ताप को प्राप्त किया हो, वह प्रथम, द्वितीय ताप के सोने को क्यों देखेगा ? उसका अनुभव नहीं करता। जो परम भाव के अनुभव से शून्य है और परभाव में लीन है। शुद्ध द्रव्य के स्वभाव से परमस्थान, ज्ञायकभाव को जानता हुआ, उसे प्रयोजनवान सोलह ताप का सोना दिख रहा है। किसको ? जिसको परमस्वभाव प्रगट हो चुका है उसके लिए। यह हो गया निश्चयनय। ये किसका अर्थ हुआ "सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभाव दरिसीहिं। व्यवहार-देसिदो पुण जे दु अपरमे दिठदाभावे ॥१४॥" टीकाकार गाथा को छोड़कर नहीं चलते। जब शुद्धाशुद्ध भाव का आदेश करेंगे, तब परमभावदर्शी परमभाव से युक्त है। व्यवहार का आदेश किसको करना ? उसको छोड़ नहीं देना। बारहवीं गाथा कह रही है, कि व्यवहार को छोड़ नहीं देना। पर निश्चय के लक्ष्य को दूर मत कर देना। आप गाड़ी पर आये। जब चल रहे थे, तभी उतर गये थे, कि स्थान आ गया तब उतरे थे ? यही बात है। जब तक गन्तव्य नहीं मिला, तब तक सीट को पकड़े रहे, कि कोई बैठ न जाये और जैसे-ही देखा कि गन्तव्य आ गया, तो किसी को नहीं कहना पड़ा, तुरंत छोड़कर आ गये। इसी प्रकार से, हे ज्ञानी ! जब तक तू परमस्वभाव को प्राप्त नहीं करता, तब तक व्यवहार की सीट पर बैठे रहना। जैसे-ही गन्तव्य स्थान आ जाये, तो धीरे से उतर जाना, छोड़ देना। यह व्यवस्था है। छूटेगा कि नहीं छूटेगा ?

कभी आपने थाली में भोजन किया होगा ? दोने में मिठाई खाई ? चाट के टेले में जब कोई चाटता दिख जाये, तो शुद्ध तत्त्व वहीं समझ लेना। जब भरकर आता है दोना, तब जेब से पैसे निकाल कर देता है और बड़े प्रेम से उस दोने को हाथ में लेता है। इतने प्यार से तो अपने बेटे को भी नहीं लेता है। वह हाथों पर दोने को बड़े प्रेम से लेता है और जैसे ही खत्म हुआ, वैसे ही उस दोने को कचड़े में फेंक देता है। ऐसे ही परिवार के लोग स्वार्थी हैं। वह दोहन कर लेंगे, फिर श्मशान पर फेंक देंगे। जब-तक आत्मा की मिठाई है, इस शरीर के पास, तब-तक रखे हैं, फिर फेंक देंगे। अभी सभी पूछते हैं कि आओ-आओ। तत्त्वज्ञान कहता है, कि जैसे दोने को मिठाई से रिक्त होते ही फेंक दिया जाता है, ऐसे ही आयुर्कर्म जिस दिन समाप्त हो जायेगा, ये पर्याय फेंक दी जायेगी, जला दी जायेगी। उस दोने के भी तुम पैसे देते हो। वह दुकानदार पागल नहीं है जो आपको मुफ्त में दे दे। वह दुकानदार जो मिठाई बेचता है, वह भी मिठाई को थैली में रखकर तौलता है, वह थैली का पैसा भी तुमसे ही लेता है। जिसको तोल के लाया था, उसे यों ही फेंक देता है। तुमने पुरुषार्थ करके, पुण्य करके मनुष्य आयु को पाया था और भोगते ही, ज्ञानी ! तू उसे छोड़ देता है। क्यों, क्या निहार रहे हो ? आप ऐसा करना कि कह कर जाना, कि हम जायें तो हमारा शरीर भी भेज देना पार्सल से, बड़ी कठिनाई से प्राप्त किया था। पर ये बता देना, भोजना कहाँ है ? पता और दे देना। देखो, अपनी सभा में बुद्धिमान विराजते हैं। वैद्य, डॉक्टर, वकील सभी बैठे हैं।

**मोहेनसंवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि ।**

**मत्तः पुमान् पदार्थानां, यथा मदनकोद्रवैः ॥७॥ इष्टोपदेशः॥**

मोह से ढँका ज्ञान स्वभाव को होने नहीं देता है। आपको मालूम होना चाहिए। पीली हल्दी थी, सफेद चूना था, दोनों मिल गये, तो रंग बदल गया। ऐसे ही रंग बदल गये सब। अब ज्यादा क्यों सुनना चाहते हो ? इतना ही सुनने से रंग बदल जाये। समझ में मुझे यह नहीं आता कि आप सिर क्यों हिलाते हो ? महाराज नहीं बनने के लिये हिलाते हो, या महाराज बनना है इसलिए हिलाते हो, कुछ समझ में नहीं आता। जो परम

ज्ञायक को न प्राप्त होते हुए भी जो वर्ण स्थानीय, नाना प्रकार व्यवहार है। वही प्रयोजनवान है। किसके लिए? जो व्यवहार में स्थित है। क्योंकि यदि उसका अभाव कर दोगे तीर्थ, तीर्थ फल, ये व्यवहारनय में व्यवस्थित हैं। जो व्यवहार को छोड़ देगा, वह तीर्थ और तीर्थ के फल को प्राप्त नहीं होगा। क्या करना, क्यों मंदिर जाना, क्यों नये मंदिर बनाना, जब व्यवहार कुछ करता ही नहीं है? वह तो निश्चय ही है। फिर मत आदि क्यों? यह तत्त्व की पहचान नहीं है, यह पुद्गल की पहचान है, जो अलग से बैठ रहे हो। तत्त्व की पहचान में तो एक में अनेक विराजते हैं। तत्त्वज्ञान बाद में कर लेना, पहले समाज में वात्सल्य भाव को मत खोवो। इन ईट चूनें के दीवारों के पीछे परभावों में दीवार खड़ी मत करो। आपको मुख्य गाथायें सुनाई जाती है। पूरा समयसार सुनाया ही नहीं जाता। इस प्रकार से तीर्थ-तीर्थकर फल तभी होगा, जब व्यवहार होगा।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

५ ५ ५

**भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा या पुण्णपावं च ।**

**आसवसंवरणिञ्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥ १३ स.सा. ॥**

जो छः द्रव्यों से भिन्न कथन करता हो, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, पंचास्तिकाय यदि इनको छोड़ कर कथन करता है, उसका नाम नय ही नहीं है। जो भी कथन होगा, इनके ऊपर ही होगा, अब वे चाहे अभेद रूप कथन करें, चाहे भेद रूप कथन करें, चाहे एक क्षण की पर्याय को लेकर कथन करें, चाहे सादि नित्य पर्याय को लेकर कहें, चाहे सादि अनित्य पर्याय को लेकर कहें, चाहे अनादि अनित्य पर्याय को लेकर कहें। कथन किसका होगा? द्रव्य का। और चाहे वे नय प्रमाण की प्रधानता से बोलें, चाहे नय-नय की प्रधानता से बोलें, नय कह वही पायेंगे, जो पदार्थ है, जो सत् है। नय सत् का ही कथन करते हैं, कि असत् का भी कथन करते हैं? ध्यान दो, कथन जो है वह सत् के होने पर ही होता है। असत् की सिद्धि तभी होती है, जब सत् होता है। असत् जो है, वह अभावरूप नहीं है। असत् जो है, वह परभाव का अभावरूप है। परभाव का अभाव निजभाव में होना असत् है। असत् नाम का कौन-सा द्रव्य है, यह पकड़ने में आ जाये, तो कितना सारा विकल्प समाप्त हो जाये। छः द्रव्यों का ही कथन है आगम में। वह छः द्रव्य सदरूप हैं कि असदरूप हैं? असद् नाम का द्रव्य कौन-सा है - आचार्य उमास्वामी से पूछ लीजिए- प्रभु! आपसे लेकर कुन्दकुन्द ही नहीं, वर्द्धमान तीर्थकर नहीं, आदिनाथ नहीं, अनादि से द्रव्य का लक्षण क्या है? सदद्रव्य लक्षणम्।

**द्ववं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्त संजुत्तं ।**

**गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥१०॥पंचास्तिकाय॥**

द्रव्य का लक्षण सत् है, असत् नहीं है। फिर स्यादस्ति, स्यादनास्ति भंग कैसे बनेगा? अस्ति सत्, नास्ति सत्, आप कह रहे हैं। द्रव्य का लक्षण सत् ही है। ध्रुव सत्य है, कि द्रव्य का लक्षण सत् ही है, असत् नाम का कोई द्रव्य नहीं है। फिर ये भंग कैसे बनेंगे? परचतुष्टय की अपेक्षा से असत्पना ग्रहण करना, भावरूप से किसी द्रव्य में असत्पना ग्रहण नहीं करना। यह लेखनी है, यह वस्त्र धोने वाली मुगरिया नहीं है। स्याद अस्ति सत् है कि नहीं? क्यों सत् है? लेखनी सत् है, पर मुंगरिया असत् है। पर-चतुष्टय का स्वचतुष्टय में अभाव इसका नाम सत् ग्रहण करना है। असत् का अर्थ द्रव्य का विनाश नहीं है आपमें असत्पना है कि नहीं? स्वभाव की अपेक्षा से असत्पना है कि नहीं? क्योंकि आपमें स्वभाव की अपेक्षा से आपमें ही आपका अभाव है। हे ज्ञानी! शुभ, अशुभ, शुद्ध तीन के उपयोग से तीन भेद जो अशुद्ध अवस्था

है, उसके वर्तमान पर्याय में सत्पना किसका है? अशुभोपयोग का। लेकिन असत्पना किसका है? शुभोपयोग का। जीव में ही होगा न? सत् का विनाश भी होता है, असत् का उत्पाद भी होता है। पर्यायदृष्टि से हमारी आत्मा में जो अशुभ परिणति रूप पर्याय थी, वह थी कि नहीं। इसे स्वीकारिये। कोई जीव अशुभोपयोग में बैठा है, तो उस जीव में अशुभोपयोग है कि नहीं? अशुभोपयोग जीव में है, कि शरीर की पर्याय में है? जीव में अशुभोपयोग है, वह जीव के ज्ञानगुण में चल रहा है, कि दर्शनगुण में? अभी मानेंगे। यथार्थ में आत्मा का परम ग्राहकभाव कोई गुण है, तो कौन-सा है? क्यों मुमुक्षु! आत्मा एक स्वभावी है कि अनेकस्वभावी है। आत्मा नाना गुण अपेक्षा अनेकस्वभावी है और एक गुण अपेक्षा एकस्वभावी है। जब एकस्वभावी आत्मा को कहेंगे, तो ज्ञानगुण की प्रधानता से कहेंगे। दर्शनगुण की प्रधानता से है क्या? नहीं। क्यों नहीं कहेंगे? आत्मा एकस्वभावी, आत्मा अनेकस्वभावी। अनेकस्वभावी में तो प्रश्न ही नहीं आता -

**नानाज्ञानस्वभावत्वादेकोऽनेकोऽपि नैव सः ।**

**चेतनैक स्वभावत्वादेकानेकात्मको भवेत् ॥६॥ स्वरूप संबोधन ॥**

आप एकगुणस्वभावी कहेंगे, तो एक कौन-सा मुख्य गुण है जो शेष गुणों को गौण कर देगा और स्वतंत्र रहेगा? श्रद्धा? श्रद्धा नहीं, क्यों कि श्रद्धा कभी ऊपर, कभी नीचे बदलती है। पहले एक बात स्पष्ट कर दूँ। ज्ञान में सम्यक्पना या मिथ्यापना श्रद्धा करती है। श्रद्धा गुण नहीं है, वो मिथ्यात्व सम्पन्न रूप परिणति बदलती है। फिर कौनसा गुण लें? परमागम कहता है कि ज्ञानस्वरूप आत्मा। ऐसा कहना, परम भाव ग्राहक द्रव्यार्थिक नय का विषय है, क्योंकि इसमें जीव के अनेक स्वभावों में से ज्ञान नामक परमभाव को ही ग्रहण किया गया है। तो कौन है ज्ञान? मैं ज्ञान पूछ रहा हूँ, आप सम्यक्ज्ञान की बात कर रहे हैं। कारण-कार्य विधान कर रहे हो, सम्यक् कारण है। ज्ञान कार्य है। किसके लिए? सम्यक्ज्ञान के लिए, पर ये सम्यक्ज्ञान हुआ किसमें हैं? चेतन में, कि अचेतन में? चेतन में। वह चेतन ज्ञानशून्य होता है, कि अशून्य है? कोई भी चेतन ऐसा नहीं होता जिसमें ज्ञान न हो। सम्यक्-दर्शन-ज्ञान तो होता है, पर ज्ञान तो रहता ही है। इसलिए सिद्ध शाश्वत नहीं होते। मुझे सिद्ध से प्रयोजन नहीं है, सिद्ध होंगे, निगोदिया ह्ये होंगे, मुझे जीवद्रव्य से प्रयोजन है। वह न कभी होता है, न होगा। वह तो है ही। सिद्ध तो पर्याय है, असिद्ध पर्याय है, परन्तु जीवद्रव्य है ही।

अब सुनो आपकी भाषा में। आयाराम, गयाराम आत्माराम, शाश्वतराम, बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा ये किसकी दशा है? आत्मा की। आत्मा की विभाव पर्याय है, किसकी है, ये कौन सा सम्बन्ध चल रहा है, किसकी है, शुद्ध है, अशुद्ध है, बहिरात्मा है, अन्तरात्मा है, ये परमात्मा है ये कौन है? आत्मा है, यानि बहिरात्मा शाश्वत नहीं है, तो अन्तरात्मा भी शाश्वत नहीं है। परमात्मा भी त्रैकालिक नहीं है। बहिरात्मापन त्रैकालिक है, तो अन्तरात्मा कैसे बनेगा, और अन्तरात्मपन त्रैकालिक है, तो परमात्मा कैसे बनेगा? परमात्मा त्रैकालिक है तो बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा हुआ कौन था? तत्त्व का चिंतन करना पड़ेगा। इसलिए जो बदल रहे हैं, वे त्रैकालिक नहीं हैं। जो जिसमें बदलते हों, वो त्रैकालिक हैं। उत्पाद त्रैकालिक नहीं, व्यय त्रैकालिक नहीं। जिसमें उत्पाद, व्यय हो रहा है, वह ध्रौव्य त्रैकालिक है। वह ध्रौव्य है और ध्रौव्य द्रव्य है। इसलिए आज तक मैंने सत्य कभी नहीं कहा। जब भी कहता हूँ, तो ध्रौव्य सत्य है, ऐसा कहता हूँ। इतना कथन करने का उद्देश्य मेरा क्या था। आत्माज्ञान स्वभावी है, आत्मा दर्शन स्वभावी है, पर एक गहरी बात है, आप पकड़ते नहीं हो। 'धवल' की पहली पुस्तक में जो दर्शन है वह "चित् ज्योति प्रकाश है" चित्

ज्योति स्वरूप है। विषय-विषयी का सन्निपात वह दर्शन है। यहाँ दर्शन का मतलब सम्यक्दर्शन नहीं पकड़ना, क्योंकि सम्यक्दर्शन जीव का लक्षण नहीं है। यदि सम्यक्दर्शन जीव का लक्षण हो जायेगा। तो मिथ्यादृष्टि अजीव हो जायेगा, तो मिथ्यादृष्टि जीव का लक्षण कर दो। यदि मिथ्यादृष्टि जीव का लक्षण करोगे तो अनन्तानंत सिद्ध और क्षायिक क्षायोपशमिक सम्पूर्ण सम्यग्दृष्टि अजीव हो जायेंगे। इसलिए सम्यक् दर्शन जीव का लक्षण नहीं, सम्यक्ज्ञान भी जीव का लक्षण नहीं। जीव का लक्षण चिद्प्रकाश दर्शन-ज्ञान मात्र है। "चैतन्य लक्षणो जीव"। आचार्य ऐसे नहीं थे जो चिंतन न करते हों। वे जीव का लक्षण सम्यक् दर्शन लिख सकते थे। सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्ष का मार्ग तो है, लेकिन जीव का लक्षण नहीं है। जीव का लक्षण जब भी करना, तो मात्र "चेतना लक्षणो जीव"। 'सवार्थसिद्धि' का सूत्र है यह। आचार्य कुन्दकुन्द से पूछना नेमिघ्नद्र सिद्धांतचक्रवर्ती से पूछना। वे कहेंगे, "उपयोगोलक्षणम्"। चेतना ही उपयोग है, उपयोग ही चेतना है - "चैतन्यानुविधायी परिणामो उपयोगः"। अन्तरंग व बहिरंग के निमित्त जो चैतन्य लक्षण है, वह उपयोग है। आत्मा में कोई विशेष गुण है, वह ज्ञान है। परमभाव ग्राहक गुण है, ज्ञायकभाव है। अब जो सिद्धांत शास्त्रों में लिखा है कि, 'चेतना लक्षणो जीव, तत्र ज्ञानदर्शन, इसे तोड़ मत देना। ज्ञान-दर्शन गुण ही आत्मा का लक्षण है। जब हम 'परमभाव ग्राहक' शब्द का प्रयोग करते हैं तो ज्ञान ही बचता है। दर्शन कहाँ गया? गौण नहीं किया। ये पेन आप जान रहे हैं कि देख रहे हैं? ये पेन है। ये आपने देखा और जाना। लेकिन किसी ने कहा कि पेन है, तो आपने जाना कि नहीं? जानो, फिर भी देखते है? अचक्षुदर्शन एवं चक्षुदर्शन का विषय बन गया। मन किसका विषय बनता है? अचक्षु दर्शन। विषय-विषयी का सन्निपात दर्शन में होता है। पहले दर्शन, अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा। जो विषय-विषयी का सन्निपात था वह जान ही तो रहा था, वह सामान्य प्रतिभास है। वह कौन-सी वस्तु का है? निर्णय नहीं है न, लेकिन है कि नहीं? आपकी सभी बात समझ रहा हूँ, आप डर क्यों रहे है? आप इसलिए डर रहे हो न, कहीं महाराज दर्शन उपयोग का अभाव तो नहीं करने वाले है। मैं दर्शन उपयोग का अभाव नहीं कर रहा हूँ, किंचित भी नहीं, क्योंकि महासत्ता का ग्रहण दर्शन है। महासत्ता, अवान्तरसत्ता। महासत्ता को ग्रहण करता है दर्शन, अवान्तरसत्ता को ग्रहण करता है ज्ञान। ये सब हैं आत्मा में। परमभाव ग्राहक जो जीव का धर्म है, उसमें दर्शन है, वह भी ज्ञान ही है। आप कहेंगे कि शंकर दोष हो जायेगा। दो गुण को मिश्र नहीं करना। मिश्र कर दोगे तो शंकर दोष आ जायेगा। लेकिन वस्तु के स्वभाव की प्रधानता से कथन करोगे, तो दर्शन शामिल हो जायेगा। फिर से एक प्रश्न है। घृत भिन्न है, दुग्ध भिन्न है, मक्खन भिन्न है, लेकिन मक्खन और घृत में दूरियाँ कितनी हैं? दूरियाँ न होती, तो दो संज्ञायें क्यों? दूरियाँ ही हैं, तो मक्खन से घृत क्यों? अंतर है। एक में स्वच्छता/निर्मलता है, दूसरे में मलीनता है। ज्ञान जो है, विशद् दर्शन प्रकाश है। लेकिन अवस्था वह आत्मा की ही है। दर्शन जो है, वही आत्मा की अनुभूति है, आत्मग्राही दर्शन। 'द्रव्यसंग्रह' में कहा है।

सत् ही द्रव्य का लक्षण है, असत् द्रव्य का लक्षण नहीं है। पर चतुष्टय की अपेक्षा असत् है, स्वचतुष्टय की अपेक्षा सत् ही होता है। सत् का विनाश, असत् का उत्पाद भी होता है। वही द्रव्यदृष्टि है। सत् का विनाश, असत् का उत्पाद नहीं होगा, तो आप कूटस्थ हो जाओगे, कूटस्थ नित्य हो जाओगे। पर्यायदृष्टि से जो वर्तमान मेरी मनुष्य पर्याय है, वह सत् दिख रही है। इसका विनाश हुए बिना देव पर्याय मिलेगी नहीं। एक द्रव्य में दो पर्याय उत्पन्न नहीं होती। आपमें वर्तमान में सिद्धपर्याय है क्या? आप वर्तमान में संसारी पर्याय में नहीं हो क्या? तो इसका विनाश होगा कि नहीं? सिद्ध का उत्पाद होगा कि नहीं, आपकी

वर्तमान में सिद्ध पर्याय असत् रूप है और मनुष्य पर्याय सत् रूप है। ये सत् रूप पर्याय का विनाश होगा, तभी असत् रूप पर्याय आपको प्राप्त होगी, समझ गये न ? आप मनुष्य हो, तो नष्ट होंगे कि नहीं? दूसरी पर्याय में जायेगा, वह दिख रही है क्या ? नहीं दिख रही। तो असत् रूप है कि नहीं ? और तू सत् है कि नहीं ? तेरा विनाश होगा कि नहीं? सत् का विनाश हो जायेगा, असत् का उत्पाद हो जायेगा, तू धौव्य रहेगा। यह जैनदर्शन है। केवली के ज्ञान में भी सद्-असदपना होता है, नहीं तो कूटस्थ हो जायेगा। जैसा है, वैसा जानते हैं। ज्ञान तो त्रैकालिक रहता है, पर निर्णय करने की ताकत आपके मेधा में होती है और मेधा जो है, वह आयुर्वेद का विषय है।

मस्तिष्क में मस्तिष्क होता है एक अंजली प्रमाण। मस्तिष्क तरल द्रव्य है और ब्रेन हेमरेज यानी मस्तिष्क कटकर रक्त प्रवाह सूख गया, नशें चिपक गईं। वह सूखता कब है ? जब व्यक्ति को दूध पीने को न मिले, क्योंकि शरीर को कैल्शियम चाहिए। वह हड्डियों से लेता है, तो हड्डी दुबली होती है। ऐसे ही शरीर को वीर्य चाहिए और व्यक्ति वीर्य का नाश कर बैठता है, तो वह उपयोग मस्तिष्क से लेता है और मस्तिष्क सूख गया तो गये काम से। जीते रहो आयु कर्म से, लेकिन समझने समझाने वाला गया। मस्तिष्क नाम का तरल द्रव्य है, उसे मत सुखाना। उपचार बताऊँ ? मनुष्य का मस्तिष्क है नारियल के आकार का होता है। मस्तिष्क सूखे तो नारियल का पानी पिलाओ, मस्तिष्क से मस्तिष्क बनेगा।

बहुत गंभीर है जैनागम। हमारे यहाँ जैन समाज करोड़पति, अरबपति है, लेकिन हमारे जैनागम के रहस्यों को उद्घाटित करने के लिए खर्च नहीं करते, बाकि कामों के लिए करते हैं। जैसे आज वैदिक दर्शन के विज्ञान की खोज कर रहे हैं, लेकिन आपके यहाँ मैं कह देता हूँ, आप सुन लेते हो। लेकिन, अहो श्रावको ! यहाँ से रिसर्च (अनुसंधान) कराई जाये, तो सारे विश्व में जैनत्व छा जाये। जितना सार भरा है, द्रव्यानुयोग में भरा है, और करणानुयोग में तात्त्विक तत्त्व भरे हैं। पर द्रव्यानुयोग व करणानुयोग बिना चरणानुयोग के होता नहीं है। प्रथमानुयोग तो इसलिए है, कि ऐसा किसने किया ? विश्वास दिलाने के लिए प्रथमानुयोग होता है। रहस्यों की बात दो अनुयोग करते हैं, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग। जिस दिन जैनदर्शन से द्रव्यानुयोग का पक्ष हटा दोगे न, उस दिन जैनदर्शन के पास कुछ भी नहीं बचेगा। आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि न खुली होती और वे द्वितीय श्रुतस्कन्ध का उल्लेख न करते, तो आज दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों ही आम्नाओं में कुछ भी नहीं होता। एक पक्ष का ही अभाव था। आचार्यों ने सिद्धान्त लिखा है। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने द्रव्य के स्वरूप का व्याख्यान किया एवं आचार्य स्वामी, पुष्पदन्त, भूतवलि आदि ने करणानुयोग, सिद्धान्तशास्त्र का व्याख्यान किया है एवं सिद्धि की है। इसलिए दोनों ही आचार्यों की लेखनी उपादेय है, दोनों ही चाहिए। टीका की गाथा को पढ़ना ही नहीं, रटना भी है और चिन्तन करना है -

**जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह ।**

**एककेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उणतच्चं ॥**

यह क्षेपकगाथा है, कलश नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द आचार्य अमृतचन्द्र की भी नहीं है। परम्परा में चली आ रही है। द्रव्यसंग्रह, पंचसंग्रह में यह लिखी नहीं गई। यह भगवान् महावीर स्वामी, गौतम स्वामी की परम्परा से चली आ रही है। जैसे-

**धम्मो मंगल मुक्किद्धं अहिंसा संयमो तवो ।**

**देवा वितं णमस्संति जस्स धम्मो सया मणो ॥८ वीर भक्ति ॥**

यह दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों के यहाँ है। उत्कृष्ट मंगल कोई है तो वह धर्म है। जो कैसा है? अहिंसा संयम, तपरूप है। उस धर्म को देव भी नमस्कार करते हैं। ऐसे धर्म को सदा मानो। यह सभी जगह मिलेगी। अगर आप दिगम्बर आचार्य की मानते हो तो श्वेताम्बर के यहाँ नहीं होती। यह परम्परा से चली आ रही है। द्रव्यसंग्रह की गाथाएँ दोनों आम्नाय में है। मूल तो छब्बीस गाथाएँ हैं, बाद में शेष लिखी गई है।

यदि जिनदेव के शासन में आप दीक्षित हुए हैं, तो मत करना ऐसा। न व्यवहार को छोड़ना, न निश्चय को छोड़ना। व्यवहाराभासी कहते हैं कि निश्चय को छोड़ो, निश्चयाभासी कहते हैं कि व्यवहार को छोड़ो। दोनों मिथ्यादृष्टि हैं। सम्यग्दृष्टि कहेगा कि साध्य-साधन भाव है। आप निश्चय वाले, कि व्यवहार वाले? दोनों वाले हो। तो क्या उभयाभासी हो? नहीं। न मैं एकांत से व्यवहार को मानता हूँ, न एकान्त से निश्चय को मानता हूँ। हम तो साध्य-साधन भाव मानते हैं। न निश्चय मोक्षमार्ग बनेगा, न व्यवहार मोक्षमार्ग बनेगा। निश्चय व व्यवहार रत्नत्रय मोक्षमार्ग है, नय मोक्षमार्ग नहीं है। इसलिए दोनों स्वीकारो। गाथा कह रही है, कि यदि जिनशासन में दीक्षित हो तो, निश्चय व व्यवहार को मत छोड़िये। आदेश कर रहे हैं। यदि व्यवहार को नहीं जानता है, तो तीर्थ का छेद करता है, यानी महावीर का तीर्थ गया तेरे हाथ से। 'पुरुषार्थसिद्धि उपाय' में भी यही गाथा है। उससे व्यवहार तीर्थ का नाश हो जायेगा। निश्चय को नहीं मानोगे, तो तत्त्व का नाश हो जायेगा। क्योंकि निश्चय 'तत्त्व' की बात करता है, व्यवहार 'तीर्थ' की बात करता है। यदि इनमें से एक को भी भंग कर दोगे, तो आप जैनशासन में दीक्षित नहीं हो। चाहे निश्चय कथन हो, चाहे व्यवहार कथन हो, पर दोनों कथन किये जाते हैं, वे व्यवहार से ही किये जाते हैं। जो भी कथन होगा, व्यवहार से होगा। भाषा में भिन्नत्व है, वस्तु में भिन्नत्व नहीं है। अन्यथा मंदिर, धर्मशाला, स्वाध्यायभवन बनवाना पाठशाला चलाना, ग्रंथ प्रकाशित करना, ये सब मिथ्या हो जायेंगे। क्योंकि व्यवहार तो मानते ही नहीं हो। तब क्या बचा आपके पास? कुछ भी नहीं बचेगा। फिर किसकी वंदना, कौन वंदनीय, क्यों झगड़ते हो, हमें आदिनाथ के पास जाना है, सम्मेदशिखर जाना है? कहाँ भटकते हो? चैतन्य तीर्थ में लीन हो जाओ। ज्ञानी! आप विकल्प मत करो इस ग्रंथ में एक-एक ग्रन्थि को खोला है।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

५ ५ ५

आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द परम तत्त्व का व्याख्यान कर रहे हैं। तत्त्व में विपर्यास नहीं होता, विश्वास रखना। तत्त्व का विपर्यास आप कर नहीं पायेंगे। तत्त्व का विपर्यास तुम्हारी दृष्टि में होता है, तत्त्व का विपर्यास वस्तु में किंचित भी नहीं होता। समझना है, बहुत गहरा शब्द है। तत्त्व विपर्यास वस्तु में किंचित भी नहीं होता, वस्तु स्वतंत्र ही है। तत्त्व विपर्यास तेरी दृष्टि में होता है। तत्त्व को नहीं बदला जाता, पर तू अपनी दृष्टि को विपरीत करके अपना ही अहित कर लेगा। तत्त्व के स्वरूप को विपरीत कहने से तत्त्व विपरीत नहीं हो जाता। क्यों, ज्ञानी! तू बेटा है न? यदि पिता की दृष्टि से तू बेटा है और आपके पिता आपको पिता कहने लग जायें, तो क्या आप पिता के पिता हो जायेंगे? जगत में हँसी ही करा पाओगे, उपहास ही करा पाओगे, कि कैसा अज्ञानी जीव है जो अपने आपको अपने पिता का पिता कहता है। लेकिन संबंध तो नहीं बदल जायेगा, संज्ञा से वस्तु का स्वभाव बदलता होता, तब पता नहीं आज वस्तु का क्या होता। यदि संज्ञा से गुण आते, अगर संज्ञा से स्वभाव बदलता होता, तो जो अपने भवन का नाम अरहंत रखे है, तो वह भवन अरहंत

हो जाता। अग्नि को कोई शीतल कहने लग जाये, तो अग्नि शीतल नहीं हो जाती। ऐसे ही अरहंत को, सर्वज्ञ को कोई जीव असर्वज्ञ कहने लग जाये, तो वे असर्वज्ञ नहीं हो जाते। निर्ग्रन्थ का अभाव करने लग जावें, तो निर्ग्रन्थ का अभाव नहीं होता, और ग्रंथवाला निर्ग्रन्थ नहीं हो जाता। समझ में आ रहा है? संज्ञा से वस्तु का स्वभाव नहीं बदलता, वस्तु को समझने के लिए संज्ञा दी जाती है। एक-एक शब्द पर ध्यान दो। वस्तु को समझने के लिए, व्यवहार चलाने के लिए संज्ञा दी जाती है, परन्तु संज्ञा से वस्तु नहीं बदलती। जब तुमने जन्म लिया था, तब नाम रखा था, कि जन्म के साथ नाम आया था? माता-पिता ने दिया था। अहो! राग की दशा तो देखो, जनक-जननी के द्वारा दी गई संज्ञा इतनी घुल-मिल गई है कि यदि कोई तुम्हारे नाम को कुछ कह दे, तो आँखें लाल-पीली हो जाती हैं और किसी ने तुम्हारे नाम की प्रशंसा कर दी, तो प्रसन्न हो जाता है।

ओहो! पुद्गल की पर्याय से पुद्गल की पर्याय का संज्ञान लेने पर संज्ञानी भ्रमित हो रहा है। आपको समझ में आ रहा है, जो मैं कह रहा हूँ? जब तक संज्ञा का संज्ञान समाप्त नहीं हुआ अन्दर से, तब तक संज्ञानी नहीं बन पायेगा निश्चय से। जिस दिन पर्याय की संज्ञा का निज में विलोप हो जाता है, उस दिन परमध्यान लगना प्रारंभ हो जाता है। उदाहरण के लिए, जैसे आप कहीं बाहर गये और वहाँ पर आपके नगर का कोई मिल जाये, तो मन में एक धारा बहने लगी, अरे! मेरे नगर का है। शीघ्र ही धारा बहती है। पृथ्वी के प्रदेशों में परमाणु-परमाणु स्वतंत्र हैं, पर राग परमाणु कितना विशाल है। पृथ्वी का परमाणु आँखों के सामने नहीं है। राग का परमाणु आँखों से दिख भी नहीं रहा है, फिर भी राग परमाणु झलक गया, जिसने वीतराग भाव को हटा दिया।

आप परम ध्रुव सत्य समझना, यह जो व्याख्या चल रही है, वह मुनिराज की व्याख्या नहीं चल रही है, यह मुनिभावों की व्याख्या चल रही है। मुनिवेश की व्याख्या नहीं है, मुनिभाव की व्याख्या है। पुनः एक प्रश्न। सोने की घड़ी में सोने के पैसे ज्यादा हैं, कि घड़ी के काँटे की कीमत? समय कौन बताता है? घड़ी। ये शरीर एक कवच है, इसमें भगवती आत्मा मशीन है, रत्नत्रय तीन काँटे हैं। शुद्धात्म तत्त्व एक मशीन है, विश्वास रखना, इनके बिना वह होती नहीं है। पर इनसे नहीं चलती, चलती तो वह मशीन से ही है। इसी प्रकार से जिनमुद्रा तो कवच है, जिनमुद्रा में जो शुभाशुभ परिणति है, वह आत्मा की दशा है। शुद्ध निर्मल तो एक ज्ञायकभाव है, वही मात्र मुनि का स्वभाव है। बस, यह व्याख्या करने का उद्देश्य समझना, जब आप मुनिराज बनेंगे, तो वेश के मुनि कभी भी बन सकते हो, पर ध्यान में रखना भावमुनि बन पायेंगे, कि नहीं। जंगल में रहना भी सरल है। हम लोगों ने रहकर देख लिया।

श्रेयांसगिरि पर्वत शुद्ध जंगल है। शायद कोई और हो, मुझे तो ऐसा लगता है, उत्तर से दक्षिण में मैंने देखा, कि इतना सुन्दर जंगल कहीं नहीं मिला। सब जगह बस्तियाँ बन गईं, व्ही.आई.पी. कमरे हो गये, पर श्रेयांसगिरि ऐसा क्षेत्र है जहाँ अभी भी प्राकृतिकता है। जब वहाँ आचार्य महाराज के साथ चातुर्मास किया था, वे दिन कैसे थे? वहाँ पाटा नहीं थे, पर्वत की शुद्ध चट्टानें ही साधुओं के बैठने के आसन थे। और यह चौकी कहाँ दिखती थी? वहाँ बस हम लोग क्या करते थे कि पत्थर पर पत्थर रखा और उस पर ग्रन्थ विराजमान कर लेते थे। सन् १९९१ में अलमारी कौन-सी थी? जो पर्वत की गुफाएँ थीं, उनमें ही मार्जन करके ग्रन्थ रख देते थे, और पत्थर से ढाँक देते थे। एक दिन हम दोनों सामायिक कर रहे थे, ऐसा मूसलाधार पानी गिरा वहाँ



पर, कोई स्थान ही नहीं था। आचार्य महाराज जहाँ विराजते थे, उनके ही नीचे मैं बैठता था। उनके ऊपर से पानी आ रहा था, वही पानी मेरे ऊपर आ रहा था। आनंद अलौकिक था। विचार कर रहे थे, कि भगवान् पार्श्वनाथ पर कैसे पानी गिरा था। उस प्रकृति के परिणामन को देख रहा था, प्रकृति का रूप प्रकृतिभाव से।

तीन प्रकृति पर ध्यान दो। एक वातावरण की प्राथमिकता, एक दिग्म्बर मुद्रा। कपड़े का वेष प्रकृति नहीं है, विकृति है। जैसा है वैसा ही रहना ये है प्रकृति का रूप, उसका नाम है दिग्म्बर मुद्रा। ये दो तो मिल जायें, परन्तु परिणामों की प्रकृति मिल जाये, तो तुम्हारी दुर्गति बच जायेगी नियम से। दुर्गति नहीं होगी, द्रुतगति होगी, शीघ्र गमन होगा। शिवत्व की ओर। सम्यक्दृष्टि जीव कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। उसकी द्रुतगति होती है सिद्धालय की ओर। किंचित भी सहजभाव में परीक्षा करना अपनी-अपनी, अब किसी से पूछना नहीं। सहजभाव से परिणामों में परतंत्रता आ रही है तो, विश्वास रखना, आपके अशुभ आयु का बंध हो गया। सहजभाव से मुस्करा रहा है, बगल में किसी के प्रति अशुभ भाव नहीं आ रहा है, तो उसका शुभ आयु का बंध है। और जिसके परिणाम चौबीस घंटे कलुषित रहते हैं, समझ लेना कि खोटी गति का बंध हो गया। संशय नहीं है। हे ज्ञानी ! गूढगर्भ भी रह जाये, उदर बताये या न बताये, पर अधर बता ही देंगे कि गर्भ है। समझनेवाला चाहिए। बहुत सारे रोगों का परीक्षण ओठों से होता है। दुर्गति का बन्ध हुआ है, सुगति का बन्ध हुआ है किसी का मुख बताये या न बताये, पर आपकी मुखाकृति बताती है, कि तेरा गमन कहाँ होने वाला है।

पंचमकाल में साधना जीवन्त रह सकती है, यदि साधु संग में रह कर, ऐसे ही तत्त्व चिन्तन होता रहेगा तो, अन्यथा मन चंचल है, कब भ्रमित होगा पता नहीं और ये जिनमुद्रा की अनुभूतियाँ हैं, वे नहीं मिलेंगी, जीवन तो निकल जायेगा। विश्वास रखना, एक मुनिराज चाहे तंत्र मंत्र करे, तब लकड़ी का होम तो हो जायेगा, पर कर्मों का होम नहीं होगा। इसलिए वीतराग जिनत्व की अनुभूति होती है जिनयोगियों को, तंत्र-मंत्र-जादू-टोने से बचकर इस आत्मा की रक्षा करें।

हे मुमुक्षु ! संज्ञा ही संज्ञान का नाश कराती है। व्यक्ति सोचता है कि भवन पर भी नाम लिखा जाये तो मेरा ही लिखा जाये। शब्द भिन्न थे, तू भिन्न था, भवन भिन्न था, पर तू अभिन्न को भूलकर भिन्नों में अभिन्नत्व को खोज रहा था। इसी का नाम बहिरात्मभाव है। क्योंकि परिणति कहाँ जा रही है ? पर्यायों में या पर्यायी में। राग ही तो पर्यायी को खोखला कर रहा है। जब कोई अपना वंशात्मक नाम ले, तो आनंद आता है।

हे मुमुक्षु ! अष्टाईस मूलगुणों का निर्दोष पालन करने पर भी संज्ञा का राग तिर्यञ्च बना देता है। जो मृदुमति नाम के मुनिराज थे न, उनके द्रव्यमूलगुणों में कोई कमी नहीं थी, चतुर्थ काल का जीव था, लेकिन एक क्षण को क्या भाव आ गये कि नाम बता दूँगा तो लोग मेरी पूजा नहीं करेंगे। ये संज्ञा के राग ने संज्ञान खो दिया। ऐसा राग बना कि मायाचारी में ढकेल दिया कि वह त्रैलोक्य मंडन नाम का हाथी हुआ। बिना प्रमाण के अपन को कुछ नहीं कहना। पर ध्यान दो, यहाँ एक बात और ध्यान देना, संयम किसी भी पर्याय में स्वीकार किया जाये, वह व्यर्थ नहीं जाता। एक दिन को भी संयम लिया है, वह व्यर्थ नहीं जाता। फिर तिर्यच कैसे बन गये, तिर्यञ्च संयम से नहीं बने। संयम में कुभाव-भाव कर लिए, इसलिए बन गये। पर संयम का प्रभाव देखो, जब वह हाथी मुनि को देखता है, तो उसे जातिस्मरण हो जाता है, कि मैं मुनि था। उसने

भोजन छोड़ दिया। इसलिए भ्रम निकाल देना कि संयम से कुछ नहीं होता है। भले आपने संयम में पहले दोष भी लगा लिए, लेकिन जब तुम्हारी दुर्गति हो जायेगी, तब वही संयम कहेगा, कि संयम में खोटा भाव किया था, उसका परिणाम ऐसा हो गया, अब ऐसा नहीं करना।

मेंढ़क आर्त्तध्यान से मरण को प्राप्त हुआ, पर उसकी सामायिक काम में आई कि नहीं? मैं क्या कह रहा हूँ? परिणाम न भी लग रहे हों, पर धारण कर लिया है तो छोड़ना मत। आज छोटे-छोटे बालक संयम धारण कर रहे हैं, क्यों? वह पूर्व के संस्कार स्पर्श कर रहे हैं, कि मुझे साधु बनना है। खड़ा द्रव्य मुख में आने से मुख खड़ा होने लगता है। खड़ी वस्तु को देखकर किसी के दूर से ही दाँत खड़े हो जाते हैं। परन्तु परभावों को देखकर क्यों खड़े हो रहे हो? आगम क्या कह रहा है? (१) दृष्ट (२) श्रुत (३) अनुभूत, इन्हीं विषयों के द्वारा जीव संसार में भ्रमण कर रहा है।

पृथ्वी निर्विकार है, गगन भी निर्विकार है, पर विकार तो आसपास दीवारों पर है। विकार के साथ जाओगे तो नीचे और निर्विकार जाओगे तो ऊपर जाओगे। शुद्ध विकार में जाओ तो शुद्ध निगोदिया बनो और शुद्ध निर्विकार में जाओ तो सिद्ध बनो। ऊपर जाना है तो विचारों का भी विचार छोड़ दो। यह है स्याद्वाद शैली और स्याद्वाद के अभाव में जो समस्यार की व्याख्या करेगा, वह स्वपर वैरी है।

### कुशलाकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित् ।

आचार्य-भगवान् अमृतचन्द्र स्वामी बड़ी सहजभाषा में कह रहे हैं, नय-नय को लेकर विकल्प करने वाले के नय पक्ष को छोड़े बिना विकल्पातीत होना कभी संभव नहीं है और ध्रुव सत्य यह है, कि जगत का जीव नयार्थ को गौण करके एकान्त से नय को पकड़ हुये है। अज्ञ प्राणियों ने नयार्थ को न समझते हुए नय को पकड़ लिया है। नयार्थ कहता था, कि अमुक अर्थ के प्रयोजन से प्रयोग किया जाता हूँ। जैसे कि निश्चयनय। यह तो भाषा है, पर निश्चयनय का प्रयोजन क्या है, नयार्थ क्या है? वस्तु के भूतार्थ स्वरूप को समझना, यह निश्चयनय का अर्थ था। व्यवहारनय का अर्थ क्या था? वस्तु की व्यवस्था को भेदरूप में समझना। परन्तु हो उल्टा गया। नयार्थ पर ध्यान गया नहीं, नय पर ध्यान चला गया। स्वरूप और नय मात्र को लेकर, विकल्पों में आकर कि हम निश्चय वाले हैं, हम व्यवहार वाले हैं, विवाद में चला गया, नयार्थ में नहीं गया। नयार्थ का नया अर्थ कर बैठा, कि मैं अमुकवाला हूँ। लेकिन नयार्थ का अर्थ अमुकवाला नहीं था। नयार्थ का अर्थ था अभेद अर्थ को जानना, भेद अर्थ को जानना। स्त्री, पुरुष, नंपुसक भेद अर्थ को कह रहा है। पुरुष आत्मा अभेद अर्थ है। स्त्री है, उसमें भी आत्मा है। 'कहना' शब्द जब-तक जुड़ा है, तब-तक नयार्थ है और 'कहना' समाप्त हो जाये, तो वस्तु वस्तु है। निश्चय स्वरूप की अनुभूति अवक्तव्य है, पर निश्चय स्वरूप अवक्तव्य नहीं है यह भी ध्यान रखना। यदि निश्चय स्वरूप अवक्तव्य हो जायेगा, तो 'आत्मप्रवाद पूर्व' का अभाव हो जायेगा। जो निश्चयस्वरूप है, वह वक्तव्य है, और जो व्यवहारस्वरूप है, वह वक्तव्य है। अनुभूतियाँ दोनों की अवक्तव्य हैं। यदि दोनों को व्यवहार की कह दोगे तो दोनों की भाषा एक हो जावेगी जबकि दोनों की भाषा भिन्न-भिन्न है, दोनों के भाव भिन्न-भिन्न हैं, पर दोनों का प्रयोग व्यवहार से है, फिर भी अभिप्राय निश्चय का है, और व्यवहार का है। कथन जो भी चलेगा, वह द्वैतरूप में मुख्यता व गौणता से चलेगा। अनुभूति इन्द्रियों की होगी, तो द्वैत होगी और स्वात्मा की होगी, तो अद्वैत होगी। इन्द्रियों का वेदन द्वैत है, स्वाद जिसका लिया जा रहा है और लेने वाला, यह द्वैत भाव है, परन्तु स्वादानुभूति

जो है, वह अपने आप में अद्वैत है। इसलिए अनुभूति अवक्तव्य है, वक्तव्य-अवक्तव्य नहीं है। वक्तव्य - अवक्तव्य हो जायेगा, तो वक्तव्य नहीं होगा। अवक्तव्य जो भंग है वह भी वक्तव्य है। किससे ? अवक्तव्य से। स्याद अवक्तव्या अवक्तव्य भी अस्ति है, वक्तव्य भी अस्ति है। यदि अवक्तव्य में नास्ति है। तो वक्तव्य भी नास्ति है।

‘प्रवचनसार’ जी का द्वितीय अधिकार प्रज्ञा को बहुत पैनी करने वाला है। ‘प्रवचनसार’ का ज्ञेय अधिकार विद्वानों के लिए परम उपादेयभूत है प्रज्ञा की प्रशस्ता के लिए। तत्त्व का नैयायिक दृष्टि से कैसे कथन किया जाये, तो ‘प्रवचनसार’ जी का ज्ञेय अधिकार है। इसलिए -

**नाऽवक्तव्यः स्वरूपाद्यैर्निर्वाच्यः परभावतः ।**

**तस्मान्नेकान्ततो वाच्यो नापि वाचामगोचरः ॥७ स्वरूप संबोधन ॥**

स्वरूप आदि की अपेक्षा से द्रव्य अवक्तव्य नहीं है। स्वरूप स्वचतुष्टय से आत्मा अवक्तव्य नहीं है। पररूप चतुष्टय से वक्तव्य नहीं है, अवक्तव्य है। इसलिए अनेकान्त से बोलना चाहिए। आत्मा स्यादवक्तव्य, स्यादवक्तव्य है।

जब-तक कदम न रखा जाये, तब-तक पर का हस्तावलम्बन लेते रहना। स्व का पाद स्थिर हो जाये, तो पर का पाद छोड़ देना। जब तक निश्चय में स्थिरता नहीं आती, तब तक व्यवहार का आलम्बन लेना। जब निश्चय में स्थिरता आ जाये, तो अपने में स्थिर हो जाना, तब व्यवहार छूट ही जायेगा।

अब पूज्यपाद स्वामी की भाषा में कहें। सबसे पहले ज्ञानी बनने की बात नहीं करना। ज्ञानी नहीं, पहले ब्रती बनना। क्योंकि अग्रतीपन से आश्रय होता है अधिक। लाभदृष्टि निहारिये, ज्ञानदृष्टि नहीं। मोक्षमार्गी तत्त्वज्ञान-दृष्टि तो देखता है, मोक्षमार्गी तत्त्वलाभ भी दृष्टि देखता है। पक्ष दोनों प्रबल हैं। मोक्षमार्गी यह नहीं देखता कि ज्ञान मेरा कितना बढ़ा है। मोक्षमार्गी यह देखता है कि आश्रय कितना कम हुआ। अब आपको बात भूतार्थ लग रही है। मोक्षमार्गी यह नहीं देखता, कि मेरी ऋद्धि कितनी बढ़ी। वह यह देखता है कि मेरी ऋद्धि कितनी कम हुई। वह यह नहीं देखता कि मेरी प्रसिद्धि कितनी हुई। मोक्षमार्गी यह देखता है कि मेरे कल्याण की सिद्धि कितनी हुई। आप लेखा-जोखा बनाते हो, तो उसमें लाभ-हानि देखते हो। जहाँ लाभ दिखता है, पुरुषार्थ वहाँ बढ़ता है। जहाँ हानि दिखती है, वहाँ का पुरुषार्थ कम हो जाता है। यदि हमारे ज्ञान से मद बढ़ रहा है, तो उस ज्ञान की चर्चा को गौण करके सामायिक को बढ़ायेगे। जिस चर्चा से विशुद्धि में कमी आ रही हो, उस चर्चा को शीघ्र विराम करना, और जिस चर्चा से विशुद्धि बढ़ रही है, उस चर्चा को आगे बढ़ाना, और जिस चर्चा से विशुद्धि घट रही है, उसे बीच में ही रोक देना।

हमारा आपसे विरोध नहीं है। मेरा लक्ष्य भिन्न है, आपका लक्ष्य भिन्न है। दो त्यागियों से चर्चा हुई। उनकी चर्चा भी उनके लायक थी। प्रश्न यही आया कि आप भी उस ओर कदम बढ़ाओ जमाने के अनुसार। एक ही उत्तर था आप जिस लक्ष्य को निर्धारित कर चुके हो, इसलिए आप लक्ष्य पर चलो। लक्ष्य के अनुसार सिद्धि करना तो ठीक है, पर स्वात्मोपलब्धि सिद्धि की दृष्टि है, तो मैं आपके लक्ष्य पर नहीं चल पाऊँगा। एक सज्जन आये, कहा कि मैं आपके नाम का तीर्थ बनाना चाहता हूँ। मैंने कहा कि तू मेरे नाम का तीर्थ बनायेगा तो वर्षों लग जायेंगे। पर मैं आज ही तीर्थ हूँ, तू क्यों बनाना चाहता है ? अन्दर का तीर्थ तो हमारा हमें ही दिखता है। आप बाहर का ही तीर्थ देखते हो। ये तन हमारा बाहर का तीर्थ है और चेतन हमारा अन्दर का तीर्थ है। मेरे पास दोनों तीर्थ हैं। आप बनाओगे, मैं देख पाऊँ या न देख पाऊँ। तो जो गुरु ने तीर्थ दिया

है, उसमें ही जी रहा हूँ। इसलिए आप बड़ी अनुकम्पा करना हमारे ऊपर कि मुझे इससे दूर रखना। क्योंकि जिस दिन मैं आप वाले तीर्थ में चला जाऊँगा, तब मैं समयसार की व्याख्या नहीं कर पाऊँगा। क्योंकि फिर उस बात को छिपाने के लिए मुझे समयसार की बात भी छिपानी पड़ेगी, नहीं कह पायेंगे। कारण कि एक समय में एक ही तीर्थ की रक्षा कर पायेंगे। जो बना रहे हैं, उनका विरोध नहीं करना, पर नये बनाने का विचार नहीं लाना। दोनों तीर्थ की रक्षा करो। व्यवहार तीर्थ भी अनिवार्य है, और निश्चय तीर्थ भी अनिवार्य है। जो व्यवहार की योग्यता रखते हैं, उन्हें व्यवहार तीर्थ बनाना ही चाहिए और जो निश्चय तीर्थ की योग्यता रखते हैं, उन्हें निश्चय तीर्थ में लगना ही चाहिए। इसलिए श्रावक व्यवहार से तीर्थ निर्माण का पात्र है, और साधु निश्चय तीर्थ के पात्र हैं। आगम क्या कह रहा है? आगम तो यही कहेगा कि व्यवहार तीर्थ की स्थापना श्रावक करे, निश्चय तीर्थ तो साधु होता ही है। यही कारण है कि निश्चय तीर्थ जहाँ पहुँच जाता है, वहाँ व्यवहार तीर्थ भी निश्चय तीर्थ बन जाता है।

### “जे गुरु चरण जहाँ धरे, जग में तीरथ होय”

पंचकल्याणक भूमियाँ निश्चय तीर्थ में प्रवर्तन करने वालों के द्वारा ही स्थापित हैं। स्थापित की नहीं थी, उनके निमित्त से स्थापित हो गई थी। बहुत गहरा है श्रुत। निश्चय, निश्चय है, व्यवहार, व्यवहार है। दोनों नय धर्म नहीं है, और दोनों नयों से रहित भी धर्म नहीं है। धर्म जो भी होगा, दोनों नयों से ही कहा जायेगा, पर दोनों नयों से कहने पर भी वह व्याख्येय है, धर्म नहीं है। धर्म तो धारण किया जाता है, धर्म कहा नहीं जाता है। जो कहा जाता है, वह धर्म का व्याख्यान होता है। लोगों ने व्याख्यान को धर्म मान लिया है, ये बहुत बड़ी कमी आ गई। आज जो नये विद्वानों में धर्म की पद्धति चली है, वह व्याख्यान/प्रवचन के नाम पर भाषण करनेवाली पद्धति है। सबसे खतरनाक कोई वस्तु है, तो वह है पुण्य, जिसके योग में जीव अशुभ कर्म कर निजात्मा को संसार पंक में फंसाकर दुःख को प्राप्त होता है। पुण्य पाप के उदय में साम्यभाव रखो।

ये विद्वानों की लाइन बैठी है, ये क्या कम विद्वान हैं? कम नहीं हैं। वाचना में पं. परमानंद जी शाहगढ़ थे, जो उच्च कोटि के विद्वान् थे, फिर भी बहुत ही सरल, सहज थे। ‘धवला’ जी की ८ वीं पुस्तक की वाचना चल रही थी, बाहर से विद्वानों को बुलाया गया, पर पं. परमानंद जी ने अपनी विद्वत्ता कभी नहीं बताई। वाचना शुरू हुई, पहले ही दिन जो बाहर के विद्वान् थे, वे टीका नहीं लगा पाये। धवला टीका कठिन पड़ती है। उसका नाम मुक्ताहार टीका है, मणियों के बीच में मुक्तामणि लगाया जाता है, तब वह सुंदर बनता है। ऐसे ही धवला टीका है। पूरी टीका प्राकृत में नहीं है, न संस्कृत में है। प्राकृत टीका में बीच-बीच में संस्कृत टीका है। इसलिए उसका नाम है मुक्ताहार टीका। अब जब जिस विद्वान् को बुलाया था, वे नहीं लगा पा रहे थे तब पं. परमानंद शास्त्री अपनी भाषा में कहते हैं, इनको हम देखे क्या। आचार्य श्री ने कहा- हाँ, पं. जी आप तो कर लेंगे, आइये न। जैसे ही पं. साहब को बैठाया, खटाखट पूरी टीका कर दी। फिर क्या था, पूरी वाचना उन्होंने की। उनसे कहा आप इतने बड़े विद्वान्, आपने बताया नहीं। उन्होंने कहा- हाँ, आचार्य श्री! मैंने न्याय, व्याकरण, नय, न्याय सब पढ़ा है, पर हमारी प्रकृति ऐसी है कि हम कह नहीं पाते। उन्होंने संस्कृत में छन्द लिखे हैं। ऐसे भी ज्ञानी जीव हैं, जिन्हें ज्ञान है, पर मान-सम्मान में पड़ते नहीं।

ऐसे भी ज्ञानी जीव हैं जिन्हें ज्ञान नहीं है, पर वक्तृत्वपना है, इसलिये लोक में छाये हैं, पर उनसे पूछना एक प्रश्न कोई गहरा, तो वह बता नहीं पायेंगे। आप अपनी उत्साह शक्ति को भंग मत करना। तत्त्व के विपर्यास का जो प्रशिक्षण चल रहा है, उसे आप भी चार विद्वानों में शुरू करो। कोई प्रचार की आवश्यकता

नहीं। सुगंध होती पुष्प में, तो वह चारों तरफ अपने आप फैलती है। पं. दौलतराम जी कौन-से कॉलेज में पढ़ने गये थे ? कौन से विद्यालय में आपने धर्म का अध्ययन किया ? अरे ! कपड़े बेचते-बेचते छहढाला बना लिया। आप कल्पना करो। गोपालदास बरैया मुंशी थे। उस जीव की रुचि बढ़ी तत्त्व के प्रति, तो उन्होंने विद्वानों की बड़ी लम्बी पंक्ति खड़ी कर दी। उनके विद्यालय से मक्खनलाल शास्त्री जैसे विद्वान् निकले। पर उनकी दृष्टि 'पंचाध्यायी' पर जाने से मुरैना-विद्वान्-परम्परा में, चतुर्थ गुणस्थान में स्वरूपाचरण चारित्र मानते हैं। अष्ट पाहुड में आ. कुन्दकुन्द सम्यक्त्वाचरण चारित्र कहते हैं। 'पंचाध्यायी' ऐसा ग्रंथ है, जिसमें अनंतानुबन्धी कषाय के अभाव में स्वरूपाचरण चारित्र लिखा है। पाँच प्रकार के चारित्र में स्वरूपाचरण कोई चारित्र नहीं है। (अधः करण रूप परिणाम काल में व ध्यान में श्रेणी आरोहणकर्ता जीव को स्वरूपाचरण अर्थात् स्वरूप में रमण होता है।)

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने 'प्रवचनसार' जी में "चारित्रं खलु धम्मो" सातवीं गाथा की टीका में जो साम्य का कथन किया है, उसको लेकर लोगों ने विपर्यास कर लिया। उन्होंने कहा - स्वरूपाचरण अर्थात् स्वरूप में आचरण करना, ये चारित्र है। लेकिन स्वतंत्ररूप से कोई स्वरूपाचरण नाम का चारित्र नहीं है। आ. जयसेन की टीका पठनीय है। सप्तम गुणस्थान से जो चारित्र है, वह सब स्वरूप में जाता है, स्वरूप में चरण है।

**"यों है सकल संयम चारित , सुनिये स्वरूपाचरण अब" ॥६/७ छहढाला ॥**

इस प्रकार से सकल संयम को कहा, यानी व्यवहार-चारित्र सराग संयम चारित्र हो गया न। फिर श्रेणी आरोहण काल में चलता है स्वरूपाचरण। लेकिन वहाँ पर भी स्वरूपाचरण का अर्थ स्वरूप में चरण लगाना। स्वरूपाचरण कौन से नम्बर का चारित्र है? ये चारित्र नहीं है। ये कर-पटल है, इसमें रेखायें हैं। हाथ रेखा है, कि हाथ में रेखायें हैं? यही कथन होगा हस्तरेखा, न कि रेखा-हस्त।

ध्यान दीजिए। चारित्र है-सामायिक, छेदोपरस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म साम्पराय, यथाख्यात। उसमें चरण करना इसका नाम है स्वरूपाचरण। मार्ग पर चला जाता है पथिक के द्वारा, लेकिन पथिक 'मार्ग' नहीं होता, मार्ग पर पथिक चलता है। चारित्र में चलने का नाम स्वरूपाचरण है। स्वरूपाचरण नाम का चारित्र आगम में नहीं है। कहीं हो तो बता देना। "सुनिये स्वरूपाचरण अब" वह कारण में कार्य का उपचार है। अब निश्चय चारित्र सुनो।

संयमाचरण छटवें गुणस्थान से प्रारंभ है, इसलिए उसमें प्रवृत्ति विभावरूप है। तो ७ वें गुणस्थान से स्वरूप में चरण हो भी सकता है, लेकिन संज्ज्वलन का मंद उदय होगा। फिर नमस्कार करूँ, स्तुति करूँ, वंदना करूँ, प्रतिक्रमण करूँ, तो विषकुंभ है। इसलिए वहाँ निज में आचरण कर रहे हैं, वह स्वरूप में चरण चल रहा है। पाँचों ही चरण स्वरूपाचरण हैं और परमस्वरूपाचरण यथाख्यात है।

**प्रश्न -** प्रथम और अन्तिम तीर्थकर ने ही छेदोपरस्थापना का कथन किया है जबकि शेष बाइस तीर्थकर ने सामायिक-संयम का ही कथन किया है। क्या कारण है ?

**उत्तर -** महावीर के शिष्यों के बारे में पूछने की आवश्यकता है नहीं, क्योंकि वक्र परिणामी हैं, अपनी चर्चा छोड़कर पर की चर्चा में लीन हो जाते हैं। और आदिनाथ के शिष्य अति भोले हैं। अति भोलेपन में संयम का पालन नहीं होता क्योंकि जिसने जैसा कह दिया, वैसा मान लिया। ऐसा क्यों किया ? उन्होंने कहा था, तो हमने कर लिया। अरे ! उनसे कहा, सो नहीं करना। 'जिन' ने जो कहा, वह करना। 'चाहे

उत्तने कहा हो, चाहे 'जिन' ने कहा हो, हमारे मन को जो अच्छा लगेगा, वह करूँगा'—यह महावीर के शिष्यों की महिमा है। इसलिए छेदोपस्थापना चारित्र है। प्रतिक्रमण में कितनी बार कहते हैं, पर उसमें मन लगा तो छेदोपस्थापना, नहीं तो किंचित भी मन में विकल्प टकरा गया, यहाँ-वहाँ की चर्चा मस्तिष्क में आ गई है, तो हे भगवन्! तस्य मिच्छामी दुक्कड कहकर तुरंत कायोत्सर्ग करना चाहिए।

गोमटेश में आचार्य पद्मनंदि महाराज की एक बात अच्छी लगी। मैं आचार्य श्री विरागसागर के साथ चल रहा था। इतने में आचार्य पद्मनंदि महाराज ने मेरा हाथ पकड़ लिया और कहा - मन चंचल है, रुकता तो है नहीं, जाता तो है ही, पर जाने के बाद भी तो कुछ किया जा सकता है? पंचमकाल है, दोष हो जाये वह दोष है, दोष को नहीं मानना महादोष है। दोष में संतुष्ट कभी नहीं होना। दोष को दोष मानते रहना। कुछ नहीं कर पाओ, तो णमोकार मंत्र की माला फेर लेना। दुनियाँ कुछ भी कहे, पर तुम ध्यान रखना। प्रायश्चित्त एक तप है, जिससे कर्म निर्जरा होगी। मैंने कहा कितनी सुन्दर बात बताई। जब तुम्हारे मन में प्रायश्चित्त के भाव आये थे, तभी प्रायश्चित्त हो गया। चित्त-शुद्धि हो गई, फिर प्रायश्चित्त क्यों लेना? अरे! यही तो वक्रता है महावीर स्वामी के शिष्यों की। नहीं हुआ प्रायश्चित्त, प्रायश्चित्त लेने के भाव आये। चित्त में विशुद्धि आ रही थी, लेने पहुँच गये, स्वीकार कर लिया, प्रायश्चित्त हो गया। चित्त की शुद्धि का नाम प्रायश्चित्त है। गुरु चाहे छोटी गलती का बड़ा प्रायश्चित्त दे दे चाहे बड़ी गलती का छोटा प्रायश्चित्त दे दे, शिष्य के चित्त की शुद्धि को देखकर। कितना गहरा है। छेदोपस्थापना राजमार्ग नहीं है, अपवाद मार्ग है। कोई आपसे बोल सकता है, कि पाँच प्रकार का लिखा, फिर भी अपवाद क्यों बोल रहे हो? यह प्रश्न हो सकता है। जिसने अल्प शास्त्र पढ़े, वह क्या बोलेगा, यह सूत्र झूठा है क्या? सूत्र झूठा नहीं है, सूत्र सत्य है, पर मैं जो कह रहा हूँ, वह भी परम सत्य है। चौबीस तीर्थकर भगवन्तों में से बाईस तीर्थकरों ने छेदोपस्थापना का उपदेश नहीं दिया। ये प्रथम और अन्तिम तीर्थकर ने सरलता व कुटिलता के पीछे पुनः स्थापित करने के लिए कहा है। राजमार्ग तो सामायिक है, सामायिक भंग हो जाये, तो फिर छेदोपस्थापना। छेदोपस्थापना के दो गुणस्थान हैं। छेदोपस्थापना चारित्र स्वयं में होता है, और छेदोपस्थापना प्रायश्चित्त गुरु देते हैं। ये लौगों (लवंग) वाली दीक्षा से मोक्ष नहीं मिलता। देखो, भटक नहीं जाना। पंचमकाल के लोग जानते कम हैं, कहते ज्यादा हैं। आप समझने लगे न, इसलिए बोल देता हूँ। लौगों (लवंग) वाली दीक्षा से परिणामों की दीक्षा लेना पड़ती है। मोक्ष तो परिणामों की दीक्षा से मिलेगा। जब में दर्शनशास्त्र आदि की पुस्तक पढ़ते थक जाता हूँ न, तब मैं जैन इतिहास पढ़ता हूँ। वह रहती है सरल। थकान भी ज्ञान से मिटाइये। इतिहास है आपका। अभी तो ये कहना चाहिए कि मुनिचर्या बड़ी अच्छी चल रही है। मध्यकाल की मुनिचर्या देखते न, तो आप नमोस्तु न बोलते। ये भाग्य है अपना। लोग तो बातें करना जानते हैं, समझते नहीं हैं। वर्तमान की मुनिचर्या श्रेष्ठ है मध्यकाल की अपेक्षा। किसी का नाम नहीं लेना। एक बात ध्यान रखना, कहना छोड़ना नहीं, पर नाम किसी का लेना नहीं। आचार्य समन्तभद्रस्वामी की शैली अपनाना है अपन को। 'आत्ममीमांसा' जब हमने पढ़ी, तब एक बात सीखी, कि आचार्य समन्तभद्र ने ३६३ मतों का खण्डन किया, पर नाम किसी का नहीं लिया। बोले कि मैं पापी का नाम नहीं लेना चाहता। पर श्लोक पढ़ते ही पता चल जाता है, कि अमुक मत का खण्डन हो गया। ध्यान दो, मध्यकाल में कच्छपसंघ था। ये बगीचे लगवाते थे, मठ में रहते थे। काष्ठा संघ, काष्ठ का मंदिर, काष्ठ की प्रतिमा कारंजा में। गौ पुच्छिका संघ- गाय के पूँछ की पिच्छी रखते थे। बकुल संघ बगुले के पंख की पिच्छी रखते थे। तो वज्रनंदी ऐसा हुआ, उसने पिच्छे रखना ही छुड़वा दी। भगवान्

महावीर के निर्वाण से अंतिम श्रुत के वली भद्रबाहु तक का काल १६२ वर्ष अंत समय में श्वेताम्बर पन्थ का जन्म हुआ। दिगम्बर मूलसंघ कुल ६८ वर्ष तक अविच्छिन्न रहा।

वीर नि.स. ५९३ के पूर्व आ. अर्हदवाली पंचवर्षीय प्रतिक्रमण के समय संघ भेद यापनीय संघ विक्रम की मृत्यु के ७०५ वर्ष दूसरे मतानुसार २०५ वर्ष बीतने पर नन्दि संघ हुआ, वह आ. माघन्दि के समय बना। संघ में भेद आ. अर्हदवली के समय हुआ। इस प्रकार देखेंगे कि अनेक उपसंघो ने जन्म लिया, जिनमें एक निस्पिच्छिका संघ बन गया, बोले यह परिग्रह भी छोड़ो। इनमें श्वेताम्बर विकार आ चुके थे। दिगम्बर आम्नाय में अर्द्ध फलक एक कपड़ा रखते थे, दिगम्बरत्व को ढँक कर चलते थे। पीछे का भाग दिगम्बर, आगे के भाग पर कपड़ा ढँकते थे। उसके बाद यापनीय संघ आदि हुए। पर धीरे-धीरे वे सब विलीन हो गये, सत्य एक बच्चा। एक बात ध्यान रखना, दिगम्बरत्व का कभी अभाव नहीं होगा। कितने नवीन नाम आ जायें, पर सब दिगम्बरत्व में समाविष्ट हो जायेंगे। घबड़ाना नहीं। हर सदी में एक विशिष्ट आचार्य होंगे, नहीं तो धर्म चलेगा कैसे साढ़े अड़ारह हजार वर्ष तक ? कलश पढ़ लो -

**एकत्वेनियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्वदस्यात्मनः ।**

**पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् ।**

**सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं ।**

**तन्मुक्त्वा नवतत्त्व संतति मिमामात्मायमेकोऽस्तु नः ॥७॥ आ.अ.क.॥**

यह कलश कह रहा है एकत्व नियत है। शुद्धनया परभावों से भिन्न है यह मेरी आत्मा। कैसी है वह आत्मा ? पूर्ण ज्ञान से युक्त है, वही जो सम्यग्दर्शन है। जो सम्यग्दर्शन है, वही आत्मा है। कैसी है? अन्य द्रव्यों से अत्यन्त भिन्न जो स्वरूप है, वही आत्मा है। द्रव्यार्थिकनय से क्या लेना ? राग, द्वेष, मोह आदि भाव भी कर्माश्रित होने के कारण मेरे निज स्वभाव नहीं हैं, इसलिए ये मेरे से भिन्न हैं। एकमात्र शुद्ध सम्यक्त्व ही मेरी आत्मा का धर्म है। रागद्वेष भी परद्रव्य है। यह पुद्गल की पर्याय है, शुद्ध निश्चयनय से कर्म के आश्रय से हो रही है। इसलिए, जो हट जाये, मिट जाये मेरे से, वह मेरा कैसा है ? वह तो पर ही है। जो पर है, वह परद्रव्य ही है। मेरा सम्यक्त्व गुण मेरे से कभी हटेगा नहीं, मिटेगा नहीं। मैं सिद्ध बनूँगा तो सम्यक्त्व गुण होगा, लेकिन रागद्वेष नहीं होगा। इसलिए रागद्वेष तो पुद्गल आश्रित भाव था, इसलिए वह भले ही जीव को था, पर पुद्गल आश्रित होने के कारण उसे पुद्गल कहा। जो रागद्वेष विहीन आत्मा के परिणाम हैं, वही सामायिक है, वही सामायिक-चारित्र है। सम्यक्दर्शन ही नियम से आत्मा है। गुण-गुणी अभेद कथन है। उससे अन्य गुणों को छोड़कर, जो नौ पदार्थों की परम्परा है, संतति है, उन नौ तत्त्वों से आत्मा को भिन्न करके आत्मा को जानो, और नौ तत्त्वों से भी भिन्न निज शुद्धात्मा मानो। अब नौ तत्त्वों से आत्मा को भिन्न कैसे करें, उसमें तो आत्मा भी है ? आत्म तत्त्व, जीवतत्त्व में अनंत जीव हैं। उन अनंत जीवतत्त्व में से अपने को भिन्न कर देखो। जो नाना जीवतत्त्व हैं, उनसे अपने को भिन्न करके देखो। क्योंकि पर जीवतत्त्व से भी तेरा कल्याण नहीं है। यहाँ भगवान, माता-पिता, गुरु सभी आ गये। इन सब के मध्य में इन सबको जानो, पहचानो, इन सबका श्रद्धान करो, लेकिन इन सब से भिन्न निज आत्मतत्त्व को स्वीकारो। गृहस्थ है, घर में तो रहना ही है। घर में रहते हुए घर को अपना मत मानो। अपना कहते हुए भी, उसका रक्षण करते हुए भी, उसकी रक्षा में अपनी रक्षा मत खो देना। ज्ञेय है, हेय है, उपादेय तो है एक निज शुद्धात्मा। निज अशुद्धात्मा भी उपादेय नहीं है। वह भी परभाव है। क्यों ? निज अशुद्धात्मा परभाव का आलम्बन लिये है, इस अपेक्षा से परभाव है।

जो परमाव से शून्य शुद्ध आत्मद्रव्य है, वही मेरा निजभाव है। शुद्ध नय के विषय को ही निज का ज्ञेय बनाइये, ध्येय बनाइये। और शुद्ध निज तत्त्व का ही ध्यान कीजिए। जैसे - वस्त्र तेरा है, फिर भी तू वस्त्र नहीं है। तन तेरा है, फिर भी तन तेरा नहीं। तू चैतन्य है। तो जैसे एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध नहीं है, वैसे चेतन में शरीर है। जैसे चेतन में शरीर है, वैसे चेतन में रागादिक भाव है। जैसे एक उतारो अर्थात् वस्त्र उतारो। एक उतारो, अर्थात् चारित्र निज में उतारो। वैसे ही वे भी अर्थात् कषाय भाव उतारो, तब मिलेगा शुद्धतत्त्व।

घी बन गया है। जब दही था तो कह रहा था, कि मथो/विलोओ। लोनी बन गई, तो मरी हटाओ। अब कुछ नहीं हटाओ, चखो-चखो। जब चख लिखा, तो अब लखो-लखो, लखो-लखो बन्द कर दिया, तो अब ब्रह्मानन्द स्वरूपोहम्, परमानन्द स्वरूपोहम्। जिसने द्रव्य को पा लिया, वह पर्याय के विकल्प में नहीं पड़ता है। ध्रुव सत्य यह है। जब मैं जानूँगा, तब नहीं कहूँगा। अतीन्द्रिय है, कि इन्द्रिय है, मैं इन विकल्पों से भी शून्य हूँ। इसलिए ध्रुव सत्य यह है, कि जब-तक पाया नहीं, तब-तक व्याख्यान करना कि ज्ञेय भी शुद्ध हो, ज्ञाता भी शुद्ध हो, और हेतु भी शुद्ध हो, और जब पा लिया है, तो शुद्ध शब्द को भी छोड़ दो। 'जो सो दू सो चेव', जो है सो है।

## ॥ भगवान महावीर स्वामी की जय ॥

प प प

'समयसार' जी ग्रन्थ में तत्त्व-प्ररूपणा करते हुए समझा रहे हैं। जीवादि तत्त्व परमार्थ-भूत हैं इसलिए भूतार्थ हैं। स्वभावभूत नहीं हैं, इसलिए अभूतार्थ हैं। छः द्रव्य, सात तत्त्व में जीवतत्त्व को छोड़कर शेष सभी पदार्थ भूतार्थ नहीं हैं। भूतार्थ होने पर भी अभूतार्थ हैं और अभूतार्थ होने पर भी व्यवहार से भूतार्थ हैं। जैसे कि सात तत्त्वों पर श्रद्धान करना सम्यक्दर्शन है, भूतार्थ है, सत्यार्थ है, लेकिन जब तू शुद्धात्मा में लवलिन होगा, वीतराग निश्चयसम्यक् तभी प्रगट होगा, जब एकमात्र शुद्ध चिद्रूप ध्रौव्य निजआत्मा पर ही तेरा श्रद्धान होगा। यह परमार्थ है।

तेरहवीं गाथा की टीका गहनतम् अध्यात्म से भरी हुई है, उससे पहले आप बारहवीं गाथा की आचार्य जयसेन स्वामी की टीका देखें। पूर्व गाथा में कहा है कि जो भूतार्थनय का आश्रय लेता है, वह जीव सम्यक्दृष्टि होता है। मात्र भूतार्थ निश्चयनय ही नहीं, निर्विकल्प समाधि में रत है, वही प्रयोजनवान है। जिनमुद्रा प्रयोजनभूत है, जिनलिंग प्रयोजनभूत है, वीतराग मुद्रा प्रयोजनभूत है, पिच्छि-कमण्डलु प्रयोजनभूत है। लेकिन कब ? जब निर्विकल्प ध्यान में लीन दशा है तब। हे ज्ञानी ! ये सभी अप्रयोजनभूत हैं, निज शुद्धात्म स्वरूप ही प्रयोजनभूत है। जब आप निज स्वभाव में लग जायें, तो षट् आवश्यक प्रयोजनभूत हैं। परन्तु वह निर्विकल्प ध्यान की अवस्था जिनलिंग में ही बनेगी। वह प्रयोजन का प्रयोजन होने के कारण वह भी प्रयोजनभूत है। प्रयोजन का प्रयोजन, कारण का कारण। सम्यक्दर्शन कारण है, सम्यक्ज्ञान कार्य है। 'पंचास्तिकाय' में कारण-परमाणु, कार्य-परमाणु का वर्णन है। वही परमाणु कारण-परमाणु भी है, वही कार्य परमाणु भी होता है। जब परमाणु स्कन्धपने को प्राप्त होवे, तब वह कारण परमाणु है। जब स्कन्ध से परमाणु रूप बने, तब कार्य परमाणु है। द्रव्य परमाणु, भाव परमाणु। परमाणु कार्य भी है, कारण भी है। कारण कब है ? जब परिणामों की विशुद्धि क्षपकश्रेणी की ओर ले जाये, तो ये तेरे कारण-परमाणु, भाव परमाणु। जब ये निम्न गुणस्थान से ऊपर की ओर जायें, तो कारण-परमाणु है, और जब निजगुण में स्थिर



हो जाये, तो वे कार्य परमाणु हैं। पुनः देखो, सम्यक्दर्शन कारण-सम्यक्त्व है, कि कार्य सम्यक्त्व है।

इसलिए आगम की किसी भी विवक्षा को एकांगी कभी कहा नहीं जा सकता है। सम्यक्त्व सम्यक्ज्ञान के लिए कारण है, आपने पहले 'पुरुषार्थसिद्धि उपाय' में पढ़ा है। 'कारण कार्य विधानं' सम्यक्त्व ज्ञान के लिए कारण है। सम्यक्त्व स्वयं के लिए कार्य है और वही सम्यक्दर्शन, सम्यक्चारित्र के लिए भी कारण है। बिना सम्यक् के न तो ज्ञान में सम्यक्पना आता है, ना ही चारित्र में सम्यक्पना आता है। इसलिये दोनों के लिए सम्यक् कारण है। पर उस सम्यक् का कारण क्या है ? प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य, कर्म की प्रकृतियों का क्षय, क्षयोपशम ये सम्यक्त्व के कारण हैं और सम्यक्त्व कार्य है। यही कारण है कि पूर्वक्षणवर्ती परिणाम कारण है, उत्तरक्षणवर्ती परिणाम कार्य है। ये 'कारण कार्य विधान' सर्वत्र लगाना। एक समयवर्ती परिणाम कारण कार्य है। 'कारण कार्य विधान' हो जाये और समयभेद न हो, यह संभव है क्या ? हो सकता है, क्यों हो सकता है ? दीपक जला, प्रकाश हुआ, अंधकार गया। यह कब हुआ, कितने समय लगे ? एक समय में हुआ। कालभेद हो नहीं, कार्यभेद हो जाये, यह संभव है कि नहीं ? कार्यभेद होने पर भी कालभेद नहीं होता, और कालभेद होने पर भी कार्यभेद नहीं होता। और कार्य भेद में कालभेद हो जायेगा तो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्व की सिद्धि भंग हो जायेगी। उत्पाद भिन्न कार्य है, व्यय भिन्न कार्य है, ध्रौव्य भिन्न कार्य है, पर काल तीनों का एक है। उँगली द्रव्य है, सीधी पर्याय है। उंगली टेड़ी, तो पर्याय टेड़ी। द्रव्य के टेड़े किये बिना पर्याय टेड़ी कैसे हो गई ? यही हृदय का टेडापन है। ये पर्याय में टेडापन मानते हैं, परन्तु द्रव्य में टेडापन नहीं मानते। तत्त्व की परम भूल है। पर्याय बदलती है कि, द्रव्य बदलता है ? हे ज्ञानी ! द्रव्य के परिणमन का नाम ही तो पर्याय है। परिणमन की संज्ञा पर्याय है, परिणमन तो द्रव्य में है। द्रव्य में परिणमन नहीं होगा, तो पर्याय किसकी होगी ? इसे अच्छे से समझ लो। परिणमन की संज्ञा पर्याय है, लेकिन परिणमन पर्याय में नहीं, द्रव्य में हो रहा है। यदि पर्याय का परिणमन ही परिणमन है, तो पर्याय अलग से परिणमन करेगी, द्रव्य अलग परिणमन करेगा, गुण अलग परिणमन करेगे, मालूम चला कि तीनों भिन्न-भिन्न हो जायेंगे, जबकि सिद्धांत-सूत्र कहता है :-

**पज्जय विजुदं दव्वं, दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि ।**

**दोण्हं अणण्णभूदं, भावं समणा परुविति ॥१२॥ पंचास्तिकाय ॥**

इसलिए ध्यान दो। आत्मा ही क्रोधी, आत्मा ही मानी, आत्मा ही मायावी, आत्मा ही लोभी है। यह भूलकर भी मत कह देना कि ये आत्मा की परिणति नहीं है। यदि पर्याय में हो रही हैं तो जब इस पर्याय (शरीर) में आग लगेगी, तो चारों कषायों भी जल जायेंगी, तू अकषायी हो गया, तू तो भगवान् बन जायेगा। क्यों ? यह बताओ कि ये क्रोधादि भाव आत्मा के भाव हैं, कि मनुष्य पर्याय के भाव हैं ? यदि तू ऐसा कहता है कि मनुष्य पर्याय के भाव है, तो जब मनुष्य पर्याय जल जायेगी, तो भाव भी जल जायेंगे। नहीं तो इसी पर कथा सुनाता हूँ। श्रेणिक चरित्र में पढ़ा होगा। चलना ने मठ में आग लगा दी थी। क्योंकि उससे कहा गया था, कि जब हमारे गुरु ध्यानस्थ होते हैं, तब परमात्मा में लीन हो जाते हैं। तब चलना ने विचार किया, कि जब परमात्मा में लीन हो जाते हैं, तो पुद्गल को जला देना चाहिए। जब पुद्गल जल जायेगा, तो उनको वापस रहने को स्थान नहीं मिलेगा, तो परमात्मा में लीन रहेंगे। हे मुमुक्षु ! ध्यान रखना, यह जीव-तत्त्व का विपर्यास है, तत्त्वदृष्टि का विपर्यास है। कषायभाव पर्याय के भाव नहीं, कषायभाव पर्यायी के भाव हैं। पर्याय के निमित्त से प्रगत होते हैं। टी.वी. में कोई चित्र नहीं होते, टेलीविजन से चित्र देखे जाते हैं। वह तरंगों तो

टी.वी. केन्द्र से छोड़ी जाती हैं। तो क्या मनुष्य पर्याय में कषाय नहीं होती है, तिर्यञ्च पर्याय में कषाय नहीं होती है, नारक पर्याय में कषाय नहीं होती, देव पर्याय में कषाय नहीं होती ? कषाय तो तद् पर्यायी के अन्दर है, यह तो प्रगटन स्थान है। जैसा स्थान विशिष्ट होगा, वैसी कषाय विशिष्ट होगी। देव को लोभ विशिष्ट है, तिर्यञ्च की माया विशिष्ट है। विकारी-गुण पर्याय के प्रगटीकरण के लिए व्यञ्जन पर्याय है। मनुष्यादि, गुणपर्याय जैसी होगी, व्यञ्जनपर्याय का प्रदर्शन वैसा होगा।

हे मुमुक्षु ! व्याप्य-व्याप्य संबंध है। फिर कहो कि यह पर्याय का सहभावी, अविनाभावी है। नरक पर्यायें होंगी, उसमें क्रोध पर्याय नियम से होगी। यह नरक-पर्याय का सहभावी परिणमन है। इसी प्रकार से जो यह जीव संसार-पर्याय में आयेगा, तो उसके कषायभाव आयेगे। अपने निज पुरुषार्थ से वह उनको शमन कर सकता है। वृक्ष में आम्रफल का प्रगटीकरण होगा, तो नियम से उसमें रस, गंध, वर्ण होगा। होगा, कि नहीं ? यह कौन-सा संबंध है ? सहभावी है। यह बहुत जटिल प्रश्न है। इन्होंने सहभावी कहा। सहभाव अवस्था को बदल सकते हैं, कि नहीं ? ध्रुव सत्य यह है, कि यदि सहभावी में परिणमन नहीं मानोगे तो केवलज्ञान कभी नहीं होगा। इसलिए सहभावी अवस्था भी बदलती है। किसमें? द्रव्य में, गुण में, पर्याय में किसमें द्रव्य, गुण, पर्याय में। ध्यान दो यह तुम्हारी विषमता की अवस्था है। पुद्गल व जीव की क्या विडम्बना कहूँ। चार द्रव्य बड़े ही सुन्दर हैं। वे विजातीय को स्वीकार कभी नहीं करते, लेकिन दो द्रव्य ऐसे हैं, जो विजातीय को स्वीकार करते हैं। इसलिए मात्र दो तत्त्व में झगड़े हैं, चार द्रव्यों में सात तत्त्वों का कोई विकल्प नहीं। क्योंकि, इस जीव के अन्दर दो पर्यायों का एकसाथ परिणमन होता है। असामान्य जाति, सामान्य जाति। जब हम स्वरूप सादृश्य को निहारते हैं, तो स्वरूप सादृश्य में क्या निहारते हैं। मैं चैतन्य द्रव्य हूँ, ज्ञान-दर्शन मेरा गुण है, जीवद्रव्य में हूँ, मेरे में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य चल रहा है। तन का उत्पाद तन में चल रहा है, मेरे चैतन्य का नहीं। विभाव-व्यञ्जन-पर्याय को गौण करके, इस शरीर के परिणमन से मेरे किंचित भी विभाव-स्वभाव नहीं है। भटकना नहीं, जिस नय से कह रहा हूँ उस नय से सुनो। शरीर के परिणमन से तेरा स्वभाव परिणमन नहीं है, चैतन्य के परिणमन से तेरा स्वभाव परिणमन है। ये चाहे बूढ़ा हो, लगड़ा-लूला हो। ये कैसा भी हो, कुब्जक भी हो, हुण्डक भी हो, तब भी संसार में नहीं रूला सकता है। चाहे समचतुस संस्थान वाला हो, पर भाव का कुबड़ा है, तो समचतुरस संस्थान भी मोक्ष नहीं दिला पायेगा। किसी काले को देखकर चेहरा नहीं बिगाड़ना। यह कालापन चर्म का है, धर्म का नहीं है। गुण-पर्याय सबसे ज्यादा क्यों विगड रही हैं ? हे ज्ञानी ! तू किसी माँ का लाल नहीं है क्या ? किसी भगिनी का भैया नहीं है क्या ? तेरे पुत्र की माँ किसी की भगिनी नहीं है क्या ? जिसकी वह बहिन है, उससे पूछना कि तू इसमें क्या देखता है। चरण छूता है और कहता है, कि मेरी बहिन हैं। भगिनी भाव से क्या परिणामों की विशुद्धि से खड़ा है ? तेरे पत्नि भाव से क्या परिणामों की अशुद्धि लिए खड़ा है ? द्रव्य एक है। काश ! तू पर की पर्याय को नहीं देखता, तू उसमें जीवद्रव्य निहारता तो हे ज्ञानी ! उसमें तुझे भगवान् नजर आते।

व्यञ्जनपर्याय में गुणपर्याय को ले गया, इस कारण जगत में विषम/विजातीय पर्याय में भ्रमण करना पड़ रहा है। गुण-व्यञ्जन-पर्याय को द्रव्य-व्यञ्जन-पर्याय में न ले जाता, तो, हे ज्ञानी ! आज तू अशरीरी भगवान्-आत्मा होता। क्योंकि विभाव-व्यञ्जन-पर्याय है। देव, नारक, मनुष्यादि। विभाव-द्रव्य-व्यञ्जन पर्याय का आसरा क्यों लिया ? ये सब क्या है ? विभावदशा है। यह क्यों है ? द्वैत के कारण। अचेतन है मिश्रधारा, चैतन्य की। हे भगवान् ! तलवार की धार पर चलना कठिन नहीं है, ध्यान दो, अपनी द्रव्य-

व्यंजन-पर्याय को पर की द्रव्य-व्यंजन-पर्याय से रोकना कठिन है। द्रव्यानुयोग से चरणानुयोग का कथन करूँ। शील का पालन कठिन नहीं है। परन्तु ज्ञानगुण को, चर्म के धर्म में ले जाने से रोकना कठिन है। मनुष्य, घोडा कभी बूढ़े नहीं होते, इनके तन बूढ़े होते हैं इनकी वासनायें बूढ़ी नहीं होती हैं। इनको बाजीकरण (गरिष्ठ भोजन) मिलता है। आयुर्वेद की भाषा में बोल रहा हूँ।

हे मुमुक्षु ! साधना के लिए ज्ञान ही चाहिए। साधना के लिए ज्ञान ही को वश में करना पड़ता है। जिसका ज्ञान वश में है, उसकी इन्द्रियाँ वश में होती हैं। जिसका ज्ञान वश में नहीं है, उसकी इन्द्रियाँ वश में नहीं है, उसका कुछ भी वश में नहीं है। लोगों ने बिजली के बटन चटकाना (बंद करना) सीख लिया, मुख्य बटन (मेन स्विच) पर ध्यान नहीं है। मेन स्विच बन्द कर दो, बिजली के बटन चटकाने की जरूरत नहीं है। ज्ञानी ! गइराई में पहुँच नहीं रहा है। जगत् के जीव कोई कान को वश में करना चाहते हैं, कोई नाक को वश में करने में लगे है, कोई आँख को। अरे मुमुक्षु ! ज्ञान को ज्ञान से वश में कर लीजिए। पाँच बल्ब जो जल रहे हैं, उन पाँचों बल्बों में करेंट एक है। हे ज्ञानी। पाँचों ही इन्द्रियों में ज्ञानधाराएँ जाती हैं। ज्ञानधारा को वश में नहीं करना। एक-सौ-बीस वर्ष के क्षुल्लक जी भिण्ड में विराजे हैं, जो अपनी क्रियाएँ स्वयं करते हैं। तन काम तभी देता है, जब ज्ञान स्थिर हो जाता है। जिसका ज्ञान चला जाता है, उसका तन जल्दी चला जाता है। आज जैनदर्शन में दुनियाँ के शब्द आ गये हैं, जैनदर्शन तो बहुत ऊँचा है। आप कहते है कि भगवन् ! जल्दी ठीक हो जायें। यह मिथ्यात्व है। सास परेशान कर रही है। मिथ्यादृष्टि। यह सम्यकदृष्टि की भाषा है क्या ? सम्यग्दृष्टि 'कारण-कार्य विधान' जानता है। बहू क्या परेशान करेगी, सासू क्या परेशान करेगी ? मेरे पूर्व का कर्म है। सासू द्वारा दिया गया कष्ट कार्य है, कारण तो पूर्व का कर्म है।

मेरे अन्दर हृदय में एक बात गूँजती है 'कारण-कार्य विधान' ये जगत् के बच्चों से लेकर बड़ों तक के हृदय में यह बैठ जाये, तो दुनियाँ के सारे के सारे विसंवाद समाप्त हो जायें।

अब बताओ ये विकार पर्याय का था, कि परिणामों का था ? विकार पर्याय का नहीं था, पर्यायी का था। पर्यायी विकारों को शांत कर ले, तो पर्याय अभी बदलती है। यह असामान्यजाति पर्याय नष्ट होती है। सुनने में जितनी ताकत लगा रहे हैं आप, उतनी ध्यान में लगाने लग जाओ, तो मोह आपका विगलित होना प्रारंभ हो जायेगा। क्योंकि सुनने का मस्तिष्क भिन्न रहता है, सुनाने का मस्तिष्क भिन्न होता है, और ध्यान का मस्तिष्क भिन्न होता है, तथा श्रद्धा का मस्तिष्क भिन्न होता है। ज्ञान से मिलान करो। लोग कहते हैं कि जगत् में सुख है, उससे थोडा और ऊपर ले जाओ। ज्ञान में पहले सुख मिलता, कि श्रद्धा में सुख मिलता ? ज्ञान बहुत कठिन विषय है। जो श्रद्धा में सुख है, वह कहीं नहीं है। आप टीघर हो, किरसी के चेहरे पर बहती नाक को देखकर तुम मुँह सिकोड लेते हो। पढ़े-लिखे हो, मल में कोई सुख होता है क्या ? पर धन्य हो श्रद्धा के सुख को। स्वयं के सुत की नाक से अमृत नहीं झरता, वहाँ भी मल ही होता है, वह मल भी विसर्जित करता है, लेकिन अपने निज के सुत के मल को साड़ी से पोछ लेती है, आप अपने रूमाल से पोछ कर जेब में रख लेते हो, जैसे अमृत रख लिया हो। ये क्या था? बेटा भाव का राग। वह मोह न हो, तो कोई भी संतान का पालन नहीं करेगा। तो जैसे बेटे के राग ने मल पर वैराग्य उत्पन्न नहीं होने दिया, ऐसे ही श्रद्धा का राग मिथ्यात्व में राग नहीं होने देता। ये श्रद्धा का सुख है। बेटे का मल उठाने में तुझे आनन्द होता है, यह मोह का आनन्द है। अब सम्यक्त्व के आनन्द की बात करो। निर्विचिकित्सा अंग कहता है, कि आप अपने सधर्मी के मल को उठाने में द्वेष नहीं करते हो, यह है श्रद्धा। श्रद्धा मल में भी ग्लानि नहीं होने देती और अश्रद्धा

भगवान् में भी ग्लानि कराती है ध्यान तो दो -

“मुनितन मलिन न देख घिनावें, तत्व कुतत्व पिछाने ।”

यह कौन करेगा ? जिसका सम्यक्त्व दृढ़ होगा । यानी मल उठाना धर्म है । आपने एक व्रती की सेवा की । आचार्य महावीरकीर्ति महाराज आचार्य वीरसागर की वैयावृत्ति करने पहुँचे जयपुर । अपने हाथ से उनके मल को निकाला । जब कफ निकाला तो अंजलि आगे कर दी कि इसमें कर लो । वीर सागर जी ने कहा- नहीं, तुम मेहमान हो । तब महावीर कीर्ति ने उत्तर दिया-नहीं जो -

“निशदिन वृत्यावृत्य करैया, सो निश्चय भव नीर तिरैया ॥”

जब विपर्यास में इतनी श्रद्धा की, तो संसार है और समीचीन की श्रद्धा मोक्षमार्ग है । आनंद कहाँ है? श्रद्धा में । श्रद्धा नहीं है, तो ज्ञान भी आनंद नहीं देता, चारित्र भी आनंद नहीं देता । यदि श्रद्धा है, तो आनंद-ही-आनंद है । श्रद्धा है, इसलिए आप यहाँ सुन रहे हो, अच्छा लग रहा है आपको । प्राप्ति की आकांक्षा ही सुख है संसार में । पर की बहिन को पत्नी क्यों बनाया तुमने? प्राप्ति की आकांक्षा ने तुम्हें पराधीन कर दिया, तूने सुख मान लिया । एक असामान्य जाति के राग का फल है ।

तो क्या चर्चा चल रही थी ? आम का फल पहले पीला नहीं था हरा था । पीला हुआ, तो सहभाव था, कि नहीं? सहभाव में परिवर्तन हुए बिना आम पकता नहीं है । रस का रसत्व भाव ज्यों-का-त्यों है । परन्तु रस में परिणमन हुए बिना खट्टा आम मीठा हो नहीं सकता । खट्टेपन में मीठापन नहीं आया, रस गुण में परिणमन हुआ है । ज्ञानगुण की त्रैकालिक पर्याय ज्ञान मात्र ही ग्रहण करना । सहभाव यानी जिसका न हो कभी अभाव । मैं तिर्यञ्च योनि में जाऊँ, नरक में जाऊँ, देव बनूँ, सिद्ध बनूँ लेकिन मेरे ज्ञान का कभी अभाव नहीं होगा, ज्ञान गुण में परिणमन होगा, उसको नाना रूप नाम दे दिये जायेंगे, मति, श्रुत, अवधि आदि । आत्मा का सहभाव गुण क्या है, ज्ञान । यदि हम सहभाव में परिणमन नहीं मानेंगे, तो ज्ञान में परिणमन नहीं होगा, तो अशुद्ध ज्ञान का शुद्ध ज्ञान रूप परिणमन नहीं हो पायेगा और आत्मा त्रैकालिक भगवान नहीं बन पायेगी । यह द्रव्यानुयोग का सिद्धांत है, फिर करणानुयोग का सिद्धान्त कितना गहरा होगा ?

पर-भावों से हटाना बुद्धि का विषय है । जैसे शरीर के परिणमन में चेतना काम करती है, वैसे ही चारों अनुयोग के परिणमन में, ज्ञानी जो चर्चा चल रही है वर्तमान में, यही काम में आयेगी । किसी भी अनुयोग को पढ़ना, पर इसके अभाव में कोई भी अनुयोग चलता नहीं । इसलिए जब विजातीय पर्याय में स्वजाति रहेगा, तब इस जीव के परिणमन से ही शरीर में परिणमन चलेगा । फिर भी स्वतंत्रता देखेंगे, तो जीव का जीवत्व परिणमन है, पुद्गल का पुद्गलत्व । शरीर थक जाये, वृद्ध हो जाये, उससे भी मोक्ष जा सकते हैं और आठ वर्ष के शरीर से भी मोक्ष जाते हैं । फिर शरीर के राग को छोड़कर के दो ही पर्याय देखना, एक नहीं देखना । इस शरीर का उत्पाद-व्यय स्वतंत्र है, मेरा उत्पाद-व्यय स्वतंत्र है । प्रत्येक दर्शन शाब्दिक कथन को करना जानता है, चार्वाक को छोड़कर । आत्मा के बारे में ध्यान देना, 'चेतना' शब्द का ज्ञान भी चेतना की प्राप्ति नहीं है । 'ध्रुव-ज्ञायक-भाव' शब्द का प्रयोग भी ध्रुव-ज्ञायक-भाव नहीं है । श्रद्धा होना चाहिए।

जिस भवन में मैं निवास कर रहा हूँ, उस भवन का कौन-सा कण तेरी चेतन पर्याय में सहयोग करेगा ? जिस दिन तेरी अर्थी उठेगी, उस दिन सब छूट जायेगा । आज पर के राग में रो रहा है, कल तेरे राग में कोई रोयेगा । तू किसको रो रहा है । जब ईट-चूने के मकान की एक ईट मेरे साथ जानेवाली नहीं है, फिर इस तन की सुन्दरता भी इस चेतन के साथ जाने वाली नहीं है । आप अपनी जवानी का फोटो देखो, और आज की

समयसार ग्रन्थ की बारहवीं गाथा में शुद्ध को शुद्ध का उपदेश देने को कहा और अशुद्ध को अशुद्ध का उपदेश देने के लिए कहा है। जो स्वभाव में अवस्थित होने की योग्यता रखते हैं, उनके लिए शुद्ध तत्त्व का कथन करें और जो स्वभाव में जाने की योग्यता नहीं रखते हैं, उनके लिए आप व्यवहार का व्याख्यान करें, लेकिन व्यवहार का व्याख्यान तो करें, परन्तु व्यवहार पर संतुष्ट न कर दें, दृष्टि निश्चय पर ही रखे। परमार्थ का व्याख्यान तो करें, परन्तु परमार्थ व्याख्यान पर संतुष्ट मत हो जाना। परमार्थ का व्याख्यान परमार्थ नहीं है। परमार्थ के व्याख्यान में जो व्याख्येयभूत शुद्धात्म तत्त्व है, वही उपादेय है। अन्यथा दो प्रकार के जीव नहीं समझना, जीव चार प्रकार के हैं। एक व्यवहार को ही उपादेय समझ रहा है, एक निश्चय को ही उपादेय समझ रहा है, एक व्यवहार के व्याख्यान में अपना मोक्ष मान रहा है, एक निश्चय के व्याख्यान में अपना मोक्षमार्ग मान रहा है। चारों-के-चारों पुरुष मोक्षमार्ग से शून्य हैं। समझ में आया ? एक व्यवहार मात्र को मोक्ष मान रहा है, व्यवहाराभासी ! एक निश्चयमात्र को मोक्षमार्ग मान रहा है, निश्चयाभासी। एक व्यवहार के व्याख्यान को करना जानता है, उसके पास व्यवहार रत्नत्रय है नहीं, व्यवहार धर्म है नहीं, मात्र व्यवहार धर्म पर व्याख्यान करने की शैली का ज्ञाता है। उसे 'धवला जी' की भाषा में कहना, व्यवहार द्रव्य आगम ज्ञाता। मात्र व्यवहार द्रव्य आगम का ज्ञाता। फिर उसमें एक शब्द और जोड़ दो द्रव्यआगम का द्रव्यज्ञाता, यानी व्यवहार दर्शन को जानता है, परन्तु भावना से शून्य है। मात्र उसे सत्य ज्ञान है। एक निश्चय की भाषा को जानता है, पर निश्चय के अनुभव से शून्य है। वह निश्चयनय आगम का द्रव्य ज्ञाता, यानि निश्चयनय जिस विषय को विषय कर रहा है, उस विषय को जानता तो है, पर उपयोग नहीं है। फिर मोक्षमार्गी कौन है ? निश्चय व व्यवहार दोनों को जाननेवाला मोक्षमार्गी नहीं है। क्योंकि जानने से न तो मोक्षमार्ग मिलता है, न बंध व मोक्ष मिलता है। क्यों ? जानने से मोक्ष होता, तो मोक्ष को मिथ्यादृष्टि भी जानते हैं। सात तत्त्वों का व्याख्यान वे भी कर सकते हैं। तत्त्वों के जानने से ही मोक्ष होता तो अभव्य मिथ्यादृष्टि भी ग्यारह अंगों का ज्ञाता होता है, तत्त्व को जानता है। तो विषयों को जानने से, वासनाओं को जानने से कामनाओं को जानने से यदि बंध होता है, तो सर्वाधिक बंधक केवली भगवान् होंगे। क्यों ? जगत के चराचर द्रव्यों के ज्ञाता कौन ? सर्वज्ञ, केवली भगवान के ज्ञान में ऐसा कौन-सा विषय है, जो उनके ज्ञान का विषय न हो ? मैं 'अष्टसहस्री', 'प्रमेय कमलमार्तण्ड' से बोल रहा हूँ। यदि ज्ञान से बंध होता है, तो सर्वज्ञ को सर्वाधिक बंध होगा।

इस प्रकरण को लेकर ही हमने स्त्रीभुक्ति व केवली भुक्ति का निषेध किया है। इस सिद्धांत से किया है कि केवली भोजन करे और हमारा एक शुद्ध सम्यग्दृष्टि अणुवती श्रावक भी भोजन करने बैठे, उसके सामने कोई मृतक जीव आते दिख जाये, वह यदि वास्तव में सम्यक्दृष्टि होगा तो वह भोजन को ग्लानि करके छोड़ देगा। एक दिगम्बर मुनि हिंसक शब्द को सुनने मात्र से अंतराय कर लेते हैं। मुनिराज के आहारचर्या चल रही थी और सड़क पर किसी मृतक के बाजे बज रहे थे। कोई रो भी नहीं रहा था, लेकिन उन बाजों की आवाज पहचान लिए कि मातम के समय बजने वालों की आवाज है, इधर अंतराय हो गया। छोड़ दी अंजुली। गया जी में कई बार आचार्यश्री का और संघ का अन्तराय हुआ, क्योंकि वहाँ से ही रास्ता था निकलने का। सोलापुर में मुझे कई बार ग्रन्थ बन्द करना पड़ा, क्योंकि जिनालय के पास से ही रास्ता था जाने का। मूल विषय पर आओ। जब हमारा एक श्रावक भोजन छोड़ता है, मुनि महाराज पंचेन्द्रिय जीव के मृत शरीर को देखकर अन्तराय कर लेते हैं, जो केवली आहार करेंगे, उनके ज्ञान में सम्पूर्ण जगत का मल

झलकता है, मौस आदि पिण्ड झलकते हैं। वे इन सबको देखते-देखते भोजन करते रहेंगे, उनको ग्लानी नहीं आयेगी? इसलिए केवली कवलाहारी नहीं होते। जानने से बंध नहीं होता, जानने से मोक्ष नहीं होता। जानने से बंध होता हो तो केवली को छोड़ो, छटवें-सातवें गुणस्थानवर्ती को विषय-कषाय का ज्ञान होता है, कि नहीं? यदि ज्ञान है, और ज्ञान से बंध होता है, तो विषय-कषाय का ज्ञान होने मात्र से बंध हो जायेगा, तो उसका ब्रह्मचर्य कब काम में आयेगा? विषय-कषाय के ज्ञान से बंध नहीं और मोक्षमार्ग के ज्ञान से मोक्ष नहीं। विषय-कषाय के ज्ञान के बाद विषय-कषाय के प्रति जो रागरूप प्रवृत्ति होती है, उससे बंध होता है। और मोक्षमार्ग के ज्ञान से मोक्ष नहीं होता, मोक्षमार्ग के ज्ञान से जो तत्त्वज्ञान का निर्णय बनता है, और निर्णय से भेदविज्ञान होता है, और भेदविज्ञान से सम्यक्त्व होता है, और सम्यक्त्व से मोक्षमार्ग बनता है। मात्र 'ज्ञान' शब्द लेना। ज्ञान से मोक्ष नहीं होता, और मोक्षमार्ग भी नहीं खुलता। ज्ञान से तत्त्वबोध होता, तत्त्वबोध से तत्त्वनिर्णय होता, तत्त्वनिर्णय से सम्यक् भेदविज्ञान होता, भेदविज्ञान से सम्यक्दर्शन होता, सम्यक्दर्शन से सम्यक्ज्ञान होता, और सम्यक्ज्ञानपूर्वक चारित्र होता। यहाँ से मोक्षमार्ग बनता है। ज्ञान मात्र यानि जानकारी।

जैसे- आपकी शादी के पहले आपके नगर में कई कन्यायें रहती थी, पर आपका उनसे कोई राग नहीं था। वो दिखती थीं, तो बस यह जानते थे, कि यह किसी की कन्या है। पर जिस दिन से तुम्हारी शादी की बात एक कन्या से चलने लगी, तो वह कन्या अब तुम्हारे लिए राग का कारण बन गई। जब दिखती थी, तब न-बंध था, और आज देखने जाना है, तो बंध प्रारंभ हो गया, क्योंकि अब तुम्हारी बुद्धि में पत्नी बनाने के भाव आ चुके थे। ज्ञान, ज्ञान है।

**णाणं णरस्स सारो, सारो विणरस्स होइ सम्मतं ।**

**सम्मताओ चरणं, चरणाओ होइ णिव्वाणं ॥३१॥ दंसण पाहुडा॥**

पहले सम्यक्ज्ञान नहीं होता, पहले ज्ञान होता है। जो पं. टोडरमल जी ने 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में लिखा है, वह पं. जी की स्वयं की भाषा नहीं है। मैं मोक्षमार्ग प्रकाशक की एक-एक लाइन को बता सकता हूँ, कि यह कौन-से ग्रन्थ से चल रही है। पं. जी की भाषा नहीं है, वह आचार्य कुन्दकुन्द की भाषा है, और जहाँ पं. जी ने स्वयं की भाषा का प्रयोग किया है, वहाँ पर लोग भ्रमित हुए हैं। पं. टोडरमल जी ने क्या लिखा? तत्त्वज्ञान, तत्त्वनिर्णय, सम्यक्दर्शन युगपत् सम्यक् ज्ञान। पहले तत्त्वनिर्णय करो, तत्त्वज्ञान प्राप्त करो, तब सम्यक् दर्शन होगा। आचार्य कुन्दकुन्द कह रहे हैं- "णाणं णरस्य सारो" मनुष्यजीवन का सार है ज्ञान। यहाँ ज्ञान पहले बोला, ज्ञान पहले प्राप्त करना चाहिए। जब-तक ज्ञान नहीं होगा, तब-तक श्रद्धान हो ही नहीं सकता। लेकिन सूत्र कहता है, कि सम्यक्दर्शन-ज्ञान में पहले सम्यक्दर्शन होगा। सूत्र में जो सम्यक्दर्शन के बाद ज्ञान लिखा है, वह ज्ञान नहीं है, वह सम्यक्ज्ञान है। यहाँ पर ज्ञान होना अनिवार्य है। भगवान् महावीर स्वामी का श्रद्धान हुआ था सबसे पहले कि ज्ञान हुआ था पहले? जब यह संघ पहली बार आपके यहाँ आया था, तब इतना अनुराग नहीं था। पहले जाना, फिर देखा। उसी प्रकार गौतम भी भगवान् महावीर के शिष्य बनने नहीं गये थे, समझाने गये थे। परन्तु जैसे ही देखा, जाना, जानते ही तत्त्वनिर्णय हो गया और तत्त्वनिर्णय होते ही श्रद्धान बन गया और जैसे ही श्रद्धान बना, वैसे ही ज्ञान हो गया और केशलुंचन होना प्रारंभ हो गये। विषय को सरल कर दो। सबसे पहले जीव जानकारी लेता है, कि कैसा है और कैसा नहीं है। वह होता है सामान्य ज्ञान। सामान्य ज्ञान होते ही वह अन्दर से कहता है, कि यह बात तो सही है। यह तत्त्वनिर्णय

चल रहा है और तत्व निर्णय करते-करते दृढ़ता आ गई कि यही सत्यार्थ है, यही भूतार्थ है, अब अन्य नहीं हो सकता, अन्यथा नहीं हो सकता।

**इदमेवे-दृशमेव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा ।**

**इत्य-कम्पाय-साम्भोव-त्सन्मार्गेऽसंशयारुचि ॥११॥ र.क.श्रा.॥**

ऐसी जो रुचि प्रगट हो गई, उसका नाम सम्यक्दर्शन है। जैसे ही निःशंकित भाव उत्पन्न हुआ, वैसे ही कहता है -

**अन्यूनमनतिरिक्तं याथा-तथ्यं विना च विपरीतात् ।**

**निःसन्देहं वेद य दाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥४२॥ र.क.श्रा.॥**

न्यूनता से रहित, अधिकता से रहित, जैसा तत्व है, वैसा ही कहना, निःसंदेह, अब किंचित भी संदेह नहीं है। समझ में आया ? नहीं आया ? फिर क्यों कह रहे निःसंदेह ? जिस पर मैंने श्रद्धा की है, वह श्रद्धेय है। सर्वज्ञदेव ने जो कहा है, वह सभी आपकी समझ में नहीं आया, वह आ भी नहीं पायेगा। क्यों ? कैवल्य का विषय श्रुत में लिखा जाये तो, कोष्ठबुद्धि ऋद्धि सम्पन्न मुनिराज, वे इतना सारा लिखते, पर पूरा नहीं लिखा जाता। गौतम गणधर भगवान की वाणी को इतना झेलते, तब भी पूरा नहीं झेल पाते और जितना सर्वज्ञ कह रहे हैं, उससे कई गुना सर्वज्ञ जानते हैं। जितना सर्वत्र जानते हैं, उतना व्याख्यान में नहीं आता, क्योंकि व्याख्यान नयों से होता है और ज्ञान प्रमाण से होता है। गहरी बात पकड़ना चाहिए।

तत्त्वार्थ सूत्र आगम ग्रन्थ है, कि नहीं है? जिसने 'तत्त्वार्थ सूत्र' को आगमग्रन्थ मान लिया हो, वह कहे कि सम्यक्दर्शन अकिंचित्कर है। आप जिस अपेक्षा से कह रहे हो, उस अपेक्षा से परिपूर्ण अकिंचित्कर नहीं है। क्यों ? आप कह रहे हैं कि बन्ध की अपेक्षा से सम्यक्दर्शन अकिंचित्कर है। हे ज्ञानी ! सम्यक्दर्शन अकिंचित्कर नहीं है, नहीं तो मिथ्यात्व अकिंचित्कर हो जायेगा। कारण पूछ रहा हूँ दोनों तरफ से।

‘सम्यक्त्वं च’ इस सूत्र का अर्थ क्या है ?

हे ज्ञानी ! इतना ध्यान रखना, सम्यक्दर्शन जब भी प्रगट होगा, कषायी के ही होगा, अकषायी के नहीं होगा। सम्यक्त्व सर्वथा बंध का कारण नहीं है, तो -

**सम्यक्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्-नपुंसक-स्त्रीत्वानि ।**

**दुष्कुल-विकृताल्पायु-दरिद्रतां च ब्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥३५॥ र.क.श्रा.॥**

व्रती न होने पर भी जो सम्यक्दर्शन से शुद्ध है, वह नपुंसक नहीं होता, त्रियञ्च नहीं होता, स्त्रीवेद में भी नहीं जाता, यहाँ तक कि दरिद्र कुल में भी जन्म नहीं लेता। दरिद्री सम्यग्दृष्टि हो सकता है, पर सम्यग्दृष्टि दरिद्री नहीं होता। जिसने मिथ्यात्व का सेवन किया होगा, वही दरिद्र कुल में जन्म लेगा। जिसने सम्यक्त्व का सेवन पूर्व में किया है, वह उच्च कुल में ही जन्म लेगा।

**ओजस्तेजो विद्या वीर्य-यशोवृद्धि-विजय-विभवसनाथाः ।**

**महाकुलमहार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः ॥३६॥ र.क.श्रा.॥**

जो सम्यक्त्व से पवित्र है, वह ओजवान होता है, जिसका शरीर चमकता है। सराग-सम्यक्त्व जिसे होगा, उसे देवायु का बन्ध होगा। पर सराग-सम्यक्त्वी को सम्यक्त्वपने का अभाव नहीं करा सकते अन्यथा सम्यक्दर्शन से बंध का सर्वथा अभाव हो जायेगा, तो सम्यक्त्व होते ही मोक्ष हो जायेगा। फिर चारित्र, ज्ञान किसे होगा ? तत्व की भाषा का आनंद लूटना भिन्न विषय है, तत्व का निर्णय करना भिन्न विषय है। जो

सम्यक्दर्शन से मोक्ष मानता है, वह जैनधर्म से च्युत है। बोले क्यों ? तो फिर सम्यक्ज्ञान होते ही मोक्ष होता है, इतना मान लो। वह भी जैनत्व से शून्य है। एक दर्शन तुम्हारे देश में है, सुगत दर्शन (बौद्धदर्शन) जिनका सिद्धांत है, कि बोधी (ज्ञान) से मोक्ष होता है। मेरा प्रश्न है कि ज्ञान से मोक्ष होता है, तो जैसे ही ज्ञान हुआ, मोक्ष हो गया। फिर बोधी का उपदेश किसको दिया, जब तुम्हारा तो मोक्ष हो चुका था? फिर मोक्ष होने का जो मार्ग था वह बताया किसने ? वह ग्रन्थ बनानेवाला कौन था ? श्रुत का विच्छेद हो गया। ऐसे ही यदि आप कहो कि सम्यक्दर्शन से मोक्ष होता है, तो फिर सम्यक्ज्ञान-चारित्र का वर्णन किसने किया ? इसलिए सम्यक्त्व से मोक्ष नहीं, सम्यक्ज्ञान से मोक्ष नहीं, सम्यक् चारित्र से मोक्ष नहीं, सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते ही मोक्ष नहीं होता। ज्ञान के होने पर भी मोक्ष नहीं होता। और सम्यक्ज्ञान की पूर्णता होने पर भी मोक्ष नहीं होता। सम्यक्त्व की पूर्णता यानी क्षायिक-सम्यक्त्व, ज्ञान की पूर्णता यानी केवलज्ञान, जो तेरहवें गुणस्थान में होता है। तेरहवें गुणस्थान में क्या निर्वाण होता है ? प्रकृति को नहीं, प्रवृत्ति को पकड़ो। प्रकृति से प्रकृति का नाश नहीं होगा, प्रवृत्ति से प्रकृति का नाश होगा। कुछ करणानुयोग के ज्ञाता लोक का विभाग, कर्म की प्रकृतियाँ, इनके हिसाब जोड़ने में ही मोक्ष मान बैठे हैं। यह भी मोक्षमार्ग नहीं है, इनको घटाना जोड़ना। कहाँ पर कितनी प्रकृति घटी या जोड़ी, ये तो ज्ञान का विषय है। आप उन प्रकृतियों से आगे कितना उठ रहे हो, ये तो बताओ। पहले प्रवृत्ति तो उनकी आलू-प्याज खाने की है और प्रकृति का नाम ले रहे हैं उपान्त समय में। अन्त समय में कितनी इतनी चली गई। आपने ज्ञान प्राप्त कर लिया, आपके ज्ञान से मैं प्रभावित नहीं होता। क्यों ? क्षयोपशम था तेरे पास। एक व्यापारी अपना हिसाब-किताब रखता है दिमाग में, आपके पास समय था, तो आपने प्रकृतियों को व्यवस्थित कर लिया दिमाग में। हमें प्रकृतियों को जानकर प्रवृत्ति करना है। केवलज्ञान मात्र से मोक्ष नहीं होता, सम्यक्दर्शन से मोक्ष नहीं। सम्यक्दर्शन की पूर्णता से मोक्ष नहीं, सम्यक्ज्ञान से मोक्ष नहीं, सम्यक्ज्ञान की पूर्णता से मोक्ष नहीं, सम्यक् चारित्र से मोक्ष नहीं, अब यहाँ रुकना पड़ेगा। सम्यक्चारित्र की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान में होती है, उसके होते ही मोक्ष होता है। सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति शुक्ल ध्यान तेरहवें गुणस्थान के अंत में होता है। व्युपरतक्रिया निवर्तीनि शुक्लध्यान चौदहवें गुणस्थान में होता है। तदक्षण मोक्ष की प्राप्ति होती है। आयु कर्म के क्षय से होता है। लेकिन उस आयुर्कर्म का क्षय कौन कर रहा था ? अकालमरण तीर्थकर का नहीं होता, सामान्य अरहंत का होता है। क्योंकि 'चरमोत्तम' शब्द है 'चरम' नहीं है। चरमोत्तम कौन ? तीर्थकर। बंध में सम्यग्दर्शन अकिंचित्कर है, यह भी सत्य है।

**पयडिड्ढिदि अणुभाग, प्पदेसभेदादु चदुविघो बंधो ।**

**जोगा पयडिपदेसा, ठिदि अणु भागा कसायदो होति ॥३३॥ वृहद्द्रव्य संग्रह ॥**

योग से प्रकृति व प्रदेश बंध होता है, कषाय से स्थिति व अनुभाग बंध होता है। सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र न योगरूप है, न कषायरूप है। 'बंध' तो होते देखा जाता है ? स्वर्ग जाते हैं न मुनि महाराज ? बराबर है। रत्नत्रय से मोक्ष होता है। फिर रत्नत्रय से मोक्ष होना चाहिए न ? पंचमकाल में नहीं होता, तो चतुर्थकाल में होना चाहिए न ? सभी को फिर क्यों नहीं हुआ ? क्यों सर्वार्थसिद्धि जाते हैं ? कारण समझो।

**रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य ।**

**आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥२२०॥पु.सि.उ.॥**

रत्नत्रय तो मोक्ष ही का कारण है, लेकिन रत्नत्रय की आराधना में जो पुण्य का आस्रव होता है, वह



शुभोपयोग का अपराध है, कि वह स्वर्ग गये, मोक्ष नहीं जा सके, क्योंकि शुद्ध रत्नत्रय की साधना नहीं कर सके। स्याद्बन्ध, स्याद्अबन्ध। कथंचित इस अपेक्षा से अकिंचित्कर है। योग के सहकारी हैं, कषाय के सहकारी है। चतुर्थ गुणस्थान में जहाँ सम्यक्त्व विराजा है, वहाँ अविरति विराजी है। उसी में योग, प्रमाद, कषाय विराजे हैं। तेरी शक्ति इतनी कमजोर रही, कि इनको भगा नहीं पा रहा है। भगा देता तो हम इनको सिद्ध कहते। सिद्ध नहीं हुआ, क्योंकि तेरी सत्ता में रहते हुए यह अपना काम कैसे कर रही है? कहीं-न-कहीं तेरा सहकारी-कारण है। अंतर इतना है, कि मिथ्यादृष्टि भिन्न सोच कर अनुभूति ले रहा है। परन्तु ध्रुव सत्य है, जैसे रुचिपूर्वक मिथ्यादृष्टि भोग भोगता है, ऐसे ही रुचिपूर्वक सम्यक्दृष्टि भोग भोग रहे हैं। ये भूल मत कर देना, कि हम रुचिपूर्वक नहीं भोग रहे हैं। तो फिर छोड़ दो। जानकर भोग कर रहे हो, इसलिये चारित्र मोहनीय का आस्रव अधिक होगा। संभलों, हे मुमुक्षु ! परद्रव्य परद्रव्य के बंध का उपादानकर्त्ता अकिंचित्कर ही है। किसमें? उपादान कारण में, निमित्त कारण में नहीं। नहीं तो बड़े ज्ञानी है? जगत के स्त्री आदि भोग भोगते रहेंगे, और कहेंगे कि यह सब अकिंचित्कर है। अकिंचित्कर नहीं है। वह न होता तो तुम्हारी दृष्टि गई क्यों?

इस कलश में क्या कह रहे हैं, व्यवहार-व्यवहार को माने सो अज्ञानी। निश्चय-निश्चय को माने, सो अज्ञानी। निश्चय व व्यवहार दोनों को ही माने, सो अज्ञानी। निश्चय व व्यवहार दोनों को न-माने, सो अज्ञानी और रत्नत्रय को धर्म माने, उसका नाम है ज्ञानी। बस, चारों तरफ अज्ञानियों की भीड़ है। कोई निश्चय की भाषा में आनंद लूट रहा है और ये व्यवहार वाले नाम नहीं लेते निश्चय का, तो निश्चय वाले व्यवहार का नाम नहीं लेते। हे ज्ञानियो ! ये दोनों भाषायें हैं। जो आत्मा की अभेदशा है, वह निश्चयधर्म है। जो आत्मा की भेदशा है, वह व्यवहारधर्म है।

आयुर्कर्म के लिए केवलज्ञानी कुछ नहीं करते। आयुर्कर्म अपने अनुसार चलता है। आयुर्कर्म जब पूर्ण हो जाता है, तब सिद्ध बनते हैं। ठीक है। द्रव्यानुयोग का पेट बहुत बड़ा है।

**जीवाजीव सुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बंध मोक्षौ च ।**

**द्रव्यानुयोग दीपः श्रुत विद्या लोक मातनुते ॥४६॥ र. क.श्रा.॥**

सात तत्त्वों का जो व्याख्यान है, वह द्रव्यानुयोग है, जितना दर्शन व न्याय शास्त्र है, वह सब द्रव्यानुयोग का विषय है। 'समयसार धर्म ग्रंथ' है, अकिंचित्कर शब्द का प्रयोग किया है, टीकाकारों ने। अकिंचित्कर यानी हेत्वाभास।

**हेत्वाभासा असिद्ध-विरुद्धानैकान्तिकाकिंचितकराः ॥७/२१॥ परीक्षामुख सूत्र ॥**

हेत्वाभास के भेद - (१) असिद्ध (२) विरुद्ध (३) अनेकान्तिक (४) अकिंचित्कर। विद्या कभी अवगुण नहीं करती, यह तो आयुर्वेदिक औषधि है। आयुर्वेद का लक्षण होता है, कि रोगी ठीक नहीं हो, तो औषधि रोगी भी नहीं बनाती। पर आज की जो अंग्रेजी दवाई है, वह रोग ठीक करने से पहले ही आधा रोगी बना देती है। ऐसी दवाई नहीं खाना। जब हम लोग सोलह-सतरह साल के थे, तब आचार्य महाराज 'परीक्षामुख' जैसा कठिन ग्रन्थ पढ़ाते थे। समझ में नहीं आता था, लेकिन पर मन में आता था कि समझ में आये या न आये, पर याद करो। वे सूत्र आज समझ में आ रहे हैं। इसलिये समझ में न आये, पर सुनो। जब काललब्धि आयेंगी, तब आपको समझ में आना शुरू हो जायेगा।

**व्यवहरणनयः स्यात्-यद्यपि प्राक्पदव्याम मिह निहितपदानां हंत हस्तावलम्बः ।**

**तदपि परममर्थं चिच्चमत्कार मात्रं, परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किञ्चित् ॥५॥ अ. अ. क.॥**

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कुन्दकुन्द की बात को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि हमारा सिद्धांत एकान्तिक नहीं है। एकान्तिक हो जायेगा, तो दूषित हो जायेगा। अनेकान्तिक भी नहीं है, वह भी दोष है। अभी पहले आपने देखा असिद्ध, विरुद्ध, अनेकान्तिक, अकिञ्चित्कर ये चार हेत्वाभास। जो लक्ष्य में भी जाये, अलक्ष्य में भी जाये, वह है अनेकान्तिक दोष। अनेकान्त दर्शन हमारा है, अनेकान्तिक हेत्वाभास नहीं है। बड़ा गहरा तत्त्व है। अनेकान्त सिद्धान्त है, पर अनेकान्त हेत्वाभास नहीं है। कारण कि अनेकान्त भी एकान्त नहीं है, अनेकान्त भी अनेकान्त है।

**अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाण-नय-साधनः ।**

**अनेकान्तः प्रमाणात् ते, तदेकान्तोऽर्पितात्रयात् ॥१०३॥ स्वयंभू स्तोत्रा॥**

हर जगह अनेकान्त नहीं लगाना, नहीं तो वर्तमान की पर्याय की प्रत्याशक्ति में कोई पिता अपनी बेटी को पत्नी कहने लग जाये, और कहे कि अनेकान्त दर्शन से लगा लीजिए। अरे ! नहीं लगाना अनेकान्त से, क्योंकि पर्याय की प्रत्याशक्ति यहाँ ग्रहण करना। इस पर्याय में वह आपकी पत्नी नहीं है, नहीं तो व्यभिचार कर बैठोगे। इसलिए हमारे आचार्यों ने बड़ा सोचकर लिखा है, कि अनेकान्त भी अनेकान्त है। वस्तुस्वरूप की सिद्धि भी अनेकान्त है। वस्तु के तद्भाव में अनेकान्त नहीं है, वह अनेकान्त दोष है। कोई जीव कहे कि हमारी माँ अनेकान्त से हमारी पत्नी भी है। अनेक पर्यायों की अपेक्षा से लगाओगे तो मान सकते हैं। किसी पर्याय में हो। लेकिन, हे ज्ञानी ! वर्तमान की पर्याय में अनेकान्त नहीं लगा सकता है, कि तेरी माँ तेरी पत्नी है। अन्यथा आज तक महावीर का शासन चल नहीं सकता था। अनेकान्त का दुर्व्यवहार हो जाता न, तो चार्वाक दर्शन इसी देश में जन्मा है, लेकिन जीवित क्यों नहीं बचा ? सब छोड़ो। जहाँ नैतिकता ही समाप्त हो गई, वहाँ भारतीय दर्शन स्वीकार नहीं करता।

अनेकान्त नीति है, अनेकान्त अनीति नहीं है। अनेकान्त न्याय है, अनीति नहीं है। हे ज्ञानियो ! सिद्धांत पर करुणा इतनी रखना, सिद्धांत में अनीति मत करना।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कितना संभल कर कह रहे हैं। ये नीति चल रही है अध्यात्म की। जो प्रारम्भिक लोग हैं, नय सीखनेवाले हैं, मोक्षमार्ग पर चलनेवाले हैं, उनके लिए प्रथम पद है। उनको मोक्षमार्ग पद पर रखने के हस्तावलम्बन है क्या ? व्यवहार हेय नहीं है, हस्तावलम्बन है। लेकिन आप सीढ़ी चढ़ रहे थे, किसी ने हाथ पकड़कर आपको सहारा दे दिया, तो चढ़ गये, तब भी हाथ को पकड़े रहोगे क्या ? ध्यान दो, बस व्यवहार ऐसा ही है। चढ़ रहे थे तो हाथ का सहारा ले लेना चाहिए। जब चढ़ जायें, तो छोड़ दो। इतना है व्यवहार का काम। फिर भी परमार्थ से जो चित्-चमत्कार मात्र निज शुद्धात्मा है, वह परभावों से रहित है। अन्य कोई भी मेरे लिए उपादेयभूत नहीं है। एकमात्र चिद्रूप मेरी अखण्ड आत्मा ही उपादेयभूत है, ये निश्चयनय है। अब बताओ, दोनों नयों में विकल्प कहाँ है। एक हस्तावलम्बन है एक पैर है। चलना तो पैरों से ही पड़ता है, लेकिन जब डगमग होने लगते हैं, तो दूसरे के हाथ का सहारा लेना पड़ता है, और जब आप स्थिर हो गये, तो उसे छोड़ दो। लोकव्यवहार में आप रोज देखते हो, बुजुर्ग को हाथ का सहारा देकर बैठाते हो, फिर हाथ छोड़ देते हो। ऐसे ही जब शुद्धात्मा मिल जाये, तो हाथ छोड़ देना। इतना-सा तत्त्व का बोध है, यही मोक्षमार्ग है।

**॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥**

आचार्य-भगवान् अमृतचन्द्र स्वामी बड़ी सहजभाषा में कह रहे हैं, नय-नय को लेकर विकल्प करने वाले के नय पक्ष को छोड़े बिना विकल्पातीत होना कभी संभव नहीं है और ध्रुव सत्य यह है, कि जगत का जीव नयार्थ को गौण करके एकान्त से नय को पकड़ हुये है। अज्ञ प्राणियों ने नयार्थ को न समझते हुए नय को पकड़ लिया है। नयार्थ कहता था, कि अमुक अर्थ के प्रयोजन से प्रयोग किया जाता हूँ। जैसे कि निश्चयनय। यह तो भाषा है, पर निश्चयनय का प्रयोजन क्या है, नयार्थ क्या है? वस्तु के भूतार्थ स्वरूप को समझना, यह निश्चयनय का अर्थ था। व्यवहारनय का अर्थ क्या था? वस्तु की व्यवस्था को भेदरूप में समझना। परन्तु हो उल्टा गया। नयार्थ पर ध्यान गया नहीं, नय पर ध्यान चला गया। स्वरूप और नय मात्र को लेकर, विकल्पों में आकर कि हम निश्चय वाले हैं, हम व्यवहार वाले हैं, विवाद में चला गया, नयार्थ में नहीं गया। नयार्थ का नया अर्थ कर बैठा, कि मैं अमुकवाला हूँ। लेकिन नयार्थ का अर्थ अमुकवाला नहीं था। नयार्थ का अर्थ था अभेद अर्थ को जानना, भेद अर्थ को जानना। स्त्री, पुरुष, नंपुसक भेद अर्थ को कह रहा है। पुरुष आत्मा अभेद अर्थ है। स्त्री है, उसमें भी आत्मा है। 'कहना' शब्द जब-तक जुड़ा है, तब-तक नयार्थ है और 'कहना' समाप्त हो जाये, तो वस्तु वस्तु है। निश्चय स्वरूप की अनुभूति अवक्तव्य है, पर निश्चय स्वरूप अवक्तव्य नहीं है यह भी ध्यान रखना। यदि निश्चय स्वरूप अवक्तव्य हो जायेगा, तो 'आत्मप्रवाद पूर्व' का अभाव हो जायेगा। जो निश्चयस्वरूप है, वह वक्तव्य है, और जो व्यवहारस्वरूप है, वह वक्तव्य है। अनुभूतियाँ दोनों की अवक्तव्य हैं। यदि दोनों को व्यवहार की कह दोगे तो दोनों की भाषा एक हो जावेगी जबकि दोनों की भाषा भिन्न-भिन्न है, दोनों के भाव भिन्न-भिन्न हैं, पर दोनों का प्रयोग व्यवहार से है, फिर भी अभिप्राय निश्चय का है, और व्यवहार का है। कथन जो भी चलेगा, वह द्वैतरूप में मुख्यता व गौणता से चलेगा। अनुभूति इन्द्रियों की होगी, तो द्वैत होगी और स्वात्मा की होगी, तो अद्वैत होगी। इन्द्रियों का वेदन द्वैत है, स्वाद जिसका लिया जा रहा है और लेने वाला, यह द्वैत भाव है, परन्तु स्वादानुभूति जो है, वह अपने आप में अद्वैत है। इसलिए अनुभूति अवक्तव्य है, वक्तव्य-अवक्तव्य नहीं है। वक्तव्य -अवक्तव्य हो जायेगा, तो वक्तव्य नहीं होगा। अवक्तव्य जो भंग है वह भी वक्तव्य है। किससे? अवक्तव्य से। स्याद अवक्तव्य। अवक्तव्य भी अस्ति है, वक्तव्य भी अस्ति है। यदि अवक्तव्य में नास्ति है। तो वक्तव्य भी नास्ति है।

'प्रवचनसार' जी का द्वितीय अधिकार प्रज्ञा को बहुत पैनी करने वाला है। 'प्रवचनसार' का ज्ञेय अधिकार विद्वानों के लिए परम उपादेयभूत है प्रज्ञा की प्रशस्ता के लिए। तत्त्व का नैयायिक दृष्टि से कैसे कथन किया जाये, तो 'प्रवचनसार' जी का ज्ञेय अधिकार है। इसलिए -

**नाऽवक्तव्यः स्वरूपाद्यैर्निर्वाच्यः परभावतः ।**

**तस्मान्नेकान्ततो वाच्यो नापि वाचामगोचरः ॥७ स्वरूप संबोधन ॥**

स्वरूप आदि की अपेक्षा से द्रव्य अवक्तव्य नहीं है। स्वरूप स्वचतुष्टय से आत्मा अवक्तव्य नहीं है। पररूप चतुष्टय से वक्तव्य नहीं है, अवक्तव्य है। इसलिए अनेकान्त से बोलना चाहिए। आत्मा स्यादवक्तव्य, स्यादवक्तव्य है।

जब-तक कदम न रखा जाये, तब-तक पर का हस्तावलम्बन लेते रहना। स्व का पाद स्थिर हो जाये, तो पर का पाद छोड़ देना। जब तक निश्चय में स्थिरता नहीं आती, तब तक व्यवहार का आलम्बन लेना। जब निश्चय में स्थिरता आ जाये, तो अपने में स्थिर हो जाना, तब व्यवहार छूट ही जायेगा।

अब पूज्यपाद स्वामी की भाषा में कहें। सबसे पहले ज्ञानी बनने की बात नहीं करना। ज्ञानी नहीं, पहले

व्रती बनना। क्योंकि अव्रतीपन से आस्रव होता है अधिक। लाभदृष्टि निहारिये, ज्ञानदृष्टि नहीं। मोक्षमार्गी तत्त्वज्ञान-दृष्टि तो देखता है, मोक्षमार्गी तत्त्वलाभ भी दृष्टि देखता है। पक्ष दोनों प्रबल हैं। मोक्षमार्गी यह नहीं देखता कि ज्ञान मेरा कितना बढ़ा है। मोक्षमार्गी यह देखता है कि आस्रव कितना कम हुआ। अब आपको बात भूतार्थ लग रही है। मोक्षमार्गी यह नहीं देखता, कि मेरी ऋद्धि कितनी बढ़ी। वह यह देखता है कि मेरी ऋद्धि कितनी कम हुई। वह यह नहीं देखता कि मेरी प्रसिद्धि कितनी हुई। मोक्षमार्गी यह देखता है कि मेरे कल्याण की सिद्धि कितनी हुई। आप लेखा-जोखा बनाते हो, तो उसमें लाभ-हानि देखते हो। जहाँ लाभ दिखता है, पुरुषार्थ वहाँ बढ़ता है। जहाँ हानि दिखती है, वहाँ का पुरुषार्थ कम हो जाता है। यदि हमारे ज्ञान से मद बढ़ रहा है, तो उस ज्ञान की चर्चा को गौण करके सामायिक को बढ़ायेंगे। जिस चर्चा से विशुद्धि में कमी आ रही हो, उस चर्चा को शीघ्र विराम करना, और जिस चर्चा से विशुद्धि बढ़ रही है, उस चर्चा को आगे बढ़ाना, और जिस चर्चा से विशुद्धि घट रही है, उसे बीच में ही रोक देना।

हमारा आपसे विरोध नहीं है। मेरा लक्ष्य भिन्न है, आपका लक्ष्य भिन्न है। दो त्यागियों से चर्चा हुई। उनकी चर्चा भी उनके लायक थी। प्रश्न यही आया कि आप भी उस ओर कदम बढ़ाओ जमाने के अनुसार। एक ही उत्तर था आप जिस लक्ष्य को निर्धारित कर चुके हो, इसलिए आप लक्ष्य पर चलो। लक्ष्य के अनुसार सिद्धि करना तो ठीक है, पर स्वात्मोपलब्धि सिद्धि की दृष्टि है, तो मैं आपके लक्ष्य पर नहीं चल पाऊँगा। एक सज्जन आये, कहा कि मैं आपके नाम का तीर्थ बनाना चाहता हूँ। मैंने कहा कि तू मेरे नाम का तीर्थ बनायेगा तो वर्षों लग जायेंगे। पर मैं आज ही तीर्थ हूँ, तू क्यों बनाना चाहता है? अन्दर का तीर्थ तो हमारा हमें ही दिखता है। आप बाहर का ही तीर्थ देखते हो। ये तन हमारा बाहर का तीर्थ है और चेतन हमारा अन्दर का तीर्थ है। मेरे पास दोनों तीर्थ हैं। आप बनाओगे, मैं देख पाऊँ या न देख पाऊँ। तो जो गुरु ने तीर्थ दिया है, उसमें ही जी रहा हूँ। इसलिए आप बड़ी अनुकम्पा करना हमारे ऊपर कि मुझे इससे दूर रखना। क्योंकि जिस दिन मैं आप वाले तीर्थ में चला जाऊँगा, तब मैं समयसार की व्याख्या नहीं कर पाऊँगा। क्योंकि फिर उस बात को छिपाने के लिए मुझे समयसार की बात भी छिपानी पड़ेगी, नहीं कह पायेंगे। कारण कि एक समय में एक ही तीर्थ की रक्षा कर पायेंगे। जो बना रहे हैं, उनका विरोध नहीं करना, पर नये बनाने का विचार नहीं लाना। दोनों तीर्थ की रक्षा करो। व्यवहार तीर्थ भी अनिवार्य है, और निश्चय तीर्थ भी अनिवार्य है। जो व्यवहार की योग्यता रखते हैं, उन्हें व्यवहार तीर्थ बनाना ही चाहिए और जो निश्चय तीर्थ की योग्यता रखते हैं, उन्हें निश्चय तीर्थ में लगना ही चाहिए। इसलिए श्रावक व्यवहार से तीर्थ निर्माण का पात्र है, और साधु निश्चय तीर्थ के पात्र हैं। आगम क्या कह रहा है? आगम तो यही कहेगा कि व्यवहार तीर्थ की स्थापना श्रावक करे, निश्चय तीर्थ तो साधु होता ही है। यही कारण है कि निश्चय तीर्थ जहाँ पहुँच जाता है, वहाँ व्यवहार तीर्थ भी निश्चय तीर्थ बन जाता है।

**“जे गुरु चरण जहाँ धरे, जग में तीरथ होय”**

पंचकल्याणक भूमियाँ निश्चय तीर्थ में प्रवर्तन करने वालों के द्वारा ही स्थापित हैं। स्थापित की नहीं थी, उनके निमित्त से स्थापित हो गई थी। बहुत गहरा है श्रुत। निश्चय, निश्चय है, व्यवहार, व्यवहार है। दोनों नय धर्म नहीं है, और दोनों नयों से रहित भी धर्म नहीं है। धर्म जो भी होगा, दोनों नयों से ही कहा जायेगा, पर दोनों नयों से कहने पर भी वह व्याख्येय है, धर्म नहीं है। धर्म तो धारण किया जाता है, धर्म कहा नहीं जाता है। जो कहा जाता है, वह धर्म का व्याख्यान होता है। लोगों ने व्याख्यान को धर्म मान लिया है, ये बहुत बड़ी कमी आ गई। आज जो नये विद्वानों में धर्म की पद्धति चली है, वह व्याख्यान/प्रवचन के नाम पर भाषण करनेवाली पद्धति

है। सबसे खतरनाक कोई वस्तु है, तो वह है पुण्य, जिसके योग में जीव अशुभ कर्म कर निजात्मा को संसार पंक में फंसाकर दुःख को प्राप्त होता है। पुण्य पाप के उदय में साम्यभाव रखो।

ये विद्वानों की लाइन बैठी है, ये क्या कम विद्वान है? कम नहीं हैं। वाचना में पं. परमानंद जी शाहगढ़ थे, जो उच्च कोटि के विद्वान् थे, फिर भी बहुत ही सरल, सहज थे। 'धवला' जी की ८ वीं पुस्तक की वाचना चल रही थी, बाहर से विद्वानों को बुलाया गया, पर पं. परमानंद जी ने अपनी विद्वत्ता कभी नहीं बताई। वाचना शुरू हुई, पहले ही दिन जो बाहर के विद्वान् थे, वे टीका नहीं लगा पाये। धवला टीका कठिन पड़ती है। उसका नाम मुक्ताहार टीका है, मणियों के बीच में मुक्तामणि लगाया जाता है, तब वह सुंदर बनता है। ऐसे ही धवला टीका है। पूरी टीका प्राकृत में नहीं है, न संस्कृत में है। प्राकृत टीका में बीच-बीच में संस्कृत टीका है। इसलिए उसका नाम है मुक्ताहार टीका। अब जब जिस विद्वान् को बुलाया था, वे नहीं लगा पा रहे थे तब पं. परमानंद शास्त्री अपनी भाषा में कहते हैं, इनको हम देखे क्या। आचार्य श्री ने कहा- हाँ, पं. जी आप तो कर लेंगे, आइये न। जैसे ही पं. साहब को बैठाया, खटाखट पूरी टीका कर दी। फिर क्या था, पूरी वाचना उन्होंने की। उनसे कहा आप इतने बड़े विद्वान्, आपने बताया नहीं। उन्होंने कहा- हाँ, आचार्य श्री! मैंने न्याय, व्याकरण, नय, न्याय सब पढ़ा है, पर हमारी प्रकृति ऐसी है कि हम कह नहीं पाते। उन्होंने संस्कृत में छन्द लिखे हैं। ऐसे भी ज्ञानी जीव हैं, जिन्हें ज्ञान है, पर मान-सम्मान में पड़ते नहीं।

ऐसे भी ज्ञानी जीव हैं जिन्हें ज्ञान नहीं है, पर वक्तृत्वपना है, इसलिये लोक में छाये हैं, पर उनसे पूछना एक प्रश्न कोई गहरा, तो वह बता नहीं पायेंगे। आप अपनी उत्साह शक्ति को भंग मत करना। तत्त्व के विपर्यास का जो प्रशिक्षण चल रहा है, उसे आप भी चार विद्वानों में शुरू करो। कोई प्रचार की आवश्यकता नहीं। सुगंध होती पुष्प में, तो वह चारों तरफ अपने आप फैलती है। पं. दौलतराम जी कौन-से कॉलेज में पढ़ने गये थे? कौन से विद्यालय में आपने धर्म का अध्ययन किया? अरे! कपड़े बेचते-बेचते छहढाला बना लिया। आप कल्पना करो। गोपालदास बरैया मुंशी थे। उस जीव की रुचि बढ़ी तत्त्व के प्रति, तो उन्होंने विद्वानों की बड़ी लम्बी पंक्ति खड़ी कर दी। उनके विद्यालय से मक्खनलाल शास्त्री जैसे विद्वान् निकले। पर उनकी दृष्टि 'पंचाध्यायी' पर जाने से मुरैना-विद्वान्-परम्परा में, चतुर्थ गुणस्थान में स्वरूपाचरण चारित्र मानते हैं। अष्ट पाहुड में आ. कुन्दकुन्द सम्यक्त्वाचरण चारित्र कहते हैं। 'पंचाध्यायी' ऐसा ग्रंथ है, जिसमें अनंतानुबन्धी कषाय के अभाव में स्वरूपाचरण चारित्र लिखा है। पाँच प्रकार के चारित्र में स्वरूपाचरण कोई चारित्र नहीं है। (अधः करण रूप परिणाम काल में व ध्यान में श्रेणी आरोहणकर्ता जीव को स्वरूपाचरण अर्थात् स्वरूप में रमण होता है।)

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने 'प्रवचनसार' जी में "चारित्रं खलु धम्मो" सातवीं गाथा की टीका में जो साम्य का कथन किया है, उसको लेकर लोगों ने विपर्यास कर लिया। उन्होंने कहा - स्वरूपाचरण अर्थात् स्वरूप में आचरण करना, ये चारित्र है। लेकिन स्वतंत्ररूप से कोई स्वरूपाचरण नाम का चारित्र नहीं है। आ. जयसेन की टीका पठनीय है। सप्तम गुणस्थान से जो चारित्र है, वह सब स्वरूप में जाता है, स्वरूप में चरण है।

**“यों है सकल संयम चारित , सुनिये स्वरूपाचरण अब” ॥६/७ छहढाला ॥**

इस प्रकार से सकल संयम को कहा, यानी व्यवहार-चारित्र सराग संयम चारित्र हो गया न। फिर श्रेणी आरोहण काल में चलता है स्वरूपाचरण। लेकिन वहाँ पर भी स्वरूपाचरण का अर्थ स्वरूप में चरण लगाना।

स्वरूपाचरण कौन से नम्बर का चारित्र है? ये चारित्र नहीं है। ये कर-पटल है, इसमें रेखायें हैं। हाथ रेखा है, कि हाथ में रेखायें हैं? यही कथन होगा हस्तरेखा, न कि रेखा-हस्त।

ध्यान दीजिए! चारित्र है-सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म साम्पराय, यथाख्यात। उसमें चरण करना इसका नाम है स्वरूपाचरण। मार्ग पर चला जाता है पथिक के द्वारा, लेकिन पथिक 'मार्ग' नहीं होता, मार्ग पर पथिक चलता है। चारित्र में चलने का नाम स्वरूपाचरण है। स्वरूपाचरण नाम का चारित्र आगम में नहीं है। कहीं हो तो बता देना। "सुनिये स्वरूपाचरण अब" वह कारण में कार्य का उपचार है। अब निश्चय चारित्र सुनो।

संयमाचरण छटवें गुणस्थान से प्रारंभ है, इसलिए उसमें प्रवृत्ति विभावरूप है। तो ७ वें गुणस्थान से स्वरूप में चरण हो भी सकता है, लेकिन संज्ज्वलन का मंद उदय होगा। फिर नमस्कार करूँ, स्तुति करूँ, वंदना करूँ, प्रतिक्रमण करूँ, तो विषकुंभ है। इसलिए वहाँ निज में आचरण कर रहे हैं, वह स्वरूप में चरण चल रहा है। पाँचों ही चरण स्वरूपाचरण हैं और परमस्वरूपाचरण यथाख्यात है।

**प्रश्न** - प्रथम और अन्तिम तीर्थकर ने ही छेदोपस्थापना का कथन किया है जबकि शेष बाइस तीर्थकर ने सामायिक-संयम का ही कथन किया है। क्या कारण है ?

**उत्तर** - महावीर के शिष्यों के बारे में पूछने की आवश्यकता है नहीं, क्योंकि वक्र परिणामी हैं, अपनी चर्चा छोड़कर पर की चर्चा में लीन हो जाते हैं। और आदिनाथ के शिष्य अति भोले हैं। अति भोलेपन में संयम का पालन नहीं होता क्योंकि जिसने जैसा कह दिया, वैसा मान लिया। ऐसा क्यों किया? उन्होंने कहा था, तो हमने कर लिया। अरे! उनने कहा, सो नहीं करना। 'जिन' ने जो कहा, वह करना। 'चाहे उनने कहा हो, चाहे 'जिन' ने कहा हो, हमारे मन को जो अच्छा लगेगा, वह करूँगा'-यह महावीर के शिष्यों की महिमा है। इसलिए छेदोपस्थापना चारित्र है। प्रतिक्रमण में कितनी बार कहते हैं, पर उसमें मन लगा तो छेदोपस्थापना, नहीं तो किंचित भी मन में विकल्प टकरा गया, यहाँ-वहाँ की चर्चा मस्तिष्क में आ गई है, तो हे भगवन्! तस्य मिच्छामी दुक्कड कहकर तुरंत कायोत्सर्ग करना चाहिए।

गोमटेश में आचार्य पद्मनंदि महाराज की एक बात अच्छी लगी। मैं आचार्य श्री विरागसागर के साथ चल रहा था। इतने में आचार्य पद्मनंदि महाराज ने मेरा हाथ पकड़ लिया और कहा - मन चंचल है, रुकता तो है नहीं, जाता तो है ही, पर जाने के बाद भी तो कुछ किया जा सकता है? पंचमकाल है, दोष हो जाये वह दोष है, दोष को नहीं मानना महादोष है। दोष में संतुष्ट कभी नहीं होना। दोष को दोष मानते रहना। कुछ नहीं कर पाओ, तो णमोकार मंत्र की माला फेर लेना। दुनियाँ कुछ भी कहे, पर तुम ध्यान रखना। प्रायश्चित्त एक तप है, जिससे कर्म निर्जरा होगी। मैंने कहा कितनी सुन्दर बात बताई। जब तुम्हारे मन में प्रायश्चित्त के भाव आये थे, तभी प्रायश्चित्त हो गया। चित्त-शुद्धि हो गई, फिर प्रायश्चित्त क्यों लेना? अरे! यही तो वक्रता है महावीर स्वामी के शिष्यों की। नहीं हुआ प्रायश्चित्त, प्रायश्चित्त लेने के भाव आये। चित्त में विशुद्धि आ रही थी, लेने पहुँच गये, स्वीकार कर लिया, प्रायश्चित्त हो गया। चित्त की शुद्धि का नाम प्रायश्चित्त है। गुरु चाहे छोटी गलती का बड़ा प्रायश्चित्त दे दे चाहे बड़ी गलती का छोटा प्रायश्चित्त दे दे, शिष्य के चित्त की शुद्धि को देखकर। कितना गहरा है। छेदोपस्थापना राजमार्ग नहीं है, अपवाद मार्ग है। कोई आपसे बोल सकता है, कि पाँच प्रकार का लिखा, फिर भी अपवाद क्यों बोल रहे हो? यह प्रश्न हो सकता है। जिसने अल्प शास्त्र पढ़े, वह क्या

बोलेगा, यह सूत्र झूठा है क्या ? सूत्र झूठा नहीं है, सूत्र सत्य है, पर मैं जो कह रहा हूँ, वह भी परम सत्य है। चौबीस तीर्थकर भगवन्तों में से बाईस तीर्थकरों ने छेदोपरस्थापना का उपदेश नहीं दिया। ये प्रथम और अन्तिम तीर्थकर ने सरलता व कुटिलता के पीछे पुनः स्थापित करने के लिए कहा है। राजमार्ग तो सामायिक है, सामायिक भंग हो जाये, तो फिर छेदोपरस्थापना। छेदोपरस्थापना के दो गुणस्थान हैं। छेदोपरस्थापना चारित्र स्वयं में होता है, और छेदोपरस्थापना प्रायश्चित्त गुरु देते हैं। ये लौगों (लवंग) वाली दीक्षा से मोक्ष नहीं मिलता। देखो, भटक नहीं जाना। पंचमकाल के लोग जानते कम हैं, कहते ज्यादा हैं। आप समझने लगे न, इसलिए बोल देता हूँ। लौगों (लवंग) वाली दीक्षा से परिणामों की दीक्षा लेना पड़ती है। मोक्ष तो परिणामों की दीक्षा से मिलेगा। जब मैं दर्शनशास्त्र आदि की पुस्तक पढ़ते थक जाता हूँ न, तब मैं जैन इतिहास पढ़ता हूँ। वह रहती है सरल। थकान भी ज्ञान से मिटाइये। इतिहास है आपका। अभी तो ये कहना चाहिए कि मुनिचर्या बड़ी अच्छी चल रही है। मध्यकाल की मुनिचर्या देखते न, तो आप नमोस्तु न बोलते। ये भाग्य है अपना। लोग तो बातें करना जानते हैं, समझते नहीं हैं। वर्तमान की मुनिचर्या श्रेष्ठ है मध्यकाल की अपेक्षा। किसी का नाम नहीं लेना। एक बात ध्यान रखना, कहना छोड़ना नहीं, पर नाम किसी का लेना नहीं। आचार्य समन्तभद्रस्वामी की शैली अपनाना है अपन को। 'आत्ममीमांसा' जब हमने पढ़ी, तब एक बात सीखी, कि आचार्य समन्तभद्र ने ३६३ मतों का खण्डन किया, पर नाम किसी का नहीं लिया। बोले कि मैं पापी का नाम नहीं लेना चाहता। पर श्लोक पढ़ते ही पता चल जाता है, कि अमुक मत का खण्डन हो गया। ध्यान दो, मध्यकाल में कच्छपसंघ था। ये बगीचे लगवाते थे, मठ में रहते थे। काष्ठ संघ, काष्ठ का मंदिर, काष्ठ की प्रतिमा कारंजा में। गौ पुच्छिका संघ- गाय के पूँछ की पिच्छी रखते थे। बकुल संघ बगुले के पंख की पिच्छी रखते थे। तो वज्रन्दी ऐसा हुआ, उसने पिच्छे रखना ही छुड़वा दी। भगवान् महावीर के निर्वाण से अंतिम श्रुत के वली भद्रबाहु तक का काल १६२ वर्ष अंत समय में श्वेताम्बर पन्थ का जन्म हुआ। दिगम्बर मूलसंघ कुल ६८ वर्ष तक अविच्छिन्न रहा।

वीर नि.स. ५९३ के पूर्व आ. अर्हदवाली पंचवर्षीय प्रतिक्रमण के समय संघ भेद यापनीय संघ विक्रम की मृत्यु के ७०५ वर्ष दूसरे मतानुसार २०५ वर्ष बीतने पर नन्दि संघ हुआ, वह आ. माघन्दि के समय बना। संघ में भेद आ. अर्हदवली के समय हुआ। इस प्रकार देखेंगे कि अनेक उपसंघो ने जन्म लिया, जिनमें एक निस्पिच्छिका संघ बन गया, बोले यह परिग्रह भी छोड़ो। इनमे श्वेताम्बर विकार आ चुके थे। दिगम्बर आमनाय में अर्द्ध फलक एक कपड़ा रखते थे, दिगम्बरत्व को ढँक कर चलते थे। पीछे का भाग दिगम्बर, आगे के भाग पर कपड़ा ढँकते थे। उसके बाद यापनीय संघ आदि हुए। पर धीरे-धीरे वे सब विलीन हो गये, सत्य एक बचा। एक बात ध्यान रखना, दिगम्बरत्व का कभी अभाव नहीं होगा। कितने नवीन नाम आ जायें, पर सब दिगम्बरत्व में समाविष्ट हो जायेंगे। घबड़ाना नहीं। हर सदी में एक विशिष्ट आचार्य होंगे, नहीं तो धर्म चलेगा कैसे साढ़े अठारह हजार वर्ष तक ? कलश पढ़ लो -

एकत्वेनियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्वदस्यात्मनः ।

पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् ।

सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमात्मा च तावानयं ।

तन्मुक्त्वा नवतत्त्व संतति मिमामात्मायमेकोऽस्तु नः ॥७॥ आ.अ.क.॥

यह कलश कह रहा है एकत्व नियत है। शुद्धनया परभावों से भिन्न है यह मेरी आत्मा। कैसी है वह आत्मा ? पूर्ण ज्ञान से युक्त है, वही जो सम्यग्दर्शन है। जो सम्यग्दर्शन है, वही आत्मा है। कैसी है ? अन्य द्रव्यों

से अत्यन्त भिन्न जो स्वरूप है, वही आत्मा है। द्रव्यार्थिकनय से क्या लेना ? राग, द्वेष, मोह आदि भाव भी कर्माश्रित होने के कारण मेरे निज स्वभाव नहीं हैं, इसलिए ये मेरे से भिन्न हैं। एकमात्र शुद्ध सम्यक्त्व ही मेरी आत्मा का धर्म है। रागद्वेष भी परद्रव्य है। यह पुद्गल की पर्याय है, शुद्ध निश्चयनय से कर्म के आश्रय से हो रही है। इसलिए, जो हट जाये, मिट जाये मेरे से, वह मेरा कैसा है ? वह तो पर ही है। जो पर है, वह परद्रव्य ही है। मेरा सम्यक्त्व गुण मेरे से कभी हटेगा नहीं, मिटेगा नहीं। मैं सिद्ध बनेँगा तो सम्यक्त्व गुण होगा, लेकिन रागद्वेष नहीं होगा। इसलिए रागद्वेष तो पुद्गल आश्रित भाव था, इसलिए वह भले ही जीव को था, पर पुद्गल आश्रित होने के कारण उसे पुद्गल कहा। जो रागद्वेष विहीन आत्मा के परिणाम हैं, वही सामायिक है, वही सामायिक-चारित्र है। सम्यक्दर्शन ही नियम से आत्मा है। गुण-गुणी अभेद कथन है। उससे अन्य गुणों को छोड़कर, जो नौ पदार्थों की परम्परा है, संतति है, उन नौ तत्त्वों से आत्मा को भिन्न करके आत्मा को जानो, और नौ तत्त्वों से भी भिन्न निज शुद्धात्मा मानो। अब नौ तत्त्वों से आत्मा को भिन्न कैसे करें, उसमें तो आत्मा भी है ? आत्म तत्त्व, जीवतत्त्व में अनंत जीव हैं। उन अनंत जीवतत्त्व में से अपने को भिन्न कर देखो। जो नाना जीवतत्त्व हैं, उनसे अपने को भिन्न करके देखो। क्योंकि पर जीवतत्त्व से भी तेरा कल्याण नहीं है। यहाँ भगवान, माता-पिता, गुरु सभी आ गये। इन सब के मध्य में इन सबको जानो, पहचानो, इन सबका श्रद्धान करो, लेकिन इन सब से भिन्न निज आत्मतत्त्व को स्वीकारो। गृहस्थ है, घर में तो रहना ही है। घर में रहते हुए घर को अपना मत मानो। अपना कहते हुए भी, उसका रक्षण करते हुए भी, उसकी रक्षा में अपनी रक्षा मत खो देना। ज्ञेय है, हेय है, उपादेय तो है एक निज शुद्धात्मा। निज अशुद्धात्मा भी उपादेय नहीं है। वह भी परभाव है। क्यों ? निज अशुद्धात्मा परभाव का आलम्बन लिये है, इस अपेक्षा से परभाव है। जो परभाव से शून्य शुद्ध आत्मद्रव्य है, वही मेरा निजभाव है। शुद्ध नय के विषय को ही निज का ज्ञेय बनाइये, ध्येय बनाइये। और शुद्ध निज तत्त्व का ही ध्यान कीजिए। जैसे - वस्त्र तेरा है, फिर भी तू वस्त्र नहीं है। तन तेरा है, फिर भी तन तेरा नहीं। तू चैतन्य है। तो जैसे एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध नहीं है, वैसे चेतन में शरीर है। जैसे चेतन में शरीर है, वैसे चेतन में रागादिक भाव है। जैसे एक उतारो अर्थात् वस्त्र उतारो। एक उतारो, अर्थात् चारित्र निज में उतारो। वैसे ही वे भी अर्थात् कषाय भाव उतारो, तब मिलेगा शुद्धतत्त्व।

घी बन गया है। जब दही था तो कह रहा था, कि मथो/विलोओ। लोनी बन गई, तो मरी हटाओ। अब कुछ नहीं हटाओ, चखो-चखो। जब चख लिखा, तो अब लखो-लखो, लखो-लखो बन्द कर दिया, तो अब ब्रह्मानंद स्वरूपोहम्, परमानंद स्वरूपोहम्। जिसने द्रव्य को पा लिया, वह पर्याय के विकल्प में नहीं पड़ता है। ध्रुव सत्य यह है। जब मैं जानूँगा, तब नहीं कहूँगा। अतीन्द्रिय है, कि इन्द्रिय है, मैं इन विकल्पों से भी शून्य हूँ। इसलिए ध्रुव सत्य यह है, कि जब-तक पाया नहीं, तब-तक व्याख्यान करना कि ज्ञेय भी शुद्ध हो, ज्ञाता भी शुद्ध हो, और हेतु भी शुद्ध हो, और जब पा लिया है, तो शुद्ध शब्द को भी छोड़ दो। "जो सो दू सो चेव", जो है सो है।

॥ भगवान महावीर स्वामी की जय ॥

५ ५ ५

'समयसार' जी ग्रन्थ में तत्त्व-प्ररूपणा करते हुए समझा रहे हैं। जीवादि तत्त्व परमार्थ-भूत हैं इसलिए भूतार्थ हैं। स्वभावभूत नहीं हैं, इसलिए अभूतार्थ हैं। छः द्रव्य, सात तत्त्व में जीवतत्त्व को छोड़कर शेष सभी पदार्थ भूतार्थ नहीं हैं। भूतार्थ होने पर भी अभूतार्थ हैं और अभूतार्थ होने पर भी व्यवहार से भूतार्थ हैं। जैसे कि



सात तत्त्वों पर श्रद्धान करना सम्यक्दर्शन है, भूतार्थ है, सत्यार्थ है, लेकिन जब तू शुद्धात्मा में लवलीन होगा, वीतराग निश्चयसम्यक् तभी प्रगट होगा, जब एकमात्र शुद्ध चिद्रूप ध्रौव्य निजआत्मा पर ही तेरा श्रद्धान होगा। यह परमार्थ है।

तेरहवीं गाथा की टीका गहनतम् अध्यात्म से भरी हुई है, उससे पहले आप बारहवीं गाथा की आचार्य जयसेन स्वामी की टीका देखें। पूर्व गाथा में कहा है कि जो भूतार्थनय का आश्रय लेता है, वह जीव सम्यक्दृष्टि होता है। मात्र भूतार्थ निश्चयनय ही नहीं, निर्विकल्प समाधि में रत है, वही प्रयोजनवान है। जिनमुद्रा प्रयोजनभूत है, जिनलिंग प्रयोजनभूत है, वीतराग मुद्रा प्रयोजनभूत है, पिच्छे-कमण्डलु प्रयोजनभूत है। लेकिन कब ? जब निर्विकल्प ध्यान में लीन दशा है तब। हे ज्ञानी ! ये सभी अप्रयोजनभूत हैं, निज शुद्धात्म स्वरूप ही प्रयोजनभूत है। जब आप निज स्वभाव में लग जायें, तो षट्आवश्यक प्रयोजनभूत हैं। परन्तु वह निर्विकल्प ध्यान की अवस्था जिनलिंग में ही बनेगी। वह प्रयोजन का प्रयोजन होने के कारण वह भी प्रयोजनभूत है। प्रयोजन का प्रयोजन, कारण का कारण। सम्यक्दर्शन कारण है, सम्यक्ज्ञान कार्य है। 'पंचास्तिकाय' में कारण-परमाणु, कार्य-परमाणु वर्णन है। वही परमाणु कारण-परमाणु भी है, वही कार्य परमाणु भी होता है। जब परमाणु स्कन्धपने को प्राप्त होवे, तब वह कारण परमाणु है। जब स्कन्ध से परमाणु रूप बने, तब कार्य परमाणु है। द्रव्य परमाणु, भाव परमाणु। परमाणु कार्य भी है, कारण भी है। कारण कब है ? जब परिणामों की विशुद्धि क्षपकश्रेणी की ओर ले जाये, तो ये तेरे कारण-परमाणु, भाव परमाणु। जब ये निम्न गुणस्थान से ऊपर की ओर जायें, तो कारण-परमाणु है, और जब निजगुण में स्थिर हो जाये, तो वे कार्य परमाणु हैं। पुनः देखो, सम्यक्दर्शन कारण-सम्यक्त्व है, कि कार्य सम्यक्त्व है।

इसलिए आगम की किसी भी विवक्षा को एकांगी कभी कहा नहीं जा सकता है। सम्यक्त्व सम्यक्ज्ञान के लिए कारण है, आपने पहले 'पुरुषार्थसिद्धि उपाय' में पढ़ा है। 'कारण कार्य विधानं' सम्यक्त्व ज्ञान के लिए कारण है। सम्यक्त्व स्वयं के लिए कार्य है और वही सम्यक्दर्शन, सम्यक्चारित्र के लिए भी कारण है। बिना सम्यक् के न तो ज्ञान में सम्यक्पना आता है, ना ही चारित्र में सम्यक्पना आता है। इसलिये दोनों के लिए सम्यक् कारण है। पर उस सम्यक् का कारण क्या है ? प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य, कर्म की प्रकृतियों का क्षय, क्षयोपशम ये सम्यक्त्व के कारण हैं और सम्यक्त्व कार्य हैं। यही कारण है कि पूर्वक्षणवर्ती परिणाम कारण है, उत्तरक्षणवर्ती परिणाम कार्य है। ये 'कारण कार्य विधानं' सर्वत्र लगाना। एक समयवर्ती परिणाम कारण कार्य है। 'कारण कार्य विधानं' हो जाये और समयभेद न हो, यह संभव है क्या ? हो सकता है, क्यों हो सकता है ? दीपक जला, प्रकाश हुआ, अंधकार गया। यह कब हुआ, कितने समय लगे ? एक समय में हुआ। कालभेद हो नहीं, कार्यभेद हो जाये, यह संभव है कि नहीं ? कार्यभेद होने पर भी कालभेद नहीं होता, और कालभेद होने पर भी कार्यभेद नहीं होता। और कार्य भेद में कालभेद हो जायेगा तो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्व की सिद्धि भंग हो जायेगी। उत्पाद भिन्न कार्य है, व्यय भिन्न कार्य है, ध्रौव्य भिन्न कार्य है, पर काल तीनों का एक है। उँगली द्रव्य है, सीधी पर्याय है। उँगली टेड़ी, तो पर्याय टेड़ी। द्रव्य के टेड़े किये बिना पर्याय टेड़ी कैसे हो गई ? यही हृदय का टेड़ापन है। ये पर्याय में टेड़ापन मानते हैं, परन्तु द्रव्य में टेड़ापन नहीं मानते। तत्व की परम भूल है। पर्याय बदलती है कि, द्रव्य बदलता है ? हे ज्ञानी ! द्रव्य के परिणमन का नाम ही तो पर्याय है। परिणमन की संज्ञा पर्याय है, परिणमन तो द्रव्य में है। द्रव्य में परिणमन नहीं होगा, तो पर्याय किसकी होगी ? इसे अच्छे से समझ लो। परिणमन की संज्ञा पर्याय है, लेकिन परिणमन पर्याय में नहीं, द्रव्य में हो रहा है। यदि पर्याय का परिणमन ही

परिणमन है, तो पर्याय अलग से परिणमन करेगी, द्रव्य अलग परिणमन करेगा, गुण अलग परिणमन करेगे, मालूम चला कि तीनों भिन्न-भिन्न हो जायेंगे, जबकि सिद्धांत-सूत्र कहता है :-

**पज्जय विजुदं दव्वं, दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि ।**

**दोण्हं अणणभूदं, भावं समणा परुविति ॥१२॥ पंचास्तिकाय ॥**

इसलिए ध्यान दो। आत्मा ही क्रोधी, आत्मा ही मानी, आत्मा ही मायावी, आत्मा ही लोभी है। यह भूलकर भी मत कह देना कि ये आत्मा की परिणति नहीं है। यदि पर्याय में हो रही हैं तो जब इस पर्याय (शरीर) में आग लगेगी, तो चारों कषायों भी जल जायेंगी, तू अकषायी हो गया, तू तो भगवान् बन जायेगा। क्यों? यह बताओ कि ये क्रोधादि भाव आत्मा के भाव हैं, कि मनुष्य पर्याय के भाव हैं? यदि तू ऐसा कहता है कि मनुष्य पर्याय के भाव है, तो जब मनुष्य पर्याय जल जायेगी, तो भाव भी जल जायेंगे। नहीं तो इसी पर कथा सुनाता हूँ। श्रेणिक चरित्र में पढ़ा होगा। चेलना ने मठ में आग लगा दी थी। क्योंकि उससे कहा गया था, कि जब हमारे गुरु ध्यानस्थ होते हैं, तब परमात्मा में लीन हो जाते हैं। तब चेलना ने विचार किया, कि जब परमात्मा में लीन हो जाते हैं, तो पुद्गल को जला देना चाहिए। जब पुद्गल जल जायेगा, तो उनको वापस रहने को स्थान नहीं मिलेगा, तो परमात्मा में लीन रहेंगे। हे मुमुक्षु! ध्यान रखना, यह जीव-तत्त्व का विपर्यास है, तत्त्वदृष्टि का विपर्यास है। कषायभाव पर्याय के भाव नहीं, कषायभाव पर्यायी के भाव हैं। पर्याय के निमित्त से प्रगट होते हैं। टी.वी. में कोई चित्र नहीं होते, टेलीविजन से चित्र देखे जाते हैं। वह तरंगों तो टी.वी. केन्द्र से छोड़ी जाती है। तो क्या मनुष्य पर्याय में कषाय नहीं होती है, तिर्यञ्च पर्याय में कषाय नहीं होती है, नारक पर्याय में कषाय नहीं होती, देव पर्याय में कषाय नहीं होती? कषाय तो तद् पर्यायी के अन्दर है, यह तो प्रगटन स्थान है। जैसा स्थान विशिष्ट होगा, वैसी कषाय विशिष्ट होगी। देव को लोभ विशिष्ट है, तिर्यञ्च की माया विशिष्ट है। विकारी-गुण पर्याय के प्रगटीकरण के लिए व्यञ्जन पर्याय है। मनुष्यादि, गुणपर्याय जैसी होगी, व्यञ्जनपर्याय का प्रदर्शन वैसा होगा।

हे मुमुक्षु! व्याप्य-व्याप्य संबंध है। फिर कहो कि यह पर्याय का सहभावी, अविनाभावी है। नरक पर्यायों होंगी, उसमें क्रोध पर्याय नियम से होगी। यह नरक-पर्याय का सहभावी परिणमन है। इसी प्रकार से जो यह जीव संसार-पर्याय में आयेगा, तो उसके कषायभाव आयेगे। अपने निज पुरुषार्थ से वह उनको शमन कर सकता है। वृक्ष में आम्रफल का प्रगटीकरण होगा, तो नियम से उसमें रस, गंध, वर्ण होगा। होगा, कि नहीं? यह कौन-सा संबंध है? सहभावी है। यह बहुत जटिल प्रश्न है। इन्होंने सहभावी कहा। सहभाव अवस्था को बदल सकते हैं, कि नहीं? ध्रुव सत्य यह है, कि यदि सहभावी में परिणमन नहीं मानोगे तो केवलज्ञान कभी नहीं होगा। इसलिए सहभावी अवस्था भी बदलती है। किसमें? द्रव्य में, गुण में, पर्याय में किसमें द्रव्य, गुण, पर्याय में। ध्यान दो यह तुम्हारी विषमता की अवस्था है। पुद्गल व जीव की क्या विडम्बना कहूँ। चार द्रव्य बड़े ही सुन्दर हैं। वे विजातीय को स्वीकार कभी नहीं करते, लेकिन दो द्रव्य ऐसे हैं, जो विजातीय को स्वीकार करते हैं। इसलिए मात्र दो तत्त्व में झगड़े हैं, चार द्रव्यों में सात तत्त्वों का कोई विकल्प नहीं। क्योंकि, इस जीव के अन्दर दो पर्यायों का एकसाथ परिणमन होता है। असामान्य जाति, सामान्य जाति। जब हम स्वरूप सादृश्य को निहारते हैं, तो स्वरूप सादृश्य में क्या निहारते हैं। मैं चैतन्य द्रव्य हूँ, ज्ञान-दर्शन मेरा गुण है, जीवद्रव्य में हूँ, मेरे में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य चल रहा है। तन का उत्पाद तन में चल रहा है, मेरे चैतन्य का नहीं। विभाव-व्यञ्जन-पर्याय को गौण करके, इस शरीर के परिणमन से मेरे किंचित भी विभाव-स्वभाव नहीं है। भटकना

नहीं, जिस नय से कह रहा हूँ उस नय से सुनो । शरीर के परिणमन से तेरा स्वभाव परिणमन नहीं है, चैतन्य के परिणमन से तेरा स्वभाव परिणमन है। ये चाहे बूढ़ा हो, लगड़ा-लूला हो । ये कैसा भी हो, कुब्जक भी हो, हुण्डक भी हो, तब भी संसार में नहीं रूला सकता है । चाहे समचतुरस संस्थान वाला हो, पर भाव का कुबड़ा है, तो समचतुरस संस्थान भी मोक्ष नहीं दिला पायेगा । किसी काले को देखकर चेहरा नहीं बिगाडना । यह कालापन चर्म का है, धर्म का नहीं है । गुण-पर्याय सबसे ज्यादा क्यों बिगड रही हैं ? हे ज्ञानी ! तू किसी माँ का लाल नहीं है क्या? किसी भगिनी का भैया नहीं है क्या ? तेरे पुत्र की माँ किसी की भगिनी नहीं है क्या? जिसकी वह बहिन है, उससे पूछना कि तू इसमें क्या देखता है । चरण छूता है और कहता है, कि मेरी बहिन हैं । भगिनी भाव से क्या परिणामों की विशुद्धि से खड़ा है ? तेरे पत्नि भाव से क्या परिणामों की अशुद्धि लिए खड़ा है ? द्रव्य एक है । काश ! तू पर की पर्याय को नहीं देखता, तू उसमें जीवद्रव्य निहारता तो हे ज्ञानी ! उसमें तुझे भगवान् नजर आते ।

व्यंजनपर्याय में गुणपर्याय को ले गया, इस कारण जगत में विषम/विजातीय पर्याय में भ्रमण करना पड रहा है । गुण-व्यंजन-पर्याय को द्रव्य-व्यंजन-पर्याय में न ले जाता, तो, हे ज्ञानी ! आज तू अशरीरी भगवान्-आत्मा होता । क्योंकि विभाव-व्यंजन-पर्याय है । देव, नारक, मनुष्यादि । विभाव-द्रव्य-व्यंजन पर्याय का आसरा क्यों लिया ? ये सब क्या है? विभावदशा है। यह क्यों है ? द्वैत के कारण । अचेतन है मिश्रधारा, चैतन्य की । हे भगवान् ! तलवार की धार पर चलना कठिन नहीं है, ध्यान दो, अपनी द्रव्य-व्यंजन-पर्याय को पर की द्रव्य-व्यंजन-पर्याय से रोकना कठिन है । द्रव्यानुयोग से चरणानुयोग का कथन करूँ । शील का पालन कठिन नहीं है । परन्तु ज्ञानगुण को, चर्म के धर्म में ले जाने से रोकना कठिन है । मनुष्य, घोड़ा कभी बूढ़े नहीं होते, इनके तन बूढ़े होते हैं इनकी वासनायेँ बूढ़ी नहीं होती हैं । इनको बाजीकरण (गरिष्ठ भोजन) मिलता है । आयुर्वेद की भाषा में बोल रहा हूँ ।

हे मुमुक्षु ! साधना के लिए ज्ञान ही चाहिए । साधना के लिए ज्ञान ही को वश में करना पडता है । जिसका ज्ञान वश में है, उसकी इन्द्रियाँ वश में होती हैं । जिसका ज्ञान वश में नहीं है, उसकी इन्द्रियाँ वश में नहीं है, उसका कुछ भी वश में नहीं है । लोगों ने बिजली के बटन चटकाना (बंद करना) सीख लिया, मुख्य बटन (मेन स्विच) पर ध्यान नहीं है। मेन स्विच बन्द कर दो, बिजली के बटन चटकाने की जरूरत नहीं है । ज्ञानी ! गइराई में पहुँच नहीं रहा है । जगत् के जीव कोई कान को वश में करना चाहते हैं, कोई नाक को वश में करने में लगे हैं, कोई आँख को । अरे मुमुक्षु ! ज्ञान को ज्ञान से वश में कर लीजिए । पाँच बल्व जो जल रहे हैं, उन पाँचों बल्वों में करंट एक है । हे ज्ञानी । पाँचों ही इन्द्रियों में ज्ञानधाराएँ जाती हैं । ज्ञानधारा को वश में नहीं करना । एक-सौ-बीस वर्ष के क्षुल्लक जी भिण्ड में विराजे हैं, जो अपनी क्रियाएँ स्वयं करते हैं । तन काम तभी देता है, जब ज्ञान स्थिर हो जाता है । जिसका ज्ञान चला जाता है, उसका तन जल्दी चला जाता है । आज जैनदर्शन में दुनियाँ के शब्द आ गये हैं, जैनदर्शन तो बहुत ऊँचा है । आप कहते हैं कि भगवन् ! जल्दी ठीक हो जायें । यह मिथ्यात्व है । सास परेशान कर रही है । मिथ्यादृष्टि । यह सम्यकदृष्टि की भाषा है क्या ? सम्यकदृष्टि 'कारण-कार्य विधान' जानता है । बहू क्या परेशान करेगी, सासू क्या परेशान करेगी? मेरे पूर्व का कर्म है । सासू द्वारा दिया गया कष्ट कार्य है, कारण तो पूर्व का कर्म है ।

मेरे अन्दर हृदय में एक बात गूँजती है 'कारण-कार्य विधान' ये जगत के बच्चों से लेकर बड़ों तक के हृदय में यह बैठ जाये, तो दुनियाँ के सारे के सारे विस्वाद समाप्त हो जायें ।

अब बताओ ये विकार पर्याय का था, कि परिणामों का था ? विकार पर्याय का नहीं था, पर्यायी का था । पर्यायी विकारों को शांत कर ले, तो पर्याय अभी बदलती है । यह असामान्यजाति पर्याय नष्ट होती है । सुनने में जितनी ताकत लगा रहे हैं आप, उतनी ध्यान में लगाने लग जाओ, तो मोह आपका विगलित होना प्रारंभ हो जायेगा । क्योंकि सुनने का मस्तिष्क भिन्न रहता है, सुनाने का मस्तिष्क भिन्न होता है, और ध्यान का मस्तिष्क भिन्न होता है, तथा श्रद्धा का मस्तिष्क भिन्न होता है । ज्ञान से मिलान करो । लोग कहते हैं कि जगत में सुख है, उससे थोड़ा और ऊपर ले जाओ। ज्ञान में पहले सुख मिलता, कि श्रद्धा में सुख मिलता ? ज्ञान बहुत कठिन विषय है । जो श्रद्धा में सुख है, वह कहीं नहीं है । आप टीचर हो, किसी के चेहरे पर बहती नाक को देखकर तुम मुँह सिकोड लेते हो। पढ़े-लिखे हो, मल में कोई सुख होता है क्या ? पर धन्य हो श्रद्धा के सुख को । स्वयं के सुत की नाक से अमृत नहीं झरता, वहाँ भी मल ही होता है, वह मल भी विसर्जित करता है, लेकिन अपने निज के सुत के मल को साड़ी से पोछ लेती है, आप अपने रूमाल से पोछ कर जेब में रख लेते हो, जैसे अमृत रख लिया हो । ये क्या था? बेटा भाव का राग । वह मोह न हो, तो कोई भी संतान का पालन नहीं करेगा । तो जैसे बेटे के राग ने मल पर वैराग्य उत्पन्न नहीं होने दिया, ऐसे ही श्रद्धा का राग मिथ्यात्व में राग नहीं होने देता । ये श्रद्धा का सुख है । बेटे का मल उठाने में तुझे आनन्द होता है, यह मोह का आनन्द है । अब सम्यक्त्व के आनन्द की बात करो । निर्विचिकित्सा अंग कहता है, कि आप अपने सधर्मों के मल को उठाने में द्वेष नहीं करते हो, यह है श्रद्धा । श्रद्धा मल में भी ग्लानि नहीं होने देती और अश्रद्धा भगवान् में भी ग्लानि कराती है ध्यान तो दो -

**“मुनितन मलिन न देख घिनावें, तत्व कुतत्व पिछाने ।”**

यह कौन करेगा ? जिसका सम्यक्त्व दृढ़ होगा । यानी मल उठाना धर्म है । आपने एक ब्रती की सेवा की । आचार्य महावीरकीर्ति महाराज आचार्य वीरसागर की वैयावृत्ति करने पहुँचे जयपुर । अपने हाथ से उनके मल को निकाला । जब कफ निकाला तो अंजलि आगे कर दी कि इसमें कर लो । वीर सागर जी ने कहा- नहीं, तुम मेहमान हो । तब महावीर कीर्ति ने उत्तर दिया-नहीं जो -

**“निशदिन वृत्यावृत्य करैया, सो निश्चय भव नीर तिरैया ॥”**

जब विपर्यास में इतनी श्रद्धा की, तो संसार है और समीचीन की श्रद्धा मोक्षमार्ग है । आनंद कहाँ है? श्रद्धा में । श्रद्धा नहीं है, तो ज्ञान भी आनंद नहीं देता, चारित्र भी आनंद नहीं देता । यदि श्रद्धा है, तो आनंद-ही-आनंद है । श्रद्धा है, इसलिए आप यहाँ सुन रहे हो, अच्छा लग रहा है आपको । प्राप्ति की आकांक्षा ही सुख है संसार में । पर की बहिन को पत्नी क्यों बनाया तुमने? प्राप्ति की आकांक्षा ने तुम्हें पराधीन कर दिया, तूने सुख मान लिया । एक असामान्य जाति के राग का फल है ।

तो क्या चर्चा चल रही थी ? आम का फल पहले पीला नहीं था हरा था । पीला हुआ, तो सहभाव था, कि नहीं? सहभाव में परिवर्तन हुए बिना आम पकता नहीं है । रस का रसत्व भाव ज्यों-का-त्यों है । परन्तु रस में परिणमन हुए बिना खट्टा आम मीठा हो नहीं सकता । खट्टेपन में मीठापन नहीं आया, रस गुण में परिणमन हुआ है । ज्ञानगुण की त्रैकालिक पर्याय ज्ञान मात्र ही ग्रहण करना । सहभाव यानी जिसका न हो कभी अभाव । में तिर्यञ्च योनि में जाऊँ, नरक में जाऊँ, देव बनूँ, सिद्ध बनूँ लेकिन मेरे ज्ञान का कभी अभाव नहीं होगा, ज्ञान गुण में परिणमन होगा, उसको नाना रूप नाम दे दिये जायेंगे, मति, श्रुत, अवधि आदि । आत्मा का सहभाव गुण क्या है, ज्ञान । यदि हम सहभाव में परिणमन नहीं मानेंगे, तो ज्ञान में परिणमन नहीं होगा, तो अशुद्ध ज्ञान

का शुद्ध ज्ञान रूप परिणमन नहीं हो पायेगा और आत्मा त्रैकालिक भगवान नहीं बन पायेगी। यह द्रव्यानुयोग का सिद्धांत है, फिर करणानुयोग का सिद्धान्त कितना गहरा होगा ?

पर-भावों से हटाना बुद्धि का विषय है। जैसे शरीर के परिणमन में चेतना काम करती है, वैसे ही चारों अनुयोग के परिणमन में, ज्ञानी जो चर्चा चल रही है वर्तमान में, यही काम में आयेगी। किसी भी अनुयोग को पढ़ना, पर इसके अभाव में कोई भी अनुयोग चलता नहीं। इसलिए जब विजातीय पर्याय में स्वजाति रहेगा, तब इस जीव के परिणमन से ही शरीर में परिणमन चलेगा। फिर भी स्वतंत्रता देखेंगे, तो जीव का जीवत्व परिणमन है, पुद्गल का पुद्गलत्व। शरीर थक जाये, वृद्ध हो जाये, उससे भी मोक्ष जा सकते हैं और आठ वर्ष के शरीर से भी मोक्ष जाते हैं। फिर शरीर के राग को छोड़कर के दो ही पर्याय देखना, एक नहीं देखना। इस शरीर का उत्पाद-व्यय स्वतंत्र है, मेरा उत्पाद-व्यय स्वतंत्र है। प्रत्येक दर्शन शाब्दिक कथन को करना जानता है, चार्वाक को छोड़कर। आत्मा के बारे में ध्यान देना, 'चेतना' शब्द का ज्ञान भी चेतना की प्राप्ति नहीं है। 'ध्रुव-ज्ञायक-भाव' शब्द का प्रयोग भी ध्रुव-ज्ञायक-भाव नहीं है। श्रद्धा होना चाहिए।

जिस भवन में मैं निवास कर रहा हूँ, उस भवन का कौन-सा कण तेरी चेतन पर्याय में सहयोग करेगा ? जिस दिन तेरी अर्थी उठेगी, उस दिन सब छूट जायेगा। आज पर के राग में रो रहा है, कल तेरे राग में कोई रोयेगा। तू किसको रो रहा है। जब ईट-चूने के मकान की एक ईट मेरे साथ जानेवाली नहीं है, फिर इस तन की सुन्दरता भी इस चेतन के साथ जाने वाली नहीं है। आप अपनी जवानी का फोटो देखों, और आज की पर्याय को देखो। वह संभाल नहीं पाया, तो अब चेतन में, आत्मा में सम्हल कर रहो, तो चिद्रूप भगवान्- अवस्था को प्राप्त कर लगे। शुद्ध सोना तो सोलह ताव का ही होता है, पर अशुद्ध सोने में सोने का अभाव नहीं है, लेकिन शुद्ध सोना नहीं है। सविकल्प अवस्था में मिथ्यात्व, विषय-कषाय, दुर्विभाव से बचने के लिए पूजन-पाठ करना, मूलगुणों का पालन करना, भक्ति-स्तुति करना भी अप्रयोजनीय नहीं हैं। ये भी प्रयोजनभूत हैं। कैसे ? सोने के आभूषण के लिये लाख वाला ही सोना चाहिए। पर शुद्ध सोना तो डली का सोना है, आभूषण में कहाँ मिलता है। फिर भी कुण्डल भी सोना है। इसी प्रकार से भगवान की आदि भक्ति करना धर्म ही है। पर शुद्ध धर्म नहीं है, व्यवहार धर्म है। परन्तु स्वाहा-स्वाहा में ही जीवन नहीं निकालना है। शुद्ध को शुद्ध जानना चाहिए, भाना चाहिए। सोलहताव का शुद्ध सोना अभेद से प्रयोजनभूत है, निष्प्रयोजन नहीं है। निचली भूमिका में व्यवहार प्रयोजनभूत है, ऊपरी भूमिका में निश्चय प्रयोजनभूत है। अप्रयोजनभूत कोई नहीं है। चौथे गुणस्थान में सबकुछ लगाकर बैठ जाते हैं, यह ठीक नहीं है। ऐसा कहना चाहिए ताकि जो तत्त्व की भूल किये बैठे थे, वे संभल जायें। चतुर्थ गुणस्थान में शुभोपयोग होता है, और प्रमत्त-अप्रमत्तदशा में भेद रत्नत्रय में ठहरना। अभेद रत्नत्रय में ठहरना। जब तक सरागदशा है, तब तक निर्विकल्प दशा नहीं है। निर्विकल्प ध्यान तभी होगा, जब भेदाभेद रत्नत्रय तेरी आत्मा में आयेगा।

**॥ भगवान महावीर स्वामी की जय ॥**

आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव सात तत्त्वों की विशद प्ररूपणा करते हुए, यहाँ कथन करने जा रहे हैं। वही द्रव्य भूतार्थ है, वही अभूतार्थ भी है और युगपत् व्यवहारदृष्टि से भी लौकिक कार्यों में भी एक ही द्रव्य भूतार्थ होता है, अभूतार्थ भी होता है। एक क्षण को हम लौकिक व्यवस्था देखें, फिर आगे चले, भूख लगी है, तो भोजन भूतार्थ है। उपवास है आपका, तो वही भोजन आपके लिए अभूतार्थ है। गर्मी चढ़ गई तो कालीमिर्च भूतार्थ है। उसी कालीमिर्च को घी-शक्कर के साथ खाओगे तो भूतार्थ है, और उसी कालीमिर्च की उकाली गर्मी के दिनों में अभूतार्थ है। कालीमिर्च वही है। वही कालीमिर्ची गर्मी में भूतार्थ भी है, अभूतार्थ भी है। ऐसे ही हमारी आत्मा जब अशुभ भाव में परिणमन करे, तो वही आत्मा अभूतार्थ है। वही आत्मा शुभभाव में परिणमन करे तो भूतार्थ है। जब आत्मा की परिणति स्वभाव-अभिमुख हो जाये, तो भूतार्थ है और स्वभाव से विमुख हो जाये अभूतार्थ है। ध्रुव आत्मा एक है। अब आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी से पृच्छना करें 'प्रवचनसार' में, कार्तिकेय स्वामी से पृच्छना करें 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में, योगीन्द्रदेव स्वामी से पृच्छना करे 'परमात्म प्रकाश' में। यह तीनों आचार्य जीव को पुण्यजीव और पापजीव कहते हैं। कोई पुण्य या पाप किसी जीव के बाहर से नहीं आता। एक क्षण में पुण्य-पाप जीव होता है। जब ये परिणाम विषयकषाय में लिप्त होते हैं, तब कहना अपने आप से हे ! पापी जीव ! क्या कर रहा है ? उस समय तेरी आत्मा पापजीव है। सहज परिणमन होता है। क्यों ? अशुभभाव/विकारीभाव मन में सताते हैं। सत्य बताना क्रिया भले उस रूप करने लग जाओ, मन उसे शुभ नहीं कहता। गुणस्थान परिवर्तन हो सकता है, परन्तु भेष वही रह सकता है। अब ध्यान दो, आगम में अंत-अंत तक गुणस्थानों का वर्णन किया है। कषाय ही पाप है, दसवें गुणस्थान तक चल रही है, कषायभाव को पाप कहेंगे, तो दसवें गुणस्थान तक पापजीव है। तब ग्यारहवें गुणस्थान से पुण्यजीव चलेगा। सूक्ष्म कषाय। जब हम इतना गहरा कथन नहीं करेंगे, सामान्य कथन करेंगे, तो अनंतानुबंधी कषाय के साथ पापजीव है और शेष कषाय की सत्ता में पुण्यजीव है। अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान कषाय की रक्षा हो रही है। इनकी रक्षा होते हुए भी यदि आर्त्त-रौद्र ध्यान कर रहे हैं, वह जीव जो चौथे या पाँचवें गुणस्थान में विराजते हैं, तब भी अशुभ ध्यान की अपेक्षा से वे पापजीव ही हैं, क्योंकि सम्यक्त्व और एकदेश चारित्र पूज्य हैं, न कि आर्त्तरौद्र ध्यान की परिणति पूज्य है। जो निर्जरा हो रही है, वह सम्यक्त्व और एकदेश चारित्र से हो रही है, न कि उनकी अशुभ क्रिया से हो रही है।

भोग भोगते सम्यग्दृष्टि को कर्मों की निर्जरा हो रही है, यह एकान्तिक कथन नहीं है, इसे एकान्तिक कह कर तू कहाँ जा रहा है? भोगों से समाधि की ओर? भोगों से सल्लेखना होती हो, भोगों से ध्यान लगता हो, भोगों से सिद्धि होती, तो चतुर्थ गुणस्थान में बैठकर भोगों का पोषण मत करना। सम्यक्त्व की पुष्टि के राग में, ध्यान दो, सम्यक्त्व का राग भी राग ही है। चारित्र का राग यथाख्यात में प्रवेश नहीं करने देता। राग सम्यक्त्व नहीं है, सात तत्त्वों पर श्रद्धान सम्यक्त्व है। राग और श्रद्धान में बहुत अन्तर है। श्रद्धान एक तत्त्वरुचि है, राग एक कषाय-परिणति है। भोग भोगते हुए भी कर्मों की निर्जरा होती है। पहले तो ध्यान दो, ये सम्यक्दर्शन का राग भोगों की पुष्टि में ले जा रहा है तुम्हें, जबकि आगम का यह वचन नहीं है। आगम यह कह रहा है, कि सम्यक्त्व की महिमा ऐसी है कि सम्यक्त्व के सद्भाव में सम्यक्त्व जन्य निर्जरा है, न कि भोगों की सत्ता में भोगों द्वारा कर्म की निर्जरा है। उस देशसंयमी से कह देना कि तेरा नाम संयमासंयम है, तो जितने अंश में तू सम्यक्त्व का पालन कर रहा है उतने अंश में ही संयम है। असंयमभाव संयम नहीं है। संयमासंयम-भाव-पंचम-गुणस्थान में, जो त्रसहिंसा का त्याग है, वह तदनुकूल संयमभाव है और जहाँ

स्थावर हिंसा का त्याग नहीं है, वहा असंयम भाव है। तो क्या संयमभाव से संयमभावजन्य निर्जरा होगी, कि तू जो असंयम भी कर रहा है उससे निर्जरा होगी ?

तत्त्व दृष्टि से सुनो, नीर-क्षीर भिन्न करो आप। संयम, संयम हैं, असंयम, असंयम है। माना कि आपने रात्रिभोजन का त्याग नहीं किया, और दूसरे भैया ने कर दिया। और दोनों से भोजन करने के लिए बोल रहे हैं। उनमें से जिसने रात्रिभोजन का त्याग किया था, वह कहता है कि मैं तो नहीं खाऊँगा। पर दूसरा कहता है कि जिनका त्याग है वे न खायें, उन्हें खाने से पाप पड़ेगा, पर मेरा त्याग नहीं है, मैं तो खा सकता हूँ। लेकिन, हे ज्ञानी ! तूने त्याग नहीं किया था, इसलिए तू खाने बैठ गया, पर यह बताओ कि त्याग नहीं किया था तो क्यों? पाप के बंध ने भी तेरे लिए त्याग कर दिया था क्या ? ध्यान दो, तूने त्याग नहीं किया, तो क्या रात्रि में भोजन करने से पाप का बंध नहीं हो रहा था ? जिसने त्याग किया, वह खाता तो उसे पाप का बन्ध होता, और तूने त्याग नहीं किया, क्या तेरे लिए पाप के बन्ध का अभाव हो गया ? इस भ्रम को निकालो, कि हम तो अग्रती हैं, सो चलता है, हमारा कौन व्रत है। इतना ध्यान रखना कि व्रत नहीं है, सो तुम खा रहे हो, इसका मतलब यह मत समझ लेना, कि पाप का बंध नहीं होता। तुझे दोगुना पाप का बंध हो रहा है। एक त्याग नहीं है, सो कषाय बैठी है। क्यों नहीं त्यागा? उसके प्रति राग है। खा क्यों रहा है? तीव्र राग। दोगुना पाप का बन्ध हो रहा है। इसलिए देशसंयमी, पंचम गुणस्थानवर्ती संयमासंयमी जीव न सोच ले, कि मेरी तो निर्जरा ही हो रही है। जितने अंश में तुम संयम का पालन कर रहे हो, उतनी ही निर्जरा है। जितने अंश में असंयम का सेवन करो, उसमें निर्जरा नहीं है, वह तो बंध ही है। ऐसे ही यूँ कहता है कि सम्यक्दृष्टि को भोग भोगते कर्मों की निर्जरा होती है। अरे ! सम्यक्दृष्टि को भोग भोगने से निर्जरा नहीं होती है, सम्यक्दृष्टि को भोगों की सत्ता में जो सम्यक्त्व बैठा है, उससे निर्जरा हो रही है, भोगों से नहीं। यदि भोग निर्जरा के साधन बन जायेंगे, तो योग की चर्चा क्यों ? चतुर्थ गुणस्थान में भी सम्यक्दृष्टि जीव यदि क्षायिक सम्यक्त्व में बैठा तो, तीन में से कोई भी सम्यक्त्व है तो सम्यक्त्व सम्बन्धी निर्जरा का अभाव नहीं होगा। संयम का पालन तो कर ही नहीं रहा वह, असंयम का सेवन कर रहा है परिपूर्ण रूप से, लेकिन अन्दर में जो श्रद्धा बैठी हुई है वीतरागता के प्रति, उतनी निर्जरा हो रही है। आंशिक तदजन्य समझना। पर वह निर्जरा मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं है, क्योंकि अपना दर्शन सत्य कहनेवाला है, हम उसके प्रति यह भी नहीं कह सकते कि हो नहीं रही है। हो रही है। कौन-सी? सविपाका ये वचन विशुद्ध सागर के मत समझना, आचार्य कुन्द-कुन्द के वचन हैं।

**सा पुण दुविहा गेया, सकाल पक्का तवेण कयमाणा ।**

**चदुगदियाणां पढमा, वयजुत्ताणं हवे विदिया ॥६७॥ वारसाणुपेक्खा ॥**

दूसरी निर्जरा तो व्रतियों की होती है, प्रथम निर्जरा तो जगत के प्रत्येक प्राणी की होती है। कर्म फल देकर निर्जीर्ण हो गये। वह तो सबके हो रहे हैं। फल देकर ही फूल झरता है। नहीं मानो तो केले के बगीचे में चले जाओ। केले का बड़ा फूल होता है। जैसे-जैसे पीछे फल आते जाते हैं, वैसे-वैसे फूल मुरझा जाता है, और जैसे-ही फल बड़े हुए, वैसे ही फूल नीचे गिर जाता है। जैसे-ही फल मिला, फूल गिरा। कर्म का फल मिला, कि कर्म का फूल गिरा। वह निर्जरा तो सबको चल रही है। जितने विशाल पुष्प देखना हो, तो कर्नाटक, महाराष्ट्र जाओ। कितना सुंदर सिद्धांत जैनदर्शन का है। फल देकर खिर जाना, ये सविपाक निर्जरा है। तो फल देकर ही तो खिरता है फूल। यानी हमारा दर्शन/सिद्धांत पूरी प्रकृति को लेकर चलता है।

गन्ने का खेत देखा होगा। गन्ना के रसवंत होते ही या तो रस निकाल लो, नहीं तो गन्ना सूखना प्रारंभ कर देता है। जैसे-ही रस आया गन्ने में, उसे निकाल लेते हैं। जैसे ही रस मिला, कि सूखा। आप ऐसे ज्ञानीजीव है, जिसने रस चूसा और गन्ना फेंका। आपके परिवार ने आपका रस चूसा कि फेंका। जब-तक आत्मा का रस इस तन में भरा है, तब-तक ये परिजन चूस डालेंगे। जैसे-ही आत्मा का रस गया, ये तुझको जलाकर आ जायेंगे। क्योंकि गन्ने के खेत में आग लगाते हैं लोग। ऐसे ही एक पर्याय की शरीर से फसल (आत्मा) निकल गई, तो आग लगा दी। अब भी न समझो तो आप जानो, आपका काम जानो।

कहाँ थे ? पुण्यजीव, पापजीव। सकषाय पापजीव, अकषाय पुण्यजीव। कुछ लोग यह मान बैठें हैं, भोग भोगने से निर्जरा होती है। नहीं, भोगों से निर्जरा किंचित भी नहीं होती। हाँ, होती है, चतुर्थ गुणस्थान की बात कर रहा हूँ, मिथ्यादृष्टि की बात कर रहा हूँ। ध्यान दो, भोग भोगने से भी निर्जरा हो जाती है। हे ज्ञानी ! तू अरहंत की पूजा करेगा, तो क्या निर्जरा नहीं करेगा ? किसकी? अशुभ की। अरे ! भोगी भोग भोगेगा तो क्या निर्जरा नहीं करेगा? पुण्य की निर्जरा कर बैठेगा, पाप का बंध करेगा, पुण्य को नष्ट कर देगा। जैसे पुण्य करने से अशुभ की निर्जरा हो जाती है, ऐसे ही पाप करने से पुण्य की निर्जरा हो जाती है। दो धाराओं में समझना है। "बंधेऽधिकौ पारिणामिकौ च"। क्या कारण है, कि चार दिन पहले करोडपति था, आज रोडपति हो गया। अचानक तुझे क्या हो गया ? इतना अशुभ कर बैठा, कि जो पुण्य का द्रव्य रखे था, उसका पापरूप में संक्रमण हो गया। तो कुछ शुभ की निर्जरा भी कर बैठा। निर्जरा कर बैठना, यानी निर्जीण कर देना, जला देना। उसने जला दिया। यदि आप पुण्य करते हो न तो रोडपति को करोडपति होते देखा जाता है। जिनके द्वारे पर हाथी झूमते थे, वहाँ श्वान नहीं बैठता। जिन पर मक्खी भिनभिनाती थी, आज वहाँ पंखा चल रहे हैं सोचो। यह क्या है ? तटस्थ होकर निहारिये -

**ज्ञाता दृष्टाऽहमेकोऽहं, सुखे दुःखे न चापरः ।**

**इतीदं भावनादाढ्यं, चारित्रमथवा परम् ॥१४॥ स्वरूप संबोधन ॥**

यहाँ लगाना। चमर को भी देखों, मक्खियों को भी देखो, और दोनों मेरे से अत्यन्त भिन्न हैं। मक्खियाँ भी मेरा स्वरूप नहीं हैं, चमर भी मेरा स्वरूप नहीं है। मैं तो अचरम स्वरूपी हूँ। यह साधु-स्वभाव है। तुम जगत् के लोगों को गाली देने में चूकते नहीं हो, पर वह गाली आप पर भी लागू होती है। किसी को पापी कह दिया, वह पापी हो या न हो, पर तेरी दृष्टि में पापपर्याय के प्रति द्वेषभाव झलक रहा था, सो तू पापी कह रहा था। तत्काल में तेरी परिणति क्या थी? तू पर की निन्दा कर रहा था, तू कषाय से भरा था, कि नहीं? तू भी तो पापी है। भाग्यवान् जीव ही भगवान् की स्तुति कर पायेगा, अभागा निन्दा ही कर पायेगा। और हमारे यहाँ भगवान् एक नहीं है, पंचपरमेष्ठी भगवान् हैं। भगवान् महावीर की आराधना में आदिनाथ की अवहेलना नहीं कर बैठना। आप भगवान् महावीर की प्रतिमा विराजमान करना चाहते हो, तो भगवान् आदिनाथ की निन्दा मत करना। ठीक है आप भगवान् महावीर के भक्त हो, उनकी प्रतिमा विराजमान कर लो। पर यह मत कहना, कि हम भगवान् महावीर को ही सच्चा मानते हैं। अन्यथा तेरी दृष्टि खोटी है। तूने तीर्थकर के तीर्थकरत्व पर दृष्टि नहीं डाली। तूने एक पर्याय विशेष को देखा है। धर्म नहीं है तेरे पास। तीर्थकर के स्वरूप में कोई भेद नहीं है। जो मूलगुण उनके पास हैं, वही दूसरे के पास हैं। आचार्य के छत्तीस मूलगुण एक ही आचार्य के पास नहीं, सभी आचार्यों के पास हैं। पर्यायों में देखकर पर्यायी की अवहेलना मत कर बैठना। आज आप पुण्य-पाप जीव का कथन कर रहे हो, इसमें समझना है, उलझना नहीं है। हृदय के तत्त्वों को



सुलझा कर चलना है, क्योंकि यही मौका है सुलझने का, छठवें काल में कोई मौका नहीं है। कुछ लोग कहते हैं कि आप सभी के प्रति एक भाव रखते हो। हमने कहा यह यहाँ समझ में नहीं आयेगा, हमारे साथ चलना सिद्धालय की ओर तुम टेड़े होकर चलोगे तो निगोदिया बनकर चलना। जो सीधे चले, वे सिद्ध हो गये और जो टेड़े चले वे निगोदिया बन गये।

हे ज्ञानी आत्माओ ! अभी तुम संभले हो, समय के साथ हो। परिणामों के साथ हो, मैं तो भावना भाता हूँ, कि इस लोक में त्यागी ही नहीं, कोई भी जीव हो, ब्रह्म हेमरेज होकर मृत्यु न हो। ये युवा पर्याय भी शाश्वत नहीं है। एक माला ज्यादा फेरना आज से। मोक्ष के लिए नहीं, क्योंकि मोक्ष तो चाहने से मिलता नहीं है,

**मोक्षेऽपि यस्य नाकांक्षा, स मोक्षमधिगच्छति ।**

**इत्युक्तत्वाद्हितान्वेषी कांक्षां न क्वापि योजयेत् ॥२१॥ स्वरूप संबोधन ॥**

मोक्ष भी तभी मिलेगा, जब मोक्ष की आकांक्षा चली जायेगी। जब मोक्ष की आकांक्षा करने से मोक्ष नहीं मिलता, तो रागी-भोगी के साथ आकांक्षा करने से कैसे मोक्ष मिलेगा ? फिर माला किसलिए ? अन्तिम समय में मैं मरते न मरूँ। अन्तिम समय में चेतना के साथ मरूँ। इसलिए माला फिरवा रहा हूँ। 'णमो अरहंताणं'। जाग्रत मरण करो। जिसने जाग्रत मरण कर लिया, उसे नियम से मोक्ष होना ही है। 'मूलाचार' में आचार्य वट्टकेर स्वामी ने लिखा है 'णमो अरहंताणं' की जाप करनेवाला नियम से विशुद्ध समाधि को प्राप्त होता है। पूरा णमोकार की जाप के साथ, एक माला णमो अरहंताणं की जाप करना। सहज, शीतल भाव से करना।

प्रश्न- 'चलते फिरते भी पढ़ सकते है क्या ?' उत्तर - चलते-फिरते पाप करने के लिए सब छूट है और चलते-चलते टकरा गये तो, फिर ? यह अज्ञानी की भाषा है, जिन्होंने भक्तामर, णमोकार, पूजा छुड़वा दी। हमें आगम की बात मानना है। मैं देव की बात नहीं मानता। तू देव है, परमेष्ठी नहीं है। तेरा झूठ बोलने का त्याग नहीं है। मंदिर में भगवान् की पूजा करने वाले कम हैं, माँगने वाले ज्यादा हैं। देवों के पास भिखारी जाते हैं, भक्त नहीं।

**विघ्नौघाः प्रलयं यान्ति, शाकिनी-भूत-पन्नगाः ।**

**विषं निर्विषतां याति, स्तूयमाने जिनेश्वरे ॥**

भक्त गुणों में अनुरक्त होता है, भिखारी विषयासक्त होता है। जिन्हें आत्मबोध नहीं है, वे अरहन्त भगवत् के द्वार पर भी आकांक्षा से भरकर आते हैं, जिनदेव गुरु की वाणी नहीं मानते। देव के नाम पर भयभीत होकर सत्यार्थ मार्ग से भ्रमित होकर दीर्घ संसार की वृद्धि करते हैं। जिनकी भवितव्यता ही खोटी है, उन्हें कौन सुधार सकता है ? सरागी सरागता की ओर ही दौडते हैं। अरहन्त की भक्ति से पूर्व संचित कर्मों का क्षय स्वयमेव हो जाता है, यह आगम वचन है। विश्व के सम्पूर्ण विघ्न, शाकिनी, भूत प्रलय को प्राप्त हो जाते हैं। विषधर का विषय भी निर्विष हो जाता है जिनेश्वर के स्तवन करने मात्र से।

महामंत्र णमोकार की आराधना से सभी अभ्युदय सिद्ध होते हैं। ज्ञानी ! विचार तो कर। जिस मंत्रराज की आराधना से निश्रेयस सुख प्राप्त होता है, यानी मोक्षसुख प्राप्त होता है, उससे क्या संसार के सुखाभास दुर्लभ हैं ? वे तो मिल ही जाते हैं। अहो प्रज्ञ ! स्वप्रज्ञा से विचार कर। जगत की विषयाशक्ति से निज आत्मदेव की रक्षा कर। व्यर्थ में किसी के कहने से देवपूजा, णमोकार, भक्तामर की आराधना,

जिनाभिषेक मत छोड़ देना, सत्यार्थ मार्ग से च्युत नहीं हो जाना। श्रावक के लिए उक्त कार्य अनिवार्य है बिना आकांक्षा के करना और वीतरागी श्रमण दशा की प्राप्ति का लक्ष्य रखना। पर-भावों से निज-भाव को भिन्न स्वीकारते हुए, निजभाव में लीन होने के लिए।

## ॥ भगवान महावीर स्वामी की जय ॥

५ ५ ५

आचार्य-भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी का 'समयसार' अपने आप में विराट है। विश्व में जितने तत्व हैं, वह इसी प्ररूपणा में हैं। चाहे आप व्यवहार की बात करे या, निश्चय की बात करें, चाहे लौकिक तत्व का व्याख्यान करें, चाहे अलौकिक तत्व का व्याख्यान करें, तत्व दो रूप में चलता है, निश्चय व्यवहार ये भाषा का भेद वस्तु का भेद है नहीं है। आटे में कोई पराठा देखता है, तो कोई पूड़ी देखता है तो कोई रोटी देखता है, पर्यायजन्य भेद है, स्वाद में भी भेद है, लेकिन आटेपन के स्वभाव में भेद नहीं है। यदि हम स्वाद में भेद नहीं मानेंगे तो पर्याय की प्रत्याशक्ति का विनाश हो जायेगा। जीवद्रव्य है, नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य आदि ये इसकी पर्याय भेद है और पर्यायभेद है तो 'विपाकोऽनुभवा' उसके विपाक भी भिन्न-भिन्न हैं, वेदन भी भिन्न-भिन्न हैं। फिर भी जीवत्वपने में भिन्नत्वपना नहीं है। इसी प्रकार से एक जीव बाँस के माध्यम से बाँसुरी बना रहा है, एक लाठी बना रहा है। दोनों की क्रियाओं में भेद है, दोनों की परिणति में भेद है, दोनों के कार्य में भेद है। एक घातक है, दूसरा वशीकरण करनेवाली बाँसुरी है, लेकिन बाँसपने में भेद नहीं है। यह मैं क्यों कह रहा हूँ जो तत्त्व शुद्धत्व का कथन करने वाला है, सिद्ध भगवन्त की बात कह रहा है जिस विद्या से हम सिद्धों का ज्ञान करते हैं, उसी विद्या से संसारियों का ज्ञान होता है। जो ज्ञान की धारा अशरीरी बनने में जाती है, वही ज्ञान की धारा नाना शरीरों की प्राप्ति में जाती है। जो ज्ञान की धारा नाना शरीरों की प्राप्ति में जाती है, वही ज्ञान की धारा अशरीरी भगवान बनने के लिए है। सिद्धत्व का उदाहरण तीन गतियों में नहीं हो सकता, पर सिद्धत्व का श्रद्धान चारों गतियों में हो सकता है। अब यूँ कहना चाहिए चारों गतियों का जीव मोक्षमार्गी होता है, पर मोक्ष जाने के लिए मात्र मनुष्यगति होती है।

### “सम्यकदर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः ॥” ॥१/१ त.सू. ॥

यह सूत्र है। इस सूत्र में जो दो ऊपर हैं, उनका कारण सम्यक्त्व है, उनका कार्य ज्ञान और चारित्र है। जब कारण मुख्य है, और कारण जो है। सम्यक्त्व जहाँ है, वहाँ ज्ञान भी सम्यक्त्व है, नरक में विराजा नारकी, कुटता-पिटता हुआ भी मोक्षमार्गपने को नहीं छोड़ता, नरक में पड़े सम्यक्दृष्टि नारकी को कितना कष्ट सहन करना पड़ता है, अस्त्र-शस्त्र से घात भी हो जाता है, फिर भी सोचता है कि यह तन का घात है, यह कर्म का विपाक है। लेकिन श्रद्धा में किंचित भी संशयपना नहीं है। सर्वज्ञ ने जो कहा वह सत्यार्थ है, पर हमने नहीं स्वीकारा, इसलिए नरक है। सर्वज्ञ के उपदेशों में नरक नहीं है। ऐसे नरक का नारकी भी -

वरं नर्कं वासोऽपि सम्यक्त्वेन समायुता ।

न तू सम्यक्त्वं हीनेन दिव राजते ॥सार समुच्चय॥

सम्यक्त्व के साथ नरक में निवास करना श्रेष्ठ है, सम्यक्त्व रहित होकर स्वर्ग में निवास करना श्रेष्ठ नहीं है। नरक का नारकी यदि सम्यक्दृष्टि है तो मोक्षमार्गी, स्वर्ग का देव यदि मिथ्यादृष्टि है तो संसारमार्गी। 'धवला' जी की नौवीं पुस्तक में नरक के नारकियों को भी कृतिकर्म लिखा। वह नारकी भी कृतिकर्म करके वंदना करता है, तो वह असंख्यात-गुण-श्रेणी कर्म निर्जरा करता है। आकर के सीधे 'नमोस्तु स्वामिन्'

कह दिया, यह मुण्ड वंदना है और आकर जो पूरी भावना से कायोत्सर्ग करता है, तीन आवर्त करता है शिरोनति करता है "थोरस्सामी ..... बोलता है। यह कृतिकर्मपूर्वक वंदना है। इस वंदना करने से असंख्यात गुणश्रेणी कर्म की निर्जरा होती है। नरक का नारकी कैसे वंदना करता है? तिर्यञ्जगति में चलें, तो भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी के जीव से पूछो, वह किस प्रकार से बारहव्रतों का पालन करते हैं। ये अवश्य है, कि संख्या न्यून हो सकती है, पर सत्ता का अभाव नहीं है। सम्मूर्च्छन, तिर्यञ्च भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकते हैं। सम्मूर्च्छन तिर्यञ्च भी देशव्रत को धारण कर सकते हैं। जो त्रिर्यञ्च जितने कम समय तक गर्भ में रहता है वह तिर्यञ्च उतनी जल्दी सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर सकता है। और जो जीव जितने अधिक समय तक गर्भ में निवास करता है, उतनी ही देर में वह सम्यग्दर्शन प्राप्त कर पाते हैं। यही कारण है, कि स्वर्ग के देव अन्तर्मुहुर्त में सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेते हैं, क्यों? क्योंकि वह गर्भ में वास नहीं करते हैं। एक ढोल की पोल से गिरता है, दूसरा उपपाद शय्या से उठता है। नरक का नारकी ढोल की पोल से गिरता है, स्वर्ग का देव उपपाद शय्या से उठता है।

अहो! इन पर्यायों को नहीं देखो उस समय की क्षणवर्ती पर्याय को देखो। परिणामों की उस क्षणवर्ती पर्याय को देखो। जिस समय आप पड़गाहन कर रहे थे। बहुत दिन से विचार चल रहा था, कि कोई योगीश्वर हमें प्राप्त हो जायें, उत्तम पात्र मिल जायें। अचानक प्रथम दिन ही आपके सामने मुनि महाराज खड़े हो गये। सत्य बताना, आहार देते समय की बात तो भूल जाओ, जिस क्षण आपके सामने खड़े हो गये थे, उस क्षण की अनुभूति को भूल जाओ, तत्क्षण की पर्याय का व्याख्यान करो। इसमें चतुर्थ/पंचम काल को हटा दो। तत्क्षण की पर्याय को निहारिये। सिद्धांत कहेगा कि यही तो रासायनिक क्रिया है। तू भिन्न द्रव्य था, वह भिन्न द्रव्य था। श्रद्धा की दृष्टि से तूने पड़गाहन किया, एक तपस्वी को देखकर मन में जो गदगद भाव हुआ है, यही परिणामों की परिणति का संक्रमण हुआ है। इधर परिणामों की परिणति का संक्रमण हुआ, उधर कर्मों का संक्रमण हो गया और इधर अपकर्षण भी हो गया, उत्कर्षण भी हो गया। कितने सारे काम चल रहे हैं। कुल मिलाकर प्रत्येक कार्य के समय, जाग्रत होकर वेदन करके काम करें, तो अनुभूति शुभ मिलती है। आप क्रियाएँ तो कर रहे हैं परन्तु वेदन करके नहीं कर रहे, इसलिए आनंद नहीं आता। जैसे- आप यहाँ विराजे हो, आप चिन्तन करो, कि मैं 'समयसार' की वाचना में उपस्थित हूँ, देखो मेरी इस समय परिणति कैसी चल रही है? इस क्षण में घर में होता तो कैसे विकारी भाव होते। अहो! इस क्षण को मैं दस वर्ष बाद सोचूँगा, तो मुझे सपने-सा लगेगा। लेकिन दस वर्ष के बाद भी इस क्षण का चिंतन तेरी कर्मनिर्जरा का कारण बनेगा। कैसे? अभी कुछ दिन पहले आप चौथी गाथा पढ़ चुके हैं। दृष्टश्रुत, अनुभूत। जब हम विषयसुख को भूत के बारे में अनुभूत करते हैं, तो अशुभ आस्रव होता है, कि नहीं? भूत के अशुभ विकारी भावों का चिंतन करोगे? तो अशुभ का आस्रव होगा, कि नहीं? हे ज्ञानी! बंध होगा, कि नहीं। और ज्यादा गहरे में चले गये, तो संयम छूटेगा कि नहीं? बस, इसी प्रकार से भूत के तत्त्व ज्ञान का चिन्तन करके हम भगवान् बन जाते हैं। ध्यान दो, तत्त्वचिंतन मात्र से भगवान् बनता है। संयम पालन का समय तो छठवें गुणस्थान तक है, सराग क्रिया रूप, लेकिन आनंद निर्विकल्प अवाच्यभूत है। अप्रमत्तदशा स्वात्मलीनता होती है। वहाँ पालन के भाव का भी अभाव है। आपसे पूछने की आवश्यकता तो नहीं है, यह तो आपको ज्ञात है। ग्रास को उठाना, ग्रास को तोड़ना, ग्रास को मुख में रखना, दाँतों से चर्वण करना, यहाँ तक ही है, इसके बाद कुछ करना नहीं पड़ता, मात्र स्वाद लेना पड़ता है। इतना तो आपने किया, लेकिन स्वाद लेने का समय आता है, तो अनुभूति का

आनंद झरता है। स्वाद कहीं से निकलता है ? जीभ से, कण्ठ से, दाँत से निकलता है, कि होता है ? ऐसे ही ज्ञान का आनंद होता है, श्रद्धान का भी आनंद होता है, चारित्र का भी आनंद होता है और यह आनंद तभी आता है, जब हम बाहरी क्रियाओं को गौण करके क्रिया करें। क्रिया की बात मत करो। क्रिया की बात क्रिया करने में विघ्न करती है। हाथ पकड़ो, आप श्रावक हो, गृहस्थी में ग्रसित हो। तो आप जिस पक्ष में ले जाना चाहो, ले जा सकते हो, हर प्रकार का वेदन आपके साथ है। आप जहाँ लगाना चाहो वहाँ लगा सकते हो। एक वीतरागी श्रमण साधना मौन को से करे, तो साधना का आनंद आता है और साधना का व्याख्यान करेगा, तो व्याख्यान का आनंद आयेगा, परन्तु साधना का आनंद नहीं आयेगा। क्रिया करो, पर कहो मत। कहने में आनंद भंग होता है। समझ में आया ? यही कारण है कि तीर्थंकर वर्द्धमान स्वामी ने बारह वर्ष तक मौन धारण किया। घर में बर्तनों में मिटाइयों रखी हों तो सभी बर्तन भिन्न-भिन्न स्थान पर स्थापित कर देना तब मिटाइयाँ सुरक्षित खुशबू देती रहेंगी। पर वे ही बर्तन सटा दोगे, तो मिटाइयाँ तो रहेंगी, लेकिन खटपट होगी,। आवाज आयेगी न, बरतन का वर्तन भिन्न में कराइये। बरतन का वर्तन अभिन्न में मत कराइये। परिणामों का वर्णन स्वतंत्र होने दीजिए, तो शांति मिलेगी। परिणामों के बरतन में पर का वर्तन करा दिया, तो अशांति मिलेगी।

कहने में आनंद नहीं है। ध्रुव सत्य है कि जो गोपनीय वस्तु होती है, उसे आप छुपकर ही ले जाते हैं। घर में जो धन आपके है, जो गुप्त पैसा है, उसे आप पुत्र-पत्नी को भी नहीं बताते। भाइयों के साथ के पैसे में कितना आनंद आता है और जितना स्वतंत्र कमा के सुरक्षित किये हो, उसमें कितना आनंद आता है? अन्तर है। दो प्रकार की सम्पत्ति है आपके घर में। एक पिताजी की सम्पत्ति, जिसमें चारों भाइयों का हिस्सा है। दूसरी स्वतंत्र आपने कमाई है, उसमें मात्र आपका हिस्सा है, और किसी को मालूम नहीं है, गुप्त रखे है। यथार्थ बोलना, आनंद किसमें आता है ? स्वतंत्र में जो योगों के साथ आनंद आ रहा है, वह भाइयों के साथ रखा पैसा है। जो उपयोग की अनुभूति उपयोग में चल रही है, वह स्वतंत्र निज आत्मा की कमाई है। जो योगों के साथ परिणति चल रही है, भिन्न भोगों के साथ परिणति चल रही है, वह एकत्व-विभक्तभाव नहीं है। जो एकत्व विभक्तभाव है, वह परभावों से भिन्न भाव है। और हम सभी ने अनुभव किया है कि व्यवहारिक बातें इस सभा में जरा भी प्रारंभ हो जायें, तब विषय तो बढ़ता है, पर शांति इतनी नहीं होती। मैंने स्वयं कई बार अनुभव करके देखा है। विषय तो अनेक होते हैं, वे स्पष्ट होते हैं, यह सत्य है, लेकिन जो इस विषय का आनंद है, वह उसमें नहीं आता है। ये आप सब अनुभव कर रहे हैं। अभी-अभी में पूजा-पाठ का विषय छेड़ दूँ तो कई प्रश्न आ जायेंगे, लेकिन शांति नहीं आयेगी। क्यों ? जो सरल विषय होते हैं, उसमें शब्द बहुत होते हैं, और जो गूढ विषय होते हैं, उनमें शब्द अल्प होते हैं, परन्तु सार बहुत होता है। इसलिए ध्यान दो, जो फल छिलके सहित है, उसमें वजन बहुत होता है, छिलके के पैसे भी देना पड़ते हैं। लेकिन आप मौसम के फल को छिलके सहित खा जाओ, क्योंकि उसके आपने पैसे दिये थे। पर प्रयोजनभूत मात्र जो रस था, तब भी पैसे आप छिलकों के भी देकर आये हो। एक ही फल था, उसमें दो स्वाद थे। छिलके के साथ खाओगे तो कड़वा लगेगा, और रस मीठा था।

हे ज्ञानी ! एक ही आत्मा, उसमें तीन स्वाद हैं -

(१) शुभोपयोग (२) शुद्धोपयोग (३) अशुद्धोपयोग।

मौसमी का रस निकालते हो, तो रस थोड़ा-सा निकलता है, छिलके ज्यादा निकलते हैं। वैसे ही

सरल में शब्द बहुत होते हैं परन्तु सार कम होता है। गूढ में शब्द कम होते हैं, परन्तु सार अधिक होता है। इसका नाम अध्यात्मशास्त्र है, गूढ विद्या। यहाँ अध्यात्म में शब्द को 'ब्रह्म' कहा जाता है। जो ब्रह्म को उद्घाटित कर देता है, वह शब्दब्रह्म है, जिससे आत्मब्रह्म की पुष्टि होती है, सिद्धि होती है। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं, कि आचार्य-भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने सूत्र दिये हैं। उन सूत्रों का मंथन कैसे किया है, यह तो आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी की आत्मा समझ रही होगी। इतने गूढ अर्थों को कैसे निकाल कर रखा है ?

भूतार्थ है, वही अभूतार्थ है। आपके लिए आपकी धर्मपत्नी ने मौसमी का फल लाकर दे दिया, बीज आ गये, तो आपने बीज को निकालकर फेंकना शुरू कर दिया। क्यों ? अभूतार्थ है। वे ही बीज जमीन में बोये जायें तो भूतार्थ हैं, मुख में जाये तो अभूतार्थ हैं।

### “कि भूतार्थ, कि अभूतार्थ”

भूतार्थ क्या, अभूतार्थ क्या। वही वस्तु भूतार्थ है, वही वस्तु अभूतार्थ भी है। इसलिए यह जो सूत्र है भूतार्थ-अभूतार्थ का, इतना गहरा सूत्र है कि लोक में जहाँ भी लगाना चाहो, लगा लेना। इस सूत्र के बिना आपकी गृहस्थी चलती नहीं, और विश्व का कोई भी व्यापार चलता नहीं। अब होता क्या है न, कुछ लोगों ने एक रूढ़ि का शब्द अपना लिया-‘समयसार तो मुनियों का विषय है।’ यह शुद्ध रूढ़ि है। मेरा प्रश्न है आपसे, यह ‘समयसार’ ग्रंथ आपके चिंतन का विषय नहीं है क्या ? जब तक चिन्तन नहीं किया और आपको ये रटाया गया बार-बार, तब तक आप अनोखी विद्या से अपरिचित रहे। भावों की अनोखी विद्या है। यह मुनियों के चिंतन का विषय नहीं, यह मन के चिंतन का विषय है। मन चाहे मुनि बनकर चिंतन करे, चाहे गृहस्थ बनकर चिंतन करे, यह तो भगवान् बनानेवाला विषय है। गहनतम सूत्र भरे हुए हैं। देश में आपको ऐसे ही जीव मिलेंगे, जो कहेंगे कि यह मुनियों का ग्रंथ है। ऐसा मान सकते हैं। समयसारभूत परिणति तो निर्ग्रथ योगी की भी है। समयसार की उपासना तो श्रावक की ही है। उपासना करे, और उपास्य को न जाने तो, उपासना किस की ? आप उपासना करते हो, कि उपास्य को पहले जानते हो ? उपास्य के ज्ञान किये बिना उपासना करे तो ज्ञान की विपरीतता में चला जायेगा। हमें पहले उपासक बनना चाहिए, फिर उपासना करना चाहिए। उपास्य को जाने बिना उपासना प्रारंभ है, इसका मतलब है कि कहीं-न-कहीं अज्ञानता से युक्त है। उपासना नहीं करना, पहले उपास्य को पहचानना। पहले ज्ञान होता है, फिर श्रद्धान होता है, फिर सम्यक्ज्ञान होता है। पहले तत्त्वबोध, तत्त्वश्रद्धान, फिर तत्त्व का सम्यक्ज्ञान होता है। इसलिए जानकारी तो लेना भूतार्थ-अभूतार्थ की। और आपको लगता अवश्य है, कि यह गहनतम ग्रंथ है, हम भ्रमित हो जायेंगे। ऐसा कोई विषय नहीं है, इतने दिन से आप सुन रहे हैं। आप भ्रमित हो गये क्या ? समयसार तो पढ़ना चाहिए, पर गुरु मुख (निर्ग्रथ) से पढ़ना चाहिए, एकान्त से नहीं पढ़ना चाहिए। यह शुद्ध कथन करो। ‘समयसार’ ग्रंथ के अध्ययन का निषेध कर दोगे, तो एक विद्या हमारी समाज से भिन्न हो जायेगी। इस ग्रंथ के अध्ययन का निषेध न करके, इसकी योग्यता का कथन करना चाहिए। मैं यह कह रहा हूँ, कि जो वस्तु गुरुमुख से निकलना चाहिए थी, वह अगुरु के मुख से निकल रही है। हमने सुना है राजगृही में कुछ गर्म पानी, ठण्डे पानी के कुण्ड हैं। ध्रुव सत्य यह है, कि इस हाथ पर चूना रख दिया जाये, अग्नि जलाई नहीं जायेगी, चूना रखा जायेगा, उस पर पानी डाल देना अथवा गंधक पर पानी डाल दो, तो क्या होगा ? ऐसे ही कुण्ड में जो गर्म पानी आ रहा है, पर्वतों की चट्टानों पर कहीं गंधक है, उन गंधकों से टकराकर पानी आता है, वह गर्म हो रहा है। ऐसे ही रागी, भोगी के श्री मुख से टकराकर जिनवाणी आयेगी तो वह कहीं-न-कहीं गर्म

हो जायेगी, और वीतरागी के मुख से आयेगी, वह शीतल होकर आयेगी। चारों अनुयोगों को पढ़ने का अधिकार है आपको, पर अपनी प्रज्ञा को तौलकर।

इस तेरहवीं गाथा की जो टीका है, उसमें सम्पूर्ण निश्चय व्याख्यान का कथन किया है। तीर्थ की प्रवृत्ति में व्यवहार भूतार्थ है क्या? यदि आगम तीर्थ की प्रवृत्ति चाहते हो, तो आत्मा-आत्मा कह कर आत्मा को नहीं पहचाना जाता। आत्मधर्म की प्राप्ति का मार्ग व्यवहार रत्नत्रय है, और व्यवहार रत्नत्रय को प्राप्त करके जो निश्चय में प्रवेश करता है, वह निश्चय तीर्थ है। अन्यथा पानी गर्म है, गिलास में भरा है, तो यथार्थ बोलना, गिलास गर्म होगा, कि नहीं होगा? तो गिलास गर्म है क्या? गिलास गर्म है कि, पानी गर्म है? दोनों ही गर्म नहीं हैं। गर्म कोई भिन्न था, उसका नाम था अग्नि। अग्नि के संयोग से पानी गर्म हुआ और गर्म पानी के सहयोग से गिलास गर्म हुआ, पानी का धर्म तो शीतल था। आत्मा अशुद्ध है, कषायी है? नहीं। कर्म का पिण्ड परभाव है। परभाव के संयोग से कषायभाव है। कषायभाव से आत्मा में विकार भाव है। आत्मा तो त्रैकालिक शुद्ध स्वभावी है। कर्म का वह विकारभाव हट जाये, तो कषायभाव चला जाये, और कषायभाव चला जाये, तो विकारभाव चले जायें, और विकार भाव चले जायें, तो भगवान्-आत्मा है।

समयसार का काम तो यह है, कि जहाँ जैसा हो, उसे वैसा बता देना। अब क्रिया करना तुम्हारा काम है। भूल तुम वहाँ कर रहे हो, हम क्या करे? आप चावल के इंदरसे (पकवान) बनाते हो, पर एक से बन जाते हैं, दूसरे से बिगड़ जाते हैं, क्यों? क्योंकि कहीं-न-कहीं विधि में गड़बड़ी की होगी। इसी प्रकार आप सभी को पिच्छे कमण्डलु दिये थे, जिनमुद्रा दी थी, पर एक नरक चला गया, दूसरा स्वर्ग चला गया, तीसरे सिद्ध बन गये। कहीं-न-कहीं गड़बड़ी विधि में की होगी। विधि करना ही तो पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ कौन-सी वस्तु है? विधि ही तेरी विधि को बनाती है, विधि ही तेरी विधि को बिगाड़ती है। यह ग्रंथ उभयनय-प्रधान है। भीतर की विधि को बताता है, और भीतर के पुरुषार्थ को जगाता है और बाहर की विधियाँ, बाहर के पुरुषार्थ को गौण करता है, अभाव नहीं करता। बहुत अन्तर है। चावल, घी सभी सामग्री दी थी, फिर भी इंदरसे बिगड़े क्यों? बाहर की विधि पूरी बना दी थी, अन्दर की विधि बिगाड़ी है। इंदरसे बिगड़े क्यों? इंदरसे बनाने में समय लगता है। इस आत्मा को आज ही भगवान् बना देना चाहता है। तीर्थकर-जैसी भगवान्-आत्माओं ने दस-दस भव बनाने के लिए दिये हैं। मैं इंदरसे की बात नहीं कर रहा हूँ। यह भोजनकथा है। तीर्थकर-जैसी आत्मा ने दस-दस भव दिये हैं, तब दस भव में पक पाये हैं। पूछो पारसनाथ स्वामी से, आदिनाथ स्वामी से, कोई भी तीर्थकर से पूछो, नौ भव बनाने में लग गये, दसवें में बन पाये। यही कारण है, कि तत्त्वार्थसूत्र कर्त्ता ने बड़े दिमाग से दस अध्याय लिखे। नौ अध्याय बनाने के है, दशवाँ अध्याय प्राप्ति का है। अन्त में मोक्ष का वर्णन किया। 'सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' स्वरूप बता दिया। अब आगे चलते चलो। शास्त्र का अभ्यास सतत करना, कोई अनुयोग समझ में न आये, कोई विकल्प नहीं करना, लेकिन अनुयोग पर श्रद्धा मत डौंवाडोल कर लेना। क्योंकि आप स्याद्वादी हैं। कषाय की तीव्रता में मारीच को तीर्थेश की बात समझ में नहीं आई, और कषाय की मंदता में सिंह की पर्याय में दो चारणऋद्धिधारी की बात समझ में आ गई, स्वरूप-संबोधन हो गया। (शुद्धनय से) विकार न हों, तो विकार न आये, जब-जब भी जीव संयम से च्युत हुए, विकार आये हैं पहले।

द्रव्यानुयोग का मुख्य लक्षण है, संबंधों को गौण करके स्वभाव में ले जाना। चाहे श्रमण हो, चाहे श्रावक हो, आपत्ति/विपत्ति सबको आती है। इसमें समन्वय बैठाने वाली कोई वस्तु है, उसका नाम द्रव्यानुयोग

है। हमारे 'समयसार' के साथ आपने क्या किया? ये हमारा 'समयसार' डाक्टरों के हाथ लग गया। गर्भस्थ शिशु स्वस्थ है या नहीं, इसको देखने के लिये डॉक्टर को मशीन दी जाती है। पर इन डॉक्टरों ने उस मशीन को भ्रूण परीक्षण में लगा दिया, और भ्रूणहत्या करना प्रारंभ कर दिया। जब तुम्हारे पास न चारित्र आया, न व्यवहार आया, जब तुम गर्भस्थ थे धर्म में, उस गर्भस्थ अवस्था में ही अपनी भगवान्-आत्मा को जान लो, इसलिए आपको 'समयसार' दिया था। पर तुमने उसमें भगवान मान लिया है। इससे कठोर कोई दृष्टान्त नहीं है। आप बोल देना कि सोनोग्राफी मशीन का दुरुपयोग मत करो, ये समयसार सोनोग्राफी मशीन है, अन्दर की वस्तु को बताने वाली है। उस मशीन से समयसार नहीं बना, समयसार से मशीनें बनी हैं। विकार न हो तो, विकार्य न हो। मन में अशुभ भावना न आये, तो अशुभ कार्य न हो (चरणानुयोग की भाषा में)।

**॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥**

५ ५ ५

आचार्य-भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ग्रंथराज 'समयसार' जी में नौ तत्त्वों की प्ररूपणा कर रहे हैं। प्रत्येक तत्त्व-कार्य है, विकार्य है।

जैसे आस्रव होने योग्य, और आस्रव करने वाला, यथार्थ में यह जीव तत्त्व ऐसा है। यह अपने आप में अपने आपको संभाल ले, तो शेष तत्त्व शून्य हो जाते हैं। दो ही तत्त्व हैं, जीव और पुद्गल। जीव के रागादिक भाव हुए, सो संयोगभाव आस्रव, संयोगभाव बंध, संयोगभाव ही संवर, संयोगभाव ही निर्जरा। संयोगभाव का अभाव ही मोक्ष है। जीवतत्त्व जो एकत्व-विभक्त स्वरूप पर चला जाये और शेष को गौण कर दे, अपने आप को सबसे परे कर दे, तो बाकी जो तत्त्व हैं, वे समाप्त हो जाते हैं। शुद्धात्मा में कितने तत्त्व हैं? एक तत्त्व है, वह एकमात्र जीवतत्त्व है। और वह जो जीव तत्त्व है, वह एकीभाव है, शुद्धचिद् ज्योतिस्वरूप है। जो कलश सातवाँ आपने पढ़ा था, उसमें अंतिम लाइन -

**नव तत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुञ्चति ॥७॥ अ.अ. क. ॥**

नव तत्त्व को जानते हुए एकत्व को नहीं छोड़ता। जीवतत्त्व जो है, वह तो तत्त्वों का ज्ञाता है। पर ज्ञातृत्व भाव से नौ तत्त्वों का अनुभवकर्त्ता भी है। फिर भी शुद्धचिद्रूप भाव से देखो तो नौ तत्त्वों का ज्ञाता है, पर नौ तत्त्व का अनुभवकर्त्ता भी है। एकीभाव रूप से नौ तत्त्वों का वेदक नहीं है। तादात्म्यरूप से एक तत्त्व का ही वेदक है। तन्मयभूत होकर आप दूध पीते हो, उसका स्वाद भी लेते हो। जो आपको अपने ज्ञान का वेदन है, वैसा दूध का वेदन नहीं है। चिन्तन करके सुनना है, क्योंकि पूर्व की अपेक्षा से वर्तमान में कुछ कठिन चल रहा है, सिद्धांत चल रहा है। दूध का वेदन करने के लिए जीभ हिलानी पड़ती है, कंठ में निगलना पड़ता है। दूध के वेदन के लिए बर्तन को अधरों पर रखना पड़ता है। दूध का वेदन तन्मयभूत नहीं है, परन्तु निज ज्ञान का जो वेदन है, वह पर-निमित्तों से परिपूर्ण परे होकर वेदा जाता है। निज ज्ञान का वेदन एकीभूत है, दुग्ध का वेदन पराभूत है और वह जिह्वा इन्द्रिय के आश्रित, परभूत है। लेकिन ज्ञान का वेदन जिह्वा से नहीं, नेत्रों से नहीं, स्पर्श से नहीं, ज्ञान का वेदन तो ज्ञायकभाव से ही है। जब पर-वस्तु का वेदन करना चाहेंगे, तो आपको जिह्वा इन्द्रिय चाहिए। ज्ञान का वेदन ज्ञान के लिए करोगे, तो कोई इन्द्रिय नहीं चाहिए। कठिन इन्द्रिय वेदन नहीं है। कठिन अनिन्द्रिय वेदन भी नहीं है। मन का चिन्तन भी कठिन नहीं है। कठिन हैं ज्ञान से ही ज्ञान की अनुभूति लेना, प्रज्ञा से ही प्रज्ञा को पहचानना। देखो, मैं बहुत ऊँची बात बोल रहा हूँ। आज इस शब्द का प्रयोग लोगों ने भोगों में कर दिया है। प्रज्ञा से प्रज्ञा को पहचानो, सहजभाव से

पहचानो, साक्षीभाव से पहचानो, ये साक्षीभाव का दुरूपयोग चालू है। उन्मत्त हो गये, पागल हो गये, बोले - साक्षीभाव कर रहा हूँ। अरे ! साक्षीभाव नहीं कर रहे, पागलपन कर रहे हैं। इन्द्रिय-विषयों में लिप्त किसी ने कहा ये कल शाम की रोटी है, इसे मत खाओ। नहीं, साक्षीभाव से ग्रहण कर रहा हूँ, राग-द्वेष नहीं है। अरे ! यह साक्षीभाव नहीं था, यह मोहभाव था, ये क्षुधाभाव था। साक्षीभाव ये होता है निज स्वरूप में लीन है, रोटी का विकल्प भी क्यों ? अशन, वसन, वासना इन तीनों से परे है। वास जिसका, उसका नाम है साक्षीभाव, सहज स्वभाव। अध्यात्म शास्त्रों के साथ खिलवाड़ करना यह सिद्धांत के साथ दुर्व्यवहार है। जिसके लिये आप साक्षीभाव शब्द का उपयोग कर रहे हो, अहो ! यही स्यान्दीभूत ज्ञायकभाव है। स्याद् आनंदीभूत है। यही मेरे में मेरा आनंद है। यह सहजानंद है। इसमें जिनवाणी को भी नहीं लाना, इसमें जिनदेव को भी नहीं लाना। इसमें गुरुदेव को भी नहीं लाना, इसमें किसे लाना ? आत्मा ही आत्मगुरु, आत्मा ही आत्मदेव, आत्मा ही आत्मवाणी। भिन्न को लाओगे, तो स्याद्आनंदभूत वाणी का अभाव हो जायेगा। यह पराकाष्ठा, ये उत्कृष्ट प्रवृत्ति उस ध्यान रूप ऋषिश्वर की होती है, जिसने जगत के सम्पूर्ण विषयों से अपने आपको बंद कर दिया है। जो विषय चल रहे हैं, उसे अभावरूप नहीं मानना। ऐसा भी नहीं सोचना कि हो नहीं सकता, यदि ये नहीं हो सकता, तो विश्वास रखना, जगत् में सर्वज्ञ तत्त्व की और सिद्ध तत्त्व की कोई सिद्धि नहीं है। यह समवसरण का वैभव, ये सब प्रवृत्ति रहेगी, लेकिन जब भी सिद्धत्व की सिद्धि होगी, तो स्यान्दीभूत सहजानंद से ही होगी। जो बाहर का कथन है, तीन अनुयोगों में है, और जो भीतर का कथन है, द्रव्यानुयोग में है। बस, प्रज्ञा तो प्रज्ञा ही को ग्रहण करती है। कैसे करेगी, ये प्रश्न करो। जैसे कि तस्वीर में पर की तस्वीर दिखती है, परन्तु दर्पण में तेरी ही तस्वीर तुझे ही दिखती है।

मेरे हाथ में दर्पण, और मैं ही देखनहार। मैं ही देख रहा हूँ, मुझको ही देख रहा हूँ। जो तेरे पास हमेशा है, फिर भी तू उस मुख को देखता है। यथार्थ बताऊँ, आयु के निषेकों को गिना जाये, तो कितने सारे निषेक आपने दर्पण के सामने खड़े होकर नष्ट किये हैं। दिन में तीन-चार बार दर्पण देखा। इतना ही नहीं, भगवन् अर्हत के पीछे दर्पण लगा था, उसमें भी जब झाँक कर देखा था। तब भगवान नहीं देखे, अपना ही चेहरा देखा। वहाँ पर भी भगवान अच्छे नहीं लग रहे थे। वहाँ छुपकर अपना चेहरा देखा था, वह अच्छा लग रहा था। ओहो ! अपने आपको देखने में बड़ा अच्छा लगता है। जहाँ खाना भी नहीं था, पीना भी नहीं था, सोना भी नहीं था, अन्य कुछ भी नहीं था, फिर भी इस चेहरे को देखने में अच्छा लग रहा था। और जब चर्म की देह को देखने में अपने में अच्छा लगता है, तो अपने अघर्म स्वरूप को जानने में अच्छा क्यों नहीं लगता? यह प्रज्ञा से प्रज्ञा को देखो। दर्पण में अपने से अपने को आप में देखते हो। इसलिए ज्ञान को मुकुट, तलवार, पत्थर की उपमा नहीं दी गई, दर्पण की उपमा दी गई है। "दर्पण तल इव सकला" आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने भी दर्पण की उपमा दी, आचार्य समंतभद्र स्वामी ने दर्पण की उपमा दी।

जैसे आप दर्पण में अपने आपको निहारते हो, चेहरा देखते-देखते अघाते नहीं हो, ऐसे ही राग की सिन्धता से शून्य निज चैतन्य ज्ञानधन दर्पण में जब मैं अपने आपके ही प्रतिबिम्ब में निहारूँ, तब सदियाँ नहीं, अनंतकाल बीत जायें, फिर भी मैं अपने में अपने को देखकर अघाता नहीं हूँ, यही शुद्ध चिद्रूप सहजानंदी स्वभाव-भाव है। स्वरूप का व्याख्यान पुद्गल के दृष्टांत से समझाया जा सकता है, लेकिन पुद्गल से स्वरूप को प्राप्त नहीं किया जाता।

यह समझाने की भाषा मात्र समझना। अज्ञानी लोग मालूम क्या कर रहे हैं। इन पौद्गलिक द्रव्यों के



ध्यान में ही निज ध्येय को भूल रहे हैं। कोई दर्पण से साक्षीभाव बनाये है, कोई बल्ब पर साक्षीभाव बनाये है, तो कोई स्त्री पर बनाये है, तो कोई पुरुष पर बनाये है। साक्षीभाव पर बात करके पापों में साक्षात्कार कर रहे हैं। यह आज के ध्याताओं के द्वारा हो रहा है। गृहस्थी से क्लान्त हो जाते हैं, इसलिए वे अन्य स्थानों पर जाते हैं और वहाँ जाकर थके-थकाये पहुँचते हैं, तो विश्राम मिलता है, और वे समझते हैं, कि आत्मा की अनुभूति हो रही है। अरहंत के बिम्ब को देखना परगत तत्त्व है, स्वयं के बिम्ब को देखना भी परगत तत्त्व है, वह भी दर्पण में देखना। परगत क्यों ? क्यों कि जो परगत में आपका बिम्ब है, वह पर्याय का है। दर्पण भी पर है, पर्याय भी पर है। तेरा निज बिम्ब का राग भी परगत तत्त्व ही है। ये जो तेरहवीं गाथा की टीका चल रही है न, यही तो कह रही है। एक निर्णय पहले कर लेना इस ग्रंथ में जो भूतार्थ-अभूतार्थ शब्द का प्रयोग हो रहा है, इसे पाँच पापों वाला असत्य ग्रहण मत कर लेना। जो असत्यार्थ शब्द चल रहा है, उसे पाँच पापों वाला असत्य ग्रहण मत कर लेना। क्योंकि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पाँच पापों में असत्य शब्द का प्रयोग है, वह असत्य और व्यवहारनय असत्य दोनों अलग-अलग हैं। यहाँ असत्य शब्द का अर्थ तत्काल में तत्क्षण में अप्रयोजनभूत है। असत्यार्थ कहना, लेकिन वह असत्य नहीं। असत्यार्थ कहना, क्यों ? मैं नौ तत्त्वों को जानता हूँ, और नौ तत्त्वों का श्रद्धान सम्यक्त्व है यहाँ कथन किया, वही नौ तत्त्वों का श्रद्धान करते हुए, वही ज्ञाता निज को ही ज्ञेय बनाता है तब सात, आठ तत्त्व अथवा परभूत नौ तत्त्व अभूतार्थ हो जाते हैं। एकमात्र स्वतत्त्व ही भूतार्थ है, प्रयोजनभूत। यहाँ हमने परतत्त्वों को भूतार्थ बोल दिया। क्या ये परतत्त्व असत्य हैं ? यदि असत्य हैं, तो सम्यक्त्व के कारण कैसे ? और सम्यक्त्व के कारण हैं, तो असत्य कैसे ?

अब आपके दृष्टांत को सुनो। आपकी शादी में आपके पिताजी गये थे, कि नहीं। पिता के सामने बेटे को ऊपर बैठना चाहिए, कि नीचे ? नीचे बैठना चाहिए, फिर जब आप घोड़े पर गये थे, तब पिताजी कहाँ थे ? पैदल चल रहे थे। आपको शर्म नहीं आई कि पिताजी पैदल चल रहे हैं और तुम घोड़े पर बैठे हों, और पूरी समाज के सामने आपने अपने पिता का अनादर किया ? पिता के जमीन पर चलते हुए भी पुत्र के घोड़े पर बैठे हुए भी पुत्र तो पुत्र ही रहेगा, पिता तो पिता ही रहेगा, पर शादी पिता की नहीं होने जा रही थी, बेटे की होने जा रही थी, इसलिए मुख्यार्थ बेटा था, पिता नहीं थे। मुख्यार्थ- भूतार्थ पुत्र था, तो पुत्र पिता के पास होने पर भी घोड़े पर बैठा है, फिर भी इस जगत् में कोई यह नहीं कहता है, कि बेटा पिता का अविनय कर रहा है। वह आपने अविनय नहीं किया, पिता की आज्ञा से बैठे थे। इसी प्रकार से जो भूतार्थ होता है, उसे प्रधान किया जाता है, और जो अभूतार्थ होता है, उसे गौण किया जाता है, पर अभाव नहीं किया जाता है। जब व्यवहार प्रधान होता है तो निश्चय अभूतार्थ होता है, और जब निश्चय प्रधान होता है, तो व्यवहार अभूतार्थ होता है, लेकिन सत्यार्थ दोनों ही होते हैं। स्व-स्व अपेक्षा। उभय नाम का कोई भंग नहीं है। विकार-विकारी उन्हीं दोनों को ग्रहण करना, अलग से तीसरा भंग नहीं बनाना। विकारी, विकार्य, विकार्य होने योग्य और विकार हुआ ऐसा जो सभी तत्त्व में जो उभय शब्द का प्रयोग है वह तीसरा भंग नहीं बनाना, उन दोनों ही का युगपत् ग्रहण करना। विकार्य विकारी नहीं होता। विकार्य होते हैं तो विकार होते हैं। विकार्य यानी खोटा कार्य, अशुभकर्म। अशुभकर्म से अशुभकर्म हुआ, कि अशुभभावों से अशुभ कर्म हुआ ? विकार्य दिखते हैं और विकार होते हैं। विकार न होते तो विकार्य क्यों दिखते ? कोई कहे कि मैं चिद्रूप भगवान्-आत्मा हूँ। फिर धीरे से पूछ लें कि ये कौन बैठा हैं ? ये मेरा लड़का है। हे पापी, "प्रत्यक्षं किं प्रमाणं"। विकारी का विकार्य न होता, तो बेटा कहाँ से आता ? तू कार्य का भगवान्-आत्मा है। तू तो विकारों का विकारी है। विकार्य सामने बैठा है

बेटा। 'मेरा बेटा है' यह कह रहा है, कि नौ कोटि जीव की हिंसा की है। विकार अंदर है, विकार्य बाहर है। विकार्य है, यानी विकार है, इसलिए मोक्षमार्ग पर आ जाओ, तो विकार्य भी छूटेंगे। जब विकार छोड़ोगे, तब विकारों को निकाल दीजिए, विकार्य छूट जायेंगे और यदि विकार नहीं निकाल पाये, विकार्य छोड़ भी दोगे, पर छूटेंगे नहीं। लोगों की आँखों से तो विकार्य छूट जायेंगे, पर छुपने वाले विकार नहीं छुपेंगे। कभी-कभी भावुकता में जीव विकार्य छोड़ देता है। प्रवचनसभा में गया, ऋषिमुनियों के पास गया, तब सभी लोग प्रतिज्ञा ले रहे थे, तो उसने भी प्रतिज्ञा ले ली। सब की आँखों में विकार्य करना छोड़ दिया। उसे मालूम ही नहीं था, वैरागी नहीं था, उस समय भावुक हो गया था। घर पहुँचा, मालूम चला कि मैं क्या था। तो जगत के आँखों में न विकार्य दिख रहा था, न विकार दिख रहा था। परन्तु घर में छुपकर विकार भी कर रहा था, विकार्य भी कर रहा था, मायाचारी कर रहा था। क्यों, ऐसा परिणमन जीव के साथ होता है कि नहीं? इसलिए, ज्ञानियो ! इसे हीटर की रोटी मत बनाना। कारण, कारणभूत संबंध ही तो चल रहा है। विकार कारण है, विकार्य कार्य है। बिना कारण-कार्य के कुछ होता ही नहीं है। विकार कारण है, विकार्य कार्य है और विकार्य कारण है, विकार कार्य है। इधर से लगाओ तो ऐसा, उधर से लगाओ तो ऐसा। अब और आगे चलो। विकार कारण है और विकारी-पर्याय कार्य है। जब-तक अशुभ पर्याय दिख रही है, किसी से प्रश्न करने की आवश्यकता नहीं है, यह विकार और विकारी का ही कार्य है। ध्यान दीजिए, पंचमकाल में आये हैं। किसने भेजा ? विकार का कार्य विकार्य, विकार्य का कार्य पंचमकाल। यदि विकार्य विकारी न होता, तो आज मेरी गति पंचम गति होती। और पंचमकाल में कार्य कर रही है, यह विकार्य और विकार का ही प्रतिफल है। अभी भी समझने, संभलने का समय है। तत्त्वबोध, प्रतिबोध पर ध्यान दो, प्रभुत्व शक्ति पर ध्यान दो। इतना निज को निज में रमण करा दो, तो विकार-विकारी भाव ही समाप्त हो जाये। विकार होने पर विकार्य भी समाप्त हो जाये, तब भी रक्षा है आपकी। विकार आते ही संभल गया, तब भी कल्याण है। विकार के साथ विकार्य हो गया, फिर तो हो गया काम। कुछ समय दे दो। विकार भाव है, विकार्य क्रिया है। वह आस्रव तो करवाती है, फिर भी ध्यान दो, अब्रह्म-भाव विकार है, अब्रह्म क्रिया विकार्य है। विकार आये और तू संभल गया, तो तेरी निज निंदा हो गई, परन्तु लोकनिंदा बच गई। विकार हुआ और विकार्य भी हो गया, तब निज निंदा भी और लोक निंदा भी हो गयी। कभी विकार ही प्रगट हो जाये और विकार्य न भी हो पाये, तब भी घात होता है। रावण से पूछो, विकार्य नहीं कर पाया, पर विकार हुआ। नरक गया कि नहीं ? समझ गये न ? विकारी ही भोगों को बिना भोगे ही बंध को प्राप्त हो गया।

गाथा - आचार्य वड्डकेर स्वामी 'मूलाचार' में कह रहे हैं -

**कांक्षितकलुषितभूदो कामभोगेषु मुच्छिदो संतो ।**

**अभुंजंतोवि य भोगे परिणामेण णिवज्झेइ ॥८१॥ मूलाचार ॥**

कांक्षित हुआ, कलुषित हुआ, दो शत्रु हैं। आत्मा को पहले कांक्षा होती है। कांक्षा की प्राप्ति न हो, तो कलुषता आती है। पहले जागती है इच्छा, कि इनका पेन मिल जाये। पर वह पेन आप नहीं ले पा रहे हैं, ये सो जाये तो मैं पेन ले लूँ, पर वह सोया ही नहीं। यानी पहले इच्छा हुई पेन पर, अब कलुषता हुई। प्रत्येक विषय में संबंध चल रहा है। एक व्यसनी बेटा पिता का शत्रु कैसे होता है, जबकि पिता को हृदय से चाहता है, पर व्यसन के काल में पिता दिख जाये तो पिता भी शत्रु जैसा लगता है। हे पिताओ ! ध्यान दो, बेटे की खोटी आदत निकल जाये, तो धीरे से निकल जाना। उसका जो हो वह जाने, हमें अपनी दुर्गति नहीं करानी उसके

हाथों से मर कर। अध्यात्म बड़ा नीतिमय है। बहुत गहरी बात कह रहा हूँ। कांक्षित हुआ, कलुषित हुआ, भोगों के भोगे बिना ही परिणाम मात्र से बंध हो गया। भोग कितने कर पाये आप, बन्ध कितना कर लिया? मिलते नहीं है उतने भोग, जितना आप परिणाम करते हो। जब मिलते हैं, तब ताकत नहीं बचती आपके पास, ये बंध किसने किया है? इन सब वृत्तियों का विनाश होगा, तब समयसार प्रारंभ होगा। समयसार का ज्ञान तो चतुर्थ गुणस्थान से कर लो, लेकिन परिणति रूप समयसार तो सप्तम गुणस्थान के पहले होता ही नहीं है। कोई प्रश्न तो नहीं है आपका। आप प्रश्न कर ही नहीं सकते। विकार भी नहीं गये, विकार्य भी नहीं गये।

पकड़ो मूल वस्तु को वहाँ आप पहुँच नहीं रहे। जिसे लोग विकार बोलते हैं उसे आपने छोड़ दिया, या एक उम्र पर आ कर छूट गये। आप नील/टिनोपाल के कपड़े पहने बैठे हो, क्यों? शुद्ध भाषा में बोलो-विकार है। नील अनंतजीवों का पिण्ड है, अनंत जीवों का घात होता है इसके बनने में, इसकी पत्ती की खेती होती है? पानी में उसको गलाया जाता है, उसमें कीड़े हो जाते हैं, फिर उसका पाउडर बनाया जाता है, जो आप लगाते हो, सोले के कपड़े पहनते हो। अब बताओ, सोले के बचे कहाँ? क्यों डाला आपने? विकार था, कि अच्छे दिखें, सुंदर लगें। तुम सुंदर लगोगे, क्या उससे आप सुंदर हो गये? कपड़ों के सुंदर होने से आप सुंदर होते हो क्या? आपके बाहर के रंग पोतने से कपड़े सुंदर होते हैं क्या? ये कपड़े चमक रहे हैं, कि नील चमक रही है। ये विकार आया, ये विकार हो गया, जीवों की हिंसा। आपको स्थूल विकार तो समझ में आते हैं, पर अन्दर के सूक्ष्म विकार समझ में आपको नहीं आते। दिगम्बर बन गये, 'मैं मुनि, मैं मुनि' कह रहा है। क्यों कह रहा है? यह भी विकारी भाव है।

**णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो ।**

**एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सोउ सो चेव ॥६॥ समयसार**

यह है अविकारी भाव। मैं प्रमत्त नहीं हूँ, अप्रमत्त नहीं हूँ, ज्ञायक नहीं हूँ। क्या हूँ? जो सो उ सो चेव। कुछ भी कहो, व्यवहार के साथ विकार भी है। न चलो, न करो, उसका नाम समयसार है। आपने चावल नहीं खाये क्या? सफेद खाये, कि धान खाये, कि लालिमा वाले खाये? नहीं, सफेद वाले खाये, क्योंकि प्रयोजनभूत तो सफेद ही हैं। उसी प्रकार चाहे चौथा गुणस्थान हो, चाहे पाँचवाँ गुणस्थान हो, चाहे छठवाँ गुणस्थान हो, पर सातवाँ गुणस्थान ही प्रयोजनभूत है। ज्ञायकभाव है। धान्य में चावल हैं, मानता हूँ, लालिमा में चावल है, मानता हूँ, लेकिन जो लालिमा और धान है, वह खाने के लिए नहीं है, हटाने के लिए है। छठवें गुणस्थान में अमुक कषाय, पाँचवें गुणस्थान में अमुक कषाय है, स्वीकार है। पर प्रयोजनभूत नहीं है।

ज्ञायक भाव से बंध नहीं है, काषायिकभाव से बंध है। लेकिन ज्ञायकभाव में जो कषायभाव चल रहा है, वह बंध ही का कारण है। जब मैं स्वयं में एकीभूत होता हूँ, एकत्व में लवलीन होता हूँ, उस काल में पुण्य पापाश्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष की अनुत्पत्ति है। न विकार है, न विकार्य है। जब विकार-विकार्य भाव नहीं है, तब बंध नहीं है, संवर नहीं, निर्जरा नहीं, मोक्ष भी नहीं। मैं तो हूँ। आत्मा का कभी मोक्ष होता नहीं। मोक्ष कर्मों का होता है, आत्मा तो निज स्वभाव में त्रैकालिक ध्रुव है। अब मैंने यह क्यों कहा? मैं तो एकीभाव स्वभाव हूँ। कर्मों का झड़ना है मोक्ष, आत्मा का झड़ना कहाँ है? मोक्ष आत्मा का नहीं, आत्मा में है। जो आत्मा में कर्म थे, उनका आवरण हट गया। कारण-कार्य अभेद अपेक्षा से मोक्ष कहा जाता है। इस विवक्षा में कुछ शब्द ऐसे हैं, जिसमें असली शब्द प्रयोग ही नहीं करते। कारण-कार्य, अभेद-उपचार, भेद-

उपचार, अभेदवृत्ति अभेद-उपचार, ये शब्द 'अष्टसहस्री' में हैं। इसी टीका में न्याय के बहुत अच्छे शब्द आने वाले हैं। द्रव्य में पर्याय उपचार, अभेद में भेद उपचार। द्रव्य की पर्याय है, अभेद में भेदवृत्ति चल रही है। क्यों? द्रव्य, गुण, पर्याय भिन्न होती है क्या? फिर भी क्या बोलते हो? द्रव्य की पर्याय। यह है अभेद में भेदवृत्ति। 'महाराज की कलम', भेद में अभेदवृत्ति। कलम भिन्न है, फिर भी संबंध जोड़ रहे हैं आप। जीव का मोक्ष हो गया, जबकि जीव तो अपने आप में था ही मौजूद। जीव में जो कर्म लगे थे, उनका पृथकीकरण हुआ है, अभाव नहीं कह देना। कर्मों का अभाव नहीं होता है, पृथकीकरण होता है। कर्म का अभाव हो जायेगा, तो कर्मण-वर्गणाएँ नाश हो जायेंगी। कर्मण-वर्गणाओं का फिर लोक में अभाव हो जायेगा। और अभाव हो गया तो, अन्य जीव तो अपने आप मुक्त हो गये। क्योंकि बंधनयोग्य वर्गणाएँ नहीं बचेंगी। व्यवहार की भाषा में बोलो तो कर्म का अभाव हो गया। अरे! अभाव नहीं हुआ, पृथकीकरण हो गया, वर्गणाएँ अलग हो गई हैं, कल दूसरे के काम आयेंगी, क्योंकि वस्तु तो उतनी ही है। घर में दस सदस्य थे, एक की मृत्यु हो गई, अन्य रो रहे हैं कि उसकी कमी हो गई। अरे, क्यों रो रहे हो? जगत में न किसी की कमी हुई, न कभी होगी। जब आया था, तब किसी को रूला कर ही आया है। त्रसजीव त्रसनाली के बाहर जायेगा नहीं। स्थावर हुआ है तो जीवलोक में ही रहेगा। इसलिए किसी के वियोग में रोना नहीं, किसी के आने में हर्षित नहीं होना। इतना नहीं कर पाये, तो ध्यान दो, समयसार अभी भी नहीं आया।

अनुभूति से जो ज्ञान नहीं होता, वह दृष्टि से होता है। दृष्टि का ज्ञान बहुत विशाल होता है। मुनियों का आगम में जो विहार का वर्णन है न, उसका मुख्य कारण एक यह भी है। विहार करने से मुनियों का ज्ञान बढ़ता है। घाट-घाट का पानी होता है, जगह-जगह की बातें मिलती हैं। पढ़ने से अनुभवात्मक ज्ञान ज्यादा होता है। जैन साधु यानी भ्रमणशील। इनका कोई निश्चित स्थान नहीं है। आकाश में रहते हैं, पृथ्वी पर चलते हैं। क्योंकि "वसुधैव कुटुम्बकम्" इनकी तो सारी पृथ्वी कुटुम्ब है।

हमने जो सात का निषेध किया था, उसका कारण क्या था? दो जीव और अजीव। बाहरी दृष्टि से जो नौ तत्त्व कहे हैं, जीव और पुद्गल अनादि बंध पर्याय से, ये भूतार्थ होने पर भी एक-जीव-स्वभाव न होने पर वे ही अभूतार्थ हैं। जो नौ तत्त्व हैं, वे बंध अपेक्षा से भूतार्थ हैं। वही जीव अबन्ध दशा में निजस्वानुभूति को प्राप्त करता है, तो वे सभी अभूतार्थ हैं। सत्यार्थ दृष्टि से दोनों भूतार्थ हैं, लेकिन जब बन्ध अवस्था को निहारेंगे, तो मेरे लिए प्रयोजनभूत नहीं हैं, इसलिए अभूतार्थ हैं। सात तत्त्व है, अशुद्ध आत्मा में सातों चल रहे हैं। वही आत्मा सिद्ध बन जाये, तो सातों की सत्ता का अभाव नहीं है। आत्मा से उनका भिन्नत्वभाव हो गया, इसलिए अभूतार्थ हैं। वह जीव, जो शुद्ध हो गया, जो त्रैकालिक नौ तत्त्व हैं, लेकिन हम एक-जीव - अपेक्षा कथन करेंगे, तो नौ तत्त्व ही नहीं बचते, क्यों? मेरा मोक्ष हो गया, एकमात्र में जीव तत्त्व हूँ, शेष तत्त्व मेरे से भिन्न हो गये, मेरे से तत्त्वों की सत्ता का ही अभाव हो गया, मेरे शुद्ध चैतन्य द्रव्य में आठ पदार्थों का अभाव हो गया। परन्तु जीवत्व की दृष्टि से देखेंगे तो नौ पदार्थों का ही अभाव हो गया, मैं शुद्ध चिद्रूप हूँ। प्रयोजनभूत, अप्रयोजनभूत। सत्यात्मक, असत्यात्मक। फिर भी असत्य नहीं है। वे आपके शुद्ध में नहीं हैं, परन्तु किसी में नहीं हैं, ऐसा नहीं कहना। अपना प्रयोजन है तब उसमें कहना अभाव, पर का प्रयोजन है, तब उसमें कहना सद्भाव। बंध-अपेक्षा सद्भाव, मोक्ष-अपेक्षा अभाव। फिर भी तुच्छाभाव नहीं। एक वे जो ध्यानरूप हैं, एक वे जो ध्येयरूप हैं। सप्तम गुणस्थान में जो भूमिका होती है, वह ध्येयरूप है, ध्यानरूप है, परन्तु जो सिद्ध बन चुके हैं वे ध्येयी ध्येयरूप हैं। जो सिद्ध हैं, उनमें परिपूर्ण अभाव है। जो अभी संसारी

हैं, जो सप्तम आदि गुणस्थान में चल रहे हैं, वे ध्यान रूप से तो असत्यात्मक कहे हैं। उनमें सत्ता का अभाव नहीं है। आपको अपने विवेक से लगा लेना चाहिए। ध्यान का विषय अलग है, होने का विषय अलग है। आज अभी अरहंत नहीं हैं, तब भी अरहंत का ध्यान किया जा सकता है। मात्र कारण में कार्य का उपचार, इसलिए निश्चय कहा। विकल्पात्मक व्यवहार और निर्विकल्प तत्त्व-निश्चय। नौ पदार्थों में भूतार्थ तो जीव है, शेष अभूतार्थ हैं, ऐसा जानना चाहिए।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

५ ५ ५

**भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।  
आसवसंवरगिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥१३॥**

आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ग्रंथराज 'समयसार' जी में वस्तु के भूतार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए समझा रहे हैं, एक ही द्रव्य एक ही समय में भूतार्थ है, अभूतार्थ है। जिसके लिए यह प्रयोजनभूत है, उसके लिए भूतार्थ है। जिसके लिए प्रयोजनभूत नहीं है, वह उसके लिए अभूतार्थ है। लेकिन द्रव्य न भूतार्थ है, न अभूतार्थ है। द्रव्य तो निज स्वभावरूप है। "इदं भूतार्थं इदं अभूतार्थम्"। यह पुरुष का स्वार्थ है, द्रव्य न भूतार्थ है, न अभूतार्थ है। द्रव्य निज स्वभावभूत है। मेरे लिए जो प्रयोजनभूत है, उसे मैं भूतार्थ कह लेता हूँ। प्रयोजनभूत नहीं है तो अभूतार्थ कह देता हूँ। "किं सुन्दरं किं असुन्दरम्" द्रव्य का कौन सा गुण सुन्दर है, कौन सा गुण असुन्दर है? बेटा कितना भी गंदा हो, मुँह गंदा हो, वह भी उसकी माँ को अच्छा लगता है, परन्तु पड़ोसी का उछलता कूदता साफ-सुथरा बेटा अच्छा नहीं लगता। फिर सुन्दर क्या, असुन्दर क्या? जिसके जहाँ राग की पुष्टि होती है, उसके लिए वह सुंदर है। जिससे राग की पुष्टि नहीं होती, वह असुन्दर है। कामदेव सुंदर होता है, पर जिसको कामदेव से प्रयोजन नहीं है, उसके लिए सुंदर क्या? चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण सुंदर होते हैं, फिर भी प्रतिनारायण के लिये नारायण को देखकर द्वेष क्यों आ जाता है? इसलिए वस्तु न सुंदर है, न असुंदर है, वस्तु अपने स्वभाव में है। जिसके लिए राग होता है, तो वह सुंदर और यदि राग नहीं, तो असुंदर। सुंदर या असुंदर कहने के शब्द परार्थभूत हैं। जबकि द्रव्य का स्वभाव निज स्वभावभूत है। सभी को आप अच्छे लगते हो? नहीं लगते। भगवान् तीर्थेश सब के लिए अच्छे थे क्या? यदि सब के लिए अच्छे होते, तो इतने मत क्यों आते, मारीचि कहाँ से आता? सत्य को समझना चाहते हो, तो तटस्थ होकर रहना पड़ेगा। मारीचि भी अपने आपको भगवान् कहता था। आज जितनी आमनायें हैं, वह सभी सुंदर हैं यह नियम नहीं है। जिनके लिए जिनमें राग दिखता है, उसके लिए वह सुंदर है। पर सत्य न सुंदर होता है, न असुंदर होता है, वह तो स्वरूपभूत होता है। सत्य स्वरूप को समझना है, तो तटस्थ होकर जीवन जीना पड़ेगा। दीवारों से और पर्दों से अपनी आँख के पर्दे को हटाना पड़ेगा। आप यहाँ आ रहे हैं, पर अपना पक्ष लेकर आ रहे हैं, तो आपको मेरी बात समझ में नहीं आयेगी, विपर्यास नजर आयेगा, और पक्ष छोड़कर आयेंगे, तो सत्य नजर आयेगा, कि वस्तु स्वरूप तो ऐसा ही है।

तटस्थ शब्द माध्यस्थ का प्रतीक है। तटस्थ शब्द का प्रादुर्भाव हुआ, एक सरिता के तट पर बैठा पुरुष नदी में क्या आया, क्या गया क्या जा रहा है, क्या आ रहा है यह किसे ज्ञात है? जो तट पर बैठा देख रहा है उसे पर आप बैठकर न देखते बल्कि देखने के लिए नदी में कूद जाते, तो आप भी बह जाते। आपको आने वाली, और जाने वाली वस्तु का ज्ञान नहीं रहेगा, क्योंकि आप बह चुके हैं। जो एकान्त में बह जाता है, उसे भूत व भविष्य के सत्य का ज्ञान नहीं होता है। जो तट पर बैठकर निहारता है, उसे भूतार्थ का ज्ञान होता है। कि वस्तु स्वरूप यह है। आप किसी वक्ता की बातों में नहीं आना, आप तो तटस्थ होकर वस्तु स्वरूप को समझना। आपके पास प्रज्ञा है, क्षयोपशम है, बुद्धि है, मेघा है, तो उसका प्रयोग करो, और प्रयोग करके अनुभव करो, कि सत्यार्थ क्या है? इसे निहारो कि किसने क्या कहा है बह मत जाओ? तब मैं उसको मानता हूँ, जो मेरे प्रिय ने कहा है, तो आप सत्य से दूर हो गये। आपका भाई किसी का पति है, आपकी भाभी कहती है कि यह मेरा स्वामी है, और आप कहते हैं कि मेरा भाई है। हे ज्ञानी! पति कब बना, भाई कब बना

और जीवद्रव्य कब बना ? सत्य क्या है ? भाई नष्ट हो जायेगा, पति नष्ट हो जायेगा, यह आज का संबंध है, यह जाने वाले संबंध है। पर जीव त्रैकालिक है। सत्य क्या है ? सत्य न भाई है, न पति है। सत्य तो जीवद्रव्य है। यह सत्य है कि आज अज्ञानी ज्यादा हैं, ज्ञानी कम हैं। जो वक्ता आते हैं, इन अज्ञानियों ने उन्हें भगवान् बना डाला। वे वक्ता भगवान् बन गये। जबकि वक्ता छद्मस्थ थे, उनकी वाणी छद्मस्थ वाणी थी। छद्मस्थ वाणी से जो कथन होगा, वह सर्वज्ञवाणी नहीं हो सकती है। उस छद्मस्थ जीव को उसने भगवान् बना लिया, वही से सत्य तेरे हाथ से चला गया। जिस जाति में आपका जन्म हो जाता है, आप उसी जाति के हो जाते हो। ये आयु, नाम, गोत्र हट जायें, तो आप अशरीरी भगवान् - आत्मा बन जाओगे। आप किसी के नहीं होंगे, अपने ही रहोगे। सबके बनने में पुरुषार्थ नहीं चाहिए, सबके बनने के लिए वक्र मैत्रीभाव दिखाना पड़ता है। अपने बनने के लिए शुद्धभाषा का प्रयोग करना पड़ता है। यह ग्रंथ बाहर निहारने वाला ग्रंथ नहीं है, अंदर निहारने वाला ग्रंथ है। इस ग्रंथ से संबंध मत खोजना, संबंधों से दूर होना है। पत्नि, पिता, बहिन ये पर्यायों से प्रगट होने वाले संबंध है, जबकि द्रव्य त्रैकालिक है। पत्नि के सामने भी जीवद्रव्य है, सभी के सामने जीव द्रव्य है ऐसा जो चिन्तन करता है, वह संसार में रहकर भी ज्यादा समय तक संसारी नहीं रहता है। बस, खोजते रहो। खोजी जीव लोगों की दृष्टि में पागल दिखते हैं। वे किसी से बोलते नहीं हैं, किसी से कुछ कहते नहीं हैं, अपनी धुन में रहते हैं। किसी से बोलेंगे, तो समय चला जायेगा; सुनेंगे तो समय चला जायेगा। सुनना बन्द, बोलना बन्द, और कभी-कभी ऐसे भी क्षण आते हैं कि भोजन भी बंद हो जाता है। जब भोजन भी बंद है, तो मल-विसर्जन भी बंद हो जाता है। बस, जिस दिन शिवत्व की प्राप्ति हो गई, उस दिन आहार-विहार का भी विहार हो जायेगा। जब तक तेरे अन्दर से आहार, निहार, विहार का विहार नहीं हो रहा है, तब तक शिवत्व की ओर विहार नहीं होगा। यह प्रमाणपत्र है। चर्चाएँ कितनी भी गंभीर करते रहना, यदि सिद्धांत को लेकर चलोगे, तो कभी भ्रमित नहीं होओगे। यह सिद्धांत बताइये आप। जब तक तेरा विहार चल रहा है, तब तक मोक्ष के लिए विहार नहीं है। जब यह आहार-विहार-निहार बंद हो जायेगा तब औदारिक शरीर परमऔदारिक हो जायेगा। तब परम निर्वाण को प्राप्त होगा। यह है परम निर्वाण की दशा।

बन्ध-बन्धक भाव आदि जो भाव हैं, वे सत्यार्थ तब-तक हैं, जब-तक मिश्ररूप परिणाम हैं, और जब निज सत्यस्वरूप में आता है, तो वे ही भाव तेरे लिए अभूतार्थ हैं, वही जीव अन्तर्दृष्टि को प्राप्त होता है और जो ज्ञायकभाव को प्राप्त है, वह शुद्ध स्वरूप ज्ञायकभाव, जीव स्वभाव ज्ञायकभाव, अखण्ड स्वभाव ज्ञायकभाव, चिद्रूप स्वभाव ज्ञायकभाव, परमपारणामिक भाव ज्ञायकस्वभाव, यही भूतार्थ स्वभाव है।

यह समयसार ग्रंथ इतने बृहद्ता को क्यों प्राप्त हो गया ? जैसे सोमदेव सुरि ने 'नीतिवाक्यामृत' में लिखा, कि इस ग्रंथ के उपरान्त कोई ग्रंथ नहीं लिखा जायेगा। बड़ी दबंगी से लिखा, कि जो भी नये ग्रंथ लिखे जायेंगे, वे इस ग्रंथ के ही पिष्टपेषक होंगे। पिष्टपोषण यानी पिसे हुये को पीसना। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के उपरान्त जितने उत्तरवर्ती विद्वान आचार्य हुए, सबने आत्मा व अध्यात्म की चर्चा की, लेकिन ऐसा कोई ग्रंथ नहीं आ सका, जो समयसार से ऊपर जाता। जिन्होंने जो भी लिखा, उन्होंने सब समयसार को उतार कर रखा। सभी ग्रंथों में आचार्य भगवान् कुन्दकुन्द ही छाये हैं। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने पूरी गाथाओं का पद्यानुवाद किया। इष्टोपदेश व समाधितंत्र में अष्टपाहुड और समयसार का पद्यानुवाद है। अपभ्रंश में आचार्य योगीन्दुदेव स्वामी ने व 'योगसार' 'परमात्म' प्रकाश ग्रंथ लिखे। इन ग्रंथों में पूरा समयसार झलकता है।

अध्यात्म की रुचि प्रगट हुई है, तो एक बार जीवन में 'योगसारप्राभृत' ग्रंथ पढ़ लेना, आचार्य अमितगतिसवामी ने समयसार के अधिकारों का ही पूरा का पूरा कथन संक्षेप में, किया है, अंतर इतना है, कि समयसार प्राकृत में है जबकि आचार्य अमितगति का ग्रंथ संस्कृतभाषा में है। 'मूलाचार' में एक समयसार अधिकार है। इससे लगता है, कि आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी चौरासी पाहुड न लिखते, तो आज आप तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण शून्य होते। क्योंकि जब द्रव्य के स्वरूप ही का ज्ञान नहीं होता, तो करणानुयोग किसमें लगाते? आप चरणानुयोग का पालन किसके लिए करते, और प्रथमानुयोग किसका होता? द्रव्य के अभाव में कोई अनुयोग का कथन हो सकता है क्या? पहले सत् की सिद्धि करोगे, फिर विशेषण लगाओगे, कि पहले विशेषण लगाओगे? विशेष विशेषण भाव सत् ही में होता है, असत् में नहीं होता। वस्तु में होता है, अवस्तु में नहीं होता। भारतीय दर्शन ने पहले वस्तु की खोज की: जब तक आपके पास अस्तित्वपना नहीं है, तो अवस्तु में क्या हेयपना लगाओगे और क्या उपादेय लगाओगे। आपका शत्रु है, आपने द्रव्य के अस्तित्व को तो माना। एक दर्शन कहता है, कि मैं महावीर को नहीं मानता। नहीं मानो आप, पर आपने ऐसा कैसे कहा? हमारे ग्रंथों में लिखित है। हमें खुशी है, कि यह सिद्ध हो गया कि महावीर जी थे, क्योंकि निषेध किया है। अभाव का निषेध नहीं होता है। वस्तु का ही निषेध होता है, अवस्तु का कोई निषेध नहीं होता। महावीर की सिद्धि हो गई, वे कैसे थे, यह हम बाद में आपसे मिल लेंगे। पहले यहां पर सत् की सिद्धि करो। कभी में 'शब्द मत लाना, ऐसा मेरा मत है, यानि जिनमत नहीं है। कुछ विषयों को निर्ग्रन्थों के मुख से सुनो। जो वक्ता यह कहता है कि यह मेरा मत है, तब यदि मैं श्रोता होऊँगा तो उसकी बात नहीं मानूँगा, क्योंकि 'इनका मत है जिन का नहीं है। इनका मत मुझे स्वीकार नहीं है। इनका मत वंदनीय नहीं है। वंदना किसकी करूँगा? इनकी नहीं, जिनेन्द्र की वाणी की करूँगा। यह जिनशासन है, इसमें आपका मत नहीं चलेगा। जिनवाणी अविस्वादी होती है, जिनवाणी में विस्वादा किंचित भी नहीं होता।

जीव के विकार का हेतु अजीव है। क्यों? कर्मबन्धन न होता, तो विभावभाव क्यों होते? जीव के परिणामों से कार्माणवर्गणाएँ, कर्मरूप परिणत होती हैं। और कर्म के सहयोग से जीव रागादिभावरूप परिणत होता है। हल्दी के संयोग से चूना में परिणमन होता, कि चूने के निमित्त से हल्दी में परिणमन होता है? दोनों का निमित्त न होता तो तीसरी पर्याय क्यों होती है? वह निमित्त नैमित्तिक न होता तो तीसरी पर्याय क्यों होती? वह व्यक्ति वस्तुस्वभाव को भूल रहा है। पता नहीं क्यों ये द्वेष भाव आ रहा है मन में कि निमित्त कुछ नहीं करता, अरे! ये तो बताओ कि यह तुम कब से सीखे हो? तो वह कहता है कि जब से आप ने बताया तब से। जब तू जानता नहीं था, मैंने बताया तो तेरे जानने में निमित्त बनूँगा कि नहीं, बनूँगा?

जो निमित्त का निषेध कर रहा था, उसी के मुख से निमित्त की सिद्धि चल रही है। किसी ने भी तो बताया न? आपने बताया मैं तो कुछ करता नहीं, यही आप ही बता रहे थे, आप न आते तो मैं तो कुछ करता नहीं, आप न बताते तो निमित्त कुछ करता नहीं, यह किससे सीख पाते? हे ज्ञानी निमित्त परद्रव्यरूप नहीं होता, इस अपेक्षा से निमित्त कुछ नहीं करता। सहकारी कारण के बिना कार्य नहीं होता। कार्य कारण भाव है।

**तदेतन्मूलहेतोः स्यात्कारणं सहकारकम् ।**

**यद् बाह्यं देशकालादि, तपश्च बहिरङ्गकम् ॥१५॥ स्वरूप संबोधन ॥**

निमित्त कुछ नहीं करता तो देश, क्षेत्र काल, भाव की तथा जिनवाणी, जिनालय, गुरु की क्या



आवश्यकता है ? इससे लगता है कि कितना भ्रम है । हाँ, उपादान जब अपनी योग्यता को प्राप्त कर लेता है, तब कहना, कि निमित्त ! अब तेरी कोई आवश्यकता नहीं; अब तुम जैसा चाहो, वैसा करो । वहाँ कहना । वैसे आपके कहने की आवश्यकता दिखती नहीं है । जब कार्य सिद्ध हो गया, तब कार्य नहीं चाहता है कि कार्य होने के बाद आप अब आभार प्रदर्शन करें । कारण कहता है कि काम हो गया, अब मुझे छोड़ दो, मैं स्वतंत्र हूँ । जैसे कि कर्म का और आत्मा का युद्ध चला और युद्ध होते-होते कर्म परास्त हो गया, आत्मा सिद्धालय में पहुँच गई, अब आभार प्रदर्शन किसका, कौन करे ? जो करनेवाला था, वह सिद्ध हो गया, जो करानेवाला था, वह गिर गया, अब करे कौन ?

इस समयसार को सुनने से मस्तिष्क स्वतंत्र होता है, पराधीनता विगलित होती है, राग की लिप्तता में न्यूनता आती है यदि गहराई से समझ लिया तो और इतना ही नहीं, ज्ञान का क्षयोपशम बढ़ता है । कैसे ? मकान में कचरा रखा हो, रखा ही तो है, उसको हटाये बिना दूसरी सामग्री रखी भी तो नहीं जा सकती । कचरा फेंक दिया जाये बाहर, तो मकान बड़ा दिखना प्रारंभ हो जाता है । ऐसे ही हमारे अन्दर विकारों के विकल्पों का कचरा रखा हुआ है । वह समयसार से पृथक हो जाता है । फिर उसमें तत्त्व ज्ञान रखा जाता है, तो अपने आप ज्ञान बढ़ता है और सुनते-सुनते मस्तिष्क में विशालता आती है ।

**जातिलिंग विकल्पेन, येषां च समयाग्रहः ।**

**तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव, परमं पदमात्मनः ॥८९॥ समाधितंत्र ॥**

आचार्य पूज्यपादस्वामी समाधितंत्र में लिख रहे हैं; जब तक तेरे अन्तस्करण में जाति, कुल का विकल्प रहेगा, तब तक परमपद परमात्मा को प्राप्त नहीं कर पायेंगे । जाति तो तन का निमित्त है, लिंग यह शरीर का विकार है, लेकिन धर्म तो आत्मा का स्वभाव है । इस विषय पर चर्चा करना है तो रत्नकरण्ड श्रावकाचार बहुत अच्छा है । हे ज्ञानी ! धर्म के प्रभाव से श्वान भी देव हो जाता है, और पाप के उदय से देव भी श्वान हो जाता है । अब बताओ वहाँ पर जाति कहाँ चली गई ? जो इस अहंकार में रहते हैं कि मैं उच्च जाति का हूँ, कहाँ चला गया ? आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने जाति का विखण्डन किया है बड़े ही सुंदर शब्दों में -

**सम्यग्दर्शन सम्पन्न-मपि मातङ्ग देहजम् ।**

**देवादेवं विदुर्भस्म-गूढाङ्गारान्त-रौजसम् ॥२८॥ २.क.श्रा.।**

मातङ्ग का पुत्र भी क्यों न हो, वह भी सम्यग्दर्शन से शुद्ध होता है । जैसे राख में अंगारा छुपा होता है । उसी प्रकार सम्यक्त्व किसी भी जाति में हो सकता है । "दंसण मूलो धम्मो" धर्म का मूल दर्शन है, यह हमें स्वीकार है । अब कहना हाँ, वंशगत परम्परा है, जो अपनी-अपनी है । सम्यग्दृष्टि तो होता है, पर मंदिर के अन्दर आने का पात्र नहीं है, न अभिषेक कर सकता है, क्योंकि उसका सम्यग्दर्शन उसी भव से मोक्ष नहीं दिलायेगा । क्यों ? सम्यक्त्व की योग्यता तो है, पर चारित्र की योग्यता नहीं है । मैं जहाँ बैठा हूँ, वहाँ उभय बात कहना अनिवार्य है, नहीं तो कल से तुम दूसरी परम्परा खड़ी कर दोगे ।

जीव में विकार आ रहा है, उसका हेतु अजीव है, उससे क्या प्रगट हो गया, परद्रव्य के संबंध से विकार आया है । परद्रव्य से संबंध हट जाये, तो आत्मा निर्विकार है । पुण्य-पाप-आश्रव-संवर निर्जरा बंध मोक्ष लक्षण ही जीव के विकार का हेतु है । जो जीवद्रव्य है, उसके स्वभाव का अभाव न होते हुए, स्वपर प्रत्यय, स्वप्रत्यय, परप्रत्यय, स्वनिमित्त, परनिमित्त पर्याय को अनुभव करते हुए, जो समस्त काल में

चलायमान नहीं होता है। जो जीव का स्वभाव है, वही त्रैकालिक स्वभाव भूतार्थ है, शेष अभूतार्थ है। यानी हमारे लिए निष्प्रयोजनभूत है। इसलिए उन नौ तत्त्वों में एकमात्र जीव तत्त्व ही ऐसा समझना चाहिए। आप सात तत्त्व समझते हैं न ? पुण्य-पाप भी आश्रय ही हैं, इसलिए नौ तत्त्व है। जो वस्तु का स्वभाव, वह तत्त्व।

जो परिणमनशील हैं, वह पदार्थ है और तत्त्व में भी परिणमनशीलता है, इसलिए दोनों एकभूत है। क्योंकि पदार्थ में भी तत्त्वता है। जो अनुभूति है, वही आत्मा की ख्याति है। जो आत्मा की ख्याति है, वही सम्यक्दर्शन है। जो कि सम्पूर्ण रूप से निर्दोष है, निर्बाध है। अन्तिम पंक्ति में क्या बोल दिया ? जो श्रद्धा है, जो सम्यक्त्व है, वह अनुभव है, आत्मख्याति है। आत्मानुभूति है, वही सम्यक्दर्शन है। इसमें कोई दोष नहीं है। ऐसा आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं। सम्यक्त्व है, और अनुभूति नहीं है, तो सम्यक्त्व क्या है ? निश्चयाभासी यहाँ व्यवहारपक्ष से च्युत है और व्यवहाराभासी निश्चयपक्ष से च्युत है। ध्यान दो, बिजली है, तार आप पकड़े हैं, प्लग लगा दिया है, पर पावर स्पर्शित नहीं हो पा रहा है, तो क्या होगा ? नहीं जलेगा। ढीला लगाया था, अतः समय भी गया, क्रिया भी गई, और कार्य नहीं हुआ, क्योंकि अन्तर था। तत्त्वज्ञान भी किया, द्रव्यसंयम भी प्राप्त कर लिया, लेकिन अनुभूति के स्पर्श से दूर रहा तो वह ज्योति जली नहीं। घर भी छोड़ दिया, परिवार से भी गया, परिणति नहीं बदल पाई, तो गति भी बदल गई। हमारी बातें सुनकर वैराग्य धारण कर मुनि मत बन जाना। बनना है, पर परिणति को अच्छे से बना के बनना है। तटस्थ होकर देखना। जैनदर्शन विशाल है। पक्षां-विपक्षां में धर्म नहीं होता। धर्म प्रकृति का है। कपड़े के साथ मिथ्यात्व को भी उतार देना। नहीं उतार पाये, नीति का वैराग्य तो हो गया। बारह भावना का वैराग्य सरल है, सिद्धांत का वैराग्य कठिन है। जो आत्मानुभूति है, वही सम्यक्त्व है। जो सम्यक्त्व है, वही आत्मानुभूति है। बिना सम्यक्त्व के आत्मानुभूति नहीं है, बिना आत्मानुभूति के सम्यक्त्व नहीं, लेकिन सराग सम्यग्दृष्टि की आत्मानुभूति सरागरूप ही है, वीतरागी सम्यग्दृष्टि की वीतरागभूत ही है। निर्णय करना आवश्यक है। मिथ्यात्व की अनुभूति मिथ्यारूप, सम्यग्दृष्टि की सम्यक्त्व रूप और वीतरागी सम्यग्दृष्टि की शुद्धोपयोग रूप ही होगी।

## ॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

प व प

आचार्य भगवन कुन्दकुन्द स्वामी परम स्वतत्त्व की व्याख्या करते हुए समझा रहे हैं। एक ही द्रव्य एक ही समय में भूतार्थ है, एक ही समय में अभूतार्थ है। व्यवहारिक दृष्टि से देखे, एक नीम का वृक्ष नीम का पत्र मनुष्य के लिए अभूतार्थ है, ऊँट के लिए भूतार्थ है। एक अरहंत का बिम्ब सम्यक्दृष्टि के लिए भूतार्थ है, मिथ्यादृष्टि के लिए अभूतार्थ है। एक पुरुष निज स्वभाव में है भूतार्थ, परभाव में अभूतार्थ। लोक में ऐसा कोई भी द्रव्य नहीं है, जो उभयरूपता से शून्य हो, भूतार्थ भी है, अभूतार्थ भी है, यानि सत्यार्थ भी है असत्यार्थ भी है, इसलिए जो ध्रुव सत्यार्थ स्वरूप वस्तु का है, उसकी खोज अन्तस् में उतर के करना है, जो सात तत्त्व है, सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र, मोक्षमार्ग, व्यवहार रत्नत्रयभूतार्थ है अभूतार्थ है, व्यवहार रत्नत्रय में जब सम्यक् की बात करेंगे, तो तत्त्वों का श्रद्धान देव शास्त्र गुरु का श्रद्धान सम्यक् है। सत् शास्त्रों का ज्ञान ये सम्यक्ज्ञान है। मूल और उत्तर गुणों का पालन करना सम्यक् चारित्र है। ये सब विकल्प दशायें है, परालम्बभाव है, परगत तत्त्व है, जिनवाणी मेरी आत्मा का धर्म नहीं है, गुरु मेरी आत्मा का धर्म नहीं है, जिनदेव मेरी आत्मा का धर्म नहीं है। यदि ये मेरी आत्मा का धर्म है तो मेरी आत्मा, ईश्वरवादी जैसी पराधीन

है। देव, शास्त्र, गुरु की आराधना स्वात्म स्वरूप की प्राप्ति के लिए है, पर आराध्य को आराध्य में विलीन होने के लिए नहीं है। मैं पंचपरम गुरु का आराधक हूँ, पर उनकी आराधना के लिए नहीं हूँ, मैं पंचपरमेष्ठी परमगुरु का आराधक हूँ, जिन स्वभाव भाव को प्रकट करने के लिए हूँ। वे परमेष्ठी रहे और मैं, मैं रहूँ, इसलिए मैं आराधना नहीं करता हूँ, तो व्यवहार से सम्यक्दर्शन, ज्ञानचारित्र की जो व्याख्या है, वो व्यवहार से ही भूतार्थ है, निश्चय से अभूतार्थ है क्यों ? इनका आलम्बन जब भी मैं लूँगा, तो मैं अकषायी नहीं हो पाऊँगा, ध्यान दो भ्रमित मत हो जाना। मैं देव, शास्त्र, गुरु की आराधना करता रहूँगा, तब तक ईयापथ आस्रव नहीं होगा, और जब तक ईयापथ आस्रव नहीं होगा, तब तक परमध्यान शुक्लध्यान की लीनता नहीं होगी, और शुक्ल ध्यान के अभाव में, कैवल्यज्ञान नहीं होगा और केवल के अभाव में निर्वाण नहीं होगा, इसलिए ये देव, शास्त्र, गुरु की आराधना देखो भटक मत जाना, आप भक्ति करना, छोड़ मत देना। पर देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति निज स्वभाव भाव नहीं है। कषायभाव है, कषाय की मध्यम अवस्था में देव, शास्त्र, गुरु झलकते हैं, कषाय की उत्कृष्ट दशा में, देवशास्त्र गुरु भी नहीं दिखते हैं और कषाय के जघन्य अंशों में निजशुद्धात्मा दिखती है। इसलिए व्यवहार रत्नत्रय, निश्चय रत्नत्रय, के लिए साधन है, साध्य नहीं है। व्यवहार रत्नत्रय की क्रिया साधन ही है, साधकतम नहीं है। व्यवहार रत्नत्रय की आराधना, निश्चय के लिए साधन ही है, वह निश्चयरत्नत्रय के लिए साधकतम भी नहीं है। साधकतम तो निश्चय की लीनता के लिए, रत्नत्रय से परिणत निज परिणामों की परिणति ही है। ये पिच्छी कमण्डलु, जिनमुद्रा रत्नत्रयधारी की मुद्रा है, रत्नत्रय धर्म नहीं है। समझ में आ रहा है, पिच्छी कमण्डलु, जिनमुद्रा, ये रत्नत्रयधारी का चिन्ह है, ये रत्नत्रयधारी की मुद्रा है। ये रत्नत्रयधारी का लांछन है, लेकिन ये रत्नत्रय नहीं है, यदि इतने मात्र से रत्नत्रय होता है, तो अभव्य जीव को रत्नत्रयधारी कहना होगा। इसके बिना रत्नत्रय होता नहीं है, अन्यथानुत्पत्ति। लिंग की सत्ता में परिणामों की परिणति के साथ जो है, तथा उत्पत्ति द्रव्यसंयम के साथ, अनंतानुबंधी, प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान, सर्वधाति प्रकृतियों का उदयाभावी क्षय, देशघाती प्रकृति संज्जवल न के उदय होने पर जो जीव के परिणामों की दशा है, वह संयम है तथानुत्पत्ति। अब ध्यान दो भेष मुनि की व्याख्या अनंतवार सुनी है। अब न्याय और दर्शन की भाषा में भावमुनि की व्याख्या सुन रहे हो तथा उत्पत्ति, अन्यथानुत्पत्ति।

ज्ञानी ! तुझे पिच्छी कमण्डलु भी दे दिया, अट्टाईस मूलगुणों का आरोपण भी कर दिया, पर तेरे पालन की परणति नहीं है तथा उत्पत्ति, अन्यथानुत्पत्ति।

करणानुयोग कह रहा है, मैंने जो परिभाषा बनाई है, दिगम्बर मुनि की, वही सत्य है, वही भूतार्थ है, अन्यथा उत्पत्ति यदि वो नहीं है, अन्यथानुत्पत्ति वही है तथानुत्पत्ति। इससे ही उत्पन्न होता है। इसलिए व्यवहार रत्नत्रय भूतार्थ भी है, अभूतार्थ भी है, लेकिन प्रारंभ के लिए भूतार्थ ही है, निज स्वरूप में लीन के लिए अभूतार्थ ही है। द्रव्यरत्नत्रय भूतार्थ है, सत्य है, अभूतार्थ है सत्य है। दोनों सत्य है। इस भाषा का प्रयोग घर में करें, तो घर में विसंवाद नहीं होगा। स्यादपद ही तो लगा है, जीवन्त और जैवन्त होने वाला कोई लोक में पदार्थ है, तो स्यादपद ही है।

**श्रीम्-परमगम्भीर, स्याद्वादामोध-लाञ्छनम् ।**

**जीयात्-त्रैलोक्यनाथस्य, शासनं जिन-शासनम् ॥३॥ श्री अर्हद् भक्ति ॥**

जब से फिल्मी भजनों का राज्य आया, तो मंगलाचरण भी फिल्म में चले गये, पहले विद्वान की गद्दी

पर गूँजता था, मंगलाचरण तो मालूम चलता था। ये कभी मत सोचना सामने वाले समझ रहे कि नहीं, इतना तो समझ रहे हैं, मंगलाचरण बोल रहे हैं, तब भी बोलना। प्रत्येक वक्ता को एक प्राकृत और संस्कृत छन्द बोलना ही चाहिए प्रवचन में उसके बिना कुछ होता नहीं, क्योंकि आपने जिनेन्द्र की वाणी का प्रयोग किया ही नहीं है, तो जब वह विद्वान बोलता है, श्रीमत परम गम्भीर .....। हम किन के शासन को जयवन्त करने आये है, जिनशासन को। पं. दरबारी लाल कोठिया जी धवला जी की व्याख्या कर रहे थे टीकमगढ़ में, उनका प्रवचन हुआ, तो उन्होंने न्याय कुमुदचन्द्र का मंगलाचरण किया, तो लगता था कोई विद्वान तार्किक ग्रन्थ से बोल रहा है।

**धर्मतीर्थ करेभ्योऽस्तु स्याहादिभ्यो नमो नमः ।**

**ऋषभादि महावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये ॥१॥ लघीयरित्रयकारिका पाठ ॥**

आवाज भी अच्छी थी, तेज तो लगता था, कि स्याद्वादी सिंह बोल रहा है। श्वेताम्बर पत्रिका एक बार में पढ़ रहा था, तो उन्होंने साधुओं पर कटाक्ष किया, कटाक्ष भी सुन्दर होते हैं। अहो मेरे आचार्य भगवन्तों, मुनि भगवन्तों, महावीर की वाणी वर्तमान के लोगों की भाषा में नहीं थी, वर्द्धमान की वाणी में हमारी मूल भाषा प्राकृत है। यदि आप लोग ही बोलना बन्द कर देंगे, फिर इसका रक्षण सुरक्षा कैसे होगी? गुण जहाँ मिलें ग्रहण कर लेना, उस दिन मैंने विचार किया, लिखने वाला कह रहा है, उसके मन में टीस आई होगी, सभी हिन्दी का मंगलाचरण बोलकर प्रवचन प्रारंभ कर देते हैं, और हिन्दी से ही समाप्त कर देते हैं, कुछ मंगल तो करो, हिन्दी मंगल नहीं, ऐसा मेरा निषेध नहीं है, वो भी तीर्थकर की क्षुद्र महाभाषा में एक भाषा होगी। पर ध्रुव सत्य है, आपको धर्म की भाषा का भी प्रयोग करना चाहिए।

**धर्मतीर्थ करेभ्योऽस्तु स्याहादिभ्यो नमो नमः ।**

**ऋषभादि महावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये ॥१॥ लघीयरित्रयकारिका पाठ ॥**

चौबीसी पुराण हो गया, सम्पूर्ण न्याय हो गया, सम्पूर्ण सिद्धान्त आ गया, सम्पूर्ण स्वात्मोपलब्धि का समयसार हो गया। यही कारण है मात्र मंगलाचरण पर एक ग्रन्थ लिखा गया।

**मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं, कर्मभूभूताम् ।**

**ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वंदे तद्गुण लब्धये ॥त.सू.। मोक्षशास्त्र ।**

इस मंगलाचरण के ऊपर 'आत्म परीक्षा' नाम का ग्रन्थ मात्र इसके मंगलाचरण के ऊपर लिखा है। आचार्य भगवन् विद्यानंद स्वामी ने।

भूतार्थ- अभूतार्थ, घर में भी इसका प्रयोग करे तो बहुत अच्छा होगा, विद्या है प्रयोगकर लो, यदि सिंघई जी टोपी को सिर पर लगायें थे, किसी ने फेंक दिया। आज कल बच्चे लगाते नहीं हैं, इसलिए अभूतार्थ है, हमारे लिए भूतार्थ है, गुस्सा नहीं करना, उसने गलत नहीं किया।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं, कि जीवादि नवतत्त्व है, भूतार्थ रूप से, इनको जो जानता है, वह सम्यक्त्व है। जीवादि नौ तत्त्व है, भूतार्थ नय से जानना चाहिए, यहाँ पर सम्यक् की प्राप्ति का साधन है व्यवहार, इसलिए भूतार्थ है, क्यों? व्यवहाराभास, निश्चयाभास। आभासों में धर्म नहीं है, धर्म सत्यार्थ में है। संयमाभास भी होता है, आभास कितने होते हैं, आभास, असंख्यात लोक प्रमाणनय है, तो असंख्यात लोक प्रमाण आभास हैं। जितने जीव के असत्यार्थ विकल्प हैं, वे सब आभास हैं। जितने वक्ता उतने नय, जितने वक्ताओं के विपर्यास है, वे सब आभास हैं, इसलिए

### 'जावदियं वयवादं, तावदियं नयवादं' (सन्मत्तिसूत्र)

आचार्य सिद्धसेन गणी कह रहे हैं, जितने वचनवाद उतने नयवाद। जितने नयवादों का विपर्यास है, उतने आभास है। हेत्वाभास, स्वरूपाभास, कार्यकारणाभास, संयमाभास, निर्ग्रन्थाभास, जैनाभास।

एक जीव ने संयम को स्वीकार किया और जैसा संयम का आगम में प्ररूपणा है, वैसा पालन नहीं करता संयमाभास। व्यवहार संयम कह रहा था, श्रावक की बात कर ले लकड़ी को शोधबीन के जलाना, माँ कह रही थी, बेटी गई उठाई और ऐसे ही जला दी, रोटी बना दी, सोलाभास, बोले क्यों वो तो माँ ब्रती थी, सोला का भोजन करती थी, उसने देखा ही नहीं, जहाँ से लकड़ी आई थी, उस पर बिल्ली मलकर गई थी, उसी लकड़ी को जलाकर रोटी बना दी, सोलाभास।

रात्रि भोजन का त्याग करे है, और देर शाम तक खा रहा है, त्यागाभास। तीन घड़ी पहले खाना चाहिए सूर्य अस्त के। रात्रिभुक्ति त्यागाभास। सुबह सूर्य उगा नहीं मंजन कर लिया ...।

मुनि के पड़गाहन के समय के पहले ही भोजन कर के बैठ गये गृहस्थाभास। दान-पूजन करना चाहिए, तुमने भगवान का अभिषेक देखा नहीं करना तो दूर है, और कह रहे गृहस्थधर्म का पालन कर रहे तो तुम गृहस्थधर्म का पालन नहीं कर रहे, वे गृहस्थ धर्म में षट् आवश्यक में दान भी एक कर्त्तव्य है। षट् आवश्यक धर्म का पालन करना गृहस्थ धर्म है। बच्चे आदि को जन्म देना ही गृहस्थधर्म नहीं है, गृहस्थधर्माभास। गृहस्थधर्म तो बारह व्रतों का पालन करना कहलाता है, बच्चे आदि का पालन धर्म नहीं, राग का पालन है। काष्ठ आदि संघ थे, वे संघाभास।

आभास की परिभाषा- 'ततोऽन्यन्तदाभासम्।' जो जैसा है उससे विपरीत होना तदाभास। जो बुद्धिपूर्वक ग्रहण किया जाता है, वही व्रत कहलाता है। सभी त्यागी, व्रती को सूर्य के समान रहना चाहिए। सूर्य में आतापनाम का गुण है, जो मूल में ठण्डा होता और किरणें गर्म होती हैं। अहो त्यागियो ! संयम (साधना) को गर्म रखना चाहिए, स्वभाव ठण्डा होना चाहिए। होता उल्टा है, साधना शीतल है, स्वभाव गर्म है। हे वर्द्धमान स्वामी काल काला है, श्रोता मन की सुनता है, मन की कहता है। हे नाथ आपका शासन तो निर्मल ही है परन्तु अपवाद क्यों है, क्योंकि श्रोता वक्ता नयज्ञान से शून्य हो रहे हैं। और नय में झगडा कर रहे हैं। फिर भी ठीक है। नया भाषी है जैनाभासी नहीं है। लिंग भेद तो नहीं है, मध्यकाल में लिंग भेद हो गये थे। वह जैनाभासी थे।

व्यवहार सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उपाय 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यक्दर्शन' हे भूतार्थ है, इन नव तत्त्वों में, एकत्व से उद्योदित करेंगे, एकत्वभाव से प्रकाशवान करेंगे, तो भूतार्थ नय से तो एकत्व ही ग्रहण करने योग्य है। इन तत्त्वों में एक मेरा शुभ चिद्रूपआत्मा है, वही ग्राही है, शेष अग्राह्य है, किस नय से, निश्चयनय से। शुद्धनय से आत्मा से, अनुभूति ले रहा आत्मा की। ऐसा समझना चाहिए निश्चय व्यवहार ये शब्द आत्मानुभूति का मार्ग नहीं है। अब समझो समयसार कितना गहरा है। देव, शास्त्र, गुरु के प्रति आदर सम्मान करना, इतना मात्र सम्यक्त्व नहीं है। क्योंकि भद्र मिथ्यादृष्टि जीव भी देव, शास्त्र, गुरु की पूजा करता है, जो मिथ्यात्व के साथ देव, शास्त्र, गुरु की पूजा करता है।

प्रवचनसार गाथा -

एस सुरासुर मणु सिंद वंदिदं धोदघाइ कम्ममलं ।

पणमामि बड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥ प्रवचनसार ॥११॥

जो मिथ्यादृष्टि जीव का शुभोपयोग है, वह असुरपद को देता है। सम्यग्दृष्टि का शुभोपयोग है, वह सुरपद को देता है। असुर भवनवासी देव है। इसलिए देवशास्त्र गुरु की पूजा करना ही, सम्यक्त्वदृष्टि नहीं है। देव, शास्त्र, गुरु की पूजा के साथ आठ अंगों का पालन करता है, कि नहीं। किसी ने गलती की आपने पेपर में निकलवा दिया। कैसे सम्यग्दृष्टि। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा होना चाहिए। बिना धुली द्रव्य से पूजन करने से द्रिदि होते हैं।

## ॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

५ ५ ५

आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी समयप्राभूत ग्रंथ में तत्त्व की विशद व्याख्या करते हुए समझा रहे हैं कि सम्यग्दर्शन ही मेरी आत्मा है, वही सम्यक्त्व है। अभेद अनुपचार दृष्टि से देखें तो सम्यक्त्व में और आत्मा में भेद नहीं है। जो विपरीत श्रद्धा थी उस विपरीत श्रद्धा का अभाव और समीचीन श्रद्धा का प्रादुर्भाव युगपत् होता है, परन्तु श्रद्धा गुण का अभाव नहीं होता। श्रद्धा गुण त्रैकालिक है। श्रद्धा हो और अनुभूति न हो, यह कभी संभव नहीं है, जहाँ गुण प्रगट होगा, वहीं गुण की अनुभूति होगी, आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने कहा जो कि स्वानुभूति है, वह सम्यग्दर्शन ही है। जहाँ-जहाँ सम्यग्दर्शन होगा, वहाँ-वहाँ नियम से आत्मा होगी, अनात्मा में कोई सम्यक्त्व नहीं होता। श्रद्धा चेतन में होती है, कि अचेतन में? चेतन में होगी। श्रद्धा चेतन का गुण है, अचेतन में वह अनुभूति होगी। अनादि से मिथ्यात्व का सेवन पोषण किया है और जब मिथ्यात्व विगलित होता है, तब आत्मा में जो आनंद आता है, वह अपूर्व-अपूर्व आनंद होता है। यही कारण है कि अपूर्वकरण भी होता है। अपूर्वकरण परिणाम होते हैं। अनादि मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्व के टुकड़े करता है, तब अनिवृत्तिकरण और अधःकरण परिणाम करता है। अपूर्वकरण परिणाम तो जो आत्मा को पूर्व में आनंद कभी नहीं आया था, उस आनंद का कारण है करण यानी परिणाम। जो परिणाम पूर्व में कभी नहीं हुए, ऐसे परिणामों का होना अपूर्वकरण परिणाम है। आप स्वयं वेदन करें, यदि किसी जीव को एक श्लोक का ज्ञान होता है, एक श्लोक के ज्ञान के पूर्व में जो अज्ञानभाव था, उसका अभाव हुआ, कि नहीं हुआ? ध्यान दो, अज्ञान दुःख है तो ज्ञान सुख है, मिथ्यात्व दुःख है, सम्यक्त्व सुख है। असंयम दुःख है, संयम सुख है। यह तीन ऐसे सुख हैं, जो किसी के चाक्षुष नहीं हैं, यह ऐसे सुख हैं, जो किसी इन्द्रिय से नहीं भोगे जाते, यही अतीन्द्रिय सुख है। सम्यक्त्व न तो इन्द्रिय से अनुभूत किया जाता है और न ही ज्ञान इन्द्रिय से अनुभूत किया जाता है। न ही चारित्र इन्द्रिय से अनुभूत होता है। नहीं, अभी जो तीन की बात कर रहे हैं, इनका फल कहाँ बोल रहे हैं। इनका फल तो निर्वाण है। लेकिन निर्वाण होने के पहले यदि रत्नत्रय में सुख नहीं है, तो रत्नत्रय कोई धारण क्यों करेगा? शादी होने की चर्चा चल रही थी, उसमें आपको आनंद आ रहा था कि नहीं आ रहा था? अभी तुझे नारी की चर्चाएँ मात्र थी, उसमें आनंद आ रहा था कि नहीं आ रहा था? जो शादी कराने की उत्सुकता का आनंद था, वह भी एक आनंद था। ध्यान दो, ऐसे ही रत्नत्रय की आराधना यह साधन है, साध्य नहीं है। निर्वाण साध्यभूत है, रत्नत्रय साधन है। जब साधन में ही आनंद आता है, तभी साध्य की ओर जाया जाता है। जब साधन में ही आनंद समाप्त हो जाये, तो साध्य की ओर गमन होगा ही नहीं। वे जीव धन्य हैं, जिन्हें साधना करते हुए सुख होता है। वह जीव दुतकारने योग्य है, जिसे साधना के काल में कष्ट होता है। वैराग्य होगा तो साधना में सुख है और वैराग्य नहीं है तो, साधना में दुःख के अलावा

कुछ नहीं है। एक समय भोजन मिलता है आपको, सब जगह आप जा नहीं सकते हो, बहुत सारी पाबंदियाँ आ चुकी हैं। यदि रागी है, तो पाबंदियाँ हैं; वैरागी है, तो स्वतंत्र है। कोई भी जीव आता है, तो देखना चाहिए कि भावुकता में आया है या कि वैरागी है। भावुकता वाला होगा तो महीने भर में समझ में आ जायेगा। उससे कहना जाओ, हो गई साधना। और वैरागी होगा तो उसकी साधना बढ़ती जायेगी। इसलिए यह शीघ्र निर्णय का स्थान नहीं है, यह अन्दर का विषय है। वैराग्य-समन्वित परिणति होगी तो ध्यान रखना, रत्नत्रय से बड़ा सुख जगत में कोई नहीं है।

**आतम को हित है सुख सो सुख, आकुलता बिन कहिये ।**

**आकुलता शिव माहि न ताते, शिवभग लाग्यो चाहिये ॥३/१ छहढाला ॥**

यदि इस मुद्रा में भी आकुलता है तो, ज्ञानी ! तेरे पास किंचित भी सुख नहीं है। संबंधों से, संबंधियों से दूर तो रहना पड़ेगा। ये पर के संबंध ही आकुलता के साधन हैं। जितना आप असंबंधित होंगे, उतने ही आप आनंदित रहोगे, और जितने आप पर से संबंधित बन कर रहोगे, नियम से आपको आत्मसुख का अभाव होगा। जब आपको कोई जानता नहीं था, तब आपकी सामायिक अच्छी होती थी और जब आपको कोई जानने लगे, तो आपकी सामायिक भंग होती है। समाज तो आती है, पर सामायिक नहीं होती है। इसलिए सम्बन्धता तो कर्मबंधता का साधन है। रत्नत्रय की आराधना को सम्यक्त्व का आत्मा कहा है। ज्ञानी ! श्रद्धा कहाँ होगी ? आत्मा में। एक बात और बताओ, देव, शास्त्र, गुरु पर श्रद्धा पहले होगी, कि आत्मा पर पहले होगी ? देखो, यहाँ अलग-अलग विचार हैं। यानी लोक में मत भिन्नताएँ हैं। वह लोक में जीने वालों के कारण नहीं, लोक में भिन्नताएँ वक्ताओं के अलग-अलग विचार से हैं। बहुत सारे मत श्रद्धा से नहीं चलते, सम्बन्धों से चले हैं। यानी आपकी पत्नी आपकी बात मानेगी, आप जैसा कहें वैसा धर्म मानेगी और पत्नी अपने बच्चों को सिखाती है, बच्चे अपने बच्चों को। ज्ञानियो ! पीढियाँ बढ़ गई, मिथ्यात्व का भी पिण्ड बढ़ गया, श्रद्धा से सम्प्रदाय नहीं चलते, सम्प्रदाय तो संबंधों से चलते हैं। श्रद्धा समीचीनता पर होती है, लेकिन संबंधों के कारण विपर्यासों में जाता है। क्यों ? यह मेरी समाज का विषय है, यह हमारी जाति का विषय है। पर अभी तुझे वस्तु स्वतंत्रता का ज्ञान नहीं है। सम्यक् की साधना संबंधों में किंचित भी नहीं होती। सम्यक्त्व की साधना वह है, जिसमें क्रिया होती दिखती नहीं है। अंदर की गहरी क्रिया का नाम सम्यक्त्व है। ज्ञान की साधना में जिनवाणी खोजना पडती है। चारित्र की साधना में अग्रती को महाव्रत धारण करना पडता है। सम्यक्त्व की साधना में श्रद्धा को मजबूत करना पडता है। सम्यक्त्व की साधना रासायनिक क्रिया है। मिथ्यात्व को कैसे विगलित करना ? अंदर की प्रकृति को नापना-तौलना। जीवन पूरा निकल जाता है परन्तु अपने परिणामों तक का जीव को ज्ञान नहीं रहता। सम्यक्त्व की साधना कौन कर पायेगा ? जो बंधनों से मुक्त हो जायेगा। मेरे से भी नहीं बन रही, इनसे भी नहीं बन रही, किसी से भी नहीं बन रही, तो क्या करोगे ? वस्तु की स्वतंत्रता का भान हो जाना और तत्त्व का निर्णय हो जाना कि जो सर्वज्ञ ने कहा है, वह ध्रुव सत्य है, ये निर्णय हो जाये। निर्णय आपके ज्ञान में। समझ में आये या न आये, पर इतना निर्णय हो जाये, कि अरहंत ने जो कहा, वह सत्य कहा है। आप समझो कि द्वादशांग का ज्ञान आपको हो नहीं सकता, इतना क्षयोपशम नहीं है।

**सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते ।**

**आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथा वादिनो जिनाः ॥५॥ आलाप पद्धति ॥**

जिनेन्द्र के तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म हैं। अरहंत की आज्ञा मानकर उसे स्वीकार कर लेना। क्यों ? क्योंकि

जिनेन्द्र की वाणी अन्यथा नहीं होती है। हमारी प्रज्ञा की न्यूनता हो सकती है, पर उनके कैवल्य में प्रज्ञा की न्यूनता नहीं हो सकती। अपने विचारों से जिनवाणी को तौलने का त्याग कर देना। आलू, प्याज के साथ-साथ निज विचारों का भी त्याग कर देना। निज विचारों के त्याग बिना सम्यक्त्व नहीं होगा, इसलिए पहला सम्यक्त्व आज्ञा सम्यक्त्व है। निज विचारों पर चलना सम्यक्त्व नहीं है। जिन विचारों पर निज विचार चलाना सम्यक्त्व है। बहुत कठिन है। एक अक्षर भी अपने अनुसार चलाने का विचार आगया न, विश्वास रखना, सम्यक्त्व गया। यहाँ एक शब्द का प्रयोग कर लेना, श्रद्धा तो सत्मार्ग पर अंधी ही होना चाहिए। सत्मार्ग पर अपने विचारों की टार्च मत चलाना। श्रद्धा तो सत्मार्ग पर एकाकी ही होना चाहिए है। जो सत्मार्ग है, वह अनेकान्त ही होता है। मैं इसमें स्याद नहीं लगाऊँगा। मेरी श्रद्धा तो अरहंत के चरणों में एकाकी है। मेरी श्रद्धा तो देव शास्त्र गुरु पर एकाकी है। एकाकी का मतलब एक महावीर को नहीं मानता हूँ, अनंत अरहंतों को, अनंत सिद्धों, आचार्यों, उपाध्याय, साधु पंचपरमेष्ठी अनंत पर है। वीतरागता पर मेरी श्रद्धा एकाकी है। यह हमारा एकांत भी अनेकान्त है। इसमें यदि आप कहना चाहें कि रूढ़िवादी है सत्य हैं। आप कहना चाहें कि, परम्परावादी है, तो भी सत्य है। मोक्ष परम्परावादी स्वीकार होता है। मस्तिष्क को विशाल तो करना, पर विक्षिप्त मत करना। अन्तर है दोनों में। हम लोग स्याद्वादी हैं। हम लोग जगत के लोगों को भगवत् स्वरूप मानने वाले हैं। पर अववान् को भगवान् मानने वाले नहीं हैं। आपमें भगवान् बनने की शक्ति तो है, पर भगवान् नहीं हो।

एक मोती मिट्टी में चिपका। मोती मिट्टी में है, कि मिट्टी में मोती है? दोनों स्वतंत्र हैं, फिर चिपका कौन, किसमें? निश्चय व व्यवहार दोनों से कहे। निश्चय से स्वतंत्र है, पर व्यवहार से तो चिपके हैं। चिपके न होते तो संज्ञा मिट्टी में मोती की कैसे? मोती मिट्टी से है, परन्तु निश्चयदृष्टि कहती है कि मोती स्वतंत्र है। अगर मोती स्वतंत्र है, तो मिट्टी संज्ञा क्यों? तू संसार में है, संसार में भगवान् आत्मा है। संसारी भगवान् आत्मा है, इसका मतलब ही है कि मोती मिट्टी में है।

अरे ज्ञानियो! मिट्टी छुटानी है, तो मिट्टी सुखानी है। अहो! छुटाने जाओगे, तो आपके हाथ गंदे हो जायेंगे। अतः छुटाने मत जाओ, मिट्टी सुखा दो, तो मिट्टी झड़ जायेगी, तो मोती स्वतंत्र हो जायेगा। मिथ्यात्व छुटाया नहीं जाता, सुखाया जाता है। मिथ्यात्व सूख जाये, तो सम्यक्त्व का मोती स्वतंत्र हो जाये, तो कण-कण स्वतंत्र है। यही सम्यक्त्व है। जो श्रद्धा मिथ्यात्व की आर्द्रता में जा रही थी, उस आर्द्रता को सुखा दो मोती स्वतंत्र है, धूल झड़ जायेगी। मोती की चमक मोती में रहेगी। समझ में आ रहा है?

यह पेन न तेरा कर्म है, न नो कर्म है, अत्यन्ताभाव है। फिर भी मूढ़ कहता है कि पेन मेरा है। ज्ञानावरणादि आठ कर्म, नो कर्म, तीन शरीर, छः पर्याप्तियाँ हैं। अज्ञ कहता है कि वह मेरा शरीर कितना सुंदर है। काँच के काँच फोड़ दिये इस पर्याय की पर्यायों को देखते-देखते। कोई नहीं होता कक्ष में, तू होता है और दर्पण होता है बातें होती हैं। इधर देखो, बाल ठीक है कि नहीं? हे ज्ञानी! जैसे तू एकान्त में इस तन की चर्चा दर्पण के सामने करता था, ऐसे ही चेतन-दर्पण के सामने चेतन की बात करने का नाम सम्यक्त्व है। कर्म तो कर्म, इस नो कर्म को देख-देखकर गद्गद् हो रहा था। सत्य बताना, दर्पण के सामने कितनी पर्याय नष्ट की? व्याख्यान करने जा रहे थे तत्त्व का, पर दर्पण में देख रहा था कि चेहरा चमक रहा कि नहीं, क्योंकि गद्दी पर बैठने वाला हूँ। यह चेहरा जो देख रहा है वह कौन सी दशा है?

**कम्मे णोकम्महिन य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं ।**



### जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ॥१९॥ समयसार ॥

कर्म मेरे हैं, मैं इनका हूँ, यह अपने नहीं। मेरे बेटे का सुंदर शरीर, मेरे बेटे की पुत्र वधु बहुत सुंदर आई है। यानी, तूने अपने कर्म नोकर्म को स्वीकारा, फिर तूने अपने पुत्र के कर्म, नो कर्म, का आश्रव किया। पुत्रवधु बहुत अच्छी आई है, उसका भी आश्रव तूने कर लिया। न लेना, न देना, कर्मबन्ध कर लेना। मोक्ष जाने के लिए, कितना शून्य होकर बैठना पड़ेगा। लोग समयसार क्यों नहीं पढ़ते? अगर समयसार पढ़ लेंगे, तो परसमय की बातें नहीं कर पायेंगे। संबंधों को संबंध रहने दो, संबंधों को स्वभाव मत मानो। रिश्ते तो चलते हैं, चलते रहेंगे। वर्द्धमान स्वामी को, आदिनाथ स्वामी को गये कितने वर्ष हो गये पर आज भी लोग याद कर रहे हैं, पर वे तो चले गये।

सम्यक्त्व जो है वह स्वतंत्रता का निर्णय करा देता है। ज्ञान, ज्ञान करा देता है। चारित्र यानी स्वतंत्रता से आगे जाकर परतंत्रता से दूर करा देता है। दर्शन ने कहा कि पुत्र मेरा नहीं, ऐसी श्रद्धा बनाई। ज्ञान ने कहा कि अत्यन्ताभाव है। चारित्र कहता है, तो हट जाइये। ज्ञान है, दर्शन है, फिर भी मेरा-मेरी चल रही है। तू तेरा नहीं है। जब तक मेरा मेरी शब्द है, तब तक मरा-मरी है। मेरी-मेरा चला जायेगा तो मरा-मरी समाप्त हो जायेगी। अभी स्वतंत्रता का ज्ञान नहीं है। यदि तू स्वतंत्र है, तो बंधा किसमें है? अपने एकीभाव का निर्णय तो होगा, तू स्वतंत्र है कि मैं हूँ? जिस दिन तुझे यह निर्णय हो जायेगा, उस दिन कपड़े तेरे तन पर टिक नहीं सकते और कपड़ेधारियों के बीच तू रह नहीं सकता। मैं स्वतंत्र हूँ, सत्य मार्ग यह है। अभी आपको स्वतंत्रता का ज्ञान नहीं है, मानिये। हाँ, शाब्दिक ज्ञान है। जो समयसार की भाषा में 'तत्व निर्णय' शब्द है न, यह जानकारी का निर्णय नहीं है। बस यह अंदर में लग जाये। कुछ भी हो, यह निर्णय दो के पास ही होता है, साधु या डाकू। घर छोड़ कर जंगल में भटकना छोटी बात है क्या? जिसने निर्णय किया, कि अब तो मर जाऊँगा। कितना कठोर निर्णय किया उसने? कितने बंधन थे? समाज क्या कहेगी, लोग क्या कहेंगे, रिश्तेदार क्या कहेंगे? मालूम चूक हो गई। वह साधु बनता तो श्रेष्ठ साधु बनता। एक बात स्पष्ट कर दूँ, इन कपड़ों का उतारना बहुत बड़ी बात नहीं है, यह तो एक क्षण में हट जायेंगे। परिवार, कुटुम्ब, समाज, देश, इन सभी को छोड़ने के बाद लज्जा का यानी शरीर से वस्त्र उतारना। वे वस्त्र नहीं उतार पाये। शरीर के वस्त्र उतर गये, तो नंगापन तो रहेगा परन्तु दिगम्बरत्व नहीं रहेगा।

वस्त्र उतरें, तो ऐसे उतरें जैसे उन मुनिराज के उतरे थे, जिनके सामने डाकुओं का गिरोह आया था। डाकुओं ने अपने सरदार से कहा था इन साधु को भगा दो। सरदार कहता है, यह तो धरती के देवता, निर्ग्रन्थ तपोधन हैं। इन्हें कंचन व कामिनी से कोई प्रयोजन नहीं होता है। माता-पिता, पुत्र आदि से कोई राग नहीं रहता है। इनको मत भगाओ। ये अपने कार्य में विघ्न नहीं करेंगे और उनको नमस्कार करके कहा, कि आज मेरा काम हो जाए। वे निर्ग्रन्थ योगीश्वर वही ध्यान में लीन खड़े थे। इसी बीच में होनहार तो देखो, होनहार भी तो कोई वस्तु है, होनहार के बिना कुछ होता नहीं, और कार्य हुए बिना होनहार होती नहीं। होनहार क्या हो गई, जो मुनिराज वहाँ खड़े थे, वे जब मुनि बने थे, तो उनकी बहिन छोटी थी, आज शादी के योग्य हो चुकी थी। और माँ राज्यदल के साथ अपनी कन्या की शादी करने जा रही थी। रास्ते में साधु दिख जाये, तो लोग अहोभाग्य मानते हैं। जंगल में रथ गुजर रहा था, माँ ने बेटे को पहचान लिया। अरे! यह तो मेरा पुत्र है। माँ का पुत्र होना कोई दोष नहीं है, पर पुत्र की माँ नहीं थी। क्योंकि पुत्र मुनिराज थे। और माँ का राग फूट पड़ा। आपकी बहिन की शादी होने जा रही है, जंगल में कोई डर तो नहीं है? मुनिराज कुछ नहीं बोले। नेत्र

के पलक को उठाकर भी नहीं देखा। जैसे ही माँ बेटी को लेकर आगे बढ़ती है। डाकुओं के गिरोह ने घेर लिया। जितने आभूषण जेवरात थे, सब लूट लिये। इतने में सरदार बोले, देखो मैंने सुबह कहा था न, कि निर्ग्रन्थ साधु के दर्शन करने से लाभ होता है। माँ ने जैसे ही सुना, कि निर्ग्रन्थ साधु के दर्शन करने से लाभ होता है। यानी मेरे बेटे को पता था, कि जंगल में डाकू हैं। बोली धिक्कार हो मेरी कोख को, जिसे मैंने नौ महिने रखा, उसने अपनी माँ व बहिन की रक्षा नहीं की। सरदार से बोली आप अपनी कटार दो। सरदार बोला क्यों? मुझे अपनी कोख को अलग करना है। जिस साधु की बात कर रहे हो, वह मेरा पुत्र है। मैंने उससे पूछा था कि जंगल में कोई डाकू तो नहीं है, तो उसने बताया नहीं। इस गंदी कोख को मैं चीरना चाहती हूँ। डाकुओं के सरदार ने हीरे-जवाहरात सब माँ के चरणों में रख दिये, और चरणों में लेट गया, माँ! आप सब ले लो, मुझसे और ले लो और आपके चरण छू लेने दो, जिन चरणों के तले एक आचरणवान् योगी बना हो। आपकी कोख धन्य है, जिस कोख से ऐसा पुत्र जन्मा हो, जहाँ उसे माँ-बहिन से भी राग नहीं है। ये ही तो मुनिराज हैं। आपको अब जंगल से मैं पार कराऊँगा। यह अब मेरी बहिन है।

यह है समयसार। ग्रंथ का समयसार कोई भी पढ़ लेगा, पर हृदय पवित्र नहीं होगा, तो चारित्र में शुद्धि नहीं होगी और चारित्र शुद्धि के अभाव में चारित्रवान् को ही हीन भावना से देखता है। और जब चारित्र पर आस्था बढ़ जाती है, तो किसी को हीन दृष्टि से नहीं देखता। ऐसे होना चाहिए मुनिराज। वे मुनिराज धन्य हैं जो अपनी भगिनी की विडम्बना देखकर भी अपने निज स्वरूप से च्युत नहीं हुए। अब लगाना एकत्व विभक्त शुद्ध स्वरूप। यही शुद्धात्मा है, यही सम्यक्त्व आत्मा है, यही सम्यक्ज्ञान आत्मा है, यही सम्यक् चारित्र आत्मा है।

हे ज्ञानी! तू क्या वेदन कर रहा है? जो वेदन कर रहा है, वह कौन-सी इन्द्रिय का भोग चल रहा है? बिना इन्द्रिय के भोग रहे हो, फिर अनुभूति अन्दर चल रही है, कि नहीं? अच्छा यह बताओ कि किसी को एक घड़ा मकान बनाते समय मिल गया, उस सोने-जवाहरात से भरे घड़े को चौराहे पर रखकर देखेगा क्या? नहीं देखेगा। उसे तो कमरे के अन्दर कमरे में ताला डालकर देखेगा। वह अनुभूति कैसी रही, उसे क्या सभी को बतायेगा? वह बाजार में भी पहुँच जायेगा, परन्तु वह किसी को बतायेगा नहीं। वह बाजार में तो होगा, पर उसका मन घड़े के पास ही होगा। हे ज्ञानी! इस आत्मा के अन्दर रत्नत्रय के तीन रत्न हैं, यह जिसे प्राप्त हो जायें, तो स्वानुभूति वचनों का विषय नहीं, मन्द-मन्द मुस्कुराने का विषय है। तो कैसे मुनि बनना है? वे जिन्होंने माँ-बहिन को भी नहीं देखा, ध्यान में लीन रहे। सम्यक् ही आत्मा है, आत्मा ही सम्यक् है। कब होगा? वस्तु, स्वतंत्र, परभावों से विपर्यास, निज भावों में लीनता। यथार्थ मानके चलना, जितना शांत आप यहाँ धर्मसभा में विराजते हो, उतना शांत अंदर में विराज जाओ, तो कण-कण स्वतंत्र का भान हो जायेगा। स्वतंत्रता का ज्ञान हो रहा है, भान नहीं हो रहा है। भान हो जायेगा, तो आप कहोगे, छोड़ें सब, कौन पिता, कौन माँ? सब छोड़ो। जिस दिन यह सूत्र गूँज जायेगा, उस दिन मालूम चल जायेगा कि भेद ज्ञान क्या है।

**घिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं, कनकमिव निमग्नं वर्णमाला कलापे ।**

**अथ सतत विविक्तं दृश्यतामेकरूपं प्रतिपदभिदमात्म-ज्योतिरुद्योतमानम् ॥८॥अ.अमृत कलशा॥**

ज्ञानियो! एक तत्त्वज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव क्या निहारता है? सम्यग्दृष्टि का तन कहीं और हृदय कहीं होता है। इस प्रकार से जो नौ तत्व हैं, वह दीर्घकाल से है जैसे कनक पाषाण में यथार्थ सोने में, सोने की

चमक नहीं दिख रही है।

सोने की वर्णमाला सोने के पास नहीं जाने दे रही है। आत्मा के अन्दर जो चिद्ज्योति है, जैसे मोह की रोशनी, आत्मा के शुद्ध द्रव्य को ढँके हुए है। सूर्य की किरणें अनेक हैं, पर सूर्य एक हैं। राग और अनुराग की किरणें अनेक हैं, पर चिद्ज्योति चैतन्य चमत्कार एक है। परन्तु तत्त्वज्ञ ज्ञानी जीव उस रोशनी की किरणों को न देखते हुए किरणवान् को देख रहा है। किरणों में भेदभाव है, पर किरणवान् एक है। ऐसे ही प्रतिक्षण प्रतिपल जो आत्मज्योति है, वह एक चिद्चमत्कार रूप उद्योतवान् है। अब आज से आत्मा को प्रकाशपुंज कहना बंद कर दो। जो आत्मा को प्रकाशपुंज के रूप में देखते हैं, वे पुद्गल की पर्याय के भेद हो जायेंगे। जो चिद्ज्योति शब्द है, वह पौद्गलिक विद्युत तरंगें नहीं है, वह स्वानुभूति की लहरें हैं। वे अंदर की अनुभूतियाँ हैं। उनको ज्योतिर्मय कहा जाता है। पर ज्ञानज्योति खिलने वाली नहीं है। अज्ञानी भीतर के विषय को बाहर देखना चाहता है। दीपक का उद्योतन नहीं है, ज्ञान का दीपक है। जब भीतर का दिखता है, तो आँखें देखती नहीं और जब आत्मा दिखती है, तो आँखें देखती नहीं।

समयसार आँखों से दिखने का नहीं, आत्मा के वेदन का है। उसके चित्र नहीं बन सकते। वह चाक्षुष नहीं है। १४ गुणस्थान परिणामों से चढ़ जाते हैं; पर हमने चित्र बना दिये, पैरों से चढ़ने के लिए। ईट चूने के भवन में पैरों से जाया जाता है और आत्म के चैतन्य भवन में परिणामों से जाया जाता है।

## ॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

५ ५ ५

आचार्य भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने ग्रंथराज 'समयसार' में वस्तु के भूतार्थ और अभूतार्थ स्वरूप का कथन किया है जो भूतार्थ है, वह भी अभूतार्थ है और जो अभूतार्थ है, वह भी भूतार्थ है, जो सत्य है; वह तो सत्य ही है, पर जो असत्य है, वह भी सत्य ही है। असत्य सत्य नहीं होगा, तो असत्य कैसे? सत्य जब सत्य नहीं होगा, तो सत्य कैसे? विचार करके चिन्तन करो। असत्य सत्य नहीं, तो असत्य भी नहीं। सत्य असत्य नहीं, तो सत्य नहीं। ध्यान दो, असत्य सत्य है कि नहीं? असत्य की सत्ता नहीं रहेगी, तो असत्य कैसा? असत्य भी सत्य है, क्योंकि हिंसा तो हिंसा है और अहिंसा अहिंसा हैं। दोनों सत्य हैं। यदि दोनों की सत्ता नहीं स्वीकारोगे, तो हिंसा पाप कैसे और अहिंसा धर्म कैसे? व्याख्याता वस्तु के व्याख्यान में वस्तु का नाश करके व्याख्यान न करें, अन्यथा उनका व्याख्यान असत्य है। वह भी सत्य है, क्योंकि जो विषय है, वह वस्तु स्वरूप का प्रतिपादित विषय है। तत्त्वज्ञान किसे कहते हैं? सम्पूर्ण विश्व के जो तत्व हैं, उसका व्याख्यान जो है वह है समयसार। ऐसा आलोकित ग्रन्थ है। जिस ग्रन्थ में संग्रंथों को निर्ग्रन्थ नहीं बनाया जाता, निर्ग्रन्थों को निर्ग्रन्थ बनाया जाता है। संग्रन्थो को निर्ग्रन्थ तो एक श्रावकाचार भी बना देता है। उसमें जीने की कला 'मूलाचार' में होती है। संग्रन्थों को निर्ग्रन्थ बारहभावना, वैराग्यभावना ही बना देती है। परन्तु संग्रन्थ जब निर्ग्रन्थ हो जाता है। तभी उस निर्ग्रन्थ को कषाय से कैसे दूर किया जाये, उसके लिए समयसार होता है। कपड़ों से निर्ग्रन्थ तो श्रावकाचार से बन जायेगा, और उस पर चलने की विद्या 'मूलाचार' सिखा देगा। लेकिन निर्ग्रन्थ दीक्षा लेने के उपरान्त फिर वीतराग निर्ग्रन्थ कैसे बनें। उसके लिए समयसार चाहिए। यह भी सत्य है कि जब आप अवकाश में होंगे और खाली समय होगा और अपनी प्रज्ञा से स्वयं आप जी नहीं पाओगे तो आप उन्मत्तता को प्राप्त हो जाओगे। आप जब उत्कृष्ट स्थान पर पहुँचोगे, तो आपको

विषय भी उत्कृष्ट चाहिए है यही कारण है कि चार अनुयोगों में द्रव्यानुयोग को अंत में रखा और उसकी गहनतम शिक्षा को भी किसी भी अनुयोग के ग्रंथ में नहीं लिखा, कि इतने ग्रन्थ पढ़ने के बाद यह अनुयोग पढ़ना चाहिए। परन्तु इस द्रव्यानुयोग के लिए स्पष्ट समझना, इसको पढ़ने से पहले श्लोकवार्तिक, राजवार्तिक, सर्वार्थ सिद्धि, परीक्षामुख, न्याय दीपिका और गोम्मटसार कर्मकाण्ड, जीवकाण्ड इतने ग्रन्थों का अध्ययन करना अनिवार्य है। जब तक आलाप की पद्धति आलापपद्धति का ज्ञान नहीं है, तब तक इस ग्रन्थ का व्याख्यान क्या होगा ? सत्य भी असत्य है, असत्य भी सत्य है, ऐसा विषय आगे आने वाला है।

आप पाप की सत्ता स्वीकार नहीं करोगे तो पुण्य की सत्ता कैसे घटित होगी ? राक्षसों को स्वीकार करोगे, तभी आप आर्य पुरुषों की सिद्धि स्वीकार कर पाओगे अन्यथा आर्य की सिद्धि क्या होगी ? शीलवन्ती नारी की पहचान शीलवन्ती नारी नहीं कराती, शील की पहचान कुशील से ही होती है। यह उनसे भिन्न है। राम के महत्त्व को राम ने नहीं बढ़ाया, विश्वास रखना। सभी राम होते तो विशेष कौन होता ? राम के महत्त्व को रावण ने बढ़ा दिया। राम सत्य है, तो क्या रावण सत्य नहीं है ? राम सत्य है, तो रावण भी सत्य है। लेकिन राम का आचरण सत्य है। परन्तु रावण का आचरणशून्य है। भूतार्थ अभूतार्थ है, अभूतार्थ भी भूतार्थ है। निश्चय भूतार्थ है, तो व्यवहार भी भूतार्थ है। गिलास पकड़ने के लिये गिलास नहीं पकड़ा जाता। दूध पीने के लिये गिलास पकड़ना पड़ता है। पर वह भी सत्य है कि गिलास को पकड़े है, दूध को नहीं पकड़े। निश्चय कहेगा कि दुग्ध के राग में पहले गिलास को ही पकड़ा जाता है। समझ में आ रहा है ? तपस्या के लिए तपस्या नहीं करनी पड़ती है। तपस्वी बनने के लिए भी तपस्या नहीं की जाती। कर्म काटने के लिए तपस्या करना चाहिए। कर्म काटने का पुरुषार्थ तपस्या है। तपस्या नाम का कोई पुरुषार्थ नहीं है। बिना तपस्या किये कर्म कटते नहीं हैं। कर्म काटने के लिये पुरुषार्थ नहीं करना चाहिए, भगवान बनने के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए। जब भगवान् बनने का पुरुषार्थ करेगा, तो कर्म स्वयं कट जायेंगे। आपको एकसाथ दो नय दिख रहे हैं। जो जीव प्रज्ञा विहीन हैं, वे एक नय का अभाव करके कथन कर लेते हैं; पर ध्रुव सत्य है कि दो नय एक साथ चलेंगे। व्याख्यान भले एक का होगा, पर दोनों का कार्य युगपत् होगा। दूध जब पी रहे होंगे, तो उस समय बर्तन भी मुख में होगा। कोई कुतर्क करे कि बर्तन नहीं है मुख में, आपके दिगम्बर मुनि बर्तन तो लेते नहीं हैं, वे दूध पीते हैं अरे ! उनके पाणिपात्र संज्ञा कहाँ से आ गई ? पात्र यानी बर्तन। जब भी मुख में डालोगे, तो किसी न किसी बर्तन से ही डालोगे। पात्र होगा न ? दो क्रियाएँ एक साथ चलती हैं पीना चल रहा है, जिसमें रखा है वह भी साथ में है। तीसरी बात यह बताओ कि पीने के लिए दूध पिया जाता है, कि स्वाद लेने के लिए दूध पिया जाता है ? जब आप पीते हैं, तो उसमें यह बताओ, जिसे आप कहते हो वह क्या होता है ? जब पीते हैं; जब वह होता है, तो क्या होता है ? पीते-पीते जो अनुभूति चल रही है, वह स्वाद है। जो निश्चय है, वह अवक्तव्य है। और जो पी रहे हैं, वह दुनियाँ कहती है। स्वाद ले रहे, यह कोई नहीं कहता। पीना व्यवहार, स्वाद लेना निश्चय है। तो जिस समय जो क्रिया है, उस समय अनुभूति भी वैसी होती है। बिना अनुभूति के क्रिया होती नहीं है और अनुभूति स्वयं क्रिया होगी, तो क्रिया करेगा कौन ? एक बालक रेत में घरघूले बना रहा था, उसे उसमें आनंद आ रहा था। अगर नहीं आता, तो बनाता क्यों ? घरघूला बनाने में बालक को सुख आ रहा है, सुख का वेदन कर रहा है। तो निज घर के घरघूले में कितना आनंद होगा ! यह निश्चय स्वरूप है। यह है तत्त्वदृष्टि। अंतर इतना ही है कि जगत क्रिया में लीन होता है और ज्ञानी तत्व की क्रिया के बोध को प्राप्त होता है। जो मैं कह रहा हूँ वैसा आप सब करते हो, पर आप ज्ञान के साथ नहीं कर

पाते, इसलिए उसका बोध नहीं है। ग्रन्थ से समयसार नहीं आया। 'समयसार' ग्रन्थ निर्ग्रन्थों की तत्त्वानुभूति है। यह ग्रन्थ का ज्ञान नहीं है, यह निर्ग्रन्थों की अनुभूति है जो आचार्य कुन्दकुन्द देव ने लिखी है। इसलिए 'चूकं छलं न घेतव्यं'; चूक में छल ग्रहण मत करना। जो एकत्वविभक्त स्वभाव है, वह आगम से, स्वानुभव से, गुरु परम्परा से, तीन से जानो। तत्त्व की प्रमाणिकता सर्वज्ञ की वाणी, गुरुमुख और स्वानुभव ये तीन को लेकर जो व्याख्यान करेगा, वह अप्रमाणिक व्याख्यान नहीं कर पायेगा। तीन बातें लेकर चलना। आगम, स्वानुभव, गुरुपरम्परा।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं करता ऐसा नहीं है। एक द्रव्य पररूप द्रव्य नहीं होता। परन्तु एकद्रव्य पर द्रव्य का निमित्त रूप कर्त्ता है। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं यह चिद ज्योति को प्रमाण और नय से आप समझें। एकत्व रूप से प्रकाशमान / ज्योतिर्मय जो आत्मा है, उसको जानने का उपाय क्या है। अब यहाँ किसी भिन्न ज्ञेय की चर्चा नहीं करेंगे, भिन्न प्रमेय की चर्चा नहीं करेंगे। शरीर को नहीं देखना, शरीर की पुष्टि करनेवाले द्रव्यों को नहीं देखना। जो ज्योतिर्मयी, जिससे शरीर चल रहा है, उस आत्म तत्व को निहारना, यही ज्योतिर्पुंज है, उद्योतमान है आत्मा। उस उद्योतमान आत्मा में जाने के लिए उपाय क्या है? अब प्रारंभ हो रहा है तत्त्व। जब तक उपाय का ही ज्ञान नहीं है, तो उपादेय तेरा क्या होगा? मैं रस चख रहा हूँ। रस प्राप्ति का उपाय ही मुझे मालूम नहीं है, फिर क्या चखूँगा? हर वस्तु का उपाय तो होता है। उस वस्तु का उपाय यानि पुरुषार्थ। जब बाहर का उपाय समाप्त हो जायेगा, तब अन्दर का उपाय प्रारंभ होगा। या यूँ कहें, उपाय करना आप छोड़ दें, वही उपाय है, जो इन्द्रिय सुख का उपाय करता रहता है, उसे इस उपाय का त्याग हो जाये, यही परम उपाय है।

ऊँची अवस्था को जानना भी पसन्द नहीं करते, यह बहुत बड़ी भूल है। ऊँचे मार्ग को जानोगे नहीं, तो पहचानोगे कैसे? इस ग्रन्थ को सुनने से भ्रम नहीं आता है, भ्रम जाता है। जब तक जानोगे नहीं, तब तक पहचानने का पुरुषार्थ कैसे करोगे? सत्यार्थ क्या है यह जानना चाहिए कि नहीं जानना चाहिए? तत्त्वज्ञान, तत्त्व निर्णय, तत्त्वश्रद्धान, इसके बाद तत्त्वानुभवन। यह ऐसे सत्य हैं, जो लोक में प्रचलित नहीं हैं, इन्हें जीव सुनता है। वह सोचता है कि क्या है? तत्त्वज्ञान के बाद सम्यक्ज्ञान। इस ग्रन्थ में सम्पूर्ण दर्शनशास्त्र निहित है, यदि आप खोजना चाहो, उस भगवती आत्मा को, जानने का उपाय क्या है, तो प्रमाण नय निक्षेप। जिसे प्रमाण का बोध नहीं, नय का बोध नहीं, निक्षेप का बोध नहीं, वह समयसार को क्या जानेगा?

ज्ञानी! ध्यान दो, यह ध्रुव सत्य है जो हमारे पुराने लोग कहते आये न, किसमयसार नहीं पढ़ो। इसका कारण क्या था? जब तक प्रमाण, नय, निक्षेप का ज्ञान नहीं है, तब तक तत्त्व का निर्णय कैसे करोगे? इसलिए निषेध करते थे। प्रमाण को जानना है, तो प्रमाण, नय, निक्षेप पर जो ग्रन्थ हैं, इन तीन का ज्ञान अनिवार्य है।

'विश्वतत्त्व प्रकाश' आचार्य भावसेन स्वामी का ग्रंथ है, जो कातंत्र व्याकरण के टीकाकार हैं। त्रिविधाचार थे, तीन वेद के ज्ञाता थे। शब्दागम, तर्कागम, परमागम के ज्ञाता थे। शब्दागम यानी व्याकरण शास्त्र, तर्कागम यानी न्यायशास्त्र, परमागम यानी सिद्धांत शास्त्र। ऐसे तीन वेदों के ज्ञाता आचार्य भावसेन स्वामी ने 'विश्व तत्त्वप्रकाश' में विश्व के सम्पूर्ण तत्त्वों को प्रकाशित किया है। ऐसा आलोकित ग्रन्थ है,, जिस ग्रन्थ में प्रमाण, नय, निक्षेप का व्याख्यान है। प्राचीन ग्रन्थ है। जो वस्तु के सकल अंश का कथन करे वह प्रमाण कहलाता है। जो वस्तु के एक अंश का कथन करे, वह नय कहलाता है। प्रमाण एक होता है,

अनेक धर्मात्मक होता है। और जो अनंतधर्म हैं, वह नय हैं। इसलिए उसका नाम अनेकान्त है। अनेकान्त की भाषा का व्याख्यान मत करना जाने बिना। ध्यान रखना, सारे विश्व में बिना अनेकान्त के कुछ होता नहीं है। जो नास्तिक हो जो भारतीय भी न हो, वह अनेकान्त के अनुसार ही जी पायेगा। उसके पास एकान्त का जन्म होता नहीं है। जो संबंध है, वह नय है; जिसमें संबंध है, वह प्रमाण है। जो भी सत्ता है, वह प्रमाण है, और सत्ता का व्याख्यान है नय। पर अपेक्षा से, राम पिता है। पुत्र है, भाई है, कौशल्या की अपेक्षा पुत्र है, लवकुश की अपेक्षा पिता है, लक्ष्मण की अपेक्षा भाई है, दशरथ की अपेक्षा बेटा है। पर राम तो एक है। मैं एक हूँ, मेरी अनेक अवस्था को आप निहार सकते हैं। यहाँ अध्यात्म बोलता है, कि मैं तो एक ही हूँ, मेरा एकीभाव है। जीव मुझे अपना-अपना मान कर संतुष्ट हो रहे है। दुःखी हो रहे हैं। पर मैं न किसी का दुःखकर्त्ता हूँ, न सुखकर्त्ता हूँ। जीव अपने संबंधों से सुख-दुख भोग रहा है। मैं तो एक हूँ। किसी ने मुझे बेटे के रूप में निहारा, किसी ने साधु के रूप में निहारा, किसी ने शिष्य के रूप में निहारा। किसी ने गुरु के रूप में निहारा, आप निहारो, आपकी आँख है, पर मैं तो एक हूँ। चित्चमत्कार की अनुभूति जो है, सत्ता में लवलीन होती है, जो अनेक धर्मों को गौण करके एक धर्म की ओर जाती है। जब भी चिन्तन करेगा, चिन्तन में से ही होगा। लेकिन जो अखण्डध्रुव ज्ञायकभाव है, वह प्रमाणभाव है। मैं ज्ञाता हूँ, मैं दृष्टा हूँ। यह प्रमाण नहीं बोल रहा, यह नय बोल रहा है। मैं तो मैं ही हूँ। "जो सो दू सो चैव।" प्रमाण है। नय पर सापेक्ष है। नय शब्द को लेकर चल रहा है, नय बोलता है। जो बोलता है, वह पूरा नहीं होता। तोता पिंजरे में क्यों? क्योंकि वह अधिक बोलता है, और इतना ज्यादा बोलता है, कि पुरुष की आवाज में बोल लेता है। पर की नकल कर लेता है, तो पिंजरे में होता है। जो परभाव की नकल करते हैं, वे पिंजरे में होते हैं। जो पर का बोलना बन्द करते हैं, वे स्व में होते हैं। वे कर्म पिण्ड से रहित होते है। विजातीय भाषा छोड़ दो, विजातीय चिन्तन छोड़ दो, देखना छोड़ दो, अनुभव करना छोड़ दो, यही परमध्यान है।

ग्लास पकड़े है, और कहता है कि ग्लास गर्म है, जबकि दूध गर्म था। ग्लास गर्म है, हाथ जल रहा है, दूध पीना चाहता है, बताओ किसे छोड़े? हाथ बचाना है तो ग्लास छोड़ना पड़ेगा और ग्लास छूटेगा, तो दूध भी छूट जायेगा। अब प्रज्ञा का प्रयोग करो, जिससे ग्लास भी न छूटे, और दूध भी न जाये, अतः उसको ठण्डा करने का पुरुषार्थ करो। इसलिए प्रमाण से, नय से और निक्षेप से, इन तीन के माध्यम से यह उद्योतमान भगवती आत्मा को जाना जाता है। यह सामान्य संस्कृत नहीं है, आचार्य अमृतचन्द्र की संस्कृत है, जो आसानी से अर्थ नहीं निकलता।

जो निश्चय से अभूतार्थ है, वह भी भूतार्थ है। तेरी माँ, तेरी पत्नी नहीं है। पत्नी के संबंध की अपेक्षा से माँ असत्य है, परन्तु माँ तो माँ है, माँ सत्य है लोक व्यवहार है, पर कथन नहीं है। आप सभी भेद करना जानते हो। नीम की पत्ती है, रोटी नहीं है, अभूतार्थ है। प्रयोजनभूत है, जिसको चर्म रोग हो गया है, उसके लिए भूतार्थ है। नीम की पत्ती सत्य भी है और असत्य भी है।

एक पत्रकार विदिशा में आये बोले- मैं जैनदर्शन के अनेकान्त स्यादवाद को नहीं समझता। मैंने कहा, तुम समझते हो, पर कह नहीं पाते। बोला, कैसे? जैसे ही एक प्रश्न किया, मैंने कहा, ऐसा है क्या? बोले हाँ। मैंने कहा ऐसा नहीं है क्या? बोले हाँ। मैंने कहा, यही है स्यादवाद अनेकान्त। है और नहीं के बीच जो है, वही तो है प्रमाण। स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति। स्याद् अस्ति यानि है स्याद् नास्ति यानी न। कौन? प्रमाण अस्ति, नास्तिरूप है। प्रमाण शाश्वत है। प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रकार का है। ज्ञान से ज्ञान

बढ़ता है। ऐसे ही आगमज्ञान से, आगमज्ञान बढ़ता है। एक ग्रन्थ के ज्ञान से अनेक ग्रन्थ का ज्ञान होता है। तत्त्वार्थ सूत्र में प्रमाण दो प्रकार का है प्रत्यक्ष व परोक्ष। उपात्य, अनुपात्य दो प्रकार से प्रवर्तमान होता है। जहाँ इन्द्रिय, मन आदि का संयोग नहीं चाहिए, वह प्रत्यक्ष ज्ञान है। जहाँ पर की सहायता नहीं है, वहाँ प्रत्यक्ष है, और पर सापेक्ष को लिए है, वही परोक्ष है। जो ज्ञान आपको है, उसके लिए पर का आलम्बन नहीं लेना पड़ता। जो ज्ञान आपको नहीं है, उसके लिए पर का आलम्बन लेना पड़ता है।

ज्ञान में आनंद है, कि नहीं? ज्ञान का होना सुख है, नहीं होना दुख है। यह पेन है। इस पेन को यदि कोई चुरा कर ले जाता है और चुराने वाला दिख जाये, कि ये ले जा रहा है, और आपने देख लिया, कि उसने कहाँ रखा है तो आप सत्य बताना, आपको पेन चोरी का दुःख होगा क्या? नहीं होगा, क्योंकि आपको मालूम है, कि वहाँ रखा है, मैं अभी उठा लेता हूँ। पेन चुराया नहीं गया। आप लिख रहे थे, तो वही खो गया। आपको लिखना है। नहीं मिला तो आप ढूँढते हो। दुःख हुआ, कि नहीं? पेन आपके पास ही बिस्तर पर था, पर आपको मिल नहीं रहा था, तब आप दुःखी हो रहे थे। क्योंकि पेन का रखा होने का ज्ञान नहीं है। अज्ञान दुख है, ज्ञान सुख है। जितना अज्ञान होगा, उतना अज्ञानमय जीवन होगा। और जितना ज्ञान हो जायेगा, उतना ज्ञानमय जीवन होगा। अनुद्घाटित ज्ञान जिस दिन हो जायेगा, उस दिन परम सुखी हो जायेगा। सामायिक में तत्त्व का वेदन किया करो। अज्ञान दुःख है। मेरे लिए ज्ञान नहीं, इसलिए जगत के पीछे भटकना पड़ता है। जिस दिन मेरा मेरे में ज्ञान हो जायेगा उस दिन, ज्ञानी! निज ध्रुव ज्ञायकभाव का अनुभव हो जाएगा, फिर वन्ध-वन्दक भाव का भी अभाव हो जायेगा। तीर्थकर कभी किसी मंदिर जाते नहीं हैं, उनके नाम के मंदिर बनते हैं। पर जब तक तेरा तुझे ज्ञान न हो जाये, तब तक मंदिर जाना बंद मत कर देना।

मुनिराज मंदिर में वंदना करने आये, यह तो मिलेगा आपको ग्रन्थ में; पर मुनिराज मंदिर में तपस्या कर रहे थे, यह नहीं मिलेगा। तपस्या जंगल में करने जाते हैं। यदि मेरे में में मिल जाता, तो जंगल में प्रतिमा लेकर नहीं जाना पड़ता। वह स्वयं केवली भगवान होते हैं। तीर्थकर भगवान किसी को नमस्कार नहीं करते। पर आप तीर्थकर नहीं हो, भगवान नहीं हो, अतः आप नमस्कार करना मत छोड़ देना। वे स्वयम्भू होते हैं। वे धर्मोपदेश भी नहीं देते। जब तक सत्य को जाना नहीं, पहचाना नहीं, तब तक तुम जो भी कहोगे, वह असत्य हो जायेगा। इसलिए भगवान सत्य का पहले साक्षात्कार करते हैं; फिर व्याख्यान करते हैं। केवल ज्ञान होने के बाद ही वे बोलते हैं। सत्य का दर्शन करने के बाद बोलते हैं; पहले नहीं बोलते, क्योंकि वह प्रमाणिक पुरुष हैं। प्रमाणिक पुरुष कम बोलते हैं।

## ॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

५ ५ ५

आत्मा तरंग स्वभावी है, आत्मा में जो तरंग शब्द का प्रयोग है, वहाँ कौन सी तरंग ग्रहण करना? जो निज स्वभाव-भाव की लहरें उठ रही हैं, वे तरंगे ग्रहण करना, न कि ये तरंग ग्रहण करना। परम तेजभूत ये आत्मा, फिर भी निस्तेज है। परम चमकने वाली आत्मा, फिर भी चमक नहीं रही है। ४७ (सैतालीस) शक्तियों पर ध्यान दो। वे सैतालीस शक्तियाँ इस ग्रन्थ के अन्त में हैं। इन शक्तियों का व्याख्यान होगा, तब वेदन करना। ये है शुद्ध समयसार।

चार निक्षेप की चर्चा कर रहे थे नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव। आज द्रव्यनिक्षेप को देखें। वर्तमान में जो पर्याय नहीं है, भविष्य में जो पर्याय होगी, भूत में जो पर्याय थी, उनको वर्तमान में वैसा कहना, यह

द्रव्यनिक्षेप है। वर्तमान में तत्पर्याय से युक्त जो भाव है, वह वर्तमान भावनिक्षेप है। यह चारों ही निक्षेप स्वचतुष्टय के लक्षण से विलक्षण यानी विपरीत जब हम वेदन करते हैं, तो ये चारों ही निक्षेप भूतार्थ हैं। क्योंकि परद्रव्य का व्यवहार चलाने के लिए, जानने के लिए इसकी आवश्यकता है, इसलिए भूतार्थ है। परन्तु जो विलक्षण आत्मा अपने स्वभाव में है, परभाव के लक्षण से विलक्षण है। इस अपेक्षा से एक जीव निज चैतन्य-स्वभाव का अनुभवन करता है। उस समय ये चारों ही निक्षेप अभूतार्थ हैं। इस कलम से लिख रहा हूँ, णमो अरहंताणं, यह कलम भूतार्थ है। क्योंकि इससे महामंत्र लिख रहा हूँ। लेकिन जब मैं णमो अरहंताणं का जाप करूँगा, उस समय कलम अभूतार्थ है, क्योंकि मैं जाप में लीन हूँ। लिखने का विकल्प छोड़ दीजिए। जब पर्यायदृष्टि से वस्तु को हम जानना चाहते हैं, पदार्थों का ज्ञान करना चाहते हैं, उस काल में चार निक्षेप भूतार्थ हैं। जब हम निज चैतन्य स्वरूप में लवलीन होते हैं, तो चारों अभूतार्थ हैं। जो जानेगी, वो आत्मा ही जानेगी। पर को जानेगी, तो आत्मा ही जानेगी। पर को परभूत होकर जानती है, और निज को, तन्मयभूत होकर जानती है। जब मैं अपने ज्ञान से इस कलम को जानूँगा, तो परभूत होकर जानूँगा, और जब मैं अपने निज ज्ञान से स्वयं को जानूँगा, तो तन्मयभूत होकर जानूँगा। जब इन चार निक्षेपों से हम आत्म-तत्त्व को जानेंगे, तो परभूत होकर जानेंगे, और जब आप निज को जानोगे, तो निक्षेप से रहित होकर जानोगे। क्यों? द्रव्यनिक्षेप मेरे में नहीं है। भावनिक्षेप मेरे में है क्या? भावनिक्षेप कह रहा है कि जो राज्य कर रहा है उसे राजा कहना, जो मुनि बना है उसे मुनि कहना, तो तीर्थंकर है उसे तीर्थंकर कहना और जो समयसारभूत परिणत हो रहा है, उसे समयसार कहना। जब-तक कहना है, तब-तक निक्षेप है। कहना नहीं, निज में होना, तो कोई निक्षेप नहीं है। जब-तक कहना, तब-तक नय है। जब तक कहना, तब तक प्रमाण है, निक्षेप है। जब कहना ही बन्द हो जायेगा, होना ही होना बचेगा, तो न नय है, न निक्षेप है, न प्रमाण है। जो सो दू सो चैव। जो हूँ सो हूँ।

**य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यं ।**

**विकल्पजालच्युत-शांत-चित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति॥६९॥ अ.अ.क.॥**

जहाँ पर नय पक्षपात का विलीनीकरण हो जाता है, वहाँ स्वरूप में गुप्त होता है, वहाँ न नय की आवश्यकता है, न प्रमाण की आवश्यकता है। ये सब व्यवहार के लिए, समझने के लिए नय व प्रमाण चाहिए। भोजन बनाने के लिए नमक, मिर्च सबकुछ चाहिए; लेकिन जब भोजन का स्वाद लेता है, उस समय कुछ नहीं होता है, स्वाद ही होता है। बनाते समय सब द्रव्य चाहिए, पर कण्ठ में स्वाद लेते हो, उस समय अवक्तव्य एकभूत होता है। जब तक चाहिए है, तब तक है नहीं। जब है, तब चाहिए नहीं। बस उस घड़ी को याद करना चाहिए जब शब्द विलीन हो जाये। बस, यही परमसमयसार है। सुनते जाओ, जानते जाओ। चावल पकाने के लिए समय देना पड़ता है, जबकि सबसे जल्दी पकने वाली वस्तु है, फिर भी उसमें समय लगता है। चावल को अग्नि पकाती है। पकाने की तेरे पास कोई ताकत नहीं है। इतना पकड़ में आ जाये, तो सबकुछ सीख गया। ये भ्रम के भूत को निकाल दो आज से, कि तू चावल बनाती है, चावल बना दिये। चावल बनने में तेरी आत्मा का कौन-सा अंश लग गया? मात्र तू चावल बनाने के योग की कर्त्ता है, चावल पकाने की भी नहीं है।

हे माँ! तूने अपने योग से चूल्हे पर भगोनी रखी, नीचे अग्नि रखी, और तूने क्या किया? निमित्त ही जुटाये हैं। निमित्त जुटाने की ही कर्त्ता हो। कार्य तो स्वभाव से ही होता है। ये भ्रम निकल जाये, तो हम सभी



भगवान हैं। कर्त्तापन का भूत जो है, वह प्रभु का नाम नहीं हटायेगा। कर्त्तापन का भूत प्रभु की वाणी हटायेगी।

**पोगलकम्मादीणं, कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो ।**

**चेदणकम्माणदा, सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥८॥ द्रव्य संग्रह ।**

हे ज्ञानी ! उपचरित असदभूत व्यवहारनय से 'आपने चावल बनाया है', कहते हो। व्यवहार नय से कर्त्ता है। ये उपचार कथन है। हे जीव ! इस भ्रम को निकाल दो, कि तू पौदगलिक कर्मों का कर्त्ता है। द्रव्य त्रैकालिक होता है। तू किस दिन से पुद्गल का कर्त्ता है? ये कारण में कार्य का उपचार है, कर्त्ता-कर्म का नहीं। आत्मा कर्म का कर्त्ता न कभी हुई, न होगी। आत्मा कर्म बंध का कर्त्ता है। क्योंकि कार्माण वर्गणायें तो त्रैकालिक शाश्वत हैं, और तू कर्म बन्ध का भी कर्त्ता कैसे है? तू भावकर्मों का कर्त्ता है, भावकर्मों से द्रव्य कर्म आते हैं, और वे कर्म परस्पर में बन्ध को प्राप्त हो जाते हैं। तू भाव कर्म का कर्त्ता है, तू द्रव्यकर्म का भी कर्त्ता नहीं है। निश्चय से तू चेतनभावों का कर्त्ता है, और शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध भावों का कर्त्ता है। पुरुषार्थ सिद्धि उपाय में चार कारिकायें ऐसी हैं जो समयसार के कर्मकर्त्ता अधिकार से युक्त है।

चावल आपने पकाये, कि चावल आग से पके। आपके हुये बिना आग से पके नहीं, आग के हुए बिना आप में पके नहीं, आपके हुए बिना आग जली नहीं, इसलिए कारण कार्य अपेक्षा आपने भी बनाये, आग ने भी पकाये। आप लड़ो मत। व्यवहाराभासी स्वयं-स्वयं चिल्लाते हैं। निश्चयाभासी चावल-चावल चिल्लाते हैं। उभयाभासी दो को लेकर चिल्लाते हैं। स्याद्वादी कहता है स्याद अस्ति, स्यादनास्ति। इसलिए स्याद्वाद को लेकर ही जिनवाणी का कथन करे।

जब तक गुरु की मानिये, जब तक सूत्र न आये।

**सम्माइही जीवो उवइदुं पव यणं तु सद्दहदि ।**

**सद्दहदि असदभावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥२७॥ गो.जी.॥**

**सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि ।**

**सो चेव हवइ मिच्छाइही जीवो तदो पहुदी ॥२८॥ गो.जी.का.॥**

यदि आपके गुरु ने कहा है, और विपरीत श्रद्धान कर भी लिया, तब तक सम्यक्त्व है। पर किसी ने कहा, कि इस जिनवाणी में ऐसा लिखा है, तो उनका वचन रखलन हो सकता है, या आपके सुनने में गलती हो सकती है। जिनवाणी में ऐसा लिखा है, उसे स्वीकार लीजिए। तब भी न माने, और कहे, हमारे गुरु ने जो कहा है वही मानूँगा, तो उसी क्षण से मिथ्यादृष्टि। अपने का राग सत्य को स्वीकारने नहीं देता, आपको सत्य लगता है, पर स्वीकारते नहीं है। इसलिए निक्षेप भूतार्थ भी है, अभूतार्थ भी है। प्रमाण, नय, निक्षेप में इन सबको ज्ञान करने के उपरान्त भी जो उद्योतमान निज शुद्धात्म द्रव्य है, वही भूतार्थ है।

**उदयति न नयश्री रस्तमेति प्रमाणं क्वचिदपि च न विद्वो याति निक्षेपचक्रम् ।**

**किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वङ्गुषेऽस्मिन्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥९॥ अ.अ.क.॥**

हे ज्ञानियो ! इस कलश में आचार्य भगवन अमृतचन्द्र स्वामी परम अद्वैतभाव की सिद्धि कर रहे हैं। नौवें कलश में बहुत बड़ा दार्शनिक पक्ष है। द्वैतभाव, अद्वैतभाव, हम स्याद्वादी हैं, द्वैत एकान्त को नहीं मानते है, अद्वैत एकान्त को नहीं मानते है, हम द्वैताद्वैत को मानते है। अद्वैत की सिद्धि करना ही तो द्वैत है। हेतु व भाव ये दो हो गये, शब्द व अद्वैत ये दो हो गये, फिर अद्वैत भाव कैसा ? ये द्वैत है। परन्तु परभाव

परभाव में मिलता है, परभाव निजभाव होता नहीं, निजभाव परभाव होता नहीं, निज-निज ही रहता है। अद्वैत है। 'खलु ब्रह्मोसि' ऐसा द्वैत नहीं हूँ, मैं। मैं ईश्वर अंश नहीं हूँ, मैं ईश्वर शक्ति स्वरूप हूँ, मैं ब्रह्म अंश नहीं हूँ, मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ, ब्रह्म अंश हो जाऊँगा, तो खण्डित हो जाऊँगा, आत्मा खण्डित नहीं है, आत्मा अखण्ड ध्रौव्य है। मैं किसी ब्रह्मा का खण्ड नहीं, टुकड़ा नहीं हूँ, अखण्ड स्वरूप हूँ।

मैं कैसा हूँ -

**मलरहिओ णाणमओ, णिवसइ सिद्धीए जारिसो सिद्धो ।**

**तारिसओ देहत्थो, परमो बंभो मुणेयव्वो ॥२६॥ तत्त्वसार ॥**

मल से रहित ज्ञानमई जो अशरीरी सिद्ध परमेश्वर सिद्धालय में विराजा है, वैसा ही परम ब्रह्म इस देह में विराजा है। मैं विभुक्त शक्ति सम्पन्न हूँ। मैं किसी का अंश नहीं हूँ। अब किसी से लड़ने मत जाना। मैं विभुक्त शक्ति सम्पन्न हूँ, प्रभुत्वशक्ति सम्पन्न हूँ। पाषाण में भी जो आत्मा है। वह ब्रह्मशक्ति सम्पन्न है।

**पाषाणेणु यथा हेमं, दुग्धमध्ये यथा घृतम् ।**

**तिलमध्ये यथा तैलं, देहमध्ये यथा शिवः ॥२३॥ परमानंद स्तोत्र॥**

जैसे कि तिल मध्ये तेल, दूध मध्ये घृत, काष्ठ मध्ये अग्नि शक्ति रूप से विराजती है, ऐसे ही आत्मा शरीर में तिष्ठती है, इसमें कोई शंका नहीं है परमानंद स्तोत्र से बोल रहा हूँ। वस्तु का स्वरूप स्वतंत्र है, 'होता स्वयं जगत परिणाम' कण-कण स्वतंत्र है, कर्म भाव से रागभाव, रागभाव से कर्म भाव, है, दोनों हट जाये तो आत्मा स्वतंत्र है।

स्निग्ध और रुक्ष के निमित्त से बंध होता है, फिर भी कण-कण स्वतंत्र है।

**रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो ।**

**एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५०॥ समयसार॥**

राग से बंध होता है ऐसा जिनेन्द्र का उपदेश है, तब भी जिनेन्द्र कहते हैं कण-कण स्वतंत्र है। जैन सिद्धान्त में कुछ मत सीखो, कारण कार्य भाव समझ लो बस, कर्माधीन अवस्था, वह भी कार्याधीन है। कार्य न करते, तो कार्य कैसे बनते। शादी न करते तो नाती-पोते कैसे आते। वस्तु व्यवस्था है। षट्गुण हानि वृद्धि है, वह स्वतंत्र है। शुद्धभाव स्वतंत्रता का बोध कराता है। रत्नत्रय की प्राप्ति स्वतंत्रता के ज्ञान से होगी, मोक्ष की प्राप्ति स्वतंत्रता के फल से होगी, अर्थ समझ लो, जहाँ पर नय उदय को ही प्राप्त नहीं है और प्रमाण अस्त हो गया और निक्षेप चक्र तो दिखाई ही नहीं देता, विलीन हो गया कहां ? फिर मैं क्या कहूँ, जब उद्योतमान आत्मा निजात्मा में लीन होता है, उसमें उदय श्री उदय को प्राप्त नहीं होती, प्रमाण अस्त हो जाता है, वहाँ शुद्धात्मा एक अद्वैत रूप में होता है।

यह अद्वैत है, परम दशा है, यह आनंद है। सप्तम गुण स्थान से ऊपर-ऊपर। इसके लिए चतुर्थ गुणस्थान से अभ्यास करो, सप्तम गुणस्थान से शुद्ध अनुभूति है, चतुर्थगुण स्थान में भावना है, जब भावना ही नहीं भायेगा, तो शुद्धात्मानुभूति तक कहाँ पहुँच पायेगा। इसलिए भावना भाना।

**॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥**

५ ५ ५

आचार्य भगवन कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार ग्रन्थ में अभूतपूर्व सूत्र प्रदान किये, व्यवहार को प्रधान क्यों नहीं रखते है। ध्यान दो, जिस विषय को सभी लोग जानते हैं, उस पर ही व्याख्यान करें, तो आगे

कैसे चलेंगे, उसके लिए आपको उसके नीचे का ग्रन्थ पढ़ लेना चाहिए, परन्तु समयसार ग्रन्थ में आप नीचे की भूमिका का लक्ष्य लेकर न आये। उच्च स्तर का ज्ञान नहीं होगा, तो उच्च गुणस्थान में गमन कैसे करेंगे ?

आपने विपाक विचय धर्म्यध्यान किया, सिद्धों के अलावा सब कर्म के झूले में झूल रहे हैं, और सम्यग्दृष्टि के अलावा जगत में जितने जीव हैं, सब दुखी हैं, ध्रुव सत्य है। विपाक यानि कर्म का उदय (फल) ऐसा आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने स्पष्ट लिखा है। लक्षण शास्त्र, जैन दर्शन में कोई है, वह है सवार्थसिद्धि। जो परिभाषा सवार्थसिद्धि में लक्षित हो रही है, उस परिभाषा को कोई आचार्य नकार नहीं पाये, सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ परिभाषित ग्रन्थ है, विषयों की जितनी परिभाषा सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में है। इसके बाद जो भी आचार्य हुए उन्होंने वहीं परिभाषा अपनाई है। किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने तो सर्वार्थसिद्धि की पंक्ति वैसी की वैसी रख दी है। जो विपाक है, वह उदय है, कर्म का फल। ज्ञानियो ! समयसार को आज परभाव से शून्य कहा जा रहा है। उस परभाव से शून्य जाये, तो विपाक विचय धर्मध्यान कहता है, कि मेरे से मिल के जाओगे, तो आप अवश्य भगवती आत्मा को प्राप्त कर पायेंगे, क्योंकि कण-कण स्वतन्त्र है। कोटि-कोटि दीनार का स्वामी अंतिम श्वास ले रहा है। उस अज्ञ से पूछना- हे विज्ञ ! तू अपनी प्रज्ञा का प्रयोग कब करेगा। कोटि-कोटि कमाने में पाप किया था अब तू जा ही रहा है, इसका उपयोग कब करेगा। कम से कम अंतिम श्वासों में ही कहीं सप्त परमस्थान की प्राप्ति के लिए, सप्त क्षेत्रों में लगा देता। जो अर्जित किया है उसे आप भोग तो नहीं पाते, अर्जित करने वाला पापी होता है, और भोगता है कोई पुण्यात्मा। ध्यान से सुनो चक्र की सिद्धि प्रतिनारायण करता है, और हाथ में नारायण के आता है, और उसी चक्र से प्रतिनारायण का घात होता है। खड्ग को सिद्ध किया शंभू कुमार ने, और खड्ग हाथ लगा लक्ष्मण के, और उसी खड्ग से उसका वध हो गया। जिस द्रव्य को आप अर्जित करते हो, वही द्रव्य तुम्हारे प्राण ले लेता है। घर में तस्कर प्रवेश कर गये, छीना झपटी किये, और धन भी ले गया, और प्राण भी ले गया।

यही कारण है यह वीतराग नमोस्तु शासन में सम्पूर्ण द्रव्यों को परद्रव्य कह दिया। राग भाव ही जब मेरा द्रव्य नहीं है, तो रागभाव का जो मल बाह्यद्रव्य मेरा कैसे हो सकता है ? और विपाक विचय आपसे कह रहा है, कष्ट परकृत नहीं है, पर निमित्त है। आपने कर्म का बन्धन किया होता, तो उदय में कैसे आता? यह उदयावली में आया है, जो सुख-दुख नजर आ रहे हैं, ये हमारे आगम की प्रमाणिकता को सिद्ध कर रहे हैं। ऐसे संयोग हमें मिले हैं, यह हमारे सुकृत कर्मों का सुविपाक है। ऐसा भी तो परिवार मिल जाता है, आप मन्दिर में समयसार सुनने की बात करते, तब ही घर के सदस्य कहते कि पहले घर का काम देखो। तो आपको बुरा लगता। ये ऐसा क्यों बोल रहे हैं। पर ध्रुव सत्य ये था, कि हमारे ऐसे अशुभ कर्म का उदय है। कि हमारे लिए जिनवाणी सुनने में अन्तराय डाल रहे हैं। आप यहाँ आ रहे हैं तो आपने पूर्व में पुण्य किया है। सब कुछ होने के बाद आपके पास खाली समय है, उसका आपने स्वाध्याय में लगाने का मन बनाया है, नहीं तो कोई ताश खेलते होंगे, कोई टेलीविजन देखते होंगे, कोई सो रहे होंगे, पर आप उस समय जिनवाणी सुन रहे हो। हमारा यह शरीर हमारा सहयोग कर रहा है, यह प्रबल पुण्य है। नहीं तो कोई असाध्य रोग हो जाता तो कैसे जिनवाणी सुन पाते? एक भावना जरूर भाते रहना।

**आरोग्य बोहिलाहं दिंतु समाहिं च मे जिणवरिंदा ।**

**किं ण हु जिदाणमेयं णवरि विभासेत्थ कायव्वा ॥५६८॥ मूलाचार**

हे जिनवर देव मुझे आरोग्य की प्राप्ति हो, और मेरी समाधि हो, ऐसी आपसे प्रार्थना है। यह मैं

जानता हूँ, आप देते लेते नहीं हो, फिर भी हमारी भक्ति की भाषा है। अब जो आपको समय मिला है, ये भोगने के लिए नहीं मिला, साधना के लिए मिला है। यह वृद्ध अवस्था सुहावना समय है, इसमें विषय भी नहीं सताते। कामना को और छोड़ दो। यदि विपाकविचय धर्मध्यान जगत का प्रत्येक प्राणी करे, तो विश्वास रखना कोई किसी की ओर उँगली नहीं उठा सकता, जैनत्व का भान नहीं है उसे, जो विपाकविचय धर्मध्यान नहीं करता। क्यों ? विपाकविचय धर्मध्यानी कर्मोदय पर विचार करता है, और मिथ्यादृष्टि पर को लौछन देता है ? अहो मुझे किसी जीव ने संताप दिया, तो मुझे क्या करना चाहिए ? संताप का बदला संताप से नहीं देना, संताप का बदला है समता में रहना। और क्या कहना, अहो, देखो मेरा कैसा अशुभ कर्म का उदय है, मेरे विभाव के कारण, पर का भाव, विभाव में जा रहा है। मैं संसार में न होता, तो मेरे द्रव्य गुण पर्याय को देख करके, ये अरहंत सिद्ध- अरहंत सिद्ध कहता, तो कर्मों की निर्जरा करता, पर मैं विभाव में हूँ, मेरे विभाव के कारण ये परभाव में जा रहा है। ये इसका दोष क्या है, मेरा ही दोष है, मैं सिद्ध हो गया होता, तो मैं इसके परिणामों के कलुषित होने का कारण न बनता, ये संताप मुझे दे रहा है। ये तो निमित्त मात्र है, विपाक तो मेरा ही है।

ये सब समझ में जब आता है, जब मस्तक ठण्डा होता है और गर्म मस्तिष्क होता है तो एक बात भी जीव को समझ में नहीं आती, फिर तो आपको सीता को विराजमान करना पड़ेगा, जिसको वनवास दे दिया हो और उस सती ने नहीं कहा कि मेरे स्वामी ने मुझे वनवास दे दिया, उसने यही कहा कि यह तो मेरे कर्म का उदय है। मेरे स्वामी से कह देना, जैसे मुझे छोड़ा है, ऐसे वीतराग धर्म को न छोड़ देना। जो प्रवचन की भाषा है, वह घर की व्यवहार भाषा बन जाये तो ज्ञानी आनंद ही आनंद है।

हे ज्ञानी ! तुझे दोष नहीं है, पर, दोष तेरा ही है, क्यों ? सबसे बड़ा दोष तेरा ये है, कि तू संसारी क्यों है ? तू संसारी है, इसका मतलब यही है, कि तू दोषी है, वर्तमान की पर्याय में दोष दिख नहीं रहा आपको, लेकिन भूत का दोष नहीं होता, तो वर्तमान में यह संयोग क्यों होता ? अगर ये माता है, ऐसा सोचने लग जायें, तो अलग-अलग चूल्हे न रखे जायें। ध्रुव सत्य है, यह सम्यग्दृष्टि जीव अभिनव कर्मों का संवर करता है, और पूर्व कर्मों की निर्जरा कर रहा है। वह मोक्षमार्गी है, इसलिए ध्यान दो, किंचित धैर्य रख लिया जाये, सब कार्य सधते हैं, धैर्य चला जाये, तो सब काम बिगड़ते हैं। एक अन्तर्मुहूर्त अपने आपको संभाल लिया जाये, तो कभी किसी का काला मुख नहीं होता।

हे ज्ञानी ! अड़तालीस मिनट तक व्यक्ति अपने को संभाल ले तो कभी किसी को काले कर्म लग ही नहीं सकते। कषाय का उदयकाल एक मुहूर्त है। बस उस मुहूर्त पर ही नियंत्रण करना है। जो विपाक विचय का चिन्तन कर लेता है, फिर उसके हृदय में समयसार गूँजता है। कर्म भी मेरे नहीं, तो पर निमित्त कैसे ? मेरे कर्म मेरे नहीं, तो फिर तेरे कर्म मेरे कैसे ? पर सारा जगत पर के कर्मों में राग कर रहा है, और निज के कर्म बुला रहा है। यानि किसी युवक को कन्या दिखी, उस पर राग कर बैठा, रागी ये कहेगा, प्रेम कर बैठा, पर जिनवाणी बोलेगी, पर के कर्म पर राग किया है, पर का शरीर नाम कर्म, पर का वर्ण नामकर्म, पर का गति नामकर्म, पर का सुभग नाम कर्म, किस पर राग हो रहा है लगाते जाइये ? ये जिनवाणी पढ़े हैं आप सब, उस विषय को विस्तार करना। पर का वेद कर्म, पर का नोकर्म। आत्मा में राग होता तो अशरीर भगवान को देखता, किसको देखके राग बढ़ा, पर के कर्मों को देखकर तू सुकर्म खो बैठा, और कुकर्म कर बैठा, और कर्म को बुला बैठा, पर कर्म के पीछे, सुहावनी पर्याय को खोखला कर डाला। इनमें राग था, उनमें राग था, कुछ

नहीं था, निज के भाव कर्मों के राग ने ही पर के द्रव्य कर्मों को लिप्त किया है, और निज के भाव कर्म के साथ, नोकर्म न होता, तब भी तू बच सकता था, सुनो ही नहीं, गुनो भी ।

क्या कहते हो इसके बाल कितने सुन्दर हैं, और वही एक बाल साधु की अंजली में आ जाये, तो अन्तराय कर देते हैं । हे ज्ञानी ! इस मल को देखकर क्यों अपना मन मलिन कर रहा है। आयुर्कर्म के निषेक को कहाँ नष्ट कर रहे हो, सफेद बाल को काला करने में लगा है । पर यह भूल रहा है, इनको तो हम काला कर लेंगे, पर आयु कर्म को क्या करोगे । जो आपको शुभ अंग दिख रहा है वह अशुभ कराने वाला है ।

जिस पर राग करते थे उस राग ने ही वैराग्य को लौटा दिया, जितना शुभ-अशुभ कराता है, उतना अशुभ तो अशुभ भी नहीं कराता । अशुभ के काल में जीव कम से कम, पंच परमेष्ठी की आराधना के भाव तो करता है ।

कम से कम भगवान का नाम ही ले लेता था, पर सुख के काल में भूल जाता है । शुभ ने अशुभ करा दिया । जितने जीव सातवें आदि नरकों में जा रहे हैं । ये शुभ के सहयोग से जा रहे हैं । शुभ के सहयोग में तीव्र अशुभ करते हैं । इतना वैभव मिला किसे, इतनी ताकत किसे मिली, अटारह हजार रानियाँ थी, रावण की ।

मन्दोदरी ने रावण से कहा था, आपने शील की बाढ़ हटा दी, आपके घर अट्टारह हजार रानियाँ थी, फिर परनारी क्यों हर कर लाये हो । ऐसा समझाया था । पर क्या करूँ, जिसकी पर के नो कर्म पर दृष्टि टिकी है । वह शुभकर्म करेगा कैसे ?

परकर्म पर राग, धिक्कार हो, मोह कितना खोटा है, कि दूसरे के कर्म पर भी राग करता है । जबकि हर व्यक्ति कहता है कर्म छूट जाये, पर छूटे कैसे कर्म पर राग करता है ।

अज्ञानी की भाषा बताऊँ - तीर्थकर पार्श्वनाथ के चरणों में खड़ा है । जो एक सौ अड़तालीस (१४८) कर्म की प्रकृतियों से शून्य हो चुके हैं, अशरीरी सिद्ध बन गये हैं, उनसे क्या कह रहा है, हे नाथ 'सुख सम्पत्ति बहु होई' सुख बड़े सम्पत्ति बड़े, यश बड़े, मान बड़े, सत्कार बड़े, धन्य-धान्य बड़े । धिक्कार हो भगवान के सामने माँगा भी तो कर्म ही माँगा । खुश होकर माँग रहा है । भक्तों की भीड़ मन्दिर में कम, भिखारी ज्यादा हो गये हैं, भक्त माँगता नहीं है, स्वयमेव मिलता है, पुण्य का फल जायेगा कहाँ वह मिलेगा ही मिलेगा ।

ठीक है, द्रव्य मिथ्यात्व को नहीं पूज्य रहे हो, पर आगम से हमसे मिलोगे, तो यही कहूँगा, तू कर्मातीत के यहाँ कर्म माँगने गया है यश कब फैलेगा, यश कीर्ति कर्म के द्वारा । इतना वही सोच पायेगा, जिसका मन साधु बन गया है आज आपको दिगम्बर साधु का वस्त्र उतारने का मतलब समझ में आया, परद्रव्य का संयोग विकारी बनाता है । लालसा बढ़ाता है । अतः परद्रव्य से निवृत्त हो जाओ ।

**ओजस्तेजो-विद्या वीर्य्य यशो वृद्धि विजय-विभव-सनाथाः ।**

**महाकुला-महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः ॥३६॥ र.क.श्रा.॥**

जो सम्यक से पवित्र होता है, वह ओजस होता है, कुलवंत होता है मानव का तिलक होता है । चक्रवर्ती जैसे पद को प्राप्त करता है । वृष चक्र का स्वामी, धर्म चक्र का स्वामी, तीर्थकर जैसे पद को प्राप्त करता है शुद्ध सम्यकदृष्टि । सम्यक्त्व का व्याख्यान समझना हो तो रत्नकरण्ड श्रावकाचार पढो ।

**आत्मस्वभावं परभाव-भिन्नमापूर्णमाद्यन्त-विमुक्तमेकम् ।**

**विलीन-सङ्कल्प-विकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ॥१०॥ अ.अ.का. ॥**

हे ज्ञानियो ! आपका स्वरूप क्या है, अभी तक आप एक चरण सुनते रहे, और एक चरण में हिलोरें

लेते रहे। जब एक स्वभाव का अर्थ ही नहीं किया, तब भी आप तन्मय होते थे, और आज चारों पद को समझना है। वह चारों पद अध्यात्म की गंभीरता से युक्त हैं। जो आत्मा का स्वभाव है, वो परभावों से अत्यन्त भिन्न है। मैं परभाव नहीं हूँ, मेरे भाव परभाव नहीं हैं। मैं भाव हूँ, भाव यानि पदार्थ, भाव यानि परिणाम। मैं पर पदार्थ से भिन्न हूँ, मैं चैतन्य हूँ, और पौद्गलिक पदार्थ जड़ हैं। मेरी आत्मा निज स्वतंत्र आत्मा है, मैं पर चैतन्य आत्मा से भिन्न हूँ, मेरी आत्मा मेरे पुत्र की नहीं है, मेरी आत्मा मेरी पत्नी की नहीं है, गुरु की नहीं है, शिष्य की नहीं है, मेरी आत्मा परभाव से भिन्न है, तो मेरी आत्मा में जो विभाव लाने वाले परिणाम हैं, उससे मेरी आत्मा भिन्न है। मेरी आत्मा पर के परिणामरूप परभाव से भी भिन्न है। हे ज्ञानी ! तू कितना मोही बन चुका है, जो स्त्री के विकारी भावों में उलझ कर अपने आपमें विकार करता है। समयसार लगाइये, कौन कहता है समयसार चरणानुयोग से शून्य होता है ? समयसार जिस दिन समझ में आ जायेगा, उस दिन घर-घर में मंगलाचार होगा। ये अज्ञानी लोग हैं, जिन्होंने समयसार के नाम पर समाज को तोड़ दिया। ये समयसार नहीं है, यह तो विभावदशा है। ऐसे लोग हैं भाई-भाई से नहीं बोलते, पत्नि-पति की नहीं पटती, क्योंकि एक समयसार वाला है, तो एक व्यवहार वाला। तुम दोनों तो विवाद वाले हो, न समयसार वाले, न व्यवहार वाले हो। अभी आपने दसवाँ कलश पढा नहीं है।

अहो श्रावको आपका पुत्र मित्रों में खेलने गया था, वहाँ आपस में संवाद हो गया, पुत्र भी परभाव था, मित्र का पुत्र भी परभाव था, दोनों के परिणाम भी परभाव थे, तेरे से भिन्न थे। जैसे तेरा पुत्र तेरे राग में तेरा है। वैसे ही मित्र का पुत्र मित्र का है। जैसे मित्र का पुत्र तेरा नहीं है, वैसे तेरा पुत्र भी तेरा नहीं है, यदि मित्र का पुत्र अशुभ कर बैठे, तो तुझे बन्ध होगा क्या ? नहीं होगा ? तो तेरा पुत्र भी अशुभ कर बैठे, तो भी कर्म बंध नहीं होगा। मित्र का पुत्र भगवान की पूजा करे, तो तुझे पुण्य मिलेगा क्या ? नहीं मिलेगा, उसी प्रकार तेरा पुत्र भगवान की पूजा करे, तो भी पुण्य बन्ध नहीं होगा। ऐसा समयसार समझ में आ जाये, तो विसंवाद समाप्त हो जाये। जिसके पीछे तू विभाव कर रहा है, उसका विभाव भी विभाव है, फिर तेरा ये स्वभाव कैसे है। आपने आधी पर्याय को पर के राग-द्वेष में रागी द्वेषी किया है। आपको मोह था, मुझे स्वीकार है। ऐसा कर लेते, माँ-पिता-पत्नी को अपना कहते रहते। पर तू उनके कलुषित भावों को अपना क्यों मान बैठा, और उनके कलुषित भावों की पुष्टि के पीछे भाई को भी छोड़ बैठा। तुमने क्या किया, जो मैं कह रहा हूँ, समझ में आ रहा है क्या ?

पिता का शरीर दाह से पीड़ित था। अहो, अशुभ आयु का बंधक करेगा भी क्या ? छिपकली लड़ रही थी ऊपर, चंदन से पिता का दाह नहीं मिटा, गुलाब के नीर से शीतलता नहीं आ रही, और छिपकली के रक्त से शांति महसूस कर रहा है। धिक्कार हो इस पापी को ये कहाँ जाने वाला है। बेटे को बुलाकर कहता है, मेरी औषधि मिल गई। रक्त से बाबड़ी भरा दो, बेटे धर्मात्मा थे, तत्त्व का निर्णय करना था। दोनों भाई ने विचार किया लगता है, पिता को खोटी आयु का बंध हो गया है, पिता तो चले ही जायेंगे, इनके राग में हम जीवों की हिंसा नहीं कर सकते। उसने बाबड़ी लाख से भरवा दी, वह बेटे के छल को समझ गया, तो मारने दौड़ा तो उसी में पैर फिसल गया और मरण को प्राप्त हुआ मरकर नरक में गया।

ध्यान दो, सबका सहयोग करना, पर ऐसा सहयोग मत करना, जिससे आपके चारित्र और धर्म का नाश हो, क्योंकि मैं विभाव के स्वभाव का भी अनुमोदक नहीं बनना चाहता, यह है समयसार। आत्मा का स्वभाव परभाव से भिन्न है। मैं अपने कर्म, नोकर्म रागादिक भाव से भिन्न हूँ, मेरे लिए रागादि कराने वाले

निमित्त भाव, भी मेरे से भिन्न है। मेरे में होने वाले अशुभ रागादि परिणाम, भी मेरे से भिन्न है।

मति श्रुत आदि चर्चाएँ भी, कर्म सापेक्षता के कारण भेदरूप दिखती हैं। अखण्ड ज्ञान परिपूर्ण है। मैं परिपूर्ण हूँ, मैं अपूर्व नहीं हूँ, और मेरी ध्रुव आत्मा आदि अंत से रहित है, विमुक्त है। मैं एक हूँ, मैं परिपूर्ण अखण्ड ज्ञानस्वभावी हूँ, मति श्रुत आदि ज्ञान ये पर्याय है, मैं अखण्ड चेतन हूँ मेरे में पर का सम्बन्ध नहीं है। इसे सुनते चलो इसमें शंका नहीं करना। जो ज्ञायक स्वभाव है, वही ज्ञान है, अभेद अनुपचार है, इसमें उपचार भी नहीं लगाना। ज्ञान व ज्ञेय में, ज्ञान व ज्ञायक में, भेद करना, ये भेद वृत्ति उपचार, अभेद में भेद वृत्ति उपचार और भेद में भेदवृत्ति उपचार। मैं जो है, वह आत्मा, मैं जो जान रहा हूँ भेद हो गया, ज्ञान से भेद हो गया। मैं जो जान रहा था वो भेद हो गया। जिसे जान रहा था वह भेद था, अभेद में भेद का उपचार कर दिया। घर छोड़कर अकेले बैठोगे तभी गुणगुना पाओगे, घर में यह नहीं गुणगुना पाओगे।

एक छन्द में कितना विस्तार। हे योगीश्वर ! मैं ऐसा हूँ, मैं वैसा हूँ। यह संकल्प छोड़ दो, आत्मा का स्वभाव परभाव से भिन्न है इस पर दृष्टि करो। एक मात्र शुद्ध दृष्टि से मैं उदित हूँ प्रकाशवान हूँ परम पारणामिक स्वभाव मेरी आत्मा है। मैं कैसा हूँ? चित्त चैतन्य हूँ, अव्यक्त हूँ, स्वानुभव स्वरूपोऽहं। अखण्ड चैतन्य स्वरूप है। निज में लीन हो जाओ, यही समयसार है।

## ॥ भगवान् स्वामी की जय ॥

५ ५ ५

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार ग्रन्थ में कहा, जब तक बन्ध मानते रहोगे, तब तक स्वानुभूति और सत्यार्थ की अनुभूति नहीं ले पाओगे। हाथ के ऊपर पेन है, तो ऐसा आप कहेंगे, कि हाथ पेन से युक्त है। यह शब्दों की भाषा बराबर है। आँखें भी देख रही हैं, कि पेन हाथ पर ही है। पर पेन हाथ नहीं है। वजन भी लग रहा है, यह भी सत्य है। उससे कष्ट भी हो रहा है, फिर भी भार पर का ही है, मेरा नहीं है।

सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्त-प्रदेशाः। आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों में अनन्तानन्त कार्माण वर्गणाएँ कर्मरूप में अवस्थित हैं। फिर भी कर्म तो कर्म ही है, और आत्मा भी आत्मा ही है। यदि आपने बन्ध को स्वभाव मान लिया, तो वह कर्म कभी हट नहीं पायेंगे। और हटाने का पुरुषार्थ भी क्यों करेंगे ?

ज्ञानी ! आत्मा में कर्म को रखा ही मानो, उसे रखा ही स्वीकारो। आत्मा में कर्म का बन्ध ही स्वीकारो, पर आत्मा को कर्म से सर्वथा बंधी मत स्वीकारो। यदि बंधी ही होगी, तो आत्मा कभी निर्बन्ध नहीं हो सकेगी। बन्ध विभाव है, बन्ध स्वभाव नहीं है। बन्ध को खोला जा सकता है। बन्ध को हटाया जा सकता है। मेरे पुरुषार्थ का विषय है, कर्म का विषय नहीं है। विपाक-विचय का ध्यान करना, क्योंकि कर्म का उदय है। लेकिन अपाय-विचय भी तो है। विपाक के साथ अपाय विचय धर्म्य ध्यान भी है।

हे ज्ञानी ! दस प्रकार का धर्म्य ध्यान है। चार प्रकार का तो सभी को मालूम है। दस प्रकार के धर्म्य ध्यान में अपाय विचय नाम का भी धर्म्य-ध्यान है। चार के नाम तो पता है। 'कार्तिकेयानुपेक्षा' ग्रन्थ में दस प्रकार का धर्म्य ध्यान का वर्णन है। यदि कर्म का बन्ध आत्मा में त्रैकालिक स्वीकार कर लिया जायेगा। तो कर्मबन्ध आत्मा का धर्म हो जायेगा, तो आत्मा कभी निर्बन्ध नहीं होगी। विभाव धर्म तो है, विभाव भाव तो है, लेकिन स्वभाव नहीं है। और विभाव पर संतुष्ट होने के लिए नहीं बैठे हैं, स्वभाव पर दृष्टि डालने के लिए बैठे हैं। अभाव तो बहुत दूर है, पहले दृष्टि ही डाल लो। अभाव करना तो अच्छी बात है, उसके लिए पुरुषार्थ

करना ही है। लेकिन वर्तमान में आप यहाँ बैठकर विभाव को हटा नहीं पा रहे हो, विभाव पर दृष्टि फेंक रहे हो। यहाँ हम यह समझ रहे हैं। विभाव तो विभाव है, विभाव स्वभाव नहीं है। तत्त्व का इतना गहरा निर्णय हो जायेगा, तो पुरुषार्थ प्रारंभ हो जायेगा। सत्य तो यह है कि विभाव है, इसका निर्णय ही नहीं है। शब्दज्ञान है। एक पत्थर में वजन है, कि नहीं? उस पत्थर को आप ढोना पसन्द करते हो क्या? नहीं करते। एक पुत्र है, उसका वजन है कि नहीं? जगत में कौन सी ऐसी माँ होगी, जो पाँच किलो के वजन को पेट में लेकर चलती हो पत्थर का। जरा-सा फोडा हो जाता है तो तुरन्त ही चीरा लगाने की बात करते हैं। कि जल्दी निकाल दो, बहुत कष्ट है। पाँच किलो के शिशु को कैसे पेट में लेकर घूम रही है? प्रसन्न है, कष्ट भी है, फिर भी खुशियाँ मनाई जा रही हैं, मिटाइयाँ बँट रही हैं। वजन को वजन कहना भिन्न विषय है, वजन को वजन मानकर चलना भिन्न विषय है। जब हम इस गद्दी पर आते हैं, तब नहीं लगता कि लोग क्या कहेंगे। हमें लोगों से प्रयोजन नहीं है। वस्तु स्वरूप समझो। माँ इतना वजन ढो रही है। जिस पर राग नहीं होता, वह यदि कंधे पर हाथ रख दे तो, हटा देते हो कि वजन लग रहा है। ममत्वभाव में वजन भी भार नहीं लगता, और जहाँ राग नहीं होता, वहाँ हाथ का सहारा भी तुमको वजन देता है।

ज्ञानी! अभी कर्मों का ममत्व नहीं हटा है। वजन ढोने में, आप गर्भवती माँ हो, प्रीतिपूर्वक ढो रही हो, ससम्मान ढो रही हो। गृहस्थी में किसे नहीं मालूम कि नवीन-नवीन कर्म आते हैं? सबको ज्ञात है। किंचित भी परिणाम इधर-उधर किये, एक पलक झपकाते ही अनंत कर्म आ जाते हैं। ज्ञात था उन ऋषियों को, उन योगियों को, जिन्होंने श्वाँस-श्वाँस पर भी नियंत्रण किया। हाथों पर नियंत्रण किया, तीन गुप्तियों में लीन हो गये। इनको वजन लग रहा था, इसलिए हिलना पसंद नहीं किया। जो मस्ती में झूम रहे हैं, उन्हें कर्मबन्ध बिल्कुल महसूस नहीं हुए हैं। उन्हें कोई वैराग्य नहीं है। त्रिगुप्ति में वही झूम पायेगा, जिसको कर्म का वजन लगेगा, भय लगेगा, डर लगेगा। वीतरागी योगीश्वर सप्तभय से मुक्त होते हैं; लेकिन पापभीरु होते हैं। सप्तभय से निर्भय होने का कथन है, पर अशुभभावों से निर्भय होने का कथन नहीं है। आप गलत अर्थ मत कर लेना। सम्यग्दृष्टि सप्तभय से रहित होता है। यानी मनमानी करता है क्या? सप्तभय से विमुक्त है। भवभीरु पापभीरु। दो से भयभीत होते हैं। भव से, पापों से भयभीत रहो। ताकि पाप का बन्ध न हो जाये। अभी वजन महसूस नहीं हो रहा है। बन्ध तो है ही नहीं। न तेरे सामने मुझे रस्सी दिख रही है, न खूँटा दिख रहा है, न नाक में रस्सी दिख रही है, फिर भी यहाँ से उठकर सीधे वहीं जाता है, जहाँ से आया था। यह गौशाला किसकी है? बैल फिर भी पराधीन है, तो रस्सी बंधी होने से किसान के घर में बंधा है, पर आपके न पूँछ है, न सींग है, न रस्सी है, न खूँटा है, फिर भी इतना सुंदर बैल है जो सीधा गौशाला में पहुँचेगा, जहाँ रोज कुटता-पिटता है। हे ज्ञानी! जो आँखों से देखे वह बंध हो बंध नहीं है। अन्दर जो राग बह रहा है, वह सबसे बड़ा बंध है। विश्वास रखना, साधु के पास सबके हृदय खुले होते हैं, कितना भी अनाचार करें वही सब गुरु के पास कह देता है। एक नवयुवक आया, कहता है, कि मेरी पाप बुद्धि का जिस दिन ज्ञान हो जायेगा, आप मुझे आशीर्वाद भी नहीं देंगे। जबकि वह धर्मात्मा था। धर्मात्मा होना और पापात्मा होना दोनों में अन्तर है। एक कषाय का आवेग और विषयों की अनुभूति का उद्वेग है जो उसे स्वदश होने नहीं दे रहा है। फिर भी वीतराग धर्म के प्रति श्रद्धा नहीं हटी। वह कहता है, प्रभो! जिस मंदिर पर चढ़ने के लिए पचासों सीढियाँ लगाना पडती है; जहाँ से उतरने पर डर लगता है, पर ये विषयों का वेग कुछ भी नहीं देखता है।

कैसा राग? पूछो तुलसीदास से नारी के राग में साँप को पकड़कर ऊपर चढ़ गया। पूछा पत्नी ने,



कैसे आ गये? बोले, रस्सी से। देखा तो वह रस्सी नहीं, सर्प था। जब मेरे राग में सर्प भी रस्सी नजर आ रही है, ऐसे प्रभु का राग कर लेता। ध्यान दो, ध्रुव सत्य है, कि राग एक बहुत सुंदर वस्तु है। राग न हो तो आपके पास कोई ताकत ही नहीं है। जिस दिन राग चला जायेगा, उस दिन घर में नहीं रह पाओगे। घर जाते क्यों हो? राग के कारण।

राग एक इतनी बड़ी शक्ति है कि उसके कारण इतना बड़ा भवन तैयार कर लिया। 'स्निग्ध रुक्षत्वाद् बन्धः' स्निग्ध रुक्ष ही से तो बंध हो रहा है। स्निग्धपना न हो तो बन्ध कैसे हो? यदि सीमेन्ट में स्निग्धपना नहीं होता तो यह बन्ध हो नहीं सकता था। और आत्मा में स्निग्धता न हो, तो परिवार बस नहीं सकता था। स्वतंत्र होना है। पुराने भवन बिखरते क्यों दिखते हैं? स्निग्धता समाप्त होने लगी, तो अपना आश्रय छोड़ने लगी। ज्ञानी! स्निग्धता समाप्त हो जाये तो बन्धन खुलने में देर नहीं। इधर सूखता है, उधर आप पानी डाल देते हो। पहले कितना सुंदर समय था, जब सम्मोदशिखर जाता था तो सब कुछ छोड़कर शांति से जाता था, आठ-दस दिन रुकता था। पर आज मोबाइल लेकर जा रहे हैं। आज रह ही नहीं पाता। उधर भगवान को हाथ से अर्घ्य चढ़ा रहे, उधर पत्नी से बातें चल रही हैं। अब बताओ पारसनाथ से मिलोगे कब?

**यथायथा समायाति, संवित्तौ, तत्त्वमुत्तमम् ।**

**तथातथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि ॥३७॥ इष्टोपदेश ॥**

जैसे-जैसे स्वात्मसंवित्ति का जागरण होगा, सुलभ से सुलभ विषय रुचिकर नहीं लगेगे। विषयों में रुचि जा रही है, इसका तात्पर्य यह है कि आत्मजागरण नहीं है। वैराग्य की खोज करो, अन्य कुछ मत खोजो। पहाड़ों पर नहीं, मंदिर में नहीं, भगवान् के पास भी नहीं। वैराग्य की खोज कीजिए। वैराग्य की शून्यता के सद्भाव के कारण ही आज त्यागियों का अपलाप हो रहा है। तन के साथ रहना भिन्न भाव है, पर स्वयं के साथ रहना भिन्न भाव है। वैराग्य तन के साथ नहीं रहता, वैराग्य तो वैराग्य के साथ रहता है और आवश्यकता है तत्त्व की। तत्त्वचर्चा नहीं होगी, तत्त्वबोध नहीं होगा, और बाहरी क्रियाओं में उलझ जायेंगे, तो वैराग्य तुम्हारे घर में नहीं आता।

यहाँ पूरा कथन सम्यक्त्व का चल रहा है। सम्यग्दृष्टि का वैराग्य ही मोक्षमार्ग है, ऐसे तो वैराग्य तो कुलिंगी भी धारण कर लेते हैं। अन्य से बे राग हुआ, पर मिथ्यात्व में तो राग चला गया। वैराग्य की ऊँचाइयों को निहारिये, वैराग्य यानी वैराग्य। फिर ये संबंधी, सब छोड़िये। पूज्य की पूजा की सामग्री का राग भी पूज्य नहीं होने देता। पूज्य की पूजा के लिए पूजनसामग्री के राग ने परस्पर के वात्सल्य का नाश करा दिया। चार बादाम रखे थे थाल में, पाँच पूजन करनेवाले थे। जब चढ़ाते हो तब देखना। एक बादाम के पीछे अन्दर का वात्सल्य हट गया, कषाय की गौड़ बढ़ गयी प्रभु के सामने खड़े होकर। धर्म करने आये थे, बादाम चढ़ाने नहीं आये थे। द्रव्य तो आलम्बन था, हाथ भी तो लगा सकते थे। कौन मंदकषायी, कौन तीव्र कषायी? द्रव्य की सत्ता में ग्रहण मत करना, द्रव्य की न्यूनता में मालूम चलता है। भूख कितनी लगती है, यह घर में नहीं पूछना। जब यात्रा पर जाओ और टिफिन एक ही हो, फिर पूछना। धीरे-से चुपचाप जाकर खा लेते हो। जितनी व्यवहारिक बातें हैं, सब में रहस्य भरा है। भूख कब लगती है? जब सामग्री कम हो, और लोग ज्यादा हों, तब मालूम चलती है, कि भूख कैसी होती है। भरे-भरे में वैराग्य नहीं झलकता। विपत्तियों के काल में वैराग्य की परीक्षा होती है। स्वर्ण की परीक्षा कसौटी पर ही होती है, और समता की परीक्षा विपत्तियों में ही होती है।

ज्ञानी ! प्रथम चरण में भावुकता थी, इसलिए मृदुता आ गई। कुछ काल का भी दोष है। कुछ हमने वैराग्य के साधनों को कम समय दिया, और राग के साधनों को ज्यादा समय दिया। रात्रिभोजन का त्याग है आपका, और आप किसी रिश्तेदार के घर रात्रि में जाना। कब? जब वह भोजन कर रहा हो। वह तुरन्त अपनी थाली देने लगेंगे, आओ, आओ। भोजन कर लो। वह कहेगा, मेरा तो तीस साल से त्याग है। अरे ! तो उसे उसके प्रति सम्मान, और अपने प्रति ग्लानि होगी। वह कहेगा, अच्छा, तो दूध पानी चलेगा। सम्मान बढ़ रहा है। एक रात्रिभोजन के त्याग से पूज्यता बढ़ गई, सम्मान बढ़ गया। अब यहाँ संभलने की आवश्यकता थी। त्याग करते ही पुण्य बढ़ता है। वैराग्य होते ही पुण्य बढ़ता है। मिलता क्या है ? जिसके पास जो हो। भेंट क्या देगा ? राग। जैसे-ही त्यागी बना, रागियों द्वारा सम्मान बढ़ा। इधर त्यागी सम्मान में डूब गया। ज्ञानी ! वैराग्य विलीन हो गया। त्याग होता है साधना के लिए, पर वह उसमें सम्मान मान लेते हैं, समझ नहीं पाते। मैंने किसी को दो प्रतिमा दे दी, तो वह अपने को बड़ा मानने लगा, आगे बैठेगा। पहले अभिषेक करेगा, प्रवचन में लेट आये, फिर भी आगे बैठेगा, आपने अपने चारित्र को पर्याय के सम्मान में लगा डाला। जो आत्मा के सम्मान का विषय था, उसे पर्याय के सम्मान में लगा दिया। इस कारण चर्या में मृदुता आ रही है। त्यागी सर्वत्र पूज्य होते हैं। मार्ग कभी चोर होता नहीं।

**पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोणा भणंति ववहारी ।**

**मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोइ ॥५८॥ समयसार**

मार्ग तो चोर होता नहीं, पर मार्ग व्यर्थ में बदनाम होता है। चोर तो व्यक्ति होते हैं। चुराते वे हैं, और बदनाम होता है मार्ग। भैया ! उस मार्ग पर मत जाना, मार्ग चोर है। त्याग कभी अशुभ होता नहीं, त्याग के मार्ग पर आई जो कषाय है, वह डाका डाल रहीं हैं। त्यागी का सम्मान बराबर रखना। मार्ग पर सज्जन कितने निकलते हैं, दुर्जन कितने निकलते हैं ? विश्वास रखना, उन दुर्जनों की भीड़ को देखकर हम सभी को दुर्जन व मिथ्यादृष्टि नहीं कहते। “दोष वादे च मौनं” अवगुणों को ज्यादा निहारोगे, तो आप मालूम कहाँ पहुँच जायेंगे ? अश्रद्धा पर पहुँच जायेंगे। अवगुणों को नहीं निहारना अपने अवगुणों को निहारो। पर के अवगुण निहारोगे, तो पर में दोष दिखेगा। अवगुण निहारेंगे निज में तो, गुण दिखेंगे पर में। सही है न ? पर वैराग्य में जो पुण्य बढ़ता है उसको संभालना आवश्यक है। दस पूर्वधारी (विद्यानुवाद पूर्व) जैसे ही योगी पढ़ता है, विद्या कहती है भो स्वामी ! आज्ञां देहि, मैं क्या करूँ ? ध्यान दो, चारित्र को पचाना बहुत कठिन है, साधना को पचाना कठिन है। यह सब रहस्यमयी बातें बता रहा हूँ। साधना को पचाना भी बहुत कठिन है, जब साधना में भर जाता है न तो कषाय भड़कती है। ध्यान रखना, ब्रती-त्यागी ज्यादा गुस्सा करते मिलेंगे। समझो, ऐसा क्या करते, गुस्सा का कारण क्या है ? ये साधना को पचा नहीं पा रहे। एक बार हमने आठ दिन का मौन लिया, तो हमारे साथ एक साधक और थे, उन्होंने भी कहा कि मुझे भी करना है, मैंने कहा, कुछ सीमा कर लो, तुम पाल नहीं पाओगे। पर वह नहीं माने। ढक्कन ढँका हो, नीचे चूल्हा जल रहा हो, तो भाप कितनी बनती है ? आप ढक्कन पर पत्थर और रख जाते हो। और ढक्कन था पतला, आठ दिन का मौन, उबाल आ गया, सातवें दिन तो फूट ही गया। ज्ञानी ! हमने कहा था आपसे कि साधना पचाना कठिन है, मौन के समय दुनियाँ के लोग इधर-उधर का सुनाते हैं, उसे निगलना सीखना। शान्त रहो। जो साधना को नहीं पचा पाता, उसकी विभाव में परिणति होती है। उपवास हो, उस दिन सम्भल कर रहना पड़ता है। विशेष जाप करे, माला करे। माला कम फेरो, यदि पचा नहीं पाते तो। अन्यथा तीव्र गुस्सा आती है माला फेरनेवाले

को। स्वाध्याय अधिक करना। स्वाध्याय करने से गुरसा नहीं आती कोध का शमन होता है। क्यों? अन्दर भरता, बाहर निकलता। माला में अन्दर ही अन्दर भरता है, बाहर निकलता नहीं है। माला बन्द हुई, फिर फूटता है। तो माला फेरना बन्द मत कर देना, माला जरूर फेरना। लेकिन पचाना, क्योंकि आप गृहस्थ है। हम लोग अभी बड़े-बड़े संघों के बीच रहकर आये हैं। बड़े-बड़े साधक तीव्र साधना करते हैं, और एक क्षण में उसकी ज्वाला ऐसी फूटती है, कि बच्चा भी कहता है, भैया हम घर ही में अच्छे हैं। उससे बचना है। मैं माला का निषेध नहीं कर रहा हूँ, लेकिन स्वाध्याय करिए। उस साधना को पचाने की क्षमता लाइये। शक्ति तो बढ़ेगी। वैराग्य होने पर पुण्य बढ़ता है। इन बच्चों को कौन पूजता था? आज साधु बन गये तो तुम पाँव पूजते हो। यह चारित्र की महिमा है। तुरन्त ही यश बढ़ता है। संयम लेते ही यश बढ़ता है। वही पचाना सीखो। अपाय विचय धर्म्य ध्यान कीजिए। शत्रु से सुरक्षित रहने के लिए तलवार घर में रख ली। तलवार तो रख ली, पर वार करना सीखे नहीं, और रखना कैसे चाहिए, यह भी मालूम नहीं, और रखी वहाँ थी, जहाँ सोते थे। और बिना कवच के तलवार छीके पर टाँग दी। तलवार सिर के ऊपर टंगी थी, चढ़ गया ऊपर चूहा और काटी धीरे धीरे रस्सियाँ और तलवार गिरी और मृत्यु को प्राप्त हो गये। तलवार को लेकर आये थे, परन्तु वार करना, रखना सीखे नहीं। ज्ञानी! संयम को धारण कर लिया, संयम पालन करना सीखे नहीं, दोष तलवार को दे रहे है, पर दोष क्यों नहीं देते अपने विवेक को? संयम का दोष नहीं है। संयम किसी को पतित नहीं करता, पर संयम को प्राप्त करके भी सावधानी नहीं सीखे, तो संयम क्या करेगा? संयम तो पूज्य है। तो भगवान् ही बनायेगा। छोड़ेगा नहीं आपको भगवान बनाये बिना। पर तुम संयम को छोड़ना मत। संयम मालूम कैसा है? किसी को चोट लग जाये, घाव हो जाये, खून बनने लगे, तो दवाई नहीं लगाना, शुद्ध चूना भर दो। वह तभी निकलेगा, जब घाव को भर देगा। उसके पहले निकलेगा नहीं, और निकालोगे तो उससे ज्यादा परेशान कभी नहीं होंगे। पानी मत डालना, चूना भर दो। ज्ञानी! संयम तभी अपने आपमें फलित होता है, जब वह आपको सिद्धालय भेज देता है। पर छुटाना मत।

जिसने चारित्र को धारण कर बाह्य प्रपञ्च ही स्वीकार कर लिए हैं, उसे मोक्षफल दूर ही है।

ज्ञानी! विश्वास रखना, वैराग्य के अभाव में ज्ञान काम में नहीं आता। क्योंकि ज्ञान तो बहुत है। जब कषाय का उद्वेग होता है, तब ज्ञान कहाँ होता है? ज्ञान हो तो वैराग्य की खोज करो। पर्वतों में नहीं, नदी नाले में नहीं, तीर्थ मंदिरों में नहीं, अंदर खोज करो।

दसवें पूर्व का अध्ययन करने वाला भ्रष्ट हो जाता है। जादू, टोना, तंत्र, मंत्र यह कुछ भी मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग इन सबसे भिन्न है। आत्मा का स्वभाव परभाव से भिन्न है। वर्तमान में समाधि चाहते हो तो जादू-टोना, ज्योतिष आदि में नहीं चले जाना, इनसे निश्चित असमाधि होती है, क्योंकि इन विद्याओं को पचाना कोई सामान्य कार्य नहीं है।

इस कलिकाल में चित्त चलायमान है, शरीर अन्न का कीड़ा है, फिर भी ऐसे समय में अरहंत की मुद्रा को धारण करने वाले मनुष्य हमें दिख रहे हैं, यही चमत्कार है पंचम काल का।

आसन्न भव्य तत्त्वज्ञानी जीव! यह चौदह गाथा प्रमाण समयसार की पीठिका है। इतना सुनकर ही परम तत्त्व का ज्ञाता हो जाता है। हेय-उपादेय को जानकर विशुद्ध दर्शन ज्ञान स्वभाव ही निज स्वरूप को भाता है। मात्र चौदह गाथा से, जो विस्तार रुचि वाला है वह नौ अधिकारों के द्वारा समयसार को जानकर पश्चात् भावना करता है। कुछ लोग एक सूत्र को सुनकर वैराग्य को प्राप्त हो जाते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो कहते

हैं कि पहले समझो, जानो, फिर आगे चलना। पहले वाला आसन्न भव्य, सूत्ररुचिवाला था। ये विस्ताररुचि वाले हैं कि देख लो, समझ लो। एक बात ध्यान रखना, जिस दिन वैराग्य हो, उसी दिन दीक्षा ले लेना चाहिए। जैसे- तुम ज्यादा सीख गये, वैसे ही वैराग्य से वैराग्य होने लगता है। ज्यादा जानने से ऐसा होता है।

तत्त्व उपदेश तो वैराग्य ही का होना चाहिए, पर आचार्य को दीक्षा देखकर ही देना चाहिए। दीक्षा तो हम दे देंगे, पर निभाना समाज को पड़ेगा। तुम खोटे निकल गये तो जीवन भर समाज को झेलना पड़ता है। अन्दर का विषय है, आप मानिये। इसलिए सभी से कहना है कि कम साधु हों, पर साधुमार्ग पर अश्रद्धा न हो। सेन्ट वाला निकल जाता है तो पूरी गली को सुगन्धित कर देता है। साधु को देखकर आनंद आना चाहिए। यह नहीं आना चाहिए कि चार महीने में कितने दिन बचे, कब जायेंगे।

संवत्ति, प्रतीति, ख्याति, निश्चय सम्यक्त्व है। बिना वीतराग चारित्र के वीतराग सम्यक्त्व नहीं होता है। अभेद उपचार से सम्यक्त्व का विषय होने से व्यवहार सम्यक् होता है। निश्चय से स्वकीय शुद्धात्म परिणाम ही सम्यक्त्व है। ऐसा जानना।

## ॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

५ ५ ५

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने भूतार्थ तत्त्व का प्रतिपादन किया, सत्यार्थ वस्तु के कथन का स्वरूप क्या है और लोक स्वरूप क्या मानता है? जहाँ आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी ने अनेकान्तमय मूर्ति की वंदना की, वही लोगों ने सरस्वती को अनेक रूपों में ग्रहण कर लिया, जबकि यहाँ वीतराग अरहंत की वाणी जो कि अनेकान्तमयी है, उसे ही मूर्ति कहा है, उसकी वंदना की है। परन्तु उस परम तत्त्व को न समझते हुए किसी विषमलिंग की मूर्ति बनाकर खड़ा कर दिया, और उसकी आराधना प्रारंभ कर दी। इसी प्रकार से केवलज्ञान लक्ष्मी की आज आराधना होना चाहिए थी, वहाँ धन-सम्पत्ति की आराधना प्रारंभ कर दी। यह तत्त्व का विपर्यास है।

हे जीव ! तुझे कोई लक्ष्मी नहीं देता है। न किसी का तू उपकार करता है, न अपकार करता है। तेरे शुभ-अशुभ कर्म का नियोग ही अपकार-उपकार कराता है। यदि कागजों की तस्वीरों से अर्थ मिलता होता, तो लोक में तस्वीरों को कितने ही लोग पूजते हैं, उन्हें सम्पत्तिशाली हो जाना चाहिए था न? और ऐसे भी लोग हैं जो किसी को भी नहीं पूज रहे, पर वैभवशाली हैं। इससे आपको पकड़ना चाहिए कि देने-दिलाने वाले कोई जगत् में हैं नहीं। शुभाशुभ कर्म ही सुख-दुःख प्रदाता है। यही भूतार्थ है। परन्तु यह भूतार्थ व्यवहार कर्म ही जब मेरी आत्मा का धर्म नहीं है, तो फिर जिससे जो मिल रहा, वह आत्मा का धर्म कैसे हो सकता है? द्रव्य की प्राप्ति, द्रव्य की अप्राप्ति, उनका होना, कर्म का होना आत्मा का स्वभाव नहीं है। वह अभूतार्थ है।

सत्य को कितने लोग समझ पा रहे हैं? सत्य को कितने लोग जी पा रहे हैं? ज्ञानी ! सौ में से दो-चार भी समझनेवाले नहीं हैं। यथार्थ मानो। उनको जड़ धर्म में इतना राग है कि उसको धर्म मानते हैं, जबकि धर्म बहुत भिन्न है। दिवाल बनाना, दिवाल हटाना, इनमें धर्म मान बैठे हैं। जबकि न दिवाल हटाना धर्म है, न दिवाल उखाड़ना धर्म है। धर्म तो आत्मा का स्वभाव है। आत्मा का स्वभाव परभाव से भिन्न है। उसके लिए कुछ भी नहीं चाहिए। विश्वास रखना, धर्म के लिए कुछ भी नहीं चाहिए। ग्रहण करना धर्म नहीं है, और छोड़ना भी धर्म नहीं है। फिर धर्म क्या है? स्वभाव में रह जाना, उसी का नाम धर्म है। छोड़ा है, तो किसी से सम्बन्ध जोड़ा है। यहाँ सम्बन्ध कारक का ही अभाव है। छोड़ता नहीं हूँ, मैं जोड़ता नहीं हूँ, मैं तो

बस उसे देखता हूँ। जो हूँ, वह हूँ। छोड़ना धर्म नहीं। वह भी राग दशा है। ध्यान रखो, छठवाँ गुणस्थान सराग दशा है। इसमें छोड़ने की बात होती है। इसलिए जहाँ सराग छोड़ना समाप्त हो जाता है, वह वीतराग दशा है। छठवें गुणस्थान में छोड़ना पड़ता है, सातवें गुणस्थान में आहार नहीं होता है। आहार संज्ञा छठवें गुणस्थान तक है, उसके आगे आहार संज्ञा का अभाव है। यहाँ से पूर्ण अनशन स्वरूप शुरू हो रहा है। यानी सप्तम गुणस्थान की भूमिका प्रारम्भ करो चौथे गुणस्थान से।

मैंने ऐसा क्यों कह दिया कि चौथे गुणस्थान से शुरू करो? यदि सत्यार्थ चतुर्थ गुणस्थानवर्ती है, तो खायेगा राग से, खायेगा प्रेम से, फिर भी खाने के राग को स्वभाव नहीं मानेगा, राग को। दृष्टि वह यही रखता है कि यह विभाव-दशा है। फिर छोड़ने का विचार करता है। एकदेश वैराग्य को प्राप्त होता है, तब पंचम गुणस्थान की ओर जाता है। रुचि को कम करते हुए पंचम गुणस्थान की ओर बढ़ता है, और पंचम गुणस्थान में पहुँचकर फिर उसे लगता है कि यह भी ठीक नहीं है तो जैनेश्वरी दीक्षा के भाव बनाता है, और जैनेश्वरी दीक्षा लेकर सप्तम गुणस्थान का सीधे स्पर्श करता है। वहाँ स्थिरता नहीं है, इसलिए नीचे आ जाता है। वह छठवें व सातवें गुणस्थान में झूलता है। परम सत्य क्या है? परम स्वरूप क्या है? बस स्थिर हो जाओ, जिसे आचार्य जयसेन स्वामी ने आसन्न भव्य कहा है। जो आसन्न भव्यता है, वह शीघ्र मोक्ष जाने की एक कसौटी है। जिसका संसार अल्प है, जिसका संसार चुल्लू प्रमाण बचा है। बस, स्थिर होकर सुनना। अब कोई प्रेरित करे नहीं करे या कोई प्रेरणा दे, नहीं दे। सहज ही कषाय मन्द होते स्वयं समझ में आ जाती है। परीक्षा कर लेना। चलो, नगर में साधु आये हैं, उन्हें आहार देने का मन बना है। किसी ने कहा नहीं आपसे, यही है उपयोग की भद्रता यही है आसन्न भवितव्यता। कोई लेकर जाये, ठीक है, पुण्य है; लेकिन सहज परिणाम बन रहे हैं। सहज ही कषाय मन्द होती नजर आ रही है। अब तो विषयों से दूर होना चाहिए, कुछ नियम लेना चाहिए, मन में ऐसे सहज भाव आ रहे हैं। यह भद्रता की वृत्ति नजर आ रही है। भद्रता ही आसन्न भवितव्यता का लांछन है। क्यों? किसी-किसी जानवर का चेहरा देखकर नहीं झलकता एक गाय को देखो कितनी भद्रता झलकती है, और जब प्रेम की दृष्टि से आपको देखती है। मानव को भी गरु कहा जाता है। गरु यानी वाणी, सरस्वती, जिनवाणी। जिनवाणी के पृष्ठों पर दुनियाँ जिनवाणी पढ़ती है, पर जिसके चेहरे पर जिनवाणी आ जाए उसका चेहरा गरु दिखता है।

श्री सरस्वती नाम स्त्रोत्रम्

प्रथमं भारती नाम, द्वितीयं च सरस्वती ।  
 तृतीयं शारदा देवी, चतुर्थं हंसगामिनी ॥४॥  
 पंचमं विदुषांमाता, षष्ठं वागीश्वरि तथा ।  
 कुमारी सप्तमं प्रोक्तं, अष्टमं ब्रह्मचारिणी ॥५॥  
 नवमं च जगन्माता, दशमं ब्राह्मिणी तथा ।  
 एकादशं तु ब्रह्माणी, द्वादशं वरदाभवेत् ॥६॥  
 वाणी त्रयोदशं नाम, भाषाचैव चतुर्दशं ।  
 पंचदशं च श्रुतदेवी, षोडशं गौर्निगद्यते ॥७॥

वाग्वादिनी व हंसवाहिनी जिनवाणी के पर्यायवाची नाम हैं। अन्य कोई को ग्रहण नहीं कर लेना। जिनवाणी का सोलहवाँ नाम गरु है। 'विश्वलोचन शब्दकोष', में इस गौ को वाणी कहा है। जैसे गाय का

चेहरा जब भद्र दिखता है, तब गाय की कषाय मन्द होती है। जब कोई ऐसा लगे, कि भद्र दिख रहा है, तो उसके मस्तिष्क में जिनवाणी है। जिनवाणी का अर्थ द्रव्यश्रुत ही को ग्रहण नहीं करना। कषाय की मन्दता भद्रता ही जिनवाणी है। एक द्रव्यश्रुत कह रहा है, एक भावश्रुतरूप हो रहा है। विश्वास रखना, मंदता तभी आयेगी, जब कषाय में निर्मलता होगी। भद्रता जो है न, वह बिना तत्त्वचिंतन के नहीं है। श्रुत मिथ्यादृष्टि के साम्यभाव को प्रशम भाव नहीं कहता। सम्यग्दृष्टि का प्रशमभाव ही साम्यभाव है। जब तक अनंतानुबंधी में कोई भी बैठा होगा, तब, तक प्रशमभाव नहीं है। चार में से एक भी होगा, तब भी नहीं है। प्रशमभाव तो वही होगा, जहाँ सम्यक् का उद्योतन हो रहा होगा। वही प्रशमभाव समझना।

उद्योतन शब्द बार-बार जिनागम में आता है। मूलाचार में वट्टकेर स्वामी ने उद्योत के दो भेद किये, द्रव्य उद्योत, भाव उद्योत। मणि आदि का जो प्रकाश है, यह द्रव्य उद्योत है। इसका खण्डन होता है, खण्डित होता है, अखण्ड नहीं है, और निश्चित प्रदेशी है। इस बल्व की सीमा है, अपनी सीमा तक ही प्रकाश दे पाता है। जो पाँच सम्यक्ज्ञान हैं, इनका उद्योतन अखण्डित है, ये खण्डित नहीं होते हैं। केवलज्ञान लोकालोक को प्रकाशित करता है। प्रकाशित का मतलब कौन-सी ज्योति ग्रहण करना? चिरज्योति चैतन्य प्रकाश। वही तेरा ज्ञायकभाव है, वही तेरा उद्योतन भाव है। आजकल लोग क्या करते हैं, कि ध्यान में बैठते हैं चिरज्योति स्वरूपोऽहम और किरणें फूट रही हैं। देखिये, किरणें फूट रही हैं। धन्य हो, एक अशरीरी आत्मा से तुमने पुद्गल की किरणें फुटवा दीं। समयसार को समझना पड़ेगा। जो किरणें फोटो में छप रही है, वे वह किरणें नहीं है। यहाँ कौन-सी किरणें ग्रहण करना? जो परमज्योति ज्ञान के विकल्प हैं, वही किरणें हैं। कल्लोलमाला, खल्लोलमाला से रहित, सहज तरंगे हैं। वे कैसी कल्लोलमाला हैं? जब सरोवर में पानी भरा हो, और पूर्णिमा का समय हो, बहता है नहीं, लहरें चल रही हैं, धार नहीं है। लहरें और धाराएँ, इनमें अन्तर है लहरें उठती हैं, धाराएँ बहती हैं। स्वानुभूति की लहरें उठती हैं, जो अन्दर ही अन्दर होती हैं। पर, राग की विषयों की, धाराएँ बहती हैं। नदी ऊपर से गिरती है, नीचे जाकर समुद्र में मिलती है। परन्तु जो अन्दर का स्रोत होता है, कुएँ में नीचे से उठता है, ऊपर को जाता है। स्वात्मानुभूति नदी का नीर नहीं है, स्वात्मानुभूति तो पाताल तोड़ कुएँ का स्रोत है। अन्दर से फूटता है, अपने आपमें भरा रहता है। कुएँ के भरने के लिए पानी नहीं लाना पड़ता। बस, इतना ही कहना था मुझे। आत्मा की अनुभूति का प्रयोग / प्रेक्टिकल अभी करा देता हूँ। यह अगूँठा है, इस अगूँठे में डॉक्टर ने सुई लगा दी तो सत्य बताना आपका हलन-चलन कितना होगा? पूरे प्रदेश में कम्पन होगा कि नहीं? सुई तो अगूँठे में लगी थी न, कम्पन पूरे शरीर में क्यों हुआ? एक जीव एक स्पर्शन इन्द्रिय का विषय भोगता है। अंग विशेष से स्पर्श किया, पर रोमांच सर्वांग में होता है। ठण्डी बहुत थी, ठण्डी में उकाली पी ली जाती है पेट में परन्तु पूरे शरीर में गर्मी महसूस करता है। ऐसे ही स्वात्मानुभूति की अनुभूति सर्वांग में व्याप्त होती है। अंग-अंग में नहीं, आत्मा के प्रदेश-प्रदेश पर होती है।

**परिणमदि जेण दव्वं, तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्तं ।**

**तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेदव्वो ॥८॥ पवयणसारो ॥**

जिस काल में जैसा उपयोग होता है, उपयोग की परणति वैसी ही होती है। इसलिए हमारी आत्मा अंश-अंश नहीं है, सर्वांश रूप है। खण्ड-खण्ड नहीं है, हमारी आत्मा अखण्ड ध्रौव्य है। अनुभूति अखण्ड है, वेदन अखण्ड है। बोलते मुख से हो, सुनते कान से हो, अनुभूति कहाँ से लेते हो? बस, गंभीर विषय कान

से सुन रहे हो न, परन्तु वेदन कहाँ हो रहा है ? जितना सुनते हो, उतना ही अन्दर से शान्त हो जाते हो । करणानुयोग की एक बहुत बड़ी सिद्धि हो गई ।

इन्द्रियाँ भले पाँच हैं । पर पाँचों इन्द्रियाँ एकसाथ काम नहीं करती हैं । एक समय में एक ही काम करती हैं । आप तन्मय होकर सुनते हो तो, एक ही इन्द्रिय काम करती है । आप तन्मयता से देखते हो तो, सुनाई नहीं पड़ता है । बस, जो लोग यह कहते हैं कि सामायिक में मन चला गया, ध्रुव सत्य है, सामायिक में बैठे नहीं थे । सामायिक में बैठ गये होते, तो मन कैसे जा सकता था ? शरीर को बैठा लिया था, परन्तु आप नहीं बैठे थे । आप बैठ गये होते, तो मन कहीं जा ही नहीं सकता था । यथार्थ मानना, चिन्तन में कमी आ गई है, और चिन्तन होना चाहिए । कैसा ? चिन्ता जैसा । जैसे चिन्ता में मन कहीं नहीं जाता, ऐसा चिन्तन होना चाहिए । आपको एक करोड़ का घाटा लग जाये, उस समय हलुआ, पुड़ी, मलाई रखी है, पर मस्तिष्क पैसे में है । ऐसा राग आत्मा से हो जाता तो कल्याण हो जाता । धिक्कार हो उसे, जिसने करोड़ रुपये की कीमत को महान समझा, और आत्मा को महान नहीं समझा । आपको जरा-सी कोई गाली दे दे, तो पूजन करते में वही याद आती है । ओ हो, कितनी गहरी सुनी है गाली आपने । धन्य है । अरहंत की आराधना करते वर्षों बीत गये, वह पूजन की पंक्ति भूल रहा है, पर गाली नहीं भूल रहा है । समयसार कह रहा है कि शुद्ध तनाव चाहिए । शुद्ध गाली चाहिए, गाली मत देने लगना । मतलब शुद्ध चिंतन, शुद्ध जिनवाणी चाहिए है । उतनी प्रीतिपूर्वक सुनना, गाली की तरह । पर की चर्चा करने में कमर नहीं दुखती, पर सामायिक करने को कहें, जो कि कल्याण का मार्ग तो लेट के कर लूँगा है । तूने बैठे-बैठे गप्पों में वीर्यान्तराय कर्म का नाश कर लिया, जब सामायिक का समय आया तो कमर दर्द करने लगी ।

आँखें बन्द रखा करो । जैसे कि जब पानी कम होता है, तो पानी को कैसे उपयोग करते हो ? आवश्यकता हुई, उतनी टोंटी खोल कर ले लेते हो और बन्द कर देते हो ।

हे ज्ञानी ! एक टोंटी आँखों, कानों, मुँह आदि में भी लगवा लो । जितनी जरूरत पड़ी, उतनी खोलना, शेष बन्द । बन्ध को बन्द करना चाहते हो तो बन्द करना शुरू कर दो ।

पंचमकाल में विभावों को बन्द करने का कोई माध्यम है तो, स्वाध्याय है । इससे गहरा कोई उपाय दिखता नहीं है । ध्यान का कोई लम्बा काल है तो, स्वाध्याय है । सतत् अभीक्षण ज्ञानोपयोग । आज बच सकते हैं तो, स्वाध्याय से, और कोई बचानेवाला नहीं है । कभी स्वाध्याय करो, तो हृदय में बैठकर ही बोलना कण्ठ से बिल्कुल नहीं बोलना । कण्ठ को माध्यम बनाना, शब्द के उद्घाटन का स्थान कण्ठ रहे, पर प्रगटीकरण तो हृदय से ही होगा । हृदय से बोलोगे, तो हृदय में ही जायेगा । और तत्त्व की देशना के काल में, पर पुरुष को मत लाओ । तत्त्व की देशना में तत्त्व ही को विराजमान करना । हम परपुरुष का महत्त्व स्थापित नहीं करना चाहते हैं । हमें तो जिनवाणी का महत्त्व प्रगट करना है, और पर पुरुष को रखने से कौन हमारी आत्मा का कल्याण होता है ? आत्मतत्त्व ही उपादेय है । आवश्यकता नहीं पड़ती हैं परपुरुष को बैठाने की । परपुरुष को वे बैठायें, जिनके कण्ठ में सरस्वती न रहे । पर की आलोचना, पर की कथाएँ वे सुनायें, जिनके मस्तिष्क में चिंतन की कमी हो और हृदय में ज्ञान का क्षयोपशम कम हो । परन्तु जब तुम्हारा हृदय तत्त्वज्ञान से भर जाता है, तो पर को लाने के लिए समय ही नहीं मिलता, क्योंकि आगम इतना अगाध है ।

आचार्य जयसेन स्वामी आसन्न भव्य की चर्चा कर रहे हैं । भूतार्थ निश्चयनय (शुद्धनय) से अभिगत है, निर्णित है, जाना है, ऐसा जानते हुए, जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पाप और पुण्य,

ये नौ पदार्थ हैं, जो सम्यक्त्व है कारण में कार्य का उपचार है, सम्यक्त्व नहीं है। सम्यक्त्व का कारण है। फिर भी ये सम्यक्त्व हैं। नौ तत्त्वों पर श्रद्धान् करना सम्यक्त्व है। तत्त्व सम्यक्त्व नहीं है परन्तु जो तत्त्व सम्यक् हैं, उन पर श्रद्धान् करना सम्यक्त्व है। जो तत्त्व सम्यक् नहीं हैं, उन पर श्रद्धान् करना भी सम्यक्त्व नहीं है। क्योंकि लोक में तत्त्व तो अनंत हैं, मानने वाले अनेक हैं। कोई पच्चीस कहता है, कोई सोलह, कोई नौ कहता है। नहीं। 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यक्दर्शनं' प्रयोजनभूत तत्त्वों पर श्रद्धान् करना सम्यक्त्व है और, अहो ज्ञानियो ! अहो जैनियो ! मस्तिष्क का भी अब निर्णय करना सीखो। जब ज्ञान बढ़ जाता है न, तो हेय-उपादेयपना अपने-आप समझ में आने लगता है। प्रारम्भ में रूढ़ि ही स्वीकारना अच्छा है। जब तक मार्ग पर लगा नहीं। मार्ग पर लग जाए, तो फिर और दिखना प्रारंभ हो जाता है। उस तत्त्व को पकड़िये।

माँ ! हाथ की रोटी दे दो। हाथ की भी रोटी होती है? हाँ ! जिसे बेलन से नहीं बेला जाता, हाथ से ही बनाया जाता है, वह हाथ की रोटी है। इस हाथ की रोटी में बड़ा गहरा तत्त्व है। वह रोटी किसकी थी? गेहूँ की, बाजरा की? ज्वार की, देखो, रूढ़ि कैसी है? आटे की रोटी हो, तो आप गेहूँ की रोटी समझ लेते हो। हे माँ ! जब आप बेलन से रोटी बनाती हो, तो उसमें पानी नहीं लगाती, उसमें सूखा आटा लगाकर बेलती हैं। सुनते जाना, नहीं तो सोचो, कि महाराज क्या बता रहे हैं। हे ज्ञानी ! आप रोटी जानते हो, इसलिए रोटी का दृष्टान्त दे रहे है; पर आप जिसे नहीं जानते, उसे बताने के लिए बेलन से रोटी बना रहे है! तो आटा लगाते हो। हाथ से बनायेंगे, तो पानी लगाते हो। अब बताओ कि रोटी बनाने के लिए पानी उपादेय है, कि आटा ?

भूतार्थ क्या है, अभूतार्थ क्या है ? पानी को फेंक मत देना, आटे को फेक मत देना। निश्चय भूतार्थ है, कि व्यवहार भूतार्थ है। आटा लगा-लगाकर बेल रहे थे, तब आटा भूतार्थ था। इधर पानी लगाकर हाथ से बना रहे थे, तब पानी भूतार्थ था। पानी और आटे का काम समान था, कि नहीं, यह निर्णय करो। ध्यान दो, एक ही रोग में विपरीत औषधियाँ भी काम करती हैं। पानी और आटे दोनों से रोटी बनती है। गहरी बात है, सोचना पड़ेगा। पुस्तकों से पुस्तकें नहीं लिखी जातीं, मस्तिष्क से लिखी जाती हैं। जो पानी से रोटी बन रही थी, वही आटे से बन रही है। दोनों का काम क्षुधा का निवारण है।

जब रोटी सिक जाती है, तो न पानी उपयोगी, न आटा उपयोगी। फिर तो रोटी ही उपयोगी है। निश्चय यदि पानी है तो व्यवहार आटा है, व्यवहार यदि पानी है तो निश्चय आटा है। दोनों से बनती है रोटी। रोटी बनने के बाद भूतार्थ है, आटा-पानी दोनों हेय हैं। रोटी भी भूतार्थ नहीं बची। जब पेट भर जाता है, तो रोटी भी गई। जब प्रातःकाल होता है तो रोटी का क्या होता है ?

बस, ज्ञानियो ! संयम का पालन उपादेय है, भूतार्थ है। संयम का पालन भी अभूतार्थ है, संयम स्वभाव जिसके लिए कर रहे थे, जब स्वभाव प्राप्त हो जाता है तो सिद्ध भगवान् संयमी है; कि असंयमी हैं ? अब धवला की भाषा बोलो, णो संयम, णो असंयम। असंयम कहोगे तो भगवान् कैसे ? सामान्य संसारी। संयमी कहोगे तो मुनिराज हैं। जबकि वे मुनिराज भी नहीं हैं और सामान्य संसारी भी नहीं हैं, वे तो सिद्ध भगवान् है। णो संयमी, णो असंयमी ये धवला की भाषा है, षट्खण्डागम की भाषा है ये मार्गणा स्थान, गुणस्थान, ये जीवसमास, ये सब संसारी में ही घटित करना। संसारातीत में न मार्गणा, न अमार्गणा।

द्रव्यश्रुत इतना गहरा है। भावश्रुत की गहराइयाँ समुद्र में मत खोजना, भीतर खोजना। आम को मुख से खाने में अच्छा लगता है, उसे देखकर ही आपका मन मुस्कराता है। और मुख में जैसे ही रखता है, फिर उसको दिखाकर खाते हो। पर जो आम की रसानुभूति है, उसे आप कह नहीं पाते। व्यवहार की भाषा



बोलने में अच्छा लगता है। निश्चय की भाषा बोलने में अच्छा लगता है। कहने सुनाने में अच्छा लगता है। पर जो अनुभूति लेता है, वह न कहने में अच्छा लगता है, न सुनने में अच्छा लगता है फिर तो जो होता है, सो होता है। द्रव्यश्रुत का पान करते-करते भी शांति है। आपका उपवास है, भीषण गर्मी में आपने एक बूँद पानी नहीं पिया, पर गीला कपड़ा लिए थे, तो शांति महसूस हो रही थी। हाथ में गीला कपड़ा लेने मात्र से सर्वांग में शीतलता महसूस करता है। हे भगवती वाणी ! कर्ण में आने से शीतलता आती है, तो अन्तःकरण में जाने से कितनी शीतलता होगी ?

गुण पर्याय का कभी निर्वयव विनाश होता ही नहीं है। जिस दिन विनाश मान लगे, उस दिन 'तद्भावः परिणामः' सूत्र समाप्त हो जायेगा।

स्मृति पहले (भूत) की होती है कि बाद (भविष्य) की ? पहले की होती है। पर इनको कैसे मालूम चल गया, कि हम भगवान बनने वाले हैं इन्हें स्मृतिज्ञान हो गया क्या ? जातिस्मरण हो गया क्या कि हमें अमुक क्षेत्र में तीर्थकर बनना है ? ऐसी कोई स्मृति नहीं होती कि आप भविष्य में क्या होने वाले हो। स्मृति ज्ञान भूत का होता है, जातिस्मरण भूत का होता है। भविष्य की तो भविष्यवाणी होती है निमित्तज्ञान होता है। आपने बीस साल पहले क्या किया था, वह कथन याद है पर्याय बदलती तो है, परन्तु पर्याय पर्यायी को छोड़कर परिपूर्ण नष्ट नहीं होती। यदि नष्ट हो गई परिपूर्ण रूप से, फिर यह कौन बता रहा है, यह धारा किसमें आ रही है ? पर्याय-संतति बोल रही है, पर्याय-संतति का विनाश नहीं हो रहा है। पर्याय नष्ट नहीं होती, परिवर्तित होती है। पर्याय नष्ट हो जायेगी, तो प्रत्यभिज्ञान किसमें होगा, धारणा किसमें होगी ? ज्ञान-गुण की पर्याय बदल रही कि नहीं ? एक तेरा मति-श्रुत ज्ञान केवलज्ञान को प्रदान कर देता है। किसी योगी को मति श्रुत ज्ञान से तत्त्व का बोध हो रहा था। उस योगी को केवलज्ञान हो गया, तो जो मति श्रुत ज्ञान से जान रहा था, उसे कैवल्य से जान पायेगा कि नहीं ? हाँ ! उसे जान रहा है कैवल्य से, आपको तो अपने बचपन की बातें भी याद रहती हैं। यह कौन झलका रहा है ? स्मृतिज्ञान है, जो आत्मा में धारणा नाम शक्ति है, वह शक्ति रखे हुए है। आप आज खेतों में यूरिया खाद मिट्टी में देते हैं, तो वह अन्न आपको क्यों बीमार कर रहा है ? क्योंकि अन्न में भी यूरिया खाद का असर होता है।

आज डॉक्टर पूछता है कि आपके परिवार में किसी को कोई बीमारी तो नहीं थी ? क्यों पूछता है ? क्योंकि जिस वंश में जन्म लिया है, उसके रक्त परमाणु आपमें हैं। आजकल तो ऐसी मशीन बन गई है कि आप अशुभ करके छुपा नहीं सकते। वह भी मालूम चल जाता है, कि वह बच्चा किसका है। जिस कुल में कोई त्यागी हुए हों, उस कुल को वंशानुगत प्रभाव होता है। उच्चकुल उसे कहा जाता है जिस कुल में मुनि दीक्षा हुई हो। जो दीक्षा लेने का पात्र है, वही कुल उच्च कुल है। ऐसा गोम्मटसार-कर्मकाण्ड, तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में लिखा है। आज आप प्रेक्टिकल में देख रहे हो। नीबू के वृक्ष के पास अनार का वृक्ष लगा दो, तो अनार के दाने भी खट्टे हो जाते हैं। ऋजुसूत्र नय से क्या लोकव्यवहार चल सकता है, परमार्थ चल सकता है क्या ? एक समयवर्ती पर्याय को ग्रहण करने वाले ऋजुसूत्र नय से कोई लोकव्यवहार नहीं चलता। पर्याय को नाश कहते हुए भी ऋजुसूत्र नय का ही विषय बनाइए, लेकिन अभावरूप विषय मत बनाइए। उत्पाद, व्यय का अर्थ द्रव्य की पर्याय का परिणमन है। ये पेन कल दूसरे रंग का था, आज दूसरे रंग का है। परिपूर्ण परिणमन नहीं हुआ। ऐसे ही आप आत्मा के द्रव्य-गुण पर्याय में ग्रहण करना। उत्पाद व्यय ध्रौव्य द्रव्य का लक्षण है व्यय वस्तु का नाश नहीं है, पर्याय का परिणमन है। नाश कर दोगे, तो उत्पाद-व्यय है, किसमें ? असामान्य

जाति पर्याय का अभाव हुआ है, लेकिन जो पर्याय में परमाणु हैं, वे विनाश को प्राप्त नहीं हुए हैं, यह भी ध्यान रखना। जो सिद्धरूप परिवर्तन हो चुका है। जो संसार की पर्याय थी, वे हमारी पुद्गल सापेक्ष थी। और जो मेरी मनुष्य पर्याय है, वह पुद्गल-सापेक्ष है। ये परमाणु अपने रूप में, भिन्न रूप में चले गये। जो मैं आज पुद्गल वर्गणाओं को भोग रहा हूँ, इन वर्गणाओं को कोई दूसरा भोगेगा, मेरी आत्मा शुद्ध हो जायेगी। और जो हमारी आत्मा में भाव अवस्था थी, उस भाव अवस्था का भी अभाव हो जायेगा। संसारी पर्याय जो भावरूप अनंत हुई है, उन संसारी पर्यायों का भी अभाव हो गया सिद्ध बनने पर। क्यों हो गया ? क्योंकि शुद्ध पर्याय में अशुद्ध पर्याय न द्रव्य रूप रहेगी, न भावरूप रहेगी, फिर ज्ञान कैसा ?

वे जो केवली भगवान जान रहे हैं, कि ये पूर्व में क्या था, कैसे जानेंगे ? उनके ज्ञान का इतना विराटपना है। अभावरूप पर्याय अभावरूप में दिख रही है, सद्भावरूप पर्याय सद्भावरूप में दिख रही है, और होनेवाली पर्याय उनके ज्ञान में झलक रही है। परन्तु माना कि आज हम पुरुष हैं और पूर्व की कोई देव पर्याय सर्वज्ञ के ज्ञान में झलके पर्याय ज्ञान रूप मात्र झलकेगी। उस भूत पर्याय का वर्तमान में अभाव है। केवलज्ञान में भूत पर्याय अभावरूप ही झलकती है। उनके ज्ञान में ऐसा भी था, जैसे कि एक मटका आपने सुबह देखा, और शाम को किसी ने उसे तोड़ दिया। उसकी द्रव्य पर्याय नष्ट हो गई, आकार नष्ट हो गया। वह घट नहीं है, पर आप देख चुके थे सुबह, तो आपके ज्ञान में दिख रहा है कि वह मिट्टी घटाकार थी। प्रागभाव प्रध्वंसाभाव। तो प्रध्वंसाभाव हो गया। सिद्धों में प्रागभाव क्या था ? सिद्धों में प्रागभाव बनाये बिना सिद्ध बना ही नहीं सकते।

**कार्यद्रव्यमनादि स्यात्प्रागभावस्य निह्वे ।**

**प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां ब्रजेत् ॥१०॥ आप्तमीमांसा ॥**

प्रागभाव नहीं बनाओगे, तो कार्य अनादिसिद्ध हो जायेगा। आपमें सिद्धपने का परिपूर्ण अभाव है यदि नहीं मानोगे तो कार्यद्रव्य मनादिस्थात्। सिद्ध कार्य है, वह अनादि-सिद्ध हो जायेगा। यदि आपकी इस पर्याय में देवपर्याय का प्रागभाव नहीं मानोगे, तो आप अनादि से देव हो जायेंगे।

अब चलो अर्थ पर्याय में। द्रव्य व्यंजन पर्याय, गुण व्यंजन पर्याय, स्वभाव व्यञ्जन पर्याय, विभाव व्यञ्जन पर्याय।

मैं जो जीवद्रव्य हूँ, व्यञ्जन पर्याय में। मनुष्य आदि हूँ विभाव व्यञ्जन पर्याय। तो विभाव-गुण-व्यञ्जन-पर्याय मति श्रुत ज्ञान है। स्वभाव गुण व्यञ्जन पर्याय और विभाव-गुण-व्यञ्जन-पर्याय एकसाथ नहीं रहेंगे। विभाव-गुण-व्यञ्जन-पर्याय में स्वभाव-गुण-व्यञ्जन-पर्याय नहीं रहेगी। स्वभाव-गुण-व्यञ्जन-पर्याय में विभाव-गुण-व्यञ्जन-पर्याय नहीं रहेगी। भावों की पर्याय तो होती है, पर परभाव पर्याय नहीं होती है। पर्याय में इन्द्रियों हैं, पर इन्द्रियों की कोई पर्याय नहीं होती। जो भावइन्द्रिय है, द्रव्यइन्द्रिय है, वह जीव का विभाव भाव है। भाव इन्द्रिय आत्मा का संचित स्वभाव है, द्रव्य इन्द्रिय तो आत्मा का स्वभाव है ही नहीं। जब तत्त्वार्थसूत्र मोक्ष की बात करेगा, तो भव्यत्वभाव, का भी अभाव होता है, औदयिक भाव का भी अभाव हो जाता है, मात्र जीवत्वभाव शेष रहता है। हम व्यवहार में बोल देते हैं, भव्यत्व भाव का अभाव सिद्धत्व भाव। पर ध्रुव सत्य यह है कि भव्य उसे कहते हैं, जो सिद्ध बनने की क्षमता/योग्यता रखता है, वह रत्नत्रय को पालने की योग्यता रखता है। जिस जीव ने रत्नत्रय का पालन कर लिया, निर्वाण को प्राप्त हो गया, भव्यत्व भाव का अभाव हो गया। अब सिद्धत्व भाव आ गया। यहाँ सिद्धत्व भाव से जीवभाव लेना। अब

जीवभाव से परिणाम को हटा दो, यहाँ भाव का अर्थ पदार्थ लेना है। जो संसार में जीव नाम का पदार्थ भव्यत्व रूप में था, वह सिद्धत्व रूप में आ गया, शुद्ध व्यञ्जन पर्याय में आ गया। यह भाषा बोल रही है। न आया, न गया; जो विभाव भाव था, वह नष्ट हो गया, और जीव वही है। जो मिट्टी का लोढ़ा था, वह ईंट में आ गया। आया कि गया ? न आया, न गया ; परिवर्तित हो गया। जो आत्मा विभाव में थी, वह आत्मा स्वभाव में आ गई। न आया, न गया, नही बदला।

जीव का विनाश नहीं हुआ। भाव पर्याय नाम की कोई पर्याय नहीं है। भावइन्द्रिय, द्रव्यइन्द्रिय। उसका ही हम पर्याय में उपचार करें, तो जो संसारी जीव हैं, वही संसारी जीव मुक्ति को प्राप्त होता है। तो जो संसार की पर्याय थी, वह असमान-जाति पर्याय परिपूर्ण समाप्त हो चुकी है। पहले व्यञ्जन को नष्ट करा दो। अब चलो भाव पर। जब तक मोह था, राग था, तब तक भाव था, विभाव था। राग गया, मोह गया, भाव इन्द्रियाँ भी गई। अरहंत के द्रव्यइन्द्रियाँ तो होती हैं, परन्तु भाव इन्द्रियाँ पहले गई। भाव इन्द्रियाँ समाप्त तो भव समाप्त, वैसे ही द्रव्य इन्द्रियाँ समाप्त। मोह समाप्त होते ही भाव इन्द्रियाँ समाप्त। और भव समाप्त होते ही द्रव्य इन्द्रियाँ समाप्त।

अब प्रश्न यह है इनका, कि सिद्ध भगवान् पर्याय कहाँ से देखेंगे ? प्रागभाव का अर्थ है कि भविष्य की पर्याय का वर्तमान में अभाव। यदि भविष्य की पर्याय का वर्तमान में अभाव नहीं मानोगे, तो कार्य अनादि से सिद्ध है, फिर करने की क्या आवश्यकता ? और प्रध्वंसाभाव कह रहा है, कि जब वर्तमान पर्याय नष्ट नहीं होगी, तो भविष्य की पर्याय होगी कैसे ? प्रध्वंसाभाव ने संसार का नाश करा दिया और प्रागभाव ने सिद्ध पर्याय को प्रकट करा दिया। अब वह जीव द्रव्य में त्रैकालिक परिपूर्ण रहेगी जो संसार में था, उस संसार पर्याय का प्रध्वंसाभाव, सिद्धपर्याय का प्रागभाव। जो सिद्ध बन गया, अब उसमें चार अभाव लगे, कि नहीं ? ऐसा प्रश्न करो। अवतार नहीं हुआ। नया जन्म माने, जो जीव को त्रैकालिक न माने। केवली भगवान् के ज्ञान में सब झलक रहा है, भूत-भविष्यत त्रैकालिक पर्यायें। जो पर्याय नष्ट हो चुकी हैं, वे हमारी आत्मा के लिए नष्ट हो गई हैं, पर केवली के ज्ञान के लिए नहीं नष्ट हुईं। अगर आप इसे किंचित भी मानोगे, तो सिद्ध पर्याय में अशुद्ध पर्याय मानना पड़ेगी। प्रध्वंसाभाव कर दिया, अन्योन्याभाव हो गया प्रागभाव हो गया। अब अत्यन्ताभाव। कर्मों का आत्मा से अत्यन्ताभाव हो गया है, तब सिद्ध बना।

फिर झलकेगा किसके आश्रय से ? हे ज्ञानी ! तुम सिद्धों में इन पर्याय का आश्रय लगाओगे, तो संसारी नहीं हो जायेंगे। जो पर्याय आपने प्रगट की है, जो पर्याय आपकी थी वे परमाणु थे कर्म के। वे झर गये, वे दूसरे के उपयोग में आ गये, आप तो स्वतन्त्र हो गये।

असमानजाति पर्यायों की बात कर रहे हैं। अब गुणपर्यायों में आ जाओ, व्यञ्जन पर्याय को छोड़ दो। जो हमारी विभाव-गुण-व्यञ्जन पर्यायें थी, वे ही स्वभावरूप परिणत हो गईं, जो आम कच्चा था, वह ही पका है। द्रव्य, गुण, पर्यायें जो अशुद्ध थी, वे ही शुद्ध हुई हैं। मति-श्रुत ज्ञान ये पर्याय थी, पर ज्ञान धौव्य था, एकसमान था।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

५ ५ ५

आचार्य भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी समयसार जी ग्रन्थ में भूतार्थदृष्टि, अभूतार्थदृष्टि, भेददृष्टि, अभेददृष्टि, सत्यार्थदृष्टि-असत्यार्थ दृष्टि का कथन कर रहे हैं।

सत्य है कि दृष्टि ही बदल पायेंगे। वस्तु नहीं बदल पायेंगे, वस्तु का परिणामन अपने स्वभाव में त्रैकालिक है, तत्त्व के प्रति विपरीत श्रद्धान हो भी गया; तो उस विपरीत श्रद्धान से तत्त्व विपरीत नहीं होता। तत्त्व तो जैसा है, वैसा ही होता है। विपरीत श्रद्धान से आपकी परिणति विपरीत होती है। कभी डरना नहीं, भयभीत नहीं होना, कि, अहो ! इतने लोग विपरीत श्रद्धान करने लग गये, अब तत्त्व का क्या होगा ? निर्भय रहो। वे विपरीत श्रद्धान करके स्वयं का ही विपर्यास कर रहे हैं। तत्त्व कभी विपरीत होता नहीं है। आप हमारे तत्त्व को विपरीत करने के मद को भूल जाओ, आप हमारे तत्त्व का विपर्यास नहीं कर रहे हो, परन्तु हमारी आत्मा को आप विपर्यास करके अशुभ की ओर ले जा रहे हो। तत्त्व तो जैसा है, वैसा ही है। आप कभी खिन्न (दुखी) तो नहीं हो जाते, कोई जीव धर्म से पतित हो गया, तो कुछ लोग दुखी होने लगते हैं, कि अब धर्म का क्या होगा ? अरे भैया ! धर्म का कुछ नहीं बिगड़ा, उस अज्ञानी ने स्वयं का ही पतन किया है, धर्म तो पावन है। इसी प्रकार से असत्यार्थ को सत्यार्थ कहे, और सत्यार्थ को असत्यार्थ कहे, ऐसा कहने वाला वहीं विपर्यास को प्राप्त हो रहा है, पर ज्ञानी। तत्त्व तो जैसा है, वैसा है। यह श्रद्धान कभी भूल मत जाना, इसे कभी छोड़ मत देना। इसी बात को आचार्य भगवान् जयसेन स्वामी कह रहे हैं। सम्यक् तत्त्व पर श्रद्धान करना ही सम्यक्त्व है। मिथ्यातत्त्वों पर श्रद्धान करना सम्यक्त्व नहीं है। उन तत्त्वार्थों का सत्यार्थ तो यह है, कि तत्त्व तो सत्यार्थ ही है। पर सत्यार्थ तत्त्व का किसी ने विपर्यास करके कथन कर दिया हो, तो उस विपरीत कथन पर श्रद्धान नहीं कर लेना। यह है सम्यक् तत्त्व। उस जीव तत्त्व में विश्व के सम्पूर्ण जीव आ गये। अजीव तत्त्व में जगत् के सम्पूर्ण अजीव आ गये। दो ही तत्त्व हैं। अब उन दो तत्त्वों का ऐसा विपर्यास कर देना, जीव की उत्पत्ति पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चार भू चतुष्टय से कहने लग जाना यह तत्त्व का विपर्यास है। ऐसे श्रद्धान नहीं कर लेना। अथवा जो सात तत्त्व जिनागम में कहे हैं; उन सात तत्त्वों की परिभाषा को विपरीत कर दे कोई, जो जो कथन विपरीत किया है, उस कथन पर श्रद्धान नहीं कर लेना। दस इन्द्रियाँ गिनाई लोगों ने, जबकि पाँच इन्द्रियों में दस इन्द्रियाँ समाविष्ट हैं। एक स्पर्शन इन्द्रिय को ही लोगों ने कितने भागों में बाँट दिया। इस प्रकार ये विभिन्न लोगों ने अपने-अपने अनुसार तत्त्वों की प्ररूपणा की है। उन तत्त्वों की प्ररूपणा को सुनकर ज्ञानी जीव भटक न जायें, इसलिए कुतत्त्व कह दिया। लेकिन ध्यान रखना, स्वभाव दृष्टि से तत्त्व तो तत्त्व ही है, तत्त्व के दो अर्थ हैं, तत्त्व यानी स्वरूप, तत्त्व यानी परमात्मा। जो पदार्थ का स्वरूप है, वह तत्त्व है, परन्तु परमात्मा अर्थ कैसे निकलेगा, जीव द्रव्य है, उसका स्वभाव शुद्ध स्वभाव है, कर्मातीत है। जीव द्रव्य की जो कर्मातीत पर्यायें हैं, वही तो परमात्मा है। शुद्ध पर्याय ही जीव का शुद्ध कार्य है शुद्ध पर्याय ही पुद्गल द्रव्य का शुद्ध कार्य है, जीव की पूर्व क्षणवर्ती पर्यायें कारण है, और उत्तरक्षणवर्ती पर्यायें कार्य है। भद्र मिथ्यात्व कारण है, और सम्यक् का प्रगटीकरण कार्य है। पूर्वक्षण, उत्तरक्षण, पूर्व पर्याय, उत्तर पर्याय। जो पूर्व पर्याय है, वह कारण समयसार है, और जो उत्तर पर्याय है, वह कार्य समयसार है। अरहंत-अवस्था कारण-समयसार है, सिद्ध-अवस्था कार्य-समयसार है। मिथ्यात्व गुणस्थान में भी कारणपना है। ऐसा क्यों ? भद्र मिथ्यादृष्टि की जो कषाय की मंदता है, परिणामों की विशुद्धता है, वही सम्यक्त्व का कारण है, न कि मिथ्यात्व कारण है।

यदि समयसार जैसे गंभीर तत्त्व को समझ रहे हैं तो किसी भी जीव के प्रति अशुभभाव नहीं लाना। यही कारण बन कर कार्य के रूप में परिणत होगा। हे भगवान् आत्मा ! जो मारीचि था, वही तो महावीर बना है। मारीचि की पर्याय और परिणाम अशुभ थे, द्रव्य वही था। उस द्रव्य के प्रति अशुभ भाव मत लाइये, वह

द्रव्य न होता तो आज महावीर निर्वाण महोत्सव किसका होता ?

हे मुमुक्षु ! वर्द्धमान का जीव मारीचि की पर्याय में तत्समय में वर्द्धमान नहीं था, तो भी मारीचि के प्रति अशुभ भाव नहीं लाना। क्यों ? उसको अशुभ मत कहो, अशुभ उसके परिणामों की दशा थी। अशुभ उसका मिथ्यात्व था, अशुभ प्रत्यय थे। समयसार यों कहेगा -

**मिथ्या दर्शनाऽविरति-प्रमाद-कषाय-योग बन्ध-हेतवः ॥ तत्वार्थ सूत्र- अ.८सू.१॥**

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग जो बन्ध के कारण हैं वे आत्मा का स्वभाव नहीं हैं। कर्म का मिश्रीकरण न होता, तो आत्मा मिथ्यादृष्टि कैसे ? संभल कर सुनना यह समयसार है। आप उद्देश्य विपरीत मत समझना। मिथ्यात्व को मारीचि की पुष्टि नहीं समझ लेना, क्योंकि जिस ग्रन्थ को विराजे हुये हैं न, उस ग्रन्थ की ऊँचाइयों को स्पर्श करो। मिथ्यात्व कर्म सापेक्ष है, अविरति आदि कर्म सापेक्ष हैं, परन्तु आत्मा कर्म-निरपेक्ष है।

हे ज्ञानी ! समयसार की भाषा सुनो। आत्मा मिथ्यात्व नहीं है। आत्मा कर्म या नो कर्म नहीं है। आत्मा की बन्ध दशा ये सबकुछ है। जब भी तू मोक्ष जायेगा, घोर मिथ्यादृष्टियों के बीच में भी रहेगा, लेकिन तब भी उसकी मिथ्यात्व पर्याय को नहीं देख पायेगा। हे वर्द्धमान ! आपके मध्य में कितने मिथ्यात्वी थे, यदि मिथ्यात्वियों को निहारते रहते, तो भगवान् नहीं बन पाते। ध्यान दो, जब तुम सराग दशा में हो, तभी वीतराग धर्म का व्याख्यान करना, और जब तुम वीतराग होने लग जाओ, तब वीतराग धर्म का भी राग छोड़ देना। वीतराग धर्म का राग भी वीतरागता को रोक कर रखेगा। लेकिन जब तक परम वीतरागदशा प्राप्त नहीं हुई हो, तब तुम मिथ्यात्व के राग को छोड़ देना और वीतरागता में अनुराग रखना। इसलिए जो मारीचि की पर्याय थी, जीव उस मारीचि की पर्याय के जो मिथ्यात्व रूप परिणाम थे, वे परिणाम हेय हैं, पर मारीचि का द्रव्य हेय नहीं है। जो होता है, वह मारक होता है, कि तारक होता है ? यदि गंधक को मुख में रख लिया जाये, तो बताने नहीं आ पाओगे कैसा था ? लेकिन उस के लिए भी गाय के घी में शोधा जाता है। पर बिना वैद्य के शोध नहीं पाओगे, वह सभी थाली में नहीं, काँसे की थाली में शोधा जाता है। काँसे की थाली में घी में फेंट-फेंटकर शोधा गया, और कितनी बार पानी से धोया गया और उसी गंधक को खाने वाले के चर्म रोग दूर हो जाते हैं, जिसे मारक कहाँ जा रहा था, वह तारक हो गया। जैसे गंधक की मारक शक्ति को गाय के घृत से नष्ट कर दिया, ऐसे ही मिथ्यात्व की जो शक्ति थी, उसको हमने सम्यक् शक्ति से क्षीण कर दिया, और जो आत्मा मिथ्यादृष्टि थी, संसारी थी, वह आत्मा भगवान् आत्मा हो गई। यह शक्ति थी समयसार जिसे आचार्य कुन्दकुन्द देव ने लिखा था। आचार्य भगवान् कुन्दकुन्द देव वैद्य शास्त्र के भी ज्ञाता थे। ऐसा कोई सुधी आचार्य नहीं होता, जो आगम के रहस्यों को न जानता हो, आत्मा के स्वरूप को समझाने के लिए पौद्गलिक द्रव्यों की ही आवश्यकता पड़ती है। पुद्गल का आश्रय लिए बिना आत्मा को समझाया नहीं जा सकता। दृष्टान्त जितने भी दिये जा रहे हैं सभी पौद्गलिक हैं। इसलिए परम सत्य तत्त्वों पर श्रद्धान करना और जब सम्यक्त्व प्राप्त हो जाये, तब तू स्वयं आत्मतत्त्व को ही निहारेगा, तो सम्पूर्ण तत्त्व अभूतार्थ हो गये, यहाँ तक कि भगवान् की जो आत्मा थी, वह भी अभूतार्थ है। जिसके श्रद्धान से सम्यक्त्व को प्राप्त हुए हो, जब सम्यक्त्व के स्वरूप में लवलीन हो गया, तब भगवान् का श्रद्धान भी तेरे लिए अभूतार्थ है।

हे नाथ ! आप पर श्रद्धान करना सम्यक्त्व है, पर आप मेरे सम्यक्त्व नहीं हैं। मेरा सम्यक्त्व तो मैं ही हूँ। आप मेरे सम्यक्त्व हो जायेंगे, तो मेरे में आपका अंश आ जायेगा। मेरे में आपका अंश आ जायेगा, फिर

तो बड़ा आनन्द मुझे आयेगा। फिर मैं भी एक देश सिद्ध भगवान की अनुभूति लूँगा। परन्तु ईश्वरवादी हो जाऊँगा। मिथ्यात्व में चला जाऊँगा, इसलिए, हे परमेश्वर ! आपका अंश मात्र भी मेरे अन्दर नहीं है। मित्यादृष्टि राग की तीव्रता में ऐसा कहता है कि तन दो है; पर आत्मा एक है।

राग की तीव्रता देखो कि पति कहता है कि मेरी पत्नी का शरीर मात्र ही भिन्न दिखता है, परन्तु हम दोनों की आत्मा तो एक है और शिष्य कहे कि मेरे गुरु की और मेरी आत्मा तो एक है। घोर मिथ्यादृष्टि। हे ज्ञानियों ! जीव-जीव द्रव्य में अत्यन्ताभाव है कि नहीं ? स्नेह की भाषा भी प्रमाद है। स्नेह अनंतानुबंधी रूप हो जाये तो मिथ्यात्व है। ये पन्द्रह प्रमाद छठवें गुणस्थान तक चलते हैं। तो फिर वहाँ कषाय को भी साथ लेना पड़ेगा। यदि स्नेह संज्वलन के साथ है, तो यथाख्यात का घातक है। यदि स्नेह प्रत्याख्यान के साथ है, तो किसका घात करेगा ? सकल चारित्र का। स्नेह अप्रत्याख्यान के साथ है, तो देशचारित्र का घात करेगा और यह स्नेह अनंतानुबन्धी के साथ है, तो सम्यक्त्व का घात करेगा। इसलिए ध्यान दो यह मत कहना कि मैं स्नेह में बोल रहा हूँ, पर आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी कहेंगे -

**विकहा तहा कसाया इंदियणिद्वा तहेव पणयो य ।**

**चदु चदु पणमेगेगं होंति पमादा हु पण्णरस ॥ गो.जी. ॥३४॥**

चार विकथाएँ, चार कषाय, पाँच इन्द्रियों के विषय निन्द्रा, स्नेह ये पन्द्रह प्रमाद हैं। ये प्रमाद हो जायें, तो प्रायश्चित ले लेना, लेकिन प्रायश्चित लेने में प्रमाद नहीं करना। आ रहा है जो स्नेह, इसे दोष मानना, गुण नहीं।

हे ज्ञानी ! बहुत गम्भीरता में करणानुयोग सोचो। सबको गौण कर दो, राग-द्वेष दो पकड़ो। फिर राग-द्वेष के भंग बनाइए, दो कषाय रागरूप, दो कषाय द्वेषरूप, क्रोध व मान द्वेष, रूप, माया व लोभ रागरूप। उस राग और द्वेष में अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, सज्ज्वलन को घटित कीजिए। इसलिए जो आपका राग चल रहा है, स्नेह है, वह भी राग है। वह स्नेह आपका छः महीना क्या हजारों वर्ष तक चले, पर किस कषाय के साथ चल रहा है, इतना ध्यान दो। श्रीराम-लक्ष्मण के शव को लिए घूम रहे थे। वे द्वेष से घूम रहे थे कि राग से ? राग से घूम रहे थे, कौन-सी कषाय थी ? अप्रत्याख्यान जैसे ही छः महीने हुए, संस्कार किये। आजकल के लोगों ने क्या मान रखा है, कि क्रोध दिख जाये, बस वो कषायी है और कितना लोभी है, रागी है, मानी है, मायाचारी कर रहा है, उसे नहीं देखते। बाहर स्थूल दिखता है, सूक्ष्म नहीं दिखता है। मेरा तो सिद्धान्त है, कि कोई किसी की प्रशंसा करे, पूछ लेना कि खाता क्या है। यदि अभक्ष्य खाता है तो, उसकी प्रशंसा नहीं करना। कोई किसी की प्रशंसा करे, तो पूछना घर में स्त्री है कि नहीं। यदि स्त्री है, तो मेरी श्रद्धा का पात्र नहीं है, पूरा चारित्र वहाँ टिका हुआ है। सम्पूर्ण परिग्रह, सम्पूर्ण कुशील, सम्पूर्ण मायाचारी, सम्पूर्ण छल छिद्र उसके पास मौजूद है, जो स्त्री का पालन कर रहा है। आपको बुरा तो नहीं लग रहा ?

किसी ने शीलव्रत को धारण कर लिया, फिर तो आप सही मानोगे न ? मात्र एक प्रवृत्ति के लिए अच्छे हो सकते हैं; शील के पालन के लिए। यदि आप स्त्री का पालन कर रहे हो, तो अन्य का पालन करोगे कि नहीं ? जब तक गृहत्याग नहीं हुआ, तब-तक परिणामों में संयमाचरण रूप परिणाम नहीं होते, गृहकार्यों में अनेक प्रकार के कषाय भाव के निमित्त प्राप्त होते हैं। कषाय के काल में विवेकशून्य हो जाता है जीव।

कषाय के आवेग में संयम तो शीघ्र ही गया, सम्यक्त्व भी चला जायेगा। आवेग को रोके रखना।

व्यवस्थाएँ तो व्यवस्थाएँ हैं, चाहे देश की, राष्ट्र की, घर की हों। व्यवस्थाएँ आत्मा की अवस्था नहीं हैं। ध्यान दो, घर चलाते हैं आप लोग। विद्यार्थी जीवन प्रारम्भ हुआ नहीं, कि अनेकों की चिन्ताएँ शुरू। स्वतन्त्रता का ज्ञान नहीं है। जबकि एक गहरा निर्णय होना चाहिए था। अब पुनः कहता हूँ, एकमात्र निर्णय कर लो, मैं स्वतन्त्र हूँ। भाग्य होगा, तो भगवान् भी बनते हैं। ये पुद्गल के टुकड़ों के पीछे अपनी स्वतन्त्रता क्यों खो रहा हूँ? जबकि वह परम स्वतन्त्र पुद्गल, कभी आपको अपना कहता नहीं। पर, अहो रागी, मोही आत्माओं! पुद्गल को अपना कह-कह कर, अपने परमात्मा को खो रहे हो। पुद्गल ने आज तक किसी भी जीव से नहीं कहा, कि मैं आपका हूँ, आप मेरे हैं! धन्य हो राग तेरी महिमा। कितनों को अपना कहता है। जगत में सबसे बड़ा कोई भोगी है, तो जीव है। छहों द्रव्यों का उपभोग कर रहा है, जबकि पाँच द्रव्यों में उपयोग ही नहीं है। फिर तू ऐसा उपयोगमयी आत्मा है, कि छः द्रव्यों का उपभोक्ता है। स्वतन्त्र हो, कि नहीं? स्वतंत्र हो फिर परतंत्र क्यों? स्वतंत्रता तो स्वभाव है ही तेरा, परतन्त्रता कर्म-सापेक्ष है। मैं भी स्वतंत्र, तू भी स्वतंत्र, पुद्गल भी स्वतंत्र, छहों द्रव्य स्वतंत्र, फिर बन्ध किसमें है?

विभाव-विभाव कहते-कहते कब तक संतुष्ट रहोगे? क्या करूँ विभाव है? विभाव है, कि विकार है? क्यों? विकार न हो तो विभाव कैसा? विकार हटा लो, तो विभाव हट जायेगा। जब आप पाँच रुपये की सब्जी लेने जाते हो, तब मालूम चलता है, कि वस्तुस्वरूप कैसा है। सब्जी मंडी में इनका भेदविज्ञान मालूम चलता है, जब भाजी बेचनेवाले से मोलभाव चलता है। पाँच नहीं, तीन रुपये ले लो। बोले, क्यों ले लो? आप ऐसा क्यों करते हो? वह सब्जी वाला ठगता है। अरे! आप तो चौबीस घण्टे ठग रहे हो, और क्या सोचते हो, इस भाजी वाले को मैं ठग कर आता हूँ। पर ध्रुव सत्य है कि ठगा कौन गया था? पाँच रुपये की सब्जी को तीन में लेकर आया है, ठगा कौन गया? आप ही। अभी कुशलता का ज्ञान नहीं है। जिस दिन कुशलता का ज्ञान हो जायेगा, तब पता चलेगा कि कुशल कौन था। वह सब्जी वाला था, कि आप थे। पाँच की वस्तु को तीन में लाये हो। तो घर में क्या कहते हो बेटे से कि तू नहीं जायेगा, तू ठग कर आ जायेगा, मैं जाता हूँ। बेटा पाँच की सामग्री पाँच में लाता, वो ठग कर नहीं आता, तुम ही ठग कर आये हो, क्योंकि उसके साथ मायाचारी करके आये हो। कर्म का आश्रव किसे हुआ है? आपको।

जिस दिन समयसार की कुशलता समझ में आ जायेगी, उस दिन घर के काम बदल जायेंगे। इसलिए घर-घर में समसयार होना चाहिए। ग्रन्थ का पाठ मात्र नहीं, उसकी गहराईयाँ होना चाहिए। बताओ सही है, कि नहीं। अब आप स्वयं को समझाओ, कि जीवन भर में कितने लोगों के साथ मोलभाव किया, जबकि आपको मालूम था, कि वह वस्तु इतने की ही है। हिंसा भी की, कम दिये, चोरी भी की लोभ कषाय के वश होकर। निज स्वभाव से च्युत हुआ, परभाव में स्मरण किया, अब्रह्म भाव है, कुशील भी हो गया। परिग्रह संज्ञा के वश अज्ञाप्राणी परद्रव्य में ममत्व कर परिग्रह नाम के पाप में लिप्त हुआ।

हमने बंध को कुशलता से स्वीकार लिया। कुशलता का अर्थ तो पुण्य था। कुशलता, कुशल, कुशल कर्म, अकुशल कर्म। प्रमाद का नाम अकुशल है, और अप्रमत्तदशा का नाम कुशल है। आपने कुशल का अर्थ कर लिया, पर की वंचना। स्वयं की वंचना को कुशलता घोषित कर दिया लोक में। घर में बढ़िया चटनी के साथ सुबह की रोटी शाम को खा रहा था, और चिन्तन कर रहा था। मैं अबध्य हूँ, मैं अस्पर्श हूँ, मेरा इसमें कोई बन्ध नहीं है। राग में नहीं बंधा है, तो खा क्यों रहा है? जगत का बड़ा विपरीत परिणाम है। स्वभाव को स्वभाव में निहारते हुए स्वभाव में जाना भी चाहिए, और स्वभाव को जानते हुए, विभाव की पुष्टि करना,

स्वभाव के साथ विपर्यास है। आप मेरी भाषा समझ रहे हो ? मैं नहीं बोल रहा, हृदय बोल रहा है, जो मैं लोक में देख रहा हूँ। एक जगह तो इतना खोटा दृष्टांत दे डाला, किसी ने किसी के साथ अशुभकर्म किया। दो लोग झगड़ रहे थे, एक ज्ञानी आकर कहता है, क्यों लड़ते हो? ये पुद्गल का परिणमन पुद्गल में हुआ था, तुम विवाद को छोड़ दो। हे ज्ञानी ! तूने कुशील-जैसे पाप को बढ़ावा दे दिया। उसको यँ भी कह सकता था, एक कषाय के आवेश में तू विकार कर बैठा। बंध तो कर ही लिया, अब झगड़ कर और नवीन कर्म का बंध क्यों कर रहे हो ? इस भाषा से सिद्धान्त बच जाता। ऐसा क्यों नहीं कहा ? इसमें आपने दोनों विभावों से हटने की चर्चा की, उस शब्द ने उसकी पुष्टि कर दी। ईश्वरवादी क्या बोलता है? भगवान् की जैसी इच्छा थी, वैसा हो गया। कर्मवादी भी कहता है, करणानुयोग वाले भी विपर्यास करते हैं। कि वेद कर्म का उदय था, तो ऐसा हो गया। धिक्कार हो। वेद कर्म के उदय से ऐसा हुआ है, तो संयम किसके उदय से होगा ? तीसरा मिथ्यादृष्टि कहता है, पुद्गल का परिणमन पुद्गल में हो गया। पुद्गलवादी मिथ्यादृष्टि। इन सब पर गौर कीजिए। यँ कहना चाहिए, हे ज्ञानी ! तू क्यों विकारी भाव करके कर्मबन्ध कर रहा है? विकारों को छोड़ दो।

**कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धांशुरूपतः ।**

**तच्च कर्मस्वहेतुभ्यो जीवास्ते शुद्ध्यशुद्धितः ॥ ९९ आप्त मीमांसा ।**

कामादिक के प्रभाव से कर्मबन्ध होता है। एक ज्ञानी ने पुस्तक में क्या लिखा? पानी के छानने से क्या होता है, अपनी आत्मा को छानो, यानी इस शब्द ने अज्ञानियों जैसे को टग लिया। आत्मा छानूँगा, और जो पानी छान कर पीता था, उसे छोड़ दिया। अरे, भाषा सुधारिए, ऐसा कहो। हे भगवान आत्मा ! पानी छान-छानकर पीता है, वैसे ही परिणाम भी छानना चाहिए। इस शब्द से चरणानुयोग भी बचा, द्रव्यानुयोग भी बचा। बड़े संभलकर बोलने की आवश्यकता है। एक क्षण में सिद्धान्त बदलता है, टूटता है। हमारे बोलने मात्र से किसी ने विपर्यास करना शुरू कर दिया, विश्वास रखना, कोटी-कोटी पाप का आस्रव करेगा। पर के भव भ्रमण का साधन नहीं बनना। इसलिए कम ज्ञानी कहलाना श्रेष्ठ है, परन्तु विपरीत ज्ञानी होकर बहु ज्ञानी होना श्रेष्ठ नहीं है।

**अज्ञानान्मोहतो बन्धो नाज्ञानाद्गीतमोहतः ।**

**ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहान्मोहिनोऽन्यथा ॥ ६८ आ.मी. ॥**

अल्पज्ञान भी मोक्ष का कारण है, यदि मोह रहित है तो। बहुज्ञान भी संसार का कारण है, यदि मोह सहित है तो। इसलिए ध्यान दो, अल्पज्ञानी होकर श्रद्धान श्रेष्ठ है, तो मोक्ष का साधन है। श्रद्धान विपरीत है, तो ग्यारह अंग का ज्ञान भी भव में भटकाने का कारण है। अभव्य जीव भी ग्यारह अंग का ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

अभेद उपचार से, सम्यक्त्व विषय होने से, जीवादि तत्त्व सम्यक्त्व नहीं है, जीवादि तत्त्व सम्यक् के विषय हैं, कारण हैं। कारण में कार्य का उपचार करके उनको भी सम्यक्त्व कहा है। जैसे, लिखा होता है न 'जल ही जीवन है', 'अन्न ही प्राण है' जीवन धारण का साधन होने से जल को भी जीवन कहा जाता है। अन्न से प्राणों की रक्षा होती है, इसलिए अन्न को भी प्राण कहा जाता है। इसी प्रकार से सात तत्त्व सम्यक्त्व की उत्पत्ति के साधन हैं। निश्चय से तो परिणाम ही सम्यक्त्व है। आप पूजा कर रहे थे, इतने में किसी ने किसी से कहा, अमुक व्यक्ति बहुत धर्मात्मा है। यह क्यों कहा ? पूजा को देखकर। पुण्य को देखकर आपने उसे धर्मात्मा कह दिया। पर ध्रुव सत्य है, कि पूजा पुण्य की क्रिया थी। क्रिया में ही कर्म का उपचार किया,



पाठ अपने ही मंदिर में कर रहा है। द्रव्य- मिथ्यात्व से बच गया, इतना तो अच्छा है। पर समयसार कहेगा, कि बिल्कुल अच्छा नहीं है। अपने स्वरूप में रहना,

तो सात तत्त्व सम्यक्त्व नहीं हैं, सम्यक के साधन हैं। यद्यपि नौ पदार्थ को भूतार्थ कहा है, फिर भी अभेद रत्नत्रय लक्षण निर्विकल्प समाधि के काल में अभूतार्थ हो जाता है। ऐसा विशद वर्णन जैसा आगम कह रहा है, वैसा वक्ता करता चला जाये, तो कहीं भी विकल्प/ विवाद नहीं आयेंगे। आगम में विवाद नहीं है, आगम तो अविस्वादी है। व्यक्ति के निजी सोचों में विस्वादाद है, समयसार में कोई विवाद नहीं है। इतने दिन हो गये इस ग्रन्थ को सुनते-सुनते, आपको कभी महसूस हुआ, कि इसमें कोई विस्वादाद की बात लिखी है? इस ग्रन्थ में कहीं विस्वादाद नहीं, वह अविस्वादी है। निजानन्द का ग्रन्थ है। इसका मतलब है, कि ग्रन्थिधारी ने राग की ग्रन्थि में विस्वादाद करा दिया। कहीं खींच देते सत्य है, कहीं खींच देते असत्य है। दोनों नय कहिए, कारण व कार्य। जब हम कारण की अपेक्षा कहेंगे, तो सत्य है, परन्तु कार्य की अपेक्षा असत्य है। प्रथम सीढ़ी सत्य है, कि असत्य ? सत्य है। पर ऊपर को चढ़ जाओ तो ? अप्रयोजनभूत हो गई, असत्य है। लेकिन अभाव किसी का मत कर देना। इसलिए सविकल्प दशा में नौ पदार्थ एवं शुद्ध निश्चयनय से एकमात्र शुद्धात्मा ही उद्योतमान / प्रकाशमान है। उसकी ही अनुभूति लीजिए। अनुभूति, प्रतीति, स्वात्मोपलब्धि, यह सब शुद्ध सम्यक्त्व है, ऐसा जानना। यह अनुभूति गुण-गुणी में निश्चयनय से अभेद-विवक्षा से शुद्धात्मा का स्वरूप है। ऐसा तात्पर्य समझना, और जो प्रमाण नय निक्षेप है, वह परमात्म तत्त्व के विचार काल में सहकारी कारण है, भूतार्थ होने पर भी। ये सविकल्प अवरथा में ही भूतार्थ है, परन्तु परम समाधि के काल में अभूतार्थ है। भूतार्थ एकमात्र शुद्ध जीव है, ऐसा जानना चाहिए। ज्ञानी ! निज शुद्धात्मा ही परम भूतार्थ है, शेष ज्ञेय है, हेय है, एकमात्र परम शुद्धात्म परम उपादेय है, ऐसा जानना चाहिए।

## ॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

५ ५ ५

आचार्य भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ग्रन्थराज समयसार जी में वस्तुस्वरूप का व्याख्यान करते हुए समझा रहे हैं। आत्मा जो है वह स्यान्दीभूत है सहज है, और आत्मा ही नहीं छः द्रव्य सहज है। सहज का विपर्यास मत कर बैठना किसी जीव ने अब्रह्म का सेवन किया, और यूँ कहने लग जाये कि यह तो सहज है। हे ज्ञानी ! इसे तू सहज स्वरूप बना देगा, तो सहज भगवत् स्वरूप कब प्रगट होगा। आचार्य प्रभाचंद स्वामी ने 'प्रमेय कमल मार्तण्ड' नाम के ग्रन्थ में, सहज शब्द का बहुत खण्डन किया। क्यों किया, क्योंकि जगत के लोगों ने सहज शब्द को लेकर विपर्यास खड़ा कर लिया, बोले, मकड़ी जाल बुन रही है, सहज नहीं है। मकड़ी का जाल बुनना सहज नहीं है, अपनी आहार संज्ञा की पुष्टि के लिए जाल फैलाती है, जीवों को फँसाने के लिए, यह सहज नहीं है। राग की तीव्रता में आप अशुभ भाव कर रहे हो, यह सहजभाव नहीं है, यह राग भाव है। भूख लग रही है, भोजन कर रहे हो, सहजभाव नहीं है, राग इच्छापूर्वक आप इच्छित द्रव्य को सेवन कर रहे हो, यह राग की पूर्ति है, असाता वेदनीय कर्म की उदीरणा है। पानी गर्म हो गया, सहज हो गया न? नहीं, सहज भाव नहीं है, यह सोपाधिक भाव है। समयसार का सहजभाव वह स्वरूपभाव है, और स्वरूपभाव का प्रयोजन न समझ करके, सहजभाव को लेकर, इन रागियों ने क्या किया, जो मन में आया, उसे कह दिया सहजभाव।

एक गहरी बात बताऊँ आपको। आपने एक ऐसे जीव को जाना, और समझा है, जिसकी दाढ़ी आ

गई थी और कह रहा था सहजभाव है। यानी सहज को लेकर के देखना यह शब्द समयसार से लिया और उसका दुरुपयोग कैसे किया? चारों संज्ञाओं की पूर्ति करना, और कितने तार्किक रूप से आपको पिलाया गया, (पिलाया क्या गया, विश्व में फैलाया), कि आप जो संयम धारण कर रहे हो, यह सहज का निरोध है जो अशुभभाव संज्ञाएँ सता रही हैं, आहार, भय, मैथुन परिग्रह। बोले यह सहजभाव है। इनका परिपूर्ण उपभोग करो, तो आप स्वयं सहज हो जाओगे। मृत्यु हो गई, प्राण चले गये, असहज से सहज कहाँ हो पाये। पर कहते ही गये। यह आगम का दुरुपयोग है। वह शब्द कहाँ से उठाया था? समयसार से! आप विश्वास रखना, देश का कोई भी वक्ता होगा, उसकी पुस्तक दे देना, मैं बता सकता हूँ, यह व्यक्ति कहाँ से बोल रहा है। यहाँ तक कि उन्होंने जो दृष्टान्त दिये हैं। उस जीव ने शुद्ध दिगम्बर आमनाय के प्रथमानुयोग की कथाएँ, उनके शब्द इधर-उधर करके परिवर्तित करके बोल दिये, तो लोग समझने लगे, बहुत बड़ा तार्किक जीव है, अपने यहाँ से बोल रहा है। विश्वास रखना, बिना आधार के आगे बढ़ा ही नहीं जाता। आधार होता है, फिर चिन्तन चलता है। क्रोध आ गया, क्यों क्रोध करते हो? यह सहजभाव है? अरे! मायाचारी कर रहा है। क्यों, भाई! मायाचारी क्यों कर रहे हो? यह सहज है। परिग्रह में लिप्त है। क्यों ज्ञानी इतना क्यों इकट्ठा कर रहा है? सहज है, मैं तो कुछ कर नहीं रहा। ज्ञानी! ये सहज नहीं है। यदि ये सब कुछ सहज है, तो असहज क्या है, फिर आप अपनी भाषा बना लो, कि असहज क्या है, संयम धारण करना, असहज है। ठीक तो है, क्षुधा लग रही है, सहज है। आप इसको भोजन नहीं दे रहे हो, यह असहज है। नहीं, ऐसा कह मत देना। अग्नि पर जल का रखा जाना, अग्नि के सहयोग से नीर उष्ण हुआ है, ये सहजभाव नहीं, यह सोपाधिक भाव है। पर की उपाधि है। इसी शब्द को लेकर आप आगे बढ़ते जाइये। क्रोध आया है, सहज नहीं, सोपाधिक है, पर निमित्तक है। बैर सता रहा है; सहज नहीं है, सोपाधिक है। वेदकर्म की उदीरणा है, क्षुधादि सता रहे हैं, ये जितने अशुभभाव हैं, वे सहजभाव नहीं, कर्म की उपाधि के कारण परभाव हैं। पानी का शीतल धर्म सहज है। पानी को कितना ही गर्म कर देना, लेकिन समय पाते ही ठण्डा हो जायेगा।

अब सहजभाव का सत्य स्वरूप समझिये। असत्य स्वरूप समझा, कितना विपर्यास किया है। उस व्याख्यान को पढ़ते-पढ़ते, सुनते-सुनते यह नव पीढ़ी तुरन्त भ्रमित होती है। ठीक तो है, ये सहज है, क्योंकि समझ में आ रहा है, गहरे में जाना तो कोई पसन्द करता ही नहीं है। उसको समझ में आ रहा है, कि सहज है। जहाँ आप पहुँच नहीं पाये और सहज-सहज चिल्लाते हो, वहाँ कर्म की उपाधि को क्यों नहीं पकड़ रहे हो? रात्रि में निद्रा आना सहजभाव है। बिल्कुल नहीं है, सोपाधिक भाव है। जीवद्रव्य में क्षुधा लगना, निन्द्रा आना, मैथुन होना, परिग्रह रखना, इत्यादि सहजभाव यदि है, तो फिर अशरीरी सिद्धों में भी होना चाहिए, क्योंकि सहजभाव त्रैकालिक होता है, असहज भाव तात्कालिक होता है। चाहे पानी कुँ के अन्दर हो, चाहे तालाब के अन्दर हो, चाहे आपके घर की टंकी के अन्दर हो, पानी अपने सहजभाव में शीतल होता है। जब भी उष्ण पानी आ रहा है, कहीं-न-कहीं पर का सहयोग है। पानी अपने धर्म में गर्म नहीं है, परधर्म के सहयोग से है। बड़ा गंभीर शब्द है सहज। अनागम में प्रवृत्ति होने के कारण, लोक में बहुप्रतिष्ठा के लोभ में आकर कभी अनागम की भाषा आगम की गद्दी पर से बोल मत देना। सहजभाव है, रात्रि में निन्द्रा का आना सहज है न, भूख लगना सहज है न? यह सही नहीं है। साधु विश्राम करते हैं, तो इसका अर्थ सहज नहीं हो गया। किसी व्यक्ति में कोई कमी है, और वह प्रतिष्ठित पुरुष है, उस प्रतिष्ठित पुरुष के द्वारा कि गई कमी श्रेष्ठ नहीं हो जाती है। निद्रा तो थकावट को दूर करने के लिए आती है। थकावट को दूर करने के लिए नींद

लेते हैं, और वह नींद आती है। थकान आती किसे है? संसारी को, कि मुक्त को? संसारी को। आप भगवान् को मानते हो, हृदय से मानते हो, कि पिताजी के कहने से मानने लगे? सत्यार्थ बताइये। भगवान् होते भी हैं, कि हम मानते ही हैं। मानते आये, इसलिए मानते हैं। फिर आप संसारी हो, कि मुक्त हो? आप संसारी हो तो, हे ज्ञानी! कोई मुक्त नाम की वस्तु होना चाहिए कि नहीं होना चाहिए? होना चाहिए। तो उसी का नाम तो भगवान् है। यानी भगवत्ता नाम की शक्ति है। जो भगवान् है, वह अठारह दोषों से रहित है उसमें निद्रा भी एक दोष है।

**दुहतण्ह भीरुरोसो रागो मोहो चिंता जरा रूजामिच्चू ।**

**संद खेद मदो रइ विन्धियणिद्वा जणुव्वेगो ॥६॥ णियमसारो ॥**

तो अठारह दोष क्यों कहे? यदि सहज होता है, तो दोष नहीं होता है। जो दोष होता है, वह सहज नहीं होता है। हमें जगत के लोगों से प्रयोजन नहीं है, कि आप समझेंगे कि नहीं समझेंगे। मुझे यह प्रयोजन है कि शुद्ध सत्य को एक बार कानों से सुन तो लो। जो वर्तमान के नवयुवक, नवविद्वान, कोटि-कोटि ग्रन्थों को पढ़ने वाले कह बैठते हैं, शील का पालन क्यों नहीं करते हो, तो बोलते हैं, कि वेदकर्म की उदीरणा सहज है। हे ज्ञानी! ऐसे व्यक्ति को कभी गणधर की गद्दी पर विराजमान कर मत देना। वह तो महावीर के सिद्धान्त को सम्पूर्ण नष्ट कर देगा। जब सहज है, भूख लगना सहज है, तो जैसे ही लगती है, वैसे ही खाना चाहिए न? जब इच्छित नहीं मिलता, तब क्यों नहीं खाते हो? सहज तो तुरन्त होता है, यह आपने रोक कैसे लिया? कुछ लोग उपवास भी कर लेते हैं, वह कैसे कर लिया? इसलिए ध्यान दो, मुनि बनना भी सहज नहीं है, भूख लगना सहज नहीं है। भूख लगना असातावेदनीय कर्म की उदीरणा है। उसकी उदीरणा के बिना भूख लगती नहीं। डर लगना भी सहज है न? तो जहाँ आपको डर लगता है, वहाँ दूसरा निकलता है तो, उसे डर क्यों नहीं लगता? आपको भय है, सहज नहीं है। जितनी लोक में वृत्तियाँ दिख रही हैं संसारी जीवों में, ये सहज नहीं हैं। ये कर्मापाधिक हैं। यदि आत्मा से कर्म निकल जायें, तो सिद्ध भगवान् भी जीव हैं, अरहंत भगवान् भी जीव हैं। अरहंत भगवान् कभी ग्रास नहीं खाते, यानी आहार नहीं लेते। सिद्ध भगवान् कभी भोजन नहीं लेते। यदि जीव का विभाव सहज हो जायेगा, तो जितने जगत में दोष / पाप हैं, वह सभी भगवन्तों में नजर आयेंगे, यदि सहज है तो। पुनः चलिए, पानी का उष्ण होना, सहज है न। सहज का अर्थ समझ में आता है क्या? सहज यानी स्वभाव, नैसर्गिक सहज है। पानी का स्वभाव। उष्णता सहज है क्या? अग्नि पर रखने के कारण हुआ है। यानी पानी का स्वभाव उष्ण नहीं है, वह अग्नि की उपाधि है, यदि क्रोध आना सहज है, तो आपको चौबीस घण्टे क्रोध ही करना चाहिए, जबकि क्रोध करते स्वयं थक जाते हो, और स्वयं ठण्डे हो जाते हो। क्रोध कषाय का उपशम भाव स्वयं होगा। क्षमा सहज है, क्रोध सहज नहीं है। जिन-जिन लोगों ने सहज शब्द का विपर्यास किया, वे असहज हो गये। विकारी भाव सहजभाव नहीं है, वह सोपाधिक भाव है। फिर छः द्रव्य सहज कैसे हैं? हाँ, परम सत्य है। जीव किसी से उत्पन्न नहीं कराया गया, अजीव आदि द्रव्य किसी से उत्पन्न नहीं कराये गये। अपने आपमें सहज हैं। लोक सहज है, अलोक सहज है। इसलिए पारणामिक भाव सहज है। हे जीव! तेरा जीवत्व भाव सहज है। लेकिन अभी तू परम सहज में नहीं है। क्योंकि तू अभी संसारी है। परम पारणामिक भाव ही परम सहज-स्वभावी है।

लोग हँसते-हँसाते और कहते हैं कि सहज है। सहज नहीं है, तेरा प्रयोग है। प्रायोगिक जितने हैं, वे सहज नहीं हैं। मैंने कहा ठीक से बैठ जाओ और सहज का प्रयोग करो। सहज क्या है? जिसमें सहज

शान्ति है, सहज आनन्द है, जिसमें सहज सुख है। अनुभूति में जाओ, तो जब आप बिल्कुल निश्चित होकर बैठे हैं। तब पूछा क्या कर रहे हो ? बोले, निश्चित हैं। यहाँ आप रसना का स्वाद ले रहे हो, स्पर्श का स्वाद ले रहे हो, घ्राण का स्वाद ले रहे हो, आप वहाँ किसी इन्द्रिय का स्वाद नहीं ले रहे हो, फिर भी निश्चित हो, जो पर उपाधी से रहित आनन्द है, वही सहजानन्द है। धन्य हो दिगम्बर मुनि की दशा को। जो सहज आये थे, सहज ही हो गये। आप सहज आये तो, परन्तु कपड़ों में असहज हो गये। शुद्ध तत्त्व को समझो। आप सहज आये थे, प्रकृति से बात कर लो। पहले भीतर सहज हुए थे, कि बाहर सहज थे? एक छोटे से बालक के कपड़े उतारो, तो वह भी कपड़े पकड़ लेता है। बताओ, उसे किस की चिन्ता है ? मन में लज्जा गुण आ गया, यही असहज भाव है। कपड़े क्यों पहने? सहज पहने, कि असहज? जिसने विषयों को सहज कहा था, उससे पूछो कि जैसा माँ की कोख से जन्म लिया, वैसा क्यों नहीं रहता है? इतने कपड़े क्यों पहने है ? ये बाहरी असहज की बात कर रहा हूँ। साम्यभावनी, सहजभाव। असाम्यभाव, यानी असहजभाव। किंचित भी मन में विकार खडा हुआ है। तो आप सहजता को खो गये है और चलिए। ये विद्युत प्रवाहित है, इसमें कोई परेशानी नहीं आ रही। (ऋण का धन में, धन का ऋण में लगा दो), जब सहज में बहती है तो, किसी को कष्ट नहीं होता है। जब असहज तार कहीं का कहीं लग जाये। तो आग लग जायेगी, गडबडी हो जायेगा। हे ज्ञानी ! जितनी-जितनी घरों में आग लग रही है, सब असहज की आग लग रही है। जरा भी मन में विकल्प आता है, तो पिता पुत्र में आग लग जाती है, यह असहज भाव है। इसलिए जितने असहज भाव हैं, वे सब दुःखभाव हैं। निज सहजभाव ही परम सुखस्वभाव है। समयसार ग्रन्थ को आप बुंदेलखण्डी में सुन रहे हो। ये सहजभाव, असहजभाव समझ में आ गया। अब समयसार की भाषा में, चिदस्वभाव ही सहजभाव है। चिदस्वभाव में जितने क्रोधादि भाव हैं, सब असहज भाव हैं। चिदस्वभाव का कभी अभाव नहीं होता, पर क्रोधादि भावों का अभाव होता है। जिन-जिन का अभाव होता है, वे मेरे सहजभाव नहीं हैं। जो सहजभाव होते हैं, वे त्रैकालिक होते हैं। मैं चैतन्य सिद्धालय में भी होऊँगा। तो भी मेरे चिदस्वभाव का कभी अभाव नहीं होगा। पर जिन विकारी भावों से निगोद आदि में गये थे, वे सब विभाव थे, असहज भाव थे, उनका विनाश होता है। छहों द्रव्य सहज है।

### “सहजानन्द स्वरूपोऽहम्, परमानन्द स्वरूपोऽहम्”

सहजानन्द के बाद ही परमानन्द क्यों रखा, जो सहजानन्द है, वही तो परमानन्द है, और जो सहजानन्द नहीं है, वह परमानन्द नहीं है। हे मुमुक्षु ! इस उम्र का जब तूफान आता है, और जब उतर जाता है, फिर कैसा लगता है ? पश्चाताप की अग्नि में झुलसता है। जब मन से ब्रह्म का पालन चलता है, तब मानसिक आनन्द होता है। वह अब्रह्म तो आनन्द नहीं है। आनन्द के बाद पश्चाताप नहीं होता। पर जिसमें पश्चाताप होता है, वह आनन्द ही नहीं होता। ऐसा कौन-सा अभागा जीव होगा, जो तीर्थकर का अभिषेक करने के बाद रोयेगा? कोई नहीं होगा। उसे तो आनन्द आता है। जो आनन्द होता है, उसमें पश्चाताप नहीं होता। जो आनन्दाभास होता है, वह विकार होता है, उसमें पश्चाताप होता है। यह मेरे से नहीं पूछना, यह आपका अनुभव है। जो धर्म करने में आनन्द आ रहा है, वह आह्लादभाव है। न स्वभाव है, न कुभाव है, वह शुभभाव है और विषयों में जो आँसू टपका रहा है, वह शुभभाव नहीं है, वह अशुभभाव है, कुभाव है।

यह तो निर्णय करना पड़ेगा। समयसार ग्रन्थ को समझने के साथ-साथ प्रमेय कमल मार्तण्ड और 'अष्टसहस्री' को भी पढ़ना ही पड़ेगा, अन्यथा सहजभाव से मिथ्यात्व में चले जायेंगे। जैन सिद्धान्त को

नवयुवकों को, विद्यार्थियों को पढ़ाना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। नैसर्गिक/ प्राकृतिक, कह कर जो आज अनाचार, व्यभिचार जैसी प्रवृत्ति बढ़ रही है, हे ज्ञानी ! सहज कहकर बढ़ रही है। बोले, सहज क्रिया है। आत्मसाक्षी भाव शब्द का प्रयोग हो रहा है। उस शब्द के साथ व्यभिचार हो रहा है। मर्यादाशून्य होकर आत्मसाक्षी हो रहे हैं। नहीं, आत्मसाक्षात्कार तो भिन्न वस्तु है, आप उसका अर्थ लगा रहे हो, मैं ही होऊँगा, मैं ही ज्ञाता होऊँगा, मैं ही ज्ञान होऊँगा, मैं ही प्रश्नकर्त्ता होऊँगा, मैं ही उत्तरदाता होऊँगा, मेरे प्रश्न होंगे, मेरा ही उत्तर होगा, और मेरे में ही होगा, अन्य का नहीं होगा, अन्य में नहीं होगा/ जो निजानन्द की लीनता है, वही साक्षात्कार है। सामायिक को आत्म साक्षात्कार का समय दे दिया। जब अभ्यास हो जाये, तो हर समय अपने में रहो। आत्म साक्षात्कार यह नहीं है, ये तो पागलपन, उन्मत्तपन और सामाजिक, धार्मिक बन्धनों से स्वच्छन्दी होना है। यह आत्म-साक्षात्कार की परिभाषा नहीं है। समयसार की परिभाषा यह है क्या ? संयम के बन्धनों को तोड़ देना, यह समयसार की परिभाषा नहीं है। समयसार की परिभाषा है, विभाव-भाव के बन्धनों से दूर होकर, निजानन्द के आनन्द में रमण करना। अनभ्यस्त जीव के हाथ में यह ग्रन्थ दिया जायेगा, अनुभवहीन के हाथ में दिया जायेगा, और पक्ष से ग्रसित जीव के हाथ में दिया जायेगा, तो विश्वास रखना इस ग्रन्थ के साथ व्यभिचार किया जायेगा।

व्यभिचार का अर्थ आप गलत समझते हो। व्यभिचार का अर्थ है विपरीतपना / विपर्यास और जिसका चिन्तन विपरीत चल रहा है, यह उसकी प्रज्ञा का व्यभिचार है। आप कल्पना करो, अध्यात्म बड़ा आनन्द देता है, रुचिकर विषय है। सबको आनन्द आता है। लेकिन अध्यात्म के साथ विपर्यास मत कीजिए। आज के पढ़े-लिखे लोग गुजरात में एक जगह गये। वहाँ समयसार पढ़ने को कहा। उन्होंने समयसार पर प्रवचन दिये। प्रवचन में ठीक समय पर प्रवचन हाल भर गया और ठीक रात्रि को नौ बजे उन्होंने भोजन-पान किया। पंडित जी से रहा नहीं गया, बोले, ये क्या कर रहे हो ? बोले, पंडित जी ! आत्मा का धर्म में समझ चुका हूँ, आत्मा में कोई क्रिया नहीं, आत्मा परिस्पन्दन नहीं, आत्मा कर्त्ता नहीं, यह सहज होता है। इसलिए जो मैं कर रहा हूँ, यह पुद्गल की दशा है, मैं तो शुद्ध हूँ। हे ज्ञानी ! उसने पंडित टोडरमल जी के मोक्षमार्ग प्रकाशक को भी अच्छी तरह से समझ लिया होता, तो पंडित जी साहब कहते हैं, मुमुक्षु ! निश्चयाभासी मत हो जाना। ये निश्चयाभास था। मैं कर्त्ता नहीं हूँ, यह समयसार जी में है। अभी तो ग्रन्थ प्रारम्भ है। ध्रुव सत्य यह है, कि सबसे मधुर कोई अधिकार इस ग्रन्थ में है, तो कर्त्ता कर्म अधिकार है। ग्रन्थ यह कह रहा था। हे मुमुक्षु ! मेरी पत्नी रो रही है, बेटा बीमार है, दूकान नहीं चल रही है, पूरे परिवार को मैं ही चलाता हूँ, मैं चला जाऊँगा, तो मेरे घर का क्या होगा ? हे ज्ञानी ! तू पर का कर्त्ता हुआ नहीं, पर तेरा कर्त्ता हुआ नहीं तो क्यों कर्त्तव्य भाव में आकर निज स्वभाव को खो रहा है।

### “आत्मस्वभावं परभाव भिन्न”

यह शब्द था वहाँ। जितने वैज्ञानिक हुए हैं, वैज्ञानिकों ने वस्तु बनाई क्या ? बनाई नहीं है, बताई है। भगवान महावीर कोई वस्तु नहीं बना पाये, तो ये वर्तमान के सामान्य वैज्ञानिक क्या बना पायेंगे। हल्दी में चूना डाल दिया तो वर्ण कैसा हुआ? वर्ण परिवर्तित हो गया।

तुम ललाट पर टीका लगाते हो, तो शुद्ध हल्दी का नहीं, चूने की मिलावट से लगाते हो। इसीलिए विचारों में मिलावट है। हल्दी में चूना क्यों ? सुन्दर दिखने के लिए आपने असुन्दरपना किया, एकत्व - विभक्त का अभाव करके आपने संयोगी भाव को प्राप्त किया है। आपने हल्दी में चूना डाला तो पीतवर्ण को

रक्तवर्ण बना दिया ।

अरे मुमुक्षु ! आप उसके पीतवर्ण के बनाने के कर्ता नहीं हो, आप प्रयोक्ता हो । आपने डाला है, बनाया नहीं है । आप डालने मात्र के निमित्त कारण हो, बनाने के कारण नहीं हो । बना तो स्वयं की योग्यता से है । ऐसे ही वैज्ञानिकों ने किसी भी वस्तु को बनाया नहीं है, नवीन-नवीन प्रयोग किये हैं । समझ में आ रहा है न । कहीं भी चले जाना, प्रयोगशाला लिखा मिलेगा, कर्ताशाला नहीं लिखा मिलेगा । बोलें कुछ भी, पर लिखा सत्य है । अन्वेक्षण किया है, खोजा है ।

कार्य-कारण भाव है, कार्य कारण भाव का विपर्यास नहीं है । ये द्रव्यदृष्टि है, इसलिए सहज तो सहज है, असहज तो असहज है । कर्मबंध जहाँ तक दिख रहा है, वह सब असहज है । जहाँ कर्मबन्धता नहीं है, वहीं सहज है । जो जीवत्वभाव है, वही सहज है, पर जीव में जो विकारीभाव हैं, वे विभाव हैं, असहज हैं । फिर आत्मा को कैसे जानें ? कैसे पढ़ें ? ये चौदहवीं गाथा में देखें । समयसार का परम आनन्द है दो गाथाओं चौदहवीं और पन्द्रहवीं में । पूरा ग्रन्थ ही अनोखा है ।

**जो परस्सदि अप्पाणं अबद्धपुडुं अणण्णयं णियदं ।**

**अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणाहि ॥१४ समयसार ॥**

आचार्य भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं, जो देखता है, जो जानता है । किसको ? आत्मा को । कैसी आत्मा को ? कैसे जानता है ? मैं निर्बन्ध हूँ । साँचे में गुजिया है, ठीक है । फिर भी विश्वास रखना, साँचे से गुजिया अबंध है । व्यवहार से आकार-प्रकार देने के लिए साँचा है । भले ही साँचे में गुजिया हो, फिर भी साँचा तो साँचा ही है, गुजिया तो गुजिया ही है । साँचे में भरे होने पर भी अबध्य है । आत्मा देह साँचे में है, संसारी कर्म के साँचे में है, पर साँचा साँचे में है, और आत्मा आत्मा में है । वह साँचा तो झूठा है, पर आत्मा तो साँची अबध्य ही है । हे मुमुक्षु ! जब तक तू बध्य दशा में अबध्य को नहीं पहचानेगा, तब तक निर्बन्ध होने का पुरुषार्थ नहीं कर पायेगा । यहाँ दो भ्रम हो गये । एक ने पहचानने को स्वरूप मान लिया, और दूसरे ने पहचानने को ही बन्द कर दिया । ये हैं निश्चय और व्यवहाराभासी ।

परखी तो परखी है । परखी परखने के लिए ही है । समयसार तो परखी है । परखी से परख लो, लेकिन परखी को ही नहीं परख लो । हुआ क्या है ? परखी परखने के लिए थी और इन ज्ञानियों ने परखी को ही परख लिया । ये समयसार ग्रन्थ शुद्धात्मा को परखने की परखी थी और इसे ही परख कर बैठ गये और शुद्धात्मा को परख ही नहीं रहे । समयसार के ज्ञान को समयसार मान बैठा । ये तत्त्व की भूल है और समयसार ग्रन्थ को जाने बिना समयसार को जानोगे कैसे ? यह भी तत्त्व की भूल है । ये हमारे व्यवहार पक्ष वाले समय परखी को परखना ही नहीं चाहते हैं और निश्चय वाले परखी को ही परख रहे हैं । वे जन्मान्ध जल्दी सुलझ गये, उनको तो हाथी का ज्ञान हो भी गया, पर तुम अन्धे होते तो तुम्हें समझा देता । तुम तो आँखें खोलकर अन्धे हो रहे हो तो कैसे समझाएँ ? अबद्ध अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष, असंयुक्त, ऐसी आत्मा को शुद्ध जानो ।

**॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥**

१ १ १

भव्य बन्धुओ ! आचार्य भगवान् कुन्द-कुन्द स्वामी ग्रन्थराज समयसार जी में तत्त्व की अलौकिक

देशना दे रहे हैं। विज्ञ पुरुष ही तत्त्व को समझ सकता है और तत्त्व उपदेश ग्रहण करना अनिवार्य है। जैन न्याय के महान आचार्य अकलंक स्वामी 'लघीयस्त्रय' नाम का ग्रन्थ लिखा। इसमें 'प्रवचन प्रवेश' नाम का अधिकार है। जिस जीव को नय, निक्षेप, प्रमाण का ज्ञान नहीं है, वह प्रवचन में प्रवेश नहीं कर पायेंगे दर्शनशास्त्र की दृष्टि से। जिनके अष्टमूल गुण का पालन नहीं है, वह प्रवचन में प्रवेश नहीं कर पायेंगे, पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में लिखा है चरणानुयोग दृष्टि है। जिनका देव, शास्त्र, गुरु पर श्रद्धान नहीं है, वह प्रवचन में प्रवेश नहीं कर पायेंगे, आचार्य समन्तभद्र स्वामी की दृष्टि से।

जिनके सात प्रकृतियों का क्षय, क्षयोपशम नहीं हुआ है, वे सत्यार्थ प्रवचन में प्रवेश नहीं कर पायेंगे, करणानुयोग दृष्टि है आचार्य नेमिचन्द्रस्वामी की। जो पुराण-पुरुषों में श्रद्धा नहीं करते हैं, वे प्रवचन में प्रवेश नहीं कर पायेंगे, प्रथमानुयोग दृष्टि है। प्रवचन प्रवेश के अभाव में प्रवचन उपदेश कैसा? जब प्रवचन में ही प्रवेश नहीं है, तो प्रवचन का उपदेश कैसा? 'लघीयस्त्रय' ग्रन्थ में क्या लिखा है? जो तत्त्व ज्ञाता है, वही सम्यक् तत्त्व का उपदेश दे सकता है। जब तक तत्त्व का ज्ञान ही नहीं है, तो तत्त्व का सद्उपदेश आप कैसे कर पायेंगे? तत्त्व का ज्ञाता होना अनिवार्य है। प्रवचन की तैयारी वे करें, जो तत्त्व के ज्ञाता नहीं हैं। तत्त्वज्ञाता को कभी प्रवचन तैयार नहीं करना पड़ते हैं, तत्त्व ज्ञाता के अन्दर प्रवचन होते हैं। इसलिए न्यायशास्त्र कह रहा है, कि सुन्दर वचन की प्रामाणिकता है सुन्दर ज्ञान। असुन्दर वचन की प्रामाणिकता है, असुन्दर ज्ञान। सहज में क्या कर डाला? विषय-कषाय आदि की प्रवृत्ति में लीन होकर क्या कह दिया? यह तो सहज है, प्राकृतिक है। यह तत्त्वज्ञान की कमी बोल रही थी। सहज है, कि असहज है, जब तक जिनदर्शन का ज्ञान नहीं है। चार्वाक-जैसे दर्शन की प्रवृत्ति हुई है, वह इसी सूत्र में हुई है। सूत्र सम्यक् था, पर सूत्र की प्ररूपणा असम्यक् कर दी। जो आत्म-साक्षात्कार का शब्द गूँजता सुनाई दिया था, वह इसी सहज शब्द का दुरुपयोग था। आज समझना, जिसने कर्म की एक सौअडतालीस प्रकृतियों का ज्ञान नहीं किया, तब-तक ही इनको सहज कहता रहेगा। समस्यार की चौदहवीं गाथा को जब तक नहीं समझा, तब तक विषय-कषाय को सहज कहता रहेगा, और जिस दिन चौदहवीं गाथा समझ में आ जायेगी, फिर कहेगा, सोपाधिक है, कर्म-उपाधिक है, सहज नहीं है। क्रोध आता है, यथार्थ बताना, आपको कष्ट देकर जाता है, कि शान्ति देकर जाता है? जिस पर तू क्रोध करता है, उनके परिणामों से पूछो कि कैसा लगता है? और जो तू स्वयं क्रोध कर रहा है, स्वयं से पूछो कि कैसा लगता है? जब कषाय स्वयं ही झुलसा रही है, ये न्याय नीति के पक्षों को गौण कर दीजिए, मैं सत्य पक्ष ले रहा हूँ।

माना कि यह पेन आपका है, आपका पेन दूसरे ने ले लिया, उसके लिए झगड़ रहा है। सत्य झगड़ रहा, कि नहीं? पर पूर्ण असत्य है। ध्यान दो पेन रागदृष्टि से मेरा है, इसलिए झगड़ रहा है। भूतार्थ है, सत्य है, लेकिन, हे मुमुक्षु! इसमें तेरा चतुष्टय किंचित भी नहीं है, और पेन के विषाद में आकर अविस्वादी आत्मा के स्वरूप का घात कर रहा है। तू सत्य का प्रयोग कर रहा है, कि असत्य का प्रयोग कर रहा है? न पेन तेरे साथ जायेगा, न झगड़ा तेरे साथ जायेगा। वो भी पर्याय नष्ट हो जायेगी, लेकिन इस पर्याय में जो बन्ध किया तूने, आत्मा को अशुभ में डाला है। मेरा मकान, मेरी दुकान, मेरा भवन, मेरी भूमि। इस मस्तिष्क को स्वस्थ करो तब सत्य समझ में आयेगा। सत्य तो मस्तिष्क में तभी आ पायेगा, जिस दिन तू सर्वस्व से सर्वस्व छोड़ देगा, फिर सारी भूमि पर दिखेगी, निज नहीं दिखेगी, फिर भी तू पर में नहीं होगा, निज में होगा। एक कमरे की चौखट के पीछे, हाथ की चक्की के पीछे झगड़ा होते देखा है। दोनों भाई एक-एक पाट ले लेते हैं, अतः

दोनों के काम की नहीं बची ।

जिस दिन सत्य समझ में आयेगा, उस दिन कुछ और ही होगा । सहज स्वरूप होता है । सहज अविकारी होता है । विकारों में सहज कैसा? आत्म साक्षात्कार कर लीजिए, सहज है । यह समयसार का शुद्ध अशुद्धोपयोग है । दाढ़ी आना सहज है, तो जन्म से क्यों नहीं आई ? एक निश्चित उम्र पर ही क्यों आई ?

हे ज्ञानी ! सहज जो होता है, त्रैकालिक साम्य होता है । नीबू डालने से दूध फट गया, परस्पर सम्बन्ध की अपेक्षा से सहज है । वास्तव में दूध का फटना सहज था, कि असहज था ? परभाव से पररूप परिणत हुआ है । अहो भगवती आत्मा ! तू चिद्रूप चैतन्यस्वभावी थी । कर्म के सहयोग से विभाव हुआ है, इसलिए असहज है । इस सहज से आपने पाँचों पाप कर लिए, और बोलता है कि सहज है । 'होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम'

ये सहज है तो आप जगत के किये विना जगत में बैठे कैसे हो ? इसलिए ध्यान दो,

**धम्मोमंगल मुक्किट्टु, अहिंसासंयमो तवो ।**

**देवा वि तस्स पणमंति जस्स धम्मे सया मणो ॥ ८ वीर भक्ति ॥**

यह वर्द्धमान की ही देशना है । आपने यह सिद्धान्त सहज लागू कर दिया, तो उनका यह सूत्र भंग होता है । समयसार था, इसलिए वह सहज था । जब तेरे ऊपर वर्षा होने लग जाये पत्थरों की, तब कहना अहो ! ये दूसरा बेचारा क्या कर सकता था ? मेरे कर्म का विपाक उदय में न होता, तो पर के भाव ऐसे होते क्यों ? यह तो मेरे कर्म का उदय सहज है वर्तमान अपेक्षा । पूर्व में मैं असहज हुआ था, इसलिए सहज है । जैसे खटाई के ऊपर पानी पी लिया, तो खॉसी हो गई । खॉसी होना तो सहज था; उदय में आ गई, सहज है । लेकिन तुमने जो किया था, जो कि वह सहज नहीं था, खटाई के ऊपर पानी पी लिया । आपने जो पूर्व में खोटे कर्म किये, फिर क्यों रोता है ? जब करने में असहज था, तो भोगने में भी सहज आता है । यहाँ जो समयसार का सहज शब्द है, वह त्रैकालिक कैसे बनता है ? उसे ध्यान दो । एक व्यक्ति अपने घर के आँगन में घूम रहा था वह सहज था । आज वह मन्दिर में पूजा कर रहा है, तब भी वही पुरुष है । वह शान्त बैठकर अपनी शिशु पर्याय, युवा पर्याय, इन पर्यायों को न देखते हुये अपने चैतन्य ध्रुव जीवत्व भाव को निहार रहा है । मेरे में कोई अन्तरनहीं । मैं तो वही ध्रुव आत्मा हूँ । ऐसा चिन्तन चल रहा है ।

कर्म-सापेक्ष रूप से आपका कहना भूतार्थ है, सत्य है । पर कर्म निरपेक्ष आपका कथन परिपूर्ण असत्य है । यहाँ जो सहज का कथन है, वह चैतन्यमालिनी, परमानन्दशालनी भगवती आत्मा को निहारिये, उसके लिए सहज है, कर्मसापेक्ष जितनी भी क्रियाएँ हैं, वे सब-की-सब असहज हैं । अर्थ पर्याय का परिणमन त्रैकालिक सहज चल रहा है । जो अर्थ पर्याय के साथ व्यंजन पर्याय है न, उसकी प्रवृत्ति चल रही है, वह असहज है । शुद्धव्यंजन पर्याय सहज स्वरूप है, अशुद्ध व्यंजन पर्याय संसारी जीवों की सब असहज है । यदि आप व्यंजन पर्याय मात्र कहेंगे, तो श्रद्धा में व्यंजन पर्याय घटित नहीं होगी । जब छः द्रव्यों में अर्थपर्याय होती है, तब जीव और पुद्गल में अर्थ व्यञ्जन पर्याय होती है ।

**धर्माधर्मनभः काला अर्थपर्याय गोचराः ।**

**व्यंजनेन तु सम्बद्धौ द्वावन्यौ जीव पुद्गलौ ॥२॥ ज्ञानार्णव ॥**

यह श्लोक आचार्य शुभचन्द्र स्वामी के ज्ञानार्णव ग्रन्थ से बोल रहे हैं, यह ग्रन्थ ध्यान का उत्कृष्ट ग्रन्थ है । इसमें परमाणु भी व्यञ्जन पर्याय है, ऐसा प्रश्न किया था । तो ऐसा पुद्गल होता ही नहीं है, जो व्यञ्जन



पर्याय से शून्य हो। जो स्वभाव व्यञ्जन-पर्याय शुद्ध पर्याय है। एक रस, एक गंध, एक वर्ण, दो स्पर्श यह पुद्गल की स्वभाव गुण पर्याय है। विभाव व्यञ्जन पर्याय रस रसान्तर, गन्ध गंधान्तर यह पुद्गल द्रव्य की अशुद्ध गुण व्यञ्जन-पर्याय हैं। स्कन्ध जो है, पुद्गल द्रव्य की विभाव व्यञ्जन पर्याय है। और परमाणु जो है, पुद्गल द्रव्य की स्वभाव द्रव्य-व्यञ्जन-पर्याय है। जीव द्रव्य में नर-नरकादि विभाव द्रव्य व्यञ्जन पर्याय है। शुद्ध परमेश्वर सिद्धात्मा स्वभाव द्रव्य - व्यञ्जन पर्याय है और केवलज्ञान, केवल दर्शन स्वभाव गुण व्यञ्जन पर्याय है। मति, श्रुत आदि ये जीवद्रव्य की विभाव गुण व्यञ्जन पर्याय हैं।

हे मुमुक्षु ! अर्थ पर्याय आपके पकड़ने की नहीं है। अर्थ पर्याय को आगम के प्रमाण से ही श्रद्धान करो। षट्गुण-हानि वृद्धिरूप जो परिणमन है, वही अर्थ पर्याय है। जो किसी छद्मस्थ के ज्ञान का विषय नहीं बनती है। शुद्ध में शुद्ध षट्गुण हानि वृद्धि होगी। अर्थ पर्याय, अगुरुलघु गुण का परिणमन है। इसे ग्रन्थ कर्त्ता भी स्पष्ट नहीं कर पाये, तो आप कह मत देना कि मैं समझाता हूँ, अर्थ पर्याय के लिए अर्थकर्त्ता क्या लिखते है

**सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते ।**

**आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः ॥५॥ आलाप पद्धति ।**

ये जिनेन्द्र के तत्त्व अति सूक्ष्म हैं, इनको किसी के हेतुओं से खण्डित नहीं किया जा सकता, इसलिए जिनेन्द्र की आज्ञा को ग्रहण कर लो, अर्थ पर्याय को तो आप तभी जान पायेंगे, जब आप सर्वज्ञ बनकर अनुभव करेंगे। आप आलाप पद्धति को पढ़ लो। द्रव्य पुण्य कम हो पाये, तो भाव पुण्य में कमी मत करो। उल्टा हो रहा है, द्रव्यपुण्य के लिए समय नहीं दे पा रहे, भावपुण्य भी नहीं कर पा रहे, जबकि भावपुण्य के लिए समय-ही समय है। यही कारण है कि दिगम्बर मुनियों का एकाएक पुण्य क्यों बढ़ता है। संक्लेशता से पापास्रव होता है। मूल पकड़िये संक्लेशता। साधु बनकर कितने सारे टेंशन समाप्त हो गये, खाना बनाना, मिलना, जुलना कितने सारे टेंशन है। पापास्रव अधिक होता है। धार्मिक नाटक था, पर धर्म नहीं था। उसमें भी पापास्रव। इस वेश में शुभ क्रियाएँ कर रहे हैं, तो पुण्य-ही-पुण्य बढ़ रहा है। वहाँ संक्लेशता कम ही होती है। साता भी असाता, असाता भी साता हो जाती है। इसलिए संभलकर जियो। पुण्य पर न इठलाओ, न पाप पर रोओ, बस, पाप मत करो। यह चरणानुयोग से मिश्रित द्रव्यानुयोग का कथन चल रहा है। शुद्ध अभी आप सुन ही कहाँ पा रहे हैं। निश्चय से अबद्ध, अविशेष, अस्पष्ट, नियत, असंयुक्त ये पाँच बातों से युक्त आत्मा की जो अनुभूति है, वही शुद्ध नय है। वह जो अनुभूति है, वही आत्मा है। जो वेदक भाव है, वह क्रिया है। वेदकभावी कर्त्ता है, वेदना कर्म है। शुद्ध तत्त्वदृष्टि से कथन चल रहा है, इसलिए कठिन लग रहा है। सेब फल है, उसमें छिलका है, मैं खाने वाला हूँ। सेब फल कितना है ? जितना स्वाद है, उतना ही सेब है। जिसमें इच्छा की पूर्ति हो रही है, जो वेदन कर रहा है, उतना ही तेरे लिए उपादेयभूत दिख रहा है। जो आत्मा की अनुभूति कही है, कैसी है ? स्पष्ट है, अभूतार्थ है। कैसे अभूतार्थ है ? जैसे विश्व में कमलपत्र पानी में निमग्न है, ऐसा अनुभव करने पर यह भूतार्थ है। जब आप पर्यायदृष्टि से निहारेंगे, तो पानी में कमलपत्र है, कमलपत्र पर पानी है, यह सत्य है, लेकिन एकांत नहीं है। जब कमल के पत्र पर पानी की बूंद है, यह निमित्त भाव से भूतार्थ है। कमल पत्र पानी नहीं है, पत्र में पानी नहीं है, पत्र पर पानी है। इसलिए भूतार्थ है। पत्र पानी नहीं, पत्र में पानी नहीं इसलिए अभूतार्थ है।

**॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥**

आचार्य भगवान् अमृतचन्द्रस्वामी ग्रन्थराज समयसार जी की, चौदहवीं गाथा में आत्मा के पाँच धर्मों का वर्णन कर रहे हैं। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने पूर्व में आपको संकेत किया यह आत्मा जैसे कि मिट्टी नाना आकारों में है, नानत्वपना भी मिट्टी में है। घट-कपाल आदि की अपेक्षा से नानत्वभाव है। पर, उन सभी नानत्वपने में मृत्तिका वही है, पर्याय अपेक्षा इसमें नानत्वभाव भूतार्थ है, द्रव्य अपेक्षा अभूतार्थ है, एक ही समय में एक ही द्रव्य में भूतार्थपना व अभूतार्थपना विद्यमान है। इस बात का व्याख्यान कर रहे हैं। उसी प्रकार से जीव द्रव्य मनुष्य, तिर्यञ्च आदि पर्यायों को देखते हैं तो नानत्वभाव है और जीव द्रव्यमात्र को देखते हैं, तो एकत्व भाव है। जैसे समुद्र में लहरें उत्पन्न हो रही हैं और नष्ट हो रही हैं, उन लहरों की उत्पत्ति और विनाश की अपेक्षा से उसमें अन्यत्वपना भूतार्थ नहीं, अभूतार्थ है। उसी समुद्र में सन्तति अपेक्षा कथन करेंगे तो, सागर वही है, नित्यपना है। ऐसे ही आत्मा में नाना पर्यायों का परिणामन है, इसलिए नानत्वपना है, अनित्यपना है, परन्तु आत्मा वही है, इसलिए नित्यपना है। इस प्रकार से आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने इस विषय का उल्लेख किया।

आगे विशेषता, अविशेषता। आत्मा विशेष भी है, आत्मा अविशेष भी है। विशेषपना भूतार्थ भी है, विशेषपना अभूतार्थ भी है। अविशेषपना भूतार्थ है, अविशेषपना अभूतार्थ भी है। दोनों धर्म एक द्रव्य में युगपत् हैं। वह किस प्रकार से? आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं, जिस प्रकार से सोना है। कंचन जो स्निग्ध है, पीत है, गुरुत्वपने से युक्त है, इन धर्मों को ग्रहण करने की अपेक्षा से वह जो विशेषता है, वह भूतार्थ है। सोने में पीतपना, स्निग्धपना, गुरुत्वपना भूतार्थ है। ध्यान दो, ऐसा विश्व में कोई द्रव्य नहीं है, जो सामान्य से रहित हो और ऐसा कोई द्रव्य नहीं है, जो विशेष से रहित हो। जहाँ-जहाँ सामान्य है, वहाँ-वहाँ विशेष है। जहाँ-जहाँ विशेष है, वहाँ-वहाँ सामान्य है। व्याख्यान एक काल में या तो सामान्य का होगा, या विशेष का होगा। पर्याय जो-जो होती है, वह विशेष होती है, द्रव्य जो होता है, वह सामान्य होता है।

जैसे- वृक्षत्व सामान्य है। नीम, शीशम इत्यादि जो शब्द बोले, वे विशेष गुण हैं। जहाँ-जहाँ विशेषण है, वहाँ-वहाँ विशेष भी है। मनुष्य है जीवद्रव्य सामान्य। स्त्री, पुरुष, नपुंसक ये कथन विशेष हैं, विशेषण लगा दिया। जीवद्रव्य है, जीव अपने आप में सामान्य है। उस जीव में आपने गुणस्थान, मार्गणा स्थान अपेक्षा जो कथन किया है, वह आपने विशेषण जोड़ दिया। सिद्धान्त शास्त्र कहते हैं जहाँ जीवों की खोज की जाती है, वह है मार्गणास्थान। जहाँ जीवों के भावों की गणना की जा रही है, वह है गुणस्थान। ये मार्गणास्थान, गुणस्थान आदि का व्याख्यान जीव का विशेष कथन है। परन्तु जीव तो सामान्य द्रव्य है। सोने में पीतपना है, सोना वजनदार होता है, यह सत्य है। सोने में स्निग्धपना होता है, यह भी सत्य है। इन वर्णों को देखोगे तो सोने में नानापना दिखेगा और स्वर्ण धातु मात्र देखोगे, तो एक है। इन पर्यायों को देखते हुए सम्पूर्ण विशेषण को देखोगे तो जो कंचन विशेषण है, वह कंचन स्वभाव से भिन्न है क्या? आत्मा, शुद्ध स्वभावी है, आत्मा ज्ञान स्वभावी है, आत्मा दर्शनस्वभावी है, आत्मा वीर्य स्वभावी है, आत्मा नानत्वरूप है आत्मा एकत्वरूप है, आत्मा अमूर्तिक है, आत्मा मूर्तिक है, आत्मा चेतनत्व है, आत्मा अचेतनत्व है, आत्मा अस्तिरूप है, आत्मा नास्तिरूप है, आत्मा एक-स्वभावी है, आत्मा अनेक-स्वभावी है, आत्मा ज्ञायक है, आत्मा ज्ञाता है, आत्मा प्रमाण है, आत्मा प्रमेय है इत्यादि धर्म आपने कहे हैं, ये किसमें हैं? आत्मा में हैं। नाना धर्मों की अपेक्षा आत्मा नानत्वभूत है, परन्तु नानाधर्म किसमें है? एक आत्मा में हैं। आत्मा एकत्वरूप है। जो नानत्व रूप भी है, एकत्व अपेक्षा से भूतार्थ है; नानत्व रूप है, वह एकत्व अपेक्षा से अभूतार्थ है। पर

नानत्व नानत्व--अपेक्षा अभूतार्थ है ।

समयसार जी में कहा जा रहा है - हे जीव ! नानत्वरूप में राग है, नानत्व रूप में द्वेष है । कोई सोने की चमक को देख रहा है, किसी को सोने की चमक ही अच्छी लग रही है । एक को वजन अच्छा लग रहा है, आपने दो गुणों को भिन्न-भिन्न करके देखा तो आपने एक पर्याय में दो परिणाम करके भिन्न-भिन्न बन्ध किया । एक जीवद्रव्य को देखकर, एक पुद्गल द्रव्य को देखकर अथवा एक ज्ञायकभाव को देखकर आपने जीवद्रव्य को देखा, एक जीवद्रव्य को देखते-देखते एक ने पतिरूप देखा, एक ने पुत्ररूप देखा, एक ने पिता के रूप में देखा, एक ने भाई के रूप में देखा । अहो देखनहारो ! तुमने जिस दृष्टि से निहारा, उस दृष्टि से राग-द्वेष होगा । जीवद्रव्य तो एक था । यदि एकद्रव्य भाव से देखते, तो न पुत्रभाव होता, न पतिभाव होता, न भाई भाव होता । इतने भावों का अभाव होता है, तद्रूप आश्रव का अभाव होता ।

गहरे में जाइये । जितने विशेषों को देखोगे, उतना विशेष बन्ध होगा । आत्मा अविशेषभावी है । ये विशेषण, ये रिश्ते, सम्बन्धरूप हैं; स्वभाव-रूप नहीं हैं । रिश्ते अस्थाई हैं, ये सम्बन्ध अस्थाई है । घर में होते क्लेश को देखकर क्लेश की पर्यायों को न देखता, क्लेश के द्रव्य को न देखता, क्लेशरूप गुण को न देखता, वरन् क्लेश करनेवाले में बैठा जीव, जो भगवत् स्वरूप है, उसे देखता, तो एक क्षण में साम्यभाव आ जाता । ये क्लेश क्या करेगा मेरे साथ। ये क्लेश नहीं कर रहा । यह संक्लेश हो रहा है । मैं इसके संक्लेश को क्लेश मान रहा हूँ, यह तो संक्लेश में बैठा हुआ है, इसके संक्लेश में मैं सहयोगी क्यों बनूँ ? तू अपना संक्लेश कर । आप शांति से बैठ जाओ । धन्य है उनकी महिमा । आप संक्लेश को भी क्लेश रूप में भोग रहे हो । भोग कितने प्रकार के है ? ये भी तेरा भोग हो गया, किसी के द्वारा गाली दी जा रही थी, मैं उसको सुन रहा था, और सुनते-सुनते उसके मन में भाव आ गये कि इसने मुझे गाली क्यों दी ? यानी तूने उसके गालीरूप शब्द-वर्गणाओं का भोग किया, तभी तो अनुभव में बोल पड़ा । बिना अनुभव किये यह बोला कैसे ? नमक का स्वाद खारा होता न ? आपने अनुभव करके चखकर ही बोला, या जानकर बोला ? ऐसे ही, हे मुमुक्षु ! रसना इन्द्रिय के विषय को तो हर कोई कहता है कि तूने भोग कर लिया । गाली कर्ण-इन्द्रिय का विषय थी, कि नहीं ? चलिए आप समयसार की भाषा में । गाली कर्णइन्द्रिय का विषय बनी थी । विषय उसी के लिए बनती है, जिसमें राग होता है । वस्तु विषय नहीं है, इतना ध्यान रखना । वस्तु तो वस्तु है । वस्तु तो विषय उनके लिए है, जो विषयी है । यह पेन मेरे लिए है, घोड़े के लिए पेन नहीं है । रोड पर पड़ा मल का पिण्ड आपके लिए हेय है; परन्तु सुअर के लिए हेय नहीं, उपादेय है । आपने क्या मानकर रखा है, कि अष्टमी-चतुर्दशी आई, तो आपने कुछ त्याग करने को धर्म मान लिया । आप बोलने की वस्तु को भी छोड़ो, सुनने की वस्तु को भी छोड़ो, देखने की वस्तु को भी छोड़ो, सूँघने की वस्तु को भी छोड़ो, कुछ करने को भी छोड़ो, तब तुम्हारा व्रत पूरा होगा । देखो मेरा काम आपको सुनाना है । आपको सुनकर स्वीकारना है । जब जिस पर्याय में पालन कर सको, कर लेना; परन्तु इतना समझ तो लो, कि ऐसा भी होता है ।

विशेषणों को देखोगे तो विषाद होगा, विशेषणों को गौण करके विशेष मात्र को देखोगे, तो विषाद नहीं होगा, हर्ष नहीं होगा, वरन् मध्यस्थ होगा ।

आपने गाली को कर्णइन्द्रिय का विषय बनाया । किससे भोगा ? कर्ण इन्द्रिय से भोगा । मिर्च खाई, आँख में आँसू आये, नाक भी बहने लगी, तब भी मिर्च नहीं छोड़ रहा है । धिक्कार हो, खाते समय सी सी, और मल-विसर्जन के काल में भी वहाँ पर उसको कष्ट हो रहा था, फिर भी मिर्च नहीं छोड़ी । अब बताइए

इससे बड़ा राग क्या होगा ?

जैन सिद्धान्त को अनेक विधाओं के द्वारा प्ररूपित करके आप समझ पाओगे, मैं कह रहा हूँ, आप अनुभव करो। फिर भी नहीं छोड़ रहा है, रसना इन्द्रिय का विषय बना रहा है। सही जो था वह आपका स्वरूप ही था, पर आपने अपना स्वरूप खोकर पररूप निहारते-निहारते नयनों में नीर, मुख में लार, नाक में मल और हृदय जलन भी पड़ रही है, फिर भी नहीं छोड़ रहा है। मिर्च को मिर्च ही मत समझना। पाँचों इन्द्रियों का विषय बनाइये। यह तो दृष्टान्त मात्र है। जिस विषय का आप भोग कर रहे हैं, उसमें विषाद तो आता है, अनुभूत होने के बाद पश्चाताप होता है, इसके उपरान्त पुण्य क्षीण होते भी दिखाई देता है, शरीर भी कृश होते नजर आ रहा है, मस्तिष्क भी क्षीण हो रहा है, फिर भी पाप की कषायें बन्द नहीं हो रही हैं।

कषायें का भी भोग होता है, फिर कषायों का भोग परवस्तु का भोग कराता है, और परवस्तु के भोग से पापास्रव होता है। पापास्रव में जो कर्म-आश्रय हुआ, फिर यह आत्मा अभिनव कर्म को भोगता है, उसके भोगने में फिर संक्लेश करता है, तो नवीन कर्म आते हैं। कर्म से कर्म, गति से गति, इन्द्रियों से इन्द्रियाँ। आज यहाँ की महिलाओं ने अनन्तानुबन्धी कषाय का त्याग किया है। लोग खाने-पीने की वस्तु का त्याग करते हैं, पर यहाँ की महिलाओं ने लम्बे समय तक कषाय नहीं करेंगे ऐसा संकल्प लिया है। बहुत से लोग ऐसे हैं जो पाप नहीं मानते। कोई व्यापार कहता है पाप को, कोई जीवन कहता है पाप को। पूछो महिलाओं से, ये मायाचारी कर लेती हैं, तो कहती हैं, कि इस पर्याय का स्वभाव है। ऐसा नहीं कहती कि धिक्कार हो जो मैंने मायाचारी की। न कि ऐसा सोचना चाहिए कि हमारी जाति का स्वभाव है। भले जाति का स्वभाव हो, पर उसे पाप मानिए। छल तो छल ही होगा। ग्लास अधिक भरा था पानी से, और जिस स्थान पर आप बैठे थे वह सूखा स्थान था, अधिक भरा होने से छलक गया, आप संतुष्टि कर रहे थे कि अधिक भरा था इसलिए छलक गया। यह शब्द क्यों आया ? क्योंकि कोई कहने न लगे कि पानी क्यों गिरा दिया ? अरे ! चाहे अधिक भरा हो तब छलके, चाहे कम भरा हो तब छलके, पर भूमि तो गीली हुई है। लगाइए सिद्धान्त, भूमि तो गीली हुई है। चाहे आपको पर-निमित्त से कषाय आ रही हो, चाहे स्वनिमित्त से आ रही हो, चाहे पर-निमित्त से पाप कर रहे हो, चाहे स्वनिमित्त से पाप कर रहे हो, लेकिन आत्मा की भूमि कर्मों से गीली हुई है, उसे सुखाना ही पड़ेगा। इसलिए विशेषण जो है अभूतार्थ है, क्योंकि आप पुरुष हैं। आपको मालूम नहीं है क्या ? मैंने कहा पंडित जी है। इस विशेषण ने मालूम क्या किया ? आपने मुझे पीछे क्यों बैठाया, मैं तो विद्वान था ना ? इस विशेषण ने तेरी सहजता को खो डाला। धनी, निर्धन, स्त्री, पुरुष, ये सब पर्याय के विशेषण हैं।

'अस्ति पुरुषचिदात्मा' तू पुरुष को देखेगा तो एकत्व भाव दिखेगा और नानारूप डॉक्टर, इंजीनियर, वकील को निहारेगा तो राग-द्वेष खड़ा हो जायेगा। यह है ध्यान का विषय। त्रैकालिक अस्तित्व मुनिपने का है, तेरा है, तो तू मुनिपने से मोक्ष जायेगा, कि अपने अस्तित्व से मोक्ष जायेगा ? मुनिराज से कह रहे हैं। यह हे मुनिराज ये प्रवृत्ति तो पर से हटने की थी। मुनिवेश भी तेरा स्वरूप नहीं है, वह भी पररूप है, इसमें भी विशेषण जोड़ कर चलेगा, तो पर जीवों में तुझे हीनभाव दिखेगा, और निज में गौरवभाव आयेगा, गौरवभाव गारव-भाव है, गारव यानी गर्व है।

हे योगीश्वर ! तेरा जो अस्तित्व धर्म है वह त्रैकालिक है। आश्रय मुनिपर्याय नहीं होगा, मुनिपर्याय में आश्रय आत्मद्रव्य का होगा, मुनिपर्याय का आश्रय तेरे ध्यान को भंग कर देगा। मैं मुनि इसलिए हूँ कि पापों से मौन हूँ। मुनि पापों से बात नहीं करता।

यह स्वरूप तो पर्यायभूत है। ध्यान में उस स्वरूप को झलकाओ, जो अभी तेरे ज्ञान में आया नहीं है। परमात्मा-पर्याय को देखो। इस मुनिलिंग का ध्यान आपको करना चाहिए है, पर मुनिराज को मुनिपर्याय का ध्यान नहीं करना है, मुनिपर्याय में होनेवाले परमात्मा का ध्यान करना है।

**अव्रती व्रतमादाय व्रत ज्ञानपरायणः ।**

**परात्मज्ञानसपन्नः स्वयमेव परो भवेत् ॥८६ समाधिशतक॥**

समयसार ग्रन्थ के अध्ययन के पूर्व जितने लघु ग्रन्थ है, सब कंठस्थ होना चाहिए। समाधि शतक में आचार्य पूज्यपाद स्वामी लिख रहे हैं- हे अव्रतियो ! ज्ञान की बात नहीं करना चाहते, पहले आप व्रती बनो, व्रती बन गये, फिर क्या करोगे ? फिर नमक, मिर्च, खटाई की बात नहीं करोगे। 'व्रती ज्ञान परायणा'। हे व्रतियो ! तुम अपना जीवन ज्ञान में लगाओ। व्रतियों का काम 'साधु कार्य तपः श्रुतः'। जब भी आप मुनि बनो, आर्यिका बनो, तो ध्यान रखना, ईट-चूने में जीवन बर्बाद नहीं करना। साधु के दो ही कार्य हैं तप और श्रुत। पंच पापों से दूर रहना।

**प्रश्न-** भगवान् अपनी पर्यायों का किसी के पूछने पर तो वर्णन कर देते हैं क्या ?

**उत्तर-** भगवान् जो कथन कर रहे हैं, बोल रहे हैं, वे राग से बोल रहे, कि ज्ञेय भाव से बोल रहे हैं ? ये पंचमकाल के श्रावक भगवान् को भी नहीं छोड़ते। कहते, पुत्र भरतेश चक्रवर्ती रात को बारह बजे आये, तो बोलने लगे और हम भीड़-की-भीड़ आये, तो नहीं बोले, इन्हें तो अपने लड़के में राग आ गया है। अरे ज्ञानियो ! यह तुम्हारी राग-द्वेष दृष्टि बोल रही है। कहना चाहिए, भगवान् नहीं बोलते, पुण्यात्मा के पुण्य से वाणी खिर गई है, वीतरागी तो बोलते ही नहीं हैं।

जैसे ही हम लोगों के नाम के आगे विशेषण लग गया तो राग-द्वेष खड़ा हो गया। स्वभाव सामान्य से ही मिलेगा, विशेष से नहीं मिलेगा। 'अस्तिस्वभाव'। मेरी यह मुनि-मुद्रा त्रैकालिक नहीं है, परन्तु मेरी आत्मा त्रैकालिक है। इसलिए हमें मुनि पर्याय का ध्यान नहीं करना है, मुनि पर्याय में विराजे भगवान्-आत्मा का ध्यान करना है। अब हम मुनि पर्याय में मुनि का ध्यान करेंगे, तो मुझे मुनि-ही-मुनि दिखता रहेगा, हम मौन नहीं हो पायेंगे, और हम मुनि पर्याय में बैठकर सभी पर्यायों से मौन ले लेंगे, तो नरक का नारकी भी भगवान्-आत्मा दिखेगा सादृश्य अस्तित्व गुण से।

चौदहवीं गाथा की जो टीका अमृतचन्द्र स्वामी ने की है, उसमें बड़ा ही सुन्दर चिन्तन किया है, सूत्र प्रदान किये हैं। स्वभाव की अपेक्षा से कंचन के विशेषण अभूतार्थ हैं। कुण्डल, नूपुर, हार, मुकुट ये नाना रूप दिख रहे हैं। नानारूप नाना भावों को उत्पन्न कर रहे हैं, सोना है तटस्थ भाव।

पर्याय में पाप करते दिखते हैं, परिणति में भी पाप बैठा है, वचनों में भगवान्-आत्मा है, इसीलिए तो विसंवाद है। जितना वचनों में चल रहा है, उतना परिणति में आना चाहिए, और जो परिणति में आ जाए, तो जीवन की गति वैसी चलना चाहिए। उतने ही व्रत करना, जितने आप व्रती हो और उतने ही अपने व्रत का व्याख्यान करना, जितने का तुम पालन कर रहे हो। लम्बी-चौड़ी नहीं कहना। लम्बी-चौड़ी कहने वाला जितना अश्रद्धा का पात्र बनता है, उतना शान्त रहने वाला नहीं बनता है। घर छोड़ना नहीं चाहते और घर का काम करोगे नहीं, तो संकलेशता बढ़ती है, घर में कलेश होता है। भेदभाव भूतार्थ है, अभेदभाव अभूतार्थ है। ज्ञान दर्शन आदि भूतार्थ हैं, कषाय भाव से युक्त आत्मा अभूतार्थ है।

पानी गर्म है, अँगुली डाल रहे हो तो जल भी रही है, फिर भी पानी गर्म नहीं है। कुछ कहना है ? गर्म

पानी को गर्म कहने वाले बहुत हैं, पर गर्म को गर्म नहीं कहने वाले कम हैं। यह है सूक्ष्म तत्त्व। पानी की उष्णता स्वभाव नहीं, सोपाधिक दशा है। ध्यान दो, आत्मा और कर्म में भेद देखो। पानी उष्ण है, कि नहीं? पानी में उष्णता है क्या? पानी की उष्णता है, कि पानी उष्ण है? पानी उष्ण नहीं है, पानी में उष्णता है, यानी पर से आई है, पानी में नहीं है। उष्णता तो अग्नि की है, लेकिन विभाव के कारण पानी गर्म कहला रहा है। सत्यार्थ निहारिये, पानी में उष्णता नहीं है, उष्णता अग्नि में है। घृत से अँगुली जल गई, तो क्या करूँ? घृत रख दो, शीतल हो जायेगी।

घृत से अँगुली जली होती, तो उस पर घृत ही क्यों रखा जाता? घृत अग्नि के संयोग में आया तो अँगुली जलाने लग गया। अग्नि का संयोग घट जाये, तो घृत अँगुली को जलाता नहीं। घृत तो शीतल ही है।

ज्ञानी! आत्मा जला रही है क्रोधी की। आत्मा नहीं जलाती किसी की। आत्मा में विसंयोगी भाव, विजातीय भाव, कषायिक भाव कर्म के कारण हैं। वह संयोग जला रहा है, आत्मा किसी को नहीं जलाती। तू भी भगवान् आत्मा है। समयसार यहाँ नहीं समझना, आज से घर में लगाना। जब क्रोधी आप पर बरसने लग जाये, वहाँ लगाना। यह क्या बरसेगा, ये तो भगवान्-आत्मा है। यह तो अग्नि का संयोग बरस रहा है। यह तो कषायभाव है, मिश्र भाव है। यह हट जाये, तो अन्दर क्षमा-भाव है। ऐसा चिन्तन करना, कोशिश नहीं करना। पर्याय पूरी निकली जा रही और आपकी कोशिश ही चल रही है।

हे ज्ञानी! यह कोशिश कब तक चलेगी? अब कोशिश नहीं, अब कुछ करना है। जैसा होता है वैसा नहीं करना। जैसी कषाय आती है, वैसा नहीं करना है। यानी जिससे कषायिक भाव आते हैं, विकारी भाव आते हैं वे नहीं करना।

आप ससुराल जाते हो, वहाँ पर कोई पत्तल में भोजन दे दे, तो अपमान समझोगे, और चाँदी के बर्तन में भोजन कराया जाये, फिर देखो। वह बर्तन साथ में लेकर आओगे क्या? नहीं मिल रहा, फिर भी खुश हो रहे हो।

मुझे तो द्रव्य दिखता है। द्रव्य किसमें है? वह पर्याय नहीं दिखती हैं। वह भगवान्-आत्मा को समझने वाला है। सोने, चाँदी की थाली, पत्तल ये तो पर्याय पर रखा द्रव्य था, द्रव्य तो भोजन था, भोजन खा लेना चाहिए था। यह मत देखो, कि यह तिर्यञ्च, यह मनुष्य, यह अमुक जाति का है। यह देखोगे तो आप भगे-भगे फिरोगे। उन सब में जीवद्रव्य देखोगे, तो भगवान्-आत्मा हैं। बहुत कठिन है, पर है सत्य। सम्पूर्ण जप-तप की साधना एक पलडे पर रख दीजिए आप एवं जिनलिङ्ग दशा में स्वात्मानुभूति का अभ्यास, तो इसी अभ्यास से ही मोक्ष मिलेगा। बर्तन यानी थाली। बर्तन तो अन्दर का होना चाहिए। आप बर्तन को देखकर वर्तन बिगाड़ रहे हो, नरतन को बिगाड़ रहे हो, वर्तन यानी परिणमन। एक में 'ब' है, एक में 'व' है। एक अक्षर में अर्थ बदलता है।

आत्मा में कर्म हैं, आत्मा कर्म नहीं है। आत्मा में रागद्वेष हैं, आत्मा राग-द्वेष नहीं है। आत्मा में कामादिक विकार हैं, आत्मा कामादिक नहीं है। आत्मा में अस्तित्व आदि अचेतन धर्म हैं, पर आत्मा ज्ञायकभाव से अचेतन नहीं है। फिर भी आत्मा अचेतन भी है। आचार्य अकलक स्वामी की प्रज्ञा कितनी विशाल होगी। यह भी सामायिक का विषय बना लिया करो।

आगम अविस्वादी होता है। क्रमबद्ध नहीं होता है। अष्टसहस्री में पढ़ लेना।

क्रमभावी ज्ञान अक्रमभावी ज्ञान

तत्त्वज्ञान प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम् ।

क्रमभावि च यज्ज्ञान स्याद्वादनय संस्कृतम् ॥१०१॥ आप्त मीमांसा

सम्पूर्ण तत्त्वों को यदि कोई प्रकाशित करनेवाला है, तो वह है सर्वज्ञ का अक्रमभावी ज्ञान और आपका ज्ञान क्रमभावी/ क्रम-क्रम से है। क्रम के विषय को अक्रम में लगाओगे, तो कहाँ जाओगे? फिर आप केवली के ज्ञान से बात करना चाहते हो, तो तुम्हारे पास एक ही ज्ञान बचेगा, मति - श्रुत/ मति-श्रुत ज्ञान के विषय को मति-श्रुत से ही जानोगे, केवली के विषय को मतिश्रुत से नहीं जानोगे, विश्वास रखना और केवली का विषय तेरे ज्ञान का विषय बन गया, तो मुझे अशुद्ध गुण में शुद्ध गुण कहना पड़ जायेगा। क्या करूँ ? हठाग्रहता में, विद्वता भी काम नहीं आती। श्रुतकेवली की अगली पर्याय श्रुतकेवली पर निर्भर है। श्रुत मात्र से लोकान्तिक देव नहीं बनते, श्रुत के साथ चारित्र चाहिए।

॥ भगवान महावीर स्वामी की जय ॥

५ ५ ५

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुड्ढं अणण्णयं णियंद ।

अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणाहि ॥१४॥

आचार्य-भगवान् आत्मा के भूतार्थ स्वरूप का व्याख्यान कर रहे हैं। कोई भी द्रव्य न भूतार्थ ही है, न अभूतार्थ ही है। यही भूतार्थ है। भूतार्थ भी है। अभूतार्थ भी है। यही तो भूतार्थ है। भेदात्मक भी है, अभेदात्मक भी है। नित्य भी है, अनित्य भी है। एकरूप भी है, अनेकरूप भी है, नानापना, एकत्वपना यह द्रव्य का स्वभाव है। यहाँ पर अनेक प्रकार से चौदहवीं गाथा को आचार्य-भगवन् अमृतचन्द्र स्वामी ने समझाया है। एक अलौकिक कलश प्रदान कर रहे हैं। इस कलश के माध्यम से आत्मा के उस शुद्धस्वरूप का कथन किया जा रहा है, जो कि ध्रुव ज्ञायकभाव का, ध्रुव चेतनत्व भाव का, शुद्ध चिद्स्वरूप स्वभाव का, और जब इन स्वभावों पर लक्ष्य जाये, उस समय आप व्यवहार के पक्ष को गौण करके, निश्चय के पक्ष को ही समझेंगे, तो, ज्ञानी ! समझ में आयेगा। और यहाँ जब निश्चय का कथन चलेगा, तब यदि आप व्यवहार पक्ष लगायेंगे, तो विकल्प हो जायेंगे अतः जहाँ व्यवहार का कथन हो, उसे परिपूर्ण रूप से व्यवहार में ही कहना, उसे निश्चय की भाषा में नहीं बोलना; पर लक्ष्य निश्चय का ही रखना। यह आगम को समझने की शैली है। निश्चय की भाषा को व्यवहार में प्ररूपित करेंगे, तो न निश्चय समझ में आयेगा, न व्यवहार समझ में आयेगा, और व्यवहार की भाषा को निश्चय में कहोगे तो न व्यवहार समझ में आयेगा, न निश्चय; विसंवाद ही होगा, जबकि आगम अविस्वादी है। ये तत्त्व की भूल नहीं हैं। तत्त्व को न समझने वालों की भूल है, तत्त्व तो आगम में जिस नय का है उसी नय से प्ररूपित है। जिस नय से तत्त्व की प्ररूपणा है, आगम में तो वैसी ही प्ररूपणा है। समझाने वाला क्या चाहता है, वह वक्ता का अभिप्राय है, वक्ता अपने अभिप्राय: को आगम न बनायें, वरन् आगम को अपने अभिप्राय में लायें, तो आपका मोक्षमार्ग प्रशस्त होगा, और जिनको भी आप समझा रहे हैं उनका भी मार्ग प्रशस्त होगा। इसलिए इस कलश को देखें -

न हि विदधति बद्धस्पृष्ट भावादयोऽमी स्फुटमुपरि तरन्तोऽपेत्य यत्र प्रतिष्ठाम् ।

अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्ताज् जगदपगतमोहीभूय सम्कस्व भावम् ॥११॥ अ.अ.क.

ज्ञानियो ! कलश का गहनतम अर्थ समझो। कलश का अर्थ करने के पहले इसकी भूमिका बता दूँ। यहाँ तो अन्योन्य भाव से आत्मा में कर्मों का सम्बन्ध नहीं कहा। यद्यपि सिद्धान्त की अपेक्षा से आत्म प्रदेश-

कर्मप्रदेश, बन्ध अपेक्षा एकमेक हैं, परन्तु अध्यात्म शास्त्र यहाँ एकमेक कह कर, आपको उनसे विरत कैसे करेंगे? एक मेक होने पर भी जिसे सिद्धान्त एकमेक कह रहा है, तब भी एक मेक तो हो सकते हैं, परन्तु एक रूप नहीं हैं। आत्मप्रदेश व कर्मप्रदेशों का एकमेक हो जाना, यह बन्ध है। दुग्ध में पानी का मिल जाना जैसे है, वैसे ही आत्मा में कर्म का बन्ध है। फिर भी हंस जैसे कि दूध-नीर को अलग कर लेता है, ऐसे ही सम्यग्दृष्टि जीव अबन्ध आत्मा को निहारता है। सम्यग्दृष्टि जीव बन्ध अवस्था में भी निर्बन्ध अवस्था को निहारता है। यदि निर्बन्ध आत्मा को नहीं देख पायेगा, तो बन्ध के खोलने का अभिप्राय तेरा क्या है? बहुत भ्रम है लोगों को। क्यों? चतुर्थ आदि गुणस्थान में बध्य आत्मा को निर्बध्य नहीं जानोगे, नहीं पहचानोगे, तो आपको चतुर्थ आदि गुणस्थान का अभिप्राय क्या है? आप किस नाम पर चतुर्थ गुणस्थानवर्ती हो गये हो? यह प्रश्न है हमारा। बद्ध अवस्था में निर्बद्ध अवस्था को नहीं समझते हो। ध्यान देना, मैं निर्बन्ध अवस्था को समझने की बात कर रहा हूँ, उसे निर्बन्ध मान मत बैठना। भेदविज्ञान किसका? दोनों तरफ गडबड चल रही है। जो निर्बन्ध ही मान रहा है, फिर भेदविज्ञान किसका? जो बन्ध स्वभाव ही मान रहा है, उसका भेदविज्ञान किस बन्ध अवस्था में, आत्मा को निर्बन्धस्वभावी माने। इन अवस्थाओं को वेदन करना पड़ेगा, अनुभूति में लाना पड़ेगा, और निर्बन्ध स्वभावी आत्मा को भी बन्धरूप स्वीकारना पड़ेगा, ध्यान रखना। क्योंकि कुन्दकुन्द देव कह रहे हैं कि यह विषय मस्तिष्क का विषय है, अतः अन्दर की आँख से समझिए।

बन्ध को छेदकर ही निर्बन्ध होता है। बन्ध का छेद क्यों किया? निर्बन्ध को जाना, तभी तो किया। यह है निश्चय-व्यवहार का व्याख्यान।

इस व्याख्यान में भी पुण्य चाहिए, तब आप सम्यक् व्याख्या कर पायेंगे, और यदि पाप का बन्ध तेरी आत्मा में बंधा है, तो आप सम्यक् व्याख्या नहीं कर पायेंगे। ध्यान रखना, जिसका अशुभ आयु का बन्ध होने जा रहा है या हो चुका है, वह कहीं न कहीं तत्त्व का विपर्यास नियम से करेगा। अगर अशुभ नहीं बोलता होता, तो अशुभ आयु का बन्धक होता कैसे? प्रश्न तो यह है। हे क्षायिकसम्यग्दृष्टि तू! नरक जा रहा है, वह क्षायिक सम्यक्त्व के कारण नहीं जा रहा। तू सम्यक्त्व के पहले अशुभ प्रवृत्ति कर चुका था। आयुबन्ध टलता नहीं। अपकर्षण तो हो सकता है, लेकिन संक्रमण नहीं होता। यह करणानुयोग के सिद्धान्त का नियम है। आप सिद्धान्त तभी बोलना, जब आपको आता हो, क्योंकि समाज भोली है, आप जोर से बोल दोगे, कि सिद्धान्त कहता है, और किसी ने गलत श्रद्धान कर लिया तो आपने लाखों-लाखों जीवों का अहित किया।

नोकर्म को भिन्न देखूँ, भावकर्म को भिन्न देखूँ, द्रव्यकर्म को भिन्न देखूँ, और इन तीनों के मध्य में विराजी भगवान्-आत्मा को भिन्न देखूँ। क्यों देखूँ? ध्यान दो। कर्म, नोकर्म भावकर्म ये तीनों वर्तमान में आत्मा की ही परिणति हैं। मैं द्रव्यकर्म को भी आत्मा की परिणति कह रहा हूँ, ध्यान रखना। आत्मा की परिणति न बने, तो कार्माण वर्गणाएँ कर्मरूप में कैसे बने? ऐसा मुमुक्षु जीव निर्दोष ज्ञानी बनकर व्याख्यान करे। परन्तु, क्या करूँ? रूढ़िवादी ज्यादा हैं, परम्परावादी ज्यादा हैं, जबकि ज्ञानी कम हैं। सच्चा मोक्षमार्गी होगा तो वह तत्त्व को स्वलित नहीं करेगा। जैसा होगा, वैसा ही कहेगा।

बद्ध को बद्ध निहारिये, अबद्ध को अबद्ध निहारिये। बन्ध स्वभाव नहीं है, मैं निर्बन्ध हूँ, पर बन्धा न होता, तो निर्बन्ध को कहता कौन? जो-जो निर्बन्ध का व्याख्या करते हैं, वे सब बन्धक ही होते हैं। जो निर्बन्ध नहीं होते हैं, वे व्याख्यान नहीं देते हैं, वे सिद्ध मात्र होते हैं। अरहंत व्याख्यान देते हैं, वे बन्धक ही हैं। अरहंत को बन्धक नहीं मानोगे, तो वे अबन्धक बने कैसे? अर्द्धनारीश्वर हैं। आचार्य जिनसेन स्वामी ने अर्द्धनारीश्वर को नमस्कार किया है। अरि यानी शत्रु। हे प्रभु! आपने आठ में से चार कर्मों का नाश किया है,



इसलिए आप अर्द्धनारीश्वर हैं। इसलिए जो-जो व्याख्याता हैं, वे सब बन्धक होते हैं, पर व्याख्यान बन्ध का नहीं होता। बन्ध के लिए नहीं होता, बन्ध का विधान तो हो सकता है, पर बन्ध का व्याख्यान नहीं होता। व्याख्यान निर्बन्ध के लिए ही होता है, व्याख्यान का विषय अबन्धता को प्रकट कराने के लिए ही होता है। तत्त्वज्ञान कथंचित विपरीत भी हो जाये, तब भी श्रेष्ठ है। हे ज्ञानी ! तत्त्वज्ञान विपरीत हो जाना अच्छी बात नहीं है, फिर श्रेष्ठ क्यों कहा ? इसलिए कहा कि ज्ञान विपरीत नहीं होता, तत्त्व विपरीत नहीं होता; विपरीत मान्यता होता है, अभिप्राय होता है। जिस दिन तेरा अभिप्राय बदल जायेगा, वही तत्त्व जो तू विपरीत कहता था, वही तेरा सम्यक्ज्ञान बन जायेगा, तुरन्त समझ में आयेगा। मेरी न मानो तो गौतम स्वामी से पूछो। गौतम को पहले विपरीत ज्ञान था, और जैसे-ही सर्वज्ञ के चरणों में पहुँचते हैं, एक मुहुँत प्रमाण काल में सारा का सारा ज्ञान सम्यक्ज्ञान हो गया। इसका मतलब यह मत समझना, कि आप विपरीत ज्ञान करें, आप ज्ञान सम्यक् ही करना, और सम्यग्दृष्टियों से ही करना, समीचीन ही करना। यह यथार्थ मानना, कि ज्ञान तभी बढ़ता है, जब ज्ञाता के प्रति सम्यक् श्रद्धान हो, और सम्यक् श्रद्धावान हो। जिसे जिनवाणी पर श्रद्धा नहीं है, उसे व्याख्यान का आनन्द नहीं आता। कभी भी द्रव्य श्रुत को मिथ्याज्ञान मत कह बैठना। द्रव्यश्रुत कभी मिथ्या नहीं होता, मिथ्यापना तो भाव में ही आता है, नहीं तो यह समयसार ग्रन्थ भी मिथ्या हो जायेगा। ऐसा कहना कि मिथ्या द्रव्य श्रुत मिथ्या है।

**मिथ्या समूहो मिथ्या चेन्न मिथ्येकान्ततास्ति नः ।**

**निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्ष वस्तुतेऽर्थकृत् ॥१०८॥ आप्त मीमांसा ।**

एक बार तेरे संयम में दोष आ जाये, उसको जल्दी शुद्ध किया जा सकता है-

**दंसणभट्टा भट्टा दंसण भट्टस्स णत्थि णिव्वाणं ।**

**सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति ॥३॥ अष्टपाहुड ॥**

एक बार चारित्र में किंचित दोष आ गया, प्रत्याख्यान क्यों ? प्रतिक्रमण क्यों ? एक अन्तमुहूर्त पहले अशुभ किया, और द्वितीय अन्तमुहूर्त में केवली भगवन्त हो गये। परिणाम बदलते हैं पर्याय बदलती है। तू पर की विपरीत पर्याय को देखकर क्यों परिणाम कलुषित कर रहा है ? मुस्कराहट चेहरे पर इसलिए दिखती है, कि मैं जगत को निहारूँगा, तो जगत में कौन-कौन शुद्ध दिखेंगे, कौन अशुद्ध दिखेंगे ? मैं तुमसे ही पूछता हूँ, तुम घर में शुद्ध रहते हो क्या? मन्दिर शुद्ध होकर आते हो अरहंत की वंदना को। उस एक क्षण की पर्याय को देखकर मैं तुझे श्रावक कहता हूँ, मैं क्यों अशुभ सोचूँ? एवंभूतनय क्या कहेगा? यदि तुम दूसरे का अशुभ सोच रहे हो, तो वह अशुभ हो या न हो, पर तू अवश्य ही अशुभरूप है।

एवंभूतनय को मालूम, आप क्या कर रहे हो, मात्र शरीर के किये पर्याय को पकड़ते हो। आप अभी अध्ययन कर रहे हो तो विद्यार्थी कहलाओगे। पर इतना ही नहीं है। एवंभूतनय कहेगा, यह तो शरीर की बाहर की क्रिया चर्या की पर्याय को देखा। एवंभूतनय को भाव पर भी लगाओ न। जिस समय तेरा जैसा भाव होगा, उस समय तेरी परिणति वैसी होगी और उस समय तेरी जैसी परिणति होगी, तदरूप तेरे भावों की गति होगी। वह दिखेंगी कैसे ? आयुबन्ध से पूछना कि जैसी परिणति होगी, वैसी गति का बन्ध होगा। जैसा साँचा होगा, वैसी ही वस्तु बनेगी। साँचा भिन्न था, फिर भी वस्तु को आकार दिया, ऐसे ही भटक नहीं जाना। पर की पर्याय को देखना भी वह साँचा है। मैं व्यवहार की बात कर रहा हूँ। सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण पड़ा, गर्भवती माँ से कहा कि देखना नहीं। ऐसा बोलते हैं; कि नहीं ? बोलते हैं। प्रदोष काल है, दूषित काल है, कालाचार है, कालाचार में भाव बदलते हैं। सम्पूर्ण तत्त्व को तत्त्व से पकड़िये। बादल होते ही पीतल के बर्तन काले क्यों

हो जाते हैं ? काला किससे पड़ा? उपादान शक्ति बर्तन में थी। यदि थी, तो गर्मी में क्यों नहीं काला पड़ा था, बादलों से क्यों पड़ा ? इसी प्रकार से हम लोग अध्यात्म में जीने वाले तत्त्वज्ञानी हैं, पर सिद्धान्त को खोने वाले नहीं है। जिनवाणी तो यह कह रही है, कि जिस घर में गर्भवती माँ हो, उसे अधिक-से-अधिक जिनालय या घर पर ही रहना चाहिए, बाजार आदि भी नहीं जाना चाहिए। वहाँ के भी संस्कार पड़ते हैं। घर में ही अधिक-से-अधिक णमोकार की जाप करना चाहिए। सिद्धान्त ग्रन्थ को भी ऐसे काल में नहीं पढ़ना कभी। मात्र सामान्य ग्रन्थ पढ़ो। भक्ति, आराधना खूब करो। सामायिक के काल में लिखा-पढ़ी करोगे, तो झगड़ा खूब होंगे। 'धवला' की नौवीं पुस्तक में लिखा है कि जो कालाचार, द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव को छोड़कर, ज्ञान के लोभ में श्रुत का अभ्यास करेंगे, तो कलह, क्लेश और निरोगता की हानि, सम्बन्धियों की हानि तक होती है। 'धवला' में स्पष्ट लिखा है। सिद्धान्त ग्रन्थों को सही काल में ही पढ़ना चाहिए, नहीं तो विद्वानों को विकिप्त होते आपने भी देखा है एवं असमाधिपूर्वक मरण होता है।

**नारिस्ते त्रिकाल योगोऽस्य, प्रतिमा चार्क सन्मुखः।**

**रहस्यग्रन्थसिद्धान्त श्रवणे नाधिकारिता ॥५४७ भावसंग्रह ॥**

महिलाओं को सामूहिक रूप से खड़े होकर कायोत्सर्ग नहीं करना चाहिए। माताजी को योग धारण की आज्ञा नहीं है। वर्षायोग, शीतयोग, ग्रीष्म योग में मुनिराज सूर्य के सामने प्रतिमायोग धारण करते हैं। ऐसा श्रावकों को अधिकार नहीं है। अभिप्राय निर्वस्त्र नहीं होना चाहिए। प्रतिमायोग धारण नहीं कर सकते। जिस प्रकार मुनि विधि लेकर आहारचर्या में ऐसा निकलते गृहस्थों का विधान नहीं है। मुनिराज का तप है, आचार्य का मूलगुण है। रहस्यग्रन्थ को सुनने का अधिकार श्रावक को नहीं है। मन में कषायभाव हो, चंचलता हो, गरिष्ठ भोजन किया हो, विषाद मन में हो, प्रमाद सता रहा हो, शोकाकुल, हो ऐसे काल में सिद्धान्त-शास्त्र नहीं पढ़ना, अन्यथा विपरीत अर्थ लगा दोगे।

एक छोटे से दृष्टान्त के माध्यम से समझें, अपने एक विद्वान जब षटखण्डागम पर काम कर रहे थे। अब विद्वान गरीब न हो तो कौन हो? यह विद्वान समाज पर आश्रित थे। एक पंक्ति का अर्थ करते तो अर्थ लगता ही नहीं। कहीं पैसा कमाने जायेंगे तो ग्रन्थ का काम नहीं हो पायेगा और ग्रन्थ का काम कर रहे हो तो पैसा नहीं आ रहा है। आप समाज को तो जानते ही हो। गाने-बजाने वाले को तो लाखों दे दें, पर विद्वान् को सौ रुपये पकड़ायेंगे। संगीतकार को लाख पुजारी को हजार पकड़ाते हैं। आपकी मानसिकता ऐसी बन चुकी है।

मैं उस विद्वान् की निष्पृहता की बात कर रहा हूँ। एक दिन में कितने मिलते थे? बहुत कम पैसे मिलते थे, उस समय डेढ़ रुपये पं. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री को मिलते थे। काम करते-करते क्या हुआ, कि एक कारिका का अर्थ नहीं जम रहा था। तीन दिन निकल गये। उनको पैसा दिन से नहीं, एक पेज के हिसाब से दिया जाता था, जब उनका तीन दिन में एक पेज नहीं हो पाया, तब उनके पैसे गये कि नहीं? इसी बीच में पत्नी ने पं. जी का चेहरा उदास देखा। उनकी धर्मपत्नी से मिलो, कितनी श्रेष्ठ थी। पूछा क्या बात है? पं. जी बोले, शब्दकोष चाहिए / पैसा है नहीं / उसके बिना काम नहीं चलता / उन्होंने अपने हाथ की सोने की चूड़ी उतार कर दे दी लो इनको बेच दो और ले आओ शब्दकोष।

इसी बीच में एक विद्वान् पहुँचे, पूछा, क्या हो गया ? कुछ नहीं, तीन दिन से एकशब्द का अर्थ नहीं हो रहा। तो आगे बढ़ जाते न। घर कैसे चलाओगे? आप का परिवार कैसे चलेगा ? बोले भैया ! परिवार चले या न चले, लेकिन हम कलम नहीं चलायेंगे। चौथे दिन जब उनके मस्तिष्क में विषय जम गया, उन्होंने तभी

कलम चलाई / इतने निर्लोभी होना कितना मुश्किल है। ऐसे-एसे विद्वान् हुए, जो घर का काम करने के लिए घर का दीपक जलाते थे, और सरकारी काम करने के लिए सरकारी दीप जलाते थे। बोले सरकारी काम हो गया, अब इस दीपक को बन्द करो। ऐसे भी लोग हुए। ऐसी निस्पृहवृत्ती हो, तब कहना, बद्ध को निर्बद्ध समझो, निर्बद्ध के समझते समय भी बन्ध का ध्यान रखो। मैंने दो कथन कर दिये। सिद्धान्तशास्त्र बद्ध में बद्ध समझो, अध्यात्मशास्त्र कहा है कि बद्ध में निर्बद्ध समझो। एक ही गाथा में दो बातें कहाँ मिलेगी ?

**मगगण गुण ठाणेहिं य, चउदसहिं हवंति तह असुद्धणया ।**

**विण्णेया संसारी, सब्बे सुद्धा हु सुद्धणया ॥१३॥ द्रव्य संग्रह ॥**

दो बातें आ गई, मार्गणस्थान, गुणस्थान। ये जीव के बद्ध अवस्था संसारी में हैं, लेकिन 'सब्बे सुद्धा हूँ सुद्धणया' अर्थात् लेकिन शुद्धनय से सभी जीव शुद्ध हैं, उसे भी जानो, उसे भी मानो। लेकिन बद्ध में निर्बद्ध को मानकर बैठ जाओगे तो पुरुषार्थ समाप्त हो जायेगा।

कलश कह रहा है - जैसे कि सम्यक्स्वभाव का अनुभव किया है, कर रहा है, सम्यक् स्वभाव का अनुभव करो चारों ओर से उद्योतमान होकर। बद्ध है, स्पष्ट है, फिर भी आत्मा में प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं है।

तालाब में कमल है। हे कमल ! तू पानी में रहे, मुझे विकल्प नहीं है। पानी का स्पर्श भी कर रहा है, तब भी विकल्प नहीं है। फिर भी, हे ज्ञानी ! पानी पर तैर ही पायेगा, पानी में पानी नहीं हो पायेगा। सार समझिये। पानी में तेल छोड़ दिया। जैसे ही पानी में तेल छोड़ा, हे तेल ! तू नीर पर तैर ही पायेगा, नीरभूत नहीं हो पायेगा। नीर तो नीरज है। यहाँ नीरज का अर्थ कमल नहीं लेना। नीरज रज यानी कण, धूल नीर जरूर काला दिख रहा है। नाली के पानी को आँखों से देखता है तो कीचड़मय दिखता है। आँखों से न देखकर अंतःकरण से देखे, तो नीरज है। कालापन पानी में नहीं है, कालापन मिट्टी में है। मिट्टी छट जाये, तो नीरज है। पानी का धर्म मल नहीं। मल पानी में पड़ा है, सो पानी गन्दा दिख रहा है। हे कर्मों ! तुम बंधे रहो, चिपके रहो, तुम बंध ही पाओगे, पर मेरी आत्मा को कर्म नहीं बना पाओगे यह है समयसार। इन कर्मों से कह देना।

आत्मा में रह सकते हो, पर आत्मा को अपने रूप नहीं बना सकते, मुनिराज चाहे जब बनना, बन लेना, परन्तु श्रद्धा तो आज से ही स्थापित कर लेना कि आत्मा कभी कर्म नहीं बनेगी और कर्म कभी आत्मा नहीं बनेंगे, कमल पानी में उग ही सकता है, पर कमल पानी नहीं बन सकता। कीचड़ पानी हो सकती है, पर पानी कभी कीचड़ नहीं हो सकता है। मल का कारण कीचड़पना है, निर्मली डाल कर देखो, पानी तो पानी है। आत्मा कैसी है ?

**नीरजीभाव स्वरूपोऽहम्, ब्रह्मानंद स्वरूपोऽहम् । नीर वी भाव स्वरूपोऽहम् ।**

आत्मा नीरज स्वभावी है, नीरज स्वभावी है। मेरा स्वभाव रव नहीं है रव यानी आवाज। अपने ध्यानसूत्र को बंद करके नीरज स्वरूप में चले जाना।

**॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥**

प प प

श्रमण संस्कृति के लिए एक बहुत बड़ा श्रेय प्राप्त हुआ है आचार्य भगवान् अमृतचन्द्र स्वामी का। आत्मविद्या, यह एक गूढ़ विद्या है। जितने जीव अपने स्वभाव से विचलित हो रहे हैं, कषायभाव में लीन हो रहे हैं, यह अन्दर की विद्या का अभाव है। जीव यह समझता है, कि मैं अमुक व्यक्ति का बुरा कर दूँगा। पर उसे यह समझ में नहीं आता कि जिसका हम बुरा करने जा रहे हैं, यदि उसका प्रबल पुण्य का नियोग है, तो

उसका बुरा हम नहीं कर पायेंगे, लेकिन स्वयं बुरे अवश्य हो जायेंगे। कदाचित जिसका बुरा करना चाहते हो, उसके पाप का उदय है, तो आपके निमित्त से उसका बुरा हो भी गया, लेकिन विश्वास रखना, उसका बुरा तो उसके अपने पापकर्म से हुआ। पर बुरा करने का निमित्त बनकर तू पापी अवश्य हुआ है। आप उभयपक्ष से अपनी आत्मा के विधातक हैं। समझ में आ रहा है न? जब तक ये समझ में आ रहा है, मेरी गलती नहीं है, इन्होंने मेरे साथ ऐसा क्यों किया, तो यह आपके जीवन की सबसे बड़ी गलती है। यह अध्यात्म विद्या है, इसमें यह पक्ष तुम्हारे मन में आ गया, कि मेरी गलती नहीं, उनकी गलती है, यानी यही तेरे जीवन की सबसे बड़ी गलती है, क्योंकि जब तक मेरे मन में यह आयेगा, कि मेरी गलती नहीं, उनकी गलती है, तब तक आपको उसके प्रति कषाय आयेगी, और जो कषाय आयेगी, उस कषाय की सत्ता में आप अपना अशुभ-ही-अशुभ कर रहे हो। कभी-कभी आप ऊपरी सतह पर घुले-मिले भी रहेंगे, पर अन्तरंग में पृथक् रहेंगे। आप व्यवहारी मैत्री की बात करें, अष्टधातु की प्रतिमा बनकर न करें (सामान्य रूप से करें, धनिष्ठ बनकर न करें)। जैसे हण्डी पर पारा होता कि नहीं? भगोनी के ऊपर ढक्कन होता कि नहीं है? ऐसा दिखता है जैसे एक हो। अष्टधातु की प्रतिमा एकमेक दिखती है, फिर भी प्रत्येक धातु स्वतंत्र है। अब उस हण्डे के पारे की बात करो। हण्डी पर पारा कब-तक? जैसे ही भोजन पकना प्रारंभ हुआ, उबाल आया, तो पारा हट गया, छोड़ दिया साथ उसने। ऐसे भी लोग जगत में मिलेंगे, कि जब तुम्हारे पास हण्डी रहेगी पुण्य की, तब-तक सब तेरे साथ रहेंगे। तब-तक शीतलता है। जिस दिन तेरे पाप की गर्मी चढ़ गई, उबाल आया पाप का, तो मित्र अलग हट जाता है। पर उस पैदी से पूछना जो ठण्डे में भी थी, गर्मी में भी थी। कौन सहन कर रहा था? सबसे पहले आग को किसने सहन किया? पैदी ने किया। मित्र बनाना तो ऐसे बनाना, जो पैदी जैसे हों, मित्र ऐसे नहीं बनाना, जो पारे जैसे हों, पर विश्वास रखना, बाहर के मित्र पारे- जैसे ही मिलेंगे। तेरे अन्दर का जो मित्र है, वह धर्म है। वहीं ऐसा मित्र है, जो हर समय तेरे साथ रहेगा। जीव ने समझा ही नहीं सच्चे मित्र को। विभाव भाव, विकारीभाव, अशुभभाव, काषायिक भाव, कामुक भाव, लोभी भाव इत्यादि जो भाव है; ये आत्मा के मित्र हैं, पर ये पारे वाले मित्र हैं। आप जलो, फिर हम जाते हैं। हण्डी पर पारा काम भाव है। कितने समय तक रह सकता है? एक अन्तर्मुहूर्त में भाग जायेगा क्रोध भाव कितने समय तक रहेगा, एक अन्तर्मुहूर्त में भाग जायेगा। एक मुहूर्त के लिए आया और तुमको खाक करके चला गया। अब तुम बैठे-बैठे रोओ, पछताओ।

जीवन में ध्यान रखना, जितने विकारी भाव तेरे मित्र बन रहे हैं, सब इस पारे के तुल्य हैं। जो तेरे साथ रहने वाला है, वह साम्यभाव ही है। बाहरी आपत्ति-विपत्ति पर आप नहीं, आपकी परिस्थिति शान्त करा देगी। लेकिन भीतरी विकारों की विपत्ति आती है, उस पर साम्य रखना सीखो। किसी का धन हरण हो गया, संतति का मरण हो गया, तो पड़ोसी भी समझाने आ जायेंगे, लेकिन हे ज्ञानी! तेरे अन्दर के धर्म का धन, शील की संतान चली जाये, तो कोई द्वारे पर बैठने नहीं आयेगा, तुझे ही देखना पड़ेगा। कौन आयेगा? अपना ही चेहरा बनाकर आप ही देखो। यह समयसार ग्रन्थ है, इसलिए ध्यान रखो, प्रत्येक त्यागी व्रती को इस मार्ग पर आने के साथ-साथ इस ग्रन्थ का एकान्त में स्वाध्याय करना बहुत अनिवार्य है। क्योंकि, यदि भीतर का ज्ञान नहीं होता, तो बाहर के कार्यों में उलझ जाते हैं, अन्दर से शून्य-के-शून्य। आपने खीर बनते हुए देखी? बनानेवाले की बात नहीं कर रहा, बनते देखी? नीचे अग्नि जलती दिखती, उसके ऊपर बटलोई रखी दिखती, पर बननेवाला आँखों से नहीं दिखता। चावल से, दूध से पूछो इन दोनों के बीच में क्या हो रहा

है? गहरे तत्त्व को समझो। अग्नि जलते दिख रही है, बटलोई भी दिख रही है, पर जो कुछ सहन कर रहा है वह दूध और चावल। जो परिणामन चल रहा वस्तु का, वह अन्तरंग में भीतर चल रहा है। खीर भीतर पकती है, बाहर नहीं पकती। बाहर तो भेष दिख जायेगा, पिच्छि कमण्डलु, दिख जायेंगे, लेकिन खीर तो भीतर पकती है, बाहर नहीं पकती, चाहे वह विभाव की खीर पके, चाहे वह स्वभाव की खीर पके। चाहे विभाव पके, चाहे स्वभाव पके, पकना दोनों को भीतर ही है। तुम साधना के मार्ग पर खीर बनाने आये थे, पर विकारी भावों से फट गये। खीर बना रहे थे, पर वह दूध फट गया।

कलश में आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं। कलंक को निकाल दिया, तो निष्कलंक भगवान् आत्मा है। आत्मा कलंक नहीं है, कलंक कर्म है। दुग्ध में खट्टापन नहीं था, खटाई ने दूध को खट्टा कर दिया, ऐसे ही घर में परिवार में, देश में, राष्ट्र में कहीं खटास नहीं होती, न किसी के मन में। परद्रव्य का परिणाम जहाँ खड़ा हो गया, तो एक-दूसरे में खटास आ गई। माँ भी बेटे की बुराई करते देखी जाती है, क्या जिस दिन बेटे को माँ ने जन्म दिया था, उस दिन बुराई करने के लिए दिया था? नहीं। जब बेटा कुछ नहीं जानता था, तब बेटा माँ का था। बेटा जानने लग गया, तो माँ को बुरा हो गया। उसका ज्ञान उसके लिए खटाई पैदा करने लग गया। ज्ञान खटाई पैदा नहीं कर गया, उसका अज्ञान खटाई पैदा कर गया। जब माँ-पिता गरीब थे, तब माता-पिता के साथ रहता था। जैसे-ही पैसे कमाने लगा तो माँ-पिता को दे नहीं रहा है, खटास आने लग गई। ऐसा करो, दूध में खटाई होती तो आप जामन क्यों डालते हो? दूध खट्टा नहीं होता, उसको बुद्धिपूर्वक खट्टा किया गया है। विश्वास रखो, अपने हृदय से पूछना, जो-जो अशुभ किये हैं, वह आत्मा ने जानकर किये हैं। अशुभ भाव आते हैं या बुलाते हो? व्यक्ति पकड़ नहीं पाता है। आते नहीं हैं, बुलाते हो। मैं उन भ्रमों को निकालना चाहता हूँ। आते-आते कहकर स्वच्छन्दी होना चाहते हो। आप बड़े आराम से बुलाते हैं। हम व्रत लेते हैं, व्रत आ गया था, कि लिया था? तो व्रत जो कोई तोड़ेगा, टूट गया था कि तोड़ा था बुद्धिपूर्वक? ऐसे विकारीभाव आते हैं, विकारी भावों को भी जीव बुलाता है, उसमें तन्मय हो जाता है। आते ही आप रोक लेते, तो आते ही क्यों? वेग अवश्य तीव्र था। वेग की तीव्रता में विवेक क्षीण होता है, विवेक काम नहीं करता। भाव नहीं बिगाड़े थे, भावों को बिगाड़ा था। माँ के उदर से तुम ऐसे कलुषित-परिणामी नहीं निकले थे। उस समय अच्छे परिणाम थे।

खट्टे-मीठे अशुभ भावों की अनुभूति लेने के लिए तूने ही अपने मन को खट्टा किया है। व्यर्थ की बातें छोड़ दो, कि उन्होंने हमारा ऐसा कर दिया। आपके माता-पिता ने आपकी शादी करा दी न। ये झूठी बातें छोड़ दो, कि फँस गये। नेमिनाथ के माता-पिता शादी क्यों नहीं करा पाये? पर निमित्तों को दोष देते-देते यहाँ तक तो आ गये, पंचमकाल में आ गये, अब भी नहीं संभले तो छटे काल में जाना है। इसलिए भूल को भूल तो मानना ही पड़ेगा।

चावल, चावल है; दूध, दूध है; आत्मा, आत्मा है; परभाव परभाव है। परभाव का मिश्रण तूने ही किया है। कपड़े किसने पहने? शरीर ने पहने, कि आपने? शरीर ने पहने। तो शरीर जड़ है, वह पहनता नहीं है। इसलिये निकाल दो। मैं शरीर को पहनाये हूँ, ऐसा कहना चाहिए, वस्त्र को तन ने नहीं पहना, तन पर पहनाये हैं तूने। शरीर को बुद्धिपूर्वक पहनाये हैं। वस्त्र कौन पहने है? आपका राग पहनाये हैं। आपका राग पर है, कि आप है? राग पर हैं। किसमें है? जीव में है। जीव में है, तो विकारी भाव किसका है? जीव का है।

यह कहना छोड़ दो, कि पर का परिणमन है, तेरा नहीं है। तेरे परिणमन के बिना पर में परिणमन हो नहीं रहा है। ये तन की पर्याय का परिणमन भी तेरे निमित्त से हो रहा है। बारहवें कलश में आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी यही कह रहे हैं। जो पर-परिणमन चल रहा है, इस पर परिणमन को विवेकपूर्वक समझकर, जो निष्कलंक भगवान्-आत्मा है उस पर दृष्टिपात करो।

**भूतं भान्तमभूतमेव रभसाभिर्भिद्य बन्धं सुधीर्यद्यन्तः**

**किल कोऽप्यहो कलयति व्याहृत्य मोहं हठात् ।**

**आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं,**

**नित्यं कर्मकलङ्क पङ्कविकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥१२॥अ.अ.क.॥**

आटे में रोटियाँ खोजना जानते हो। आटे में ध्यान से देखना, रोटी दिखती नहीं है, फिर भी आटे से रोटी बनाना जानते हो कि नहीं? जैसे आटे में रोटियाँ निकाल लेते हो, ऐसे ही इस भगवती आत्मा को निकाल लो; तेरे अन्दर भगवान्-आत्मा है।

द्रव्यदृष्टि का ज्ञान एक किसान को भी होता है। वह भी बीज में अंकुर निकालना जानता है। पर हम कैसे अज्ञानी हैं, जो कि इस आत्मा के अन्दर विराजे प्रभु को निकालना नहीं जानते हैं? आत्म-विज्ञान जानकर भगवान्-आत्मा निकालना सीखो। यह ग्रन्थ आत्मविज्ञान 'समयसार' है। यह समयसार इतना सरल ग्रन्थ है, जिससे भगवान्-आत्मा बना जाता है। जो शंखनाद कर रहा है, वह कोई और नहीं कर रहा। देश-देश के युद्ध होते हैं। सेनापति का भाषण वीररस में होता है। शंखनाद होता है। तो भुजाएँ योद्धाओं की फड़कना प्रारंभ हो जाती हैं। भाषण में शक्ति दी जाती है, वीररस टपकता है। उसी प्रकार बिना उपदेश सुने वैराग्य नहीं होता है। शक्ति तो योद्धाओं में होती है, पर वीररस का भाषण आपको जोश दे रहा है। यह समयसार भगवान्-आत्मा आप सभी में विराजती है, ऐसा जोश देने वाला ग्रन्थ है। जब-जब आप समयसार सुनते हो, आप कितने भी कषाय में बेटे हो, पर यहाँ शान्त बैठे रहते हो। सूचना दे दो आत्मा को कि मैं भी भगवान्-आत्मा हूँ। यह बारहवाँ कलश कह रहा है। भूत में, भविष्य में, वर्तमान में तीनों कालों में कोई सुधी ज्ञानी पुरुष क्या विचारता है? यह कि मैं बन्ध से निर्वन्ध कैसे होऊँ? कोई तुम्हारा नहीं होगा, मैं ही होऊँगा।

हाथी दलदल में फँस जाये, तो हाथी को निकालोगे किससे? हाथी को रस्सी से बाँधकर निकाला जाता है। जिस प्रज्ञा से, जिस बुद्धि से तुमने बन्ध किये हैं, उसी बुद्धि से बंध छुड़ाना पड़ेगा। जितने रोष-तोष में पाप किये हैं, उतने ही रोष तोष से पाप को छुड़ाना पड़ेगा। जितने पैर रखकर आप घर से यहाँ आये हो, उतने ही कदमों से वापस जाना पड़ेगा। जिन भावों से पाप कमाये हैं, उन भावों से हम पापों को लौटा भी सकते हैं। यही जैनदर्शन की महिमा है। किसी को हीन नहीं देखना चाहता। जितने चल गये न, उतने ही वापिस लौट जाओ। परिणाम आते हैं; जाते हैं, ठहरते नहीं हैं। अशुभ परिणाम आ जाये, तो गिर मत जाना। अशुभ में आ जाँ, तुरंत वापिस कर दो, यह है गुणस्थान। आना-जाना, यह गुणस्थान का काम है। देखो। व्रत-संयम मत छोड़ देना। समयसार को सुनना चाहिए।

ये कर्मकलंक हमारे निज भवन में आकर बैठ गये हैं। इनको हटाओ, जबरदस्ती हटाओ। जैसे आपने अपना मकान किराये पर दिया, फिर खाली कराना पड़े, तो क्या करोगे? उससे खाली कराते हो, नहीं करे, तो हठात् हटाते हो। उसी प्रकार कर्म को हटा दो, निकाल दो, आत्मा तो आत्मा के द्वारा ही अनुभवगम्य है। मिश्री का मीठापन तो मिश्री से ही है। मिश्री में मीठापन कहाँ से आया? जलेबी रस से मीठी होती है।

जिनमें भरा जाता है, वे सत्य नहीं होते। इसलिए आत्मा का स्वभाव जलेबी नहीं है, आत्मा का स्वभाव मिश्री है, मिश्री में मीठापन भरना नहीं पड़ता, मीठी होती है। विकारी भाव जलेबीरूप है। परन्तु अविकारी भाव तो मिश्रीरूप ही है। विकारी भाव आते हैं, उसे हटा दो, तो बचा क्या स्वभाव भाव ? स्वभाव भाव लाना नहीं पड़ता है, होता है। जिसकी महिमा आत्मा से जानी जाती है। जो नित्य ही कर्मकलंक से भिन्न है। दर्पण देखने से चेहरे को नहीं छोड़ते। हम भगवान में अपने चेहरे को देखने जाते हैं, पर चेहरे को छोड़ते नहीं। समयसार कह रहा है, कि आप मेरे को पढ़ कर अपने को देख लो, पर मुझे मत छोड़ना, वरना मेरे देखे बिना तुम दिखोगे कैसे? मैं शाश्वत देव हूँ।

चंदन के वृक्ष में लिपटे साँप मयूर की आवाज सुनकर ढीले पड़ जाते हैं। भगवान् की भक्ति से हमारे कर्मकलंक ढीले पड़ जाते हैं।

## ॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

प प प

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने बारहवें कलश में बहुत ही सुन्दर व्याख्या की है। पानी के ऊपर कमल है, पानी के ऊपर शैवाल है, पानी के ऊपर सिगाडें की बेलें हैं। ये सब पानी में होने पर भी ऊपर-ऊपर ही रह पायेंगे, उनके अन्दर न ही रह पायेंगे, लेकिन, अहो कमल ! तू जल को कमल ! नहीं कर सकता। हे पत्र! हे शैवाल कितना ही कोई कहे कि पानी को शैवाल ने विकृत किया है। परन्तु यह विकार शैवाल का शैवाल में ही है। पानी में विकार न शैवाल से हुआ, न होगा। ध्रुव सत्य समझना, आच्छादित अवश्य है, पर शैवाल को हटा कर देखो तो पानी जैसा था, वैसा ही है। इसलिए ध्यान दो, जैसे शैवाल पानी को आच्छादित किये है, पर शैवाल से पानी के गुणों का विनाश नहीं हो रहा, उसी प्रकार से आत्मा कर्म अवस्थित है, हे कर्म ! आप आत्मा को ढँके हो, यह सत्य है; आप आत्मा को पराधीन किये हो, यह भी सत्य है; फिर भी ध्रुव सत्य यह है, कि कर्म कभी आत्मा को कर्मरूप नहीं कर पायेंगे। यदि कर्म आत्मा को कर्मरूप कर लेंगे, तो आत्मा जड़ हो जायेगी। कर्म चेतन नहीं है, कर्म जडधर्मी है, चेतनगुण के साथ मिश्रधारा है। कर्म कहेगा, आत्मा बध्य है, संसारी है, इत्यादि सिद्धान्त ग्रन्थ कहेंगे, सत्य है, पर उस बध्यता के अन्दर भी निर्बन्ध भगवान्-आत्मा है। बध्य में निर्बध्यता को नहीं जान पाये तो सम्यग्दर्शन कैसा ? और जो-जो निर्बन्ध हुए हैं, वे बन्ध को न मारें तो सम्यग्दर्शन कैसा ? एकांकी नहीं बनना। मोक्ष शब्द कहता है कि मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ, कोई किसी से बन्धा हो या न बन्धा हो, पर मैं तो बन्धा हूँ। क्योंकि मोक्ष है, इसका मतलब कहीं बन्धा है, जो पूर्व से खुला है, उसको आप खोलने की बात करते क्या ? जो बन्धा होता है, यही तो खुलता है। अहो मुमुक्षु ! तुम्हें इतना भी भान नहीं है क्या ? समयसार निर्बन्ध दशा का ज्ञान कराने वाला ग्रन्थ है, समयसार निर्बन्ध बनाने वाला ग्रन्थ नहीं है। निर्बन्ध बनना है, तो मूलाचार के पास जाओ -

**मग्गो मग्गफलंति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं ।**

**मग्गो नक्खउवाओ तस्स फलं होइ णिव्वाणं ॥२०२॥ मूलाचारा॥**

मार्ग और मार्ग का फल, जिनशासन में दो ही बातें हैं। इस समयसार ग्रन्थ को समझना है, तो नियमसार को भी समझो। रत्नत्रय मार्ग है, निर्वाण मार्ग का फल है। निर्वाण दशा कैसी है ? शाश्वत ध्रुव आत्मा कैसी है? यह कहने वाला समयसार है। प्राप्ति कैसे होगी, यह उपाय की बात क्यों छोड़ रहे हो ? मिश्री से मुख मीठा होता न, खाने के साथ यह समझो। मिश्री बनती कैसे है? गन्ने के अन्दर मिश्री है, कि नहीं

हे? तो आपके यहाँ मेहमान आये, तो गन्ना रख देना थाली में और कहना - हे मुमुक्षु ! जगत में जितनी मिठाइयाँ हैं, सब इसके अन्दर हैं, इसे खा लो। कैसा स्वाद आयेगा? एक भी मिठाई का स्वाद नहीं आयेगा, गन्ने के रस का ही स्वाद आ पायेगा। पर्याय की प्रत्याशक्ति के उद्घाटित हुए बिना पदार्थ में तद्रूप परिणति का स्वानुभव नहीं होता है। स्वानुभूति पर्याय के अभाव में स्वीकारोगे तो सिद्धों की स्वानुभूति श्वान में हो जायेगी। समझ में आया? शुद्ध पर्याय के उद्घाटित हुए बिना परमात्मा की अनुभूति नहीं होती, द्रव्यदृष्टि भिन्न है, वस्तु भिन्न है। हम समयसार में द्रव्यदृष्टि का कथन कर रहे हैं। लेकिन द्रव्य तो जैसा है वैसा स्वीकारना होगा। द्रव्यदृष्टि से श्वान भी भगवान्-आत्मा है, परन्तु द्रव्य से श्वान में स्वानुभूति भगवान् आत्मा की हो रही है क्या? श्वान में स्वानुभूति नियम से श्वान की भी है। स्वानुभूति नहीं मानोगे तो जीवद्रव्य कैसा?

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी भ्रम को तोड़ने वाले हैं। जिनको भ्रम सता रहा है न, वे स्वानुभूति कहने में ही डरते हैं। वे कहते हैं कि सप्तम गुण स्थान के पहले होती नहीं है। अरे! ऐसा कहो कि अप्रमत्तदशा की स्वानुभूति निश्चयानुभूति आत्मानुभूति अप्रमत्तदशा के पहले नहीं होती। लेकिन स्वानुभूति ही नहीं होती है, ऐसा कहकर जीवद्रव्य का घात क्यों कर रहे हो? मैं नहीं कह रहा, आगम कह रहा है। द्रव्यानुयोग ही नहीं कह रहा चारो अनुयोग कह रहे हैं। सुनो, सीता का अग्नि में कूदना हुआ और अग्नि का नीर हो गया, इसमें चार अनुयोग लगे कि नहीं लगे? पहला अनुयोग प्रथमानुयोग और प्रथमानुयोग क्रिया करते पुरुषों की बात करता है। पुराण-पुरुषों की बात कर रहा है, कि देवों ने आकर अग्नि का नीर किया, सत्य है, कि नहीं है? चरणानुयोग से मिलो। धन्य हो, अहो सीते! आपके शील के प्रभाव से अग्नि का नीर हो गया। यह सत्य है, कि नहीं है? करणानुयोग से ऐसा पुण्य का नियोग सामने खड़ा था, कि पुण्य की प्रबलता से अग्नि का नीर हो गया। द्रव्यानुयोग से, अहो सीते! धन्य हो तेरे द्रव्य को, तेरी शुभपरिणति के प्रभाव से अग्नि भी शीतल हो गई। शुभ परिणति न होती तो, अग्नि शीतल कैसे होती? चारों अनुयोग लग गये। द्रव्यानुयोग का व्याख्यान, कभी करणानुयोग, प्रथमानुयोग, चरणानुयोग को छोड़कर नहीं चलता। ऐसी आत्मा होती है, किसकी होती है, जैसी तीर्थकर भगवन्तों की हुई। शुद्धात्मा कैसी होती है? जैसी अरहन्तों की थी। जैसे ही आपने अरहन्त शब्द बोला, तो प्रथमानुयोग खड़ा हो गया। चारों ही अनुयोगों में सात तत्त्वों का, नौ पदार्थों का वर्णन है, और द्रव्यानुयोग में कोई भी अनुयोग नहीं छूटते। मालूम, कैसे नहीं छूटते? जो-जो भी कथन हैं, चाहे प्रथमानुयोग के हों, चरणानुयोग, करणानुयोग के हों, छः द्रव्यों से बाहर किसी का कथन होता ही नहीं है। और द्रव्य का कथन करने वाला कोई अनुयोग है, द्रव्य की प्रधानता, से तो उसका नाम द्रव्यानुयोग है। जब जीवादि तत्त्व और पुण्य-पाप का कथन चलता है, तो आप दो में से एक होंगे ही। पुण्य का उदय चल रहा होगा। या पाप का उदय चल रहा होगा, और दोनों से रहित जिस दिन हो जायेंगे, आप उस दिन यहाँ नहीं होंगे। पुण्य-पाप दोनों प्रकृतियों से रहित कौन-सी आत्मा है? अशरीरी सिद्ध भगवान्-आत्मा है। अरहन्त भगवान् के भी पुण्य-पाप प्रकृतियाँ हैं, औदयिक भाव है। असाता का उदय है कि नहीं? ग्यारह परीषद हो रहे हैं कि नहीं? उन्हें कवलाहारी मत कह देना। मोहनीय कर्म का क्षय हो गया, मोहनीय के क्षय होने के कारण वे असाता कर्म असाता रूप में होते नहीं, क्योंकि पुण्य का फल प्रबल है। 'पुण्यफला अरहन्ता', कपडे उतारते-उतारते भरत को केवलज्ञान हो गया। कपडे उतारते-उतारते केवलज्ञान ही हो गया था, फिर कपडे उतारे ही क्यों? कुछ बातें विवेक से कहना। आज आपको जाना था औरंगाबाद, आपसे पूछा कि क्या



कर रहे हो, तो बोले कि कुछ नहीं, हमें औरंगाबाद जाना है, तो दौड़ते-दौड़ते दो रोटी खाई, और बस पकड़ ली। क्या उन्होंने दौड़ते-दौड़ते रोटी खाई? यानी शीघ्रता में काम किया, उसका उपचार दौड़ते-दौड़ते लगा लिया। कपड़े उतारते-उतारते केवलज्ञान हो गया, मतलब आधे कपड़े तो उतर ही नहीं पाये होंगे। फिर जो कपड़े पहने में केवलज्ञान मानता है, उनमें और आपमें अन्तर क्या रहा? अब संभल कर बोलना, कपड़े उतारते-उतारते का मतलब यह था, कि विधिपूर्वक जैनश्वरी दीक्षा ली है, और ध्यान किया, तब केवलज्ञान हुआ है। बिना ध्यान के केवलज्ञान हो कैसे गया? यह सहज भाषा भ्रम को उत्पन्न करने वाली होती है। एक समय में सौ पान में छेद हो गये, बोले कि समय ही नहीं लगा। पर ध्यान दो, प्रत्येक पान में जो सुई जा रही थी, क्रम-क्रम से जा रही थी, अक्रम से गई क्या? नहीं न? इसी प्रकार से निश्चय और व्यवहार दोनों पक्षों को समझ कर, और पक्षपात से विमुक्त होकर स्वात्मसिद्धि में गमन करना चाहिए।

**पज्जयविजुलुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि ।**

**दोणहं अणण्णभूदं भावं समणा परूविति ॥१२॥ पंचास्तिकाय ॥**

असामान्य जाति और समान-जाति ये पर्याय दो हैं, जो दिख रही हैं। शरीर आदि असामान्य जाति पर्याय है। मैं मनुष्य हूँ न, ये हमारी असामान्य-जाति पर्याय है। लेकिन हमारी इस असामान्य-जाति पर्याय का बन्धक कौन है? पर्याय का बन्धक पर्याय है, कि पर्यायी है? पर्यायी है। इस पर्याय में जो भी सुख-दुःख घटित हो रहा है, उसका वेदक पर्याय है, कि पर्यायी है? पर्यायी है। वह सुख-दुःख का वेदन जो पर्यायी कर रहा है, वह पर्याय से कर रहा है, कि ज्ञान से? ज्ञान से कर रहा है। तो ये बताओ, वह ज्ञान पर्याय का धर्म है, कि पर्यायी का धर्म है? पर्यायी का। अच्छा यह बताओ जो ज्ञान गुण है पर्यायी का, वह पर्यायी से भिन्न है, कि अभिन्न है? अभिन्न है। फिर ज्ञान आत्मा में है कि आत्मा में ज्ञान है? आत्मा में ज्ञान है। ज्ञान में आत्मा तो नहीं है न? गुण-गुणी भिन्न होता है कि अभिन्न होता है? ज्ञान युत-सिद्ध है कि अयुत-सिद्ध है? युत-सिद्ध नहीं है अयुत-सिद्ध है। भिन्नत्व भाव है, कि अभिन्नत्व भाव है? समवायी करण है, कि असमवायीकरण है? हमारा समवायी करण वैशेषिक का समवायीकरण नहीं है। वे संयोग को समवाय बोलते हैं, हम स्वभाव को समवाय बोलते हैं, इसलिए असमवायी नहीं है, समवायीकरण हैं। भूल सुधारना। ज्ञान और आत्मा का अविनाभाव सम्बन्ध है। हम समवायीकरण कैसा मानते? अभेद में अभेद का समवायीकरण। ज्ञान, दर्शन, सुख, चारित्र ये क्या है? समवाय हैं। ये किसमें है? आत्मा में हैं? भिन्न हैं, कि अभिन्न? अभिन्न हैं। नैयायिक वैशेषिक ने जो समवाय का सूत्र बनाया है, वह आत्मा में ज्ञान का समवाय मानते हैं। ज्ञान आत्मा में अलग से आया है, संयोग समवाय, वैशेषिक। आत्मा में ज्ञान गुण का संयोग समवाय नहीं है। हमने माना है, भिन्नत्व के लिए संयोग सम्बन्ध है, अभिन्नत्व के लिए नहीं है। ग्रन्थों को धीमे-धीमे पढ़ना चाहिए। जल्दी पढ़ोगे, तो जल्दी भूलोगे। एक ग्रन्थ में कम से कम एक साल लगाओ, फिर कोई पूछे तो आप उसका उत्तर सही दे सकते हो। पर्यायी ज्ञान से वेदन कर रहा है। विद, यानी वेदन करना। जो स्वसंवेदन शब्द है, उसका अर्थ क्या है? जो-जो भी वेदन होता है, वह स्वसंवेदन है, जैसे पेन को देखा जाना। जब तक आपके ज्ञान का विषय नहीं बनेगा, तब तक जाना कैसे? परीक्षामुख कर्त्ता आचार्य माणिक्यनंदि लिखते हैं।

**“घटमहमात्मना वेत्ति ॥८॥ परीक्षामुख ॥**

मैं घट को अपनी आत्मा से वेदन करता हूँ ऐसा क्यूँ कहा? गुण-गुणी में अभेद होता है। ज्ञान ही

आत्मा है, आत्मा ही ज्ञान है। 'चेतना लक्षणो जीवा, तत्र ज्ञानदर्शन, यह कौन बोल रहा है ? 'सर्वार्थ सिद्धि, आचार्य पूज्यपाद स्वामी। ज्ञान किसमें था ? आत्मा में था। आत्मा कैसी थी ? ज्ञानी थी। जो-जो आपने जाना है, किसमें जाना ? आत्मा में। परद्रव्य को जानोगे तो आत्मा से जानोगे, निज द्रव्य को जानोगे तो भी आत्मा से जानोगे। स्वसंवेदन नहीं मानोगे, तो आप नैयायिक हो जाओगे, क्योंकि वे स्वसंवेदन को ही नहीं मानते। स्वसंवेदन यानि शुद्धानुभूति, स्वसंवेदन, अविरत सम्यग्दृष्टि जीव को नहीं होता, सप्तम गुणस्थानवर्ती को होता है, और सम्यक्त्वानुभूति स्वसंवेदन सम्यग्दृष्टि को होता है और मिथ्यात्व स्वसंवेदन मिथ्यादृष्टि को होता है। ऐसा कथन करो, अन्यथा आत्मतत्त्व का विनाश हो जायेगा।

जगत को जाने, और जाननहार को न जाने, यह कितनी बड़ी बात है ? जाननहारे को जानो, शेष सबको जानना बन्द करो। 'होता स्वयं जगत परिणाम' यह सूत्र कब कहना? जब अन्तस् में बैठ जाना। जगत में सुख-दुःख घटित हो रहे हैं, होने दो। होता स्वयं जगत परिणाम। मैं परिवार का कर्त्ता नहीं, परिवार मेरा कर्त्ता नहीं, यह ध्रुव सत्य है। आप बुरा मत मानना, तो कहता हूँ। जनक तेरा कर्त्ता नहीं, जननी तेरी कर्त्ता नहीं, दोनों अपनी वासनाओं व इच्छाओं की पूर्ति के कर्त्ता हैं। मैंने मनुष्य आयु का बन्ध न किया होता, तो जन्म कैसे लेता ? मेरी मनुष्य आयु का कर्त्ता मैं हूँ। वह मैंने आज बन्ध नहीं किया, इन जनक-जननी को तो मैं जानता ही नहीं था, तब बन्ध कर चुका था। हे जनक जननी ! ये तो हमारे व्यवहारिक विनय का विषय है, कि हम आपको अपना सर्वस्व मानते हैं। परमार्थ दृष्टि से देखोगे, तो आप अपनी वासनाओं के ही कर्त्ता हो, मेरे कर्त्ता नहीं हो। आपके तन में रज-वीर्य का ही प्रादुर्भाव हुआ, आत्मा का प्रादुर्भाव नहीं हुआ है। घबड़ा गये ? ध्रुव सत्य है, मैं आपके कर्तृत्वभाव से उत्पन्न नहीं हुआ, न मैं आपके कर्तृत्वभाव से मरण को प्राप्त होऊँगा। अगली पर्याय जो मुझे मिलने वाली है, वह आपकी कर्तृत्व से नहीं मिलेगी, परिणति के कर्तृत्व से मिलेगी। यः परिणामी सः कर्त्ता य परिणति सः क्रिया। जो परिणामी है वह कर्त्ता है; जो परिणति है वह क्रिया है। जो परिणाम हैं वे मेरे कर्म हैं, क्यों मेरे पीछे रो रहे हो ? स्वानुभूति सोपाधिक कर्म नहीं है, स्वानुभूति निरुपाधिक है। पर क्या हुआ कि व्यवहार पक्ष ने मुख्यता दे दी सातवें गुणस्थान को, और निश्चय पक्ष ने मुख्यता दे दी चौथे गुणस्थान को। दोनों अज्ञानी हैं। स्वानुभूति जीवद्रव्य का गुण है। वह अनुभूति, जो जीव जिस अवस्था में होगा, तद्रूप अनुभव करेगा। यह मैं न्याय की भाषा में बोल रहा हूँ, जब हम अध्यात्म की भाषा में कथन करें, तो वहाँ कहना, अशुभानुभूति, शुभानुभूति, शुद्धानुभूति। तीन भेद करो। अशुभ की अनुभूति होती है, कि नहीं ? शुभ की अनुभूति होती है, नहीं। शुभ की अनुभूति नहीं होती, तो आप घर में रह कैसे रहे है? इन्द्रिय सुखों की अनुभूति भी अनुभूति है, और उसमें ही आपने जीवन निकाला है। बुद्धिपूर्वक अनुभूति ले रहा है। निज के सोचने से ली है।

**यह राग आग दहे सदा, तातैं समामृत सेइये ।**

**चिर भजे विषय-कषाय अब तो, त्याग निज पद वेइये ॥छहढाला ॥**

साधु को आप आहार देते हैं। साधु ने कहा भी होगा, कि अपना कल्याण करो। पर आपने मानी क्यों नहीं ? क्योंकि आप अपने मन की मानते हो। श्रद्धा तो करते हो, परन्तु मानते नहीं हो, क्योंकि श्रद्धान नहीं करोगे, तो सम्यग्दृष्टि नहीं होंगे। जानते हैं, श्रद्धान करते हैं, इसलिए अविरत सम्यग्दृष्टि हैं। मानते नहीं है का मतलब, चर्या में नहीं लाते। जिस दिन चर्या में लायेंगे, उस दिन 'अविरत' शब्द समाप्त हो जायेगा।

भरत चक्र चलाते हुए भी सम्यग्दृष्टि था, क्योंकि 'अरहंत ने जो कहा वह सत्य है।' यह श्रद्धान अन्दर

बेटा है। पर चारित्रमोहनीय के कारण भाई पर ही चक्र चला दिया। जगत के जीवों के प्रति या तो माता बनो, या महात्मा बनो। पड़ोसी का बेटा तुम्हारे काम नहीं आयेगा, वैसे ही तेरा बेटा काम में नहीं आयेगा। अत्यन्ताभाव है। इसलिए एक जीव के कारण दूसरे जीव पर राग-द्वेष करना छोड़ दो। मैं इन शिष्यों को भी समझाता हूँ, मैंने तुम्हें दीक्षा दी है अतः श्रद्धा भक्ति रखना, पर दूसरे गुरु के प्रति अनादर भाव मत रखना। क्यों? यह पूर्व से संचित नियोग है जो आप हमारे पास हो और हम आपके पास हैं। पर ध्रुव सत्य है, कि स्वभाव ही साथ रहेगा, संयोग मिटेगा। जब-तक समयसार की आँख नहीं आयेगी, तब-तक श्रमण का समत्वपना नहीं आयेगा, और जैनी का जैनत्व नहीं बचता। सुनते-सुनते आप सभी के चेहरे उतरे दिखते हैं, घर में माँ बनकर नहीं, महात्मा बनकर रहना। माँ में राग-द्वेष हो जाता है, एक का दूसरे के प्रति। विषयानुभूति भिन्न है, स्वानुभूति भिन्न है। दोनों में अन्तर है।

**आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या, ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्या।**

**आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकम्पमेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समन्तात् ॥१३॥ अ.अ.क.॥**

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं, जो आत्मानुभूति है, वह शुद्धभावात्मक है। जो ज्ञानानुभूति है, वही निश्चय से आत्मानुभूति है। ऐसा जानकर अच्छी तरह से, चारों ओर से, नित्य ही ज्ञानधन स्वरूप है, आत्मा में आत्मा को निवेश करके, प्रवेश करके निश्चल, निष्कंप एक जो है ध्रुव आत्मा ही ज्ञान है और ज्ञान ही आत्मा है, ज्ञानानुभूति जो है, वही आत्मानुभूति है। निर्विकल्प, निराकार, चिदानंद चैतन्य, ज्ञानधन में लवलीन, परमयोगीश्वर, सराग से निवृत्त, वीतरागता से लिप्त ऐसा परम योगी शुद्धात्मा से आत्मा में वेदता है। परन्तु जो सामान्य जीव हैं, वे सामान्य ज्ञान से सामान्य वस्तुओं में वेदन कर रहे हैं। वह शुद्ध पक्ष में नहीं है, इसलिए व्यवहार से हम आत्मानुभूति नहीं कहते हैं। है तो आत्मानुभूति, पर शुद्धात्मानुभूति नहीं है। वह सामान्य ज्ञानानुभूति है। जो सामान्य ज्ञानानुभूति है, वह भी आत्मानुभूति है। मति श्रुत जो ज्ञान है, वह किसकी पर्याय है? ज्ञान कोई पर्याय नहीं है, ज्ञानगुण की पर्यायें मति व श्रुत ज्ञान हैं, ज्ञान किसकी पर्याय हैं? ज्ञान आत्मा का गुण है। जो मति व श्रुत पर्याय हैं, लक्षण व संज्ञा प्रयोजन की अपेक्षा से ही भिन्नत्व रूप में दिखती हैं। पर ज्ञायकत्व भाव से देखोगे, तो ज्ञान भी आत्मा ही है।

विद्वता का निखार अष्टसहस्री से आता है।

**॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥**

प प प

आचार्य भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी अध्यात्म-आलोकित सूर्य हैं जिन्होंने, मनीषियो ! आत्मा के द्रव्य स्वरूप का कथन किया। वह आत्मद्रव्य जगत के सम्पूर्ण विभाव भावों से भिन्न है। जयसेन स्वामी की टीका देखें, उससे पहले पन्द्रहवीं कारिका का अर्थ समझें। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी की इन दोनों गाथाओं की टीका अपने आप में अलौकिक है।

वे योगीश्वर एकत्व-विभक्त स्वरूप पर दृष्टिपात करते हैं हे ज्ञानी ! नाली तो शुद्ध ही बनाई जाती है, साफ ही बनती है, फिर भी नाली में कीचड़ हो जाता है, और समय-समय पर आप, घर की नाली को साफ करते हैं। यदि उसे आप साफ नहीं करेंगे, तो घर में कीचड़ आ जायेगा। चारित्र निर्दोष ही धारण किया जाता है, लेकिन उसमें भी जीव के मन में मन की मलीनता की कीचड़ कहीं आ जाये, उसके लिए आचार्य भगवन्तो ने कहा कि प्रतिक्रमण करो। अतिक्रमण का अभाव करना प्रतिक्रमण है और इन सबका उद्देश्य

यदि कुछ है, तो एकत्व विभक्त भगवती स्वरूप को समझना है। आत्मा ही ज्ञान है, ज्ञान ही आत्मा है, यह पहले समझ चुके हैं। सम्वेदस्वभाव आत्मा का त्रैकालिक स्वभाव है। वह सम्वेद भाव जैसा ज्ञेय होगा, वैसा होगा। ज्ञेय जैसा होगा ज्ञान वैसा होगा।

**परिणमदि जेण दय्यं तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्तं ।**

**तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेदव्वो ॥८॥ प्रवचनसार ।**

इस गाथा को जीवन में कभी नहीं छोड़ना। कोई यूँ कहे, कि मैं पर्याय से भोग भोग रहा हूँ, परिणति तो शुद्ध है तो इस तत्त्व का विपर्यास करके आत्मा में कार्य-कारण का विपर्यास मत कर। बिना परिणति के पर्याय भोग होता ही नहीं। आप कहे, कि जो अशुभ भोग चल रहे हैं, यह तो बहिरंग परिणति है, मेरे अन्तरंग में तो मेरी ज्ञान की धारा चल रही है। तो यह सत्य नहीं है। क्यों? इसलिए ध्रुव सत्य नहीं है कि जिस काल में जैसी परिणति होगी, उस काल में आत्मा की वैसी दशा होगी, शुभ उपयोग रूप क्रिया होगी, तो आत्मा शुभ होगी, और अशुभ उपयोग रूप क्रिया होगी, तो आत्मा अशुभ होगी, तथा शुद्ध रूप प्रवृत्ति होगी, तो आत्मा की दशा भी शुद्ध होगी। बाहरी क्रियाकाण्ड शुभ होने पर अशुभ प्रवृत्ति हो सकती है। परन्तु जिसकी शुभ प्रवृत्ति अंतरंग की होगी, वह बहिरंग में अशुभ हो ही नहीं सकता। बहिरंग निर्मल हो, और अन्तरंग निर्मल हो, तो भजनीय है। जिसका अन्तरंग निर्मल है, उसका बहिरंग निर्मल नियम से होगा।

बहिरंग परिग्रह होगा तो अन्तरंग परिग्रह नियम से है, यहाँ परिग्रह की बात कर रहे हैं। अन्तरंग परिग्रह है, तो बहिरंग हो या न हो कोई नियम नहीं है। श्मसान घाट पर भी शुद्धानुभूति होती है, श्मसान घाट में बैठने में दोष नहीं है, पर मन श्मसान नहीं होना चाहिए। बाहरी वातावरण से परिवार का क्लेश चल रहा है, पर आप उस परिवार के उस वातावरण में कितने सहयोगी हैं। यह देखना पड़ेगा। पर्याय के सम्बन्धों को गौण कर दीजिए पिताजी ने बेटे के गाल पर चाँटा मारा इस दृष्टि से संतान मेरी है। तू पर्याय की दृष्टि से संतान कह ले, पर यह सत्य है, कि जीवद्रव्य तेरा नहीं है। तू चिद्रूप है, तूने एक भगवती आत्मा का अविनय किया है। काषायिक भाव आ गया, विश्वास रखना, वही भविष्य का शत्रु होगा। संगो में सगों को मत खोजा करो। जितने भी उपसर्ग हुए, वह गैरों ने नहीं किये, अपनों ही ने किये। जैसे, पर के बीच संभल कर रह रहे थे, वैसे अपनों के बीच संभल कर रहा करो। शुद्धात्म भाव के लिए सभी शत्रु हैं। द्रव्यदृष्टि द्रव्यानुयोग पर उपयोग आपका है। अब तो संयोगी के साथ सम्भल कर रहना। संयोगी को किंचित भी स्वभाव मान कर मत रहना। अब तो मिलने की शैली बदल जाये आपकी। वृद्ध अवस्था है, मुनि नहीं बन पा रहे हो, मैं आपको टेंशन (तनाव) नहीं देता, लेकिन मुनि तन से बन पायें, या न बन पायें, परन्तु मुनिरूप मन बना कर चलना। सबके साथ रहकर ही सबके बीच नहीं हरना। चर्या का मुनि नहीं बन पाये, तो कम-से-कम मुनि-मन का मुनि तो बना कर रखना। चौबीस घण्टे बना कर रखना। सब के बीच रहकर भी दृष्टि यही रखना, कि इनका मेरा अत्यन्ताभाव है। 'शुद्धोऽहम् बुद्धोऽहं' ये शब्द सरल हैं, लेकिन सबसे कठिन वस्तु का धर्म है, पृथक् स्वरूपोऽहं, एकत्वविभक्त स्वरूपोऽहं। यदि अभ्यास करना हो तो आज से ही शुरू कर देना। पृथक्त्व स्वरूपोऽहं शब्दों में नहीं, अन्दर में प्रवेश कर जाओ। जैनदर्शन की मूल साधना, जिसके बिना सम्यक्त्व नहीं होता, पृथक्त्व स्वरूपोऽहं के बिना, सम्यक्त्व नहीं होता। जिसे मैं पृथक्त्व कह रहा हूँ, उसे भेदविज्ञान कहिए। आत्मा का स्वभाव, परभाव से भिन्न भाव है। मैं सबसे भिन्न हूँ, गहराई चाहिए। संयोग-वियोग में हर्ष-विषाद मत करना। किसी जीव की असादना नहीं करना। पर उसका साथ अपना मान

कर मत रहना। रिश्ते के रिश्ते तो मानना, पर स्वभाव का रिश्ता नहीं मानता। वस्तुस्वरूप का विपर्यास मत करना। चारों अनुयोग का अध्ययन करना। यदि आप मुमुक्षु हैं तो

**उत्तमा स्वात्म चिंता स्यान्, मोह धिंता च मध्यमा।**

**अधमा काम चिंता स्यात्, परचिंताऽधमाधमा ॥४॥ परमानंद स्तोत्र ॥**

अहो मुमुक्षु ! पक्ष का, पंथ का विकल्प अपने मन से हटा दो, फिर देखो कितना आनंद है आपके अन्दर। एक बात समझ में नहीं आती, आप शांतिपाठ में प्रतिदिन बोलते हो -

**सम्पूजकानां प्रतिपालकानां यतीन्द्र सामान्य तपोधनानां।**

यह भगवान् को सुनाने के लिए बोलते हो, कि अपने लिए बोलते हो ? अपने लिए बोलते हो, तो भूल कैसे जाते हो, कि सम्पूर्ण तपस्वियों के लिए, राजा प्रजा के लिए है। तीर्थकर के पादमूल में, शांति की भावना भा रहे हो, और बाहर लड़ रहे हो। यह तो मायाचारी है। तत्त्वज्ञान, तत्त्वबोध, तत्त्वानुभूति इन पर ध्यान दो। यह समयसार तत्त्वानुभूति का ग्रन्थ है। निर्मल तत्त्व कोई परम उपादेयभूत है, तो वह मेरी आत्मा। नैरात्मवादी और आत्मवादी, हम दोनों को नहीं मानते। आत्मवादी की बात मत करना, आत्मस्वभावी की बात करना, पृथक्त्वस्वरूपोऽहं। जब ज्यादा बादाम खा ले, तो पेट में क्या होता है ? बादी हो जाती है, गरिष्ठ का अजीर्ण हो जाता है। ऐसे ही जिन्हें समयसार की बादी चढ़ गई, वे वाद तो कर पायेंगे, पर स्वानुभूति की अनुभूति नहीं ले पायेंगे। ये वात का ग्रन्थ नहीं है। वात का रोगी बड़बडाता है, और ईर्ष्या करता है, और उसके पैर कितने भी घिस ले, तब भी उसके पैर काले मिलेंगे। जिसके चरण साफ होंगे, उसका आचरण भी साफ होगा।

तीर्थकर के क्षायिक अभयदान होता है। जगत के जीवों को निर्भय करा देते हैं।

**जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुड्ढं अणणम विसेसं।**

**अपदेससुत्तमज्झं पस्सदि जिसणसासणं सव्वं ॥१५॥ समयसार**

जो देखता है ! किसको ? आत्मा को। किसकी आत्मा को ? स्वयं की आत्मा को। कैसे ? अबध्य अविशेष है। ऐसे सूत्र के मध्य में अविशेष आदि(विशेषताओं से रहित) सम्पूर्ण जिनशासन को देखता है। जिसने तिल में तेल देख लिया है, अब देखने को बचा ही क्या है ? जिसने दूध में घी देख लिया है अब देखने को बचा ही क्या है ? जिसने सम्पूर्ण द्वादशांग में भगवती आत्मा को देख लिया है, उसे देखने को बचा ही क्या है ? एक माँ हाथ में नोटों की गड्डी लेकर जा रही थी, तो रास्ते में किसी ने पूछ लिया कहाँ जा रही हो ? वह कहती है, 'उनके यहाँ जा रही हूँ, आप हमें उनका घर बता दो।' घर बता दिया। वह चली गई। वह घर में जाकर पूछ रही कि, बेटे की शादी होकर आई थी, वह बहू कहाँ है ? वह ढूँढ रही थी भीड़ में। जैसे ही बहू दिख गई, वह किसी को नहीं देखती, उस बहू को पैसे देती है। वह मकान, साडी को देखने नहीं गई थी। मात्र चेहरा देखने के लिए पैसे देने गई थी। जितने प्रपंच हैं धर्म के, वे सब आत्मवधू को देखने तक हैं। जिस दिन आत्मवधू का चेहरा दिख जाये, फिर सब कुछ समाप्त। तप-साधना, ध्यान आदि तभी तक हैं, जब तक आत्मवधू नहीं मिली। जिस दिन मिल जायेगी, तब तक साधना करनी होगी। जब तक रत्नत्रय धर्म का फल निर्वाण नहीं मिल जाता, तब तक सम्पूर्ण व्यवहारों को देखना होता है। जब मिल जाता है, फिर हम व्यवहारों के घर में नहीं जाते हैं। समझो, यही निश्चय-व्यवहार है। जिसने आत्मा को पाँच रूप में देख लिया कि आत्मा अबद्ध है, अस्पर्श है, अनन्य है, अविशेष है, असंयुक्त है। उसने सम्पूर्ण जिनशासन को देख लिया है। बद्ध यानी बंधा हुआ, संयुक्त यानी मिला हुआ। मैं किसी से बंधा नहीं हूँ, मैं किसी में मिला नहीं हूँ,

ध्रुव शुद्ध पृथक्त्वभाव है, अन्य नहीं है। अनन्य है। जो आत्मा की अनुभूति है, वही सम्पूर्ण जिनशासन की अनुभूति है, जो श्रुतज्ञान है, स्वयं आत्मा ही तो है। ज्ञानानुभूति ही आत्मानुभूति है। जो विकारी भावों से शून्य है वह चिन्द्रूप है। ऐसा परम योगीश्वर ज्ञानी योगीन्दु के गोचर है। दर्पण तो स्वच्छ ही होता है। यदि दर्पण पर रज चढ़ा हो, तो वह भी फीका ही दिखता है। इसलिए आपको शुद्धानुभूति नहीं है। शुद्धात्मानुभूति राग-द्वेष नहीं करता।

## ॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

५५५

आचार्य कुन्द-कुन्द स्वामी ने समयसार जी में अद्भुत सूत्र प्रदान किये। यह ध्रुव आत्मा अनुभव - गम्य है, और आज जिस विषय को आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कहने जा रहे हैं, वह विषय अत्यन्त गंभीर, और परम शान्ति से समझने का विषय है। परमज्ञान को पर ज्ञेय का विषय बनाये हो, अध्यात्म का विषय अब प्रारंभ हो रहा है। जो स्वानुभूति की चर्चा बार-बार चल रही है, वह अध्यात्म की स्वानुभूति जब तक पर ज्ञेयों को ज्ञेय बना रहा है, तब-तक वह स्वानुभूति नहीं है। बहुत सैद्धान्तिक विषय शुरू हो रहा है। अब यहाँ जो स्वानुभूति का निषेध कर रहे हैं, वे कह तो सत्य रहे हैं, लेकिन जैसा कहना चाहिए, उस भाषा में कहें तो समझ में आता है। एक सामान्य स्वसंवेदन, जो कि सम्पूर्ण द्रव्यों को हो रहा है। एक अध्यात्म का स्वसंवेदन, आज उसकी चर्चा करना है। उसको भी तन्मयभूत होकर समझना है। क्योंकि, यह विषय निश्चय व व्यवहार दोनों पक्षों के जीव समझ नहीं पा रहे हैं। कोई तो 'शुद्धोऽहं, बुद्धोऽहं' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं, उसे ही स्वानुभूति मान बैठा है, तो कुछ जीवों ने स्वानुभूति शब्द आत्मा से निकाल ही दिया है। अहो ज्ञानियो ! शुद्धोऽहं, बुद्धोऽहं जो शब्द चल रहा है यह शब्द के ज्ञेय के विषय का अनुभव कर रहे हो आप, वह स्वसंवेदन है, लेकिन जो स्वानुभूति समयसार ग्रन्थ में है, वह अभी दूर है, और संवेदन का निषेध ही कर दिया, उनसे कहना कि आपने जीव द्रव्य के स्वभाव का ही निषेध कर दिया।

कल प्रारंभ किया कि आत्मा अबद्ध है, अनन्य है, असंयुक्त है, अविशेष है। इन चार से आत्मा युक्त है। ऐसा जो जानता है, वह सम्पूर्ण जिन शासन को जानता है। जो ज्ञानानुभूति है, वही आत्मानुभूति है। ज्ञेयानुभूति नहीं। आप पकड़ना, आज मैं आपको उस स्थान पर ले जाना चाहता हूँ, जहाँ आचार्य कुन्दकुन्द ने भगवान् वर्द्धमान को वर्द्धमान होते हुए अनुभव किया हो। जब तक शुक्लध्यान नहीं बनता जब तक क्षपक श्रेणी आरोहण नहीं होता, जब तक कैवल्य प्रगट नहीं होता, जब तक कि ज्ञानानुभूति नहीं होती। ज्ञेयानुभूति नहीं, ज्ञानानुभूति। ज्ञेयानुभूति जब तक है, तब तक ज्ञानानुभूति नहीं है। पर ज्ञेयानुभूति ज्ञानानुभूति से ही होती है। फिर भी, ज्ञेयानुभूति शुद्ध ज्ञानानुभूति नहीं है, मतलब क्या हुआ ? यह पेन है, यह पर-ज्ञेय है, जब मैं इस पेन को निहारता हूँ, तब अपने आत्मा के ज्ञान गुण का प्रयोग मैं पर-बाह्य ज्ञेयों में कर रहा हूँ, इसलिए जो पेनानुभूति हो रही है, वह ज्ञान से हो रही है, स्वसंवेदन से हो रही है, फिर भी स्वसंवेदन नहीं है। जब तू इस पेन को देख रहा था, तो प्रवचनसार की भाषा में उस समय तेरा ज्ञान ज्ञेयाकार हो गया।

प्रश्न- क्या कभी ज्ञान का ज्ञेयरूप परिणमन होता है ? प्रतिप्रश्न क्या, नहीं होता क्या ? उत्तर- ज्ञान भी ज्ञेयाकार होता है, परन्तु ज्ञान ज्ञेयाकार नहीं होता है, और दोनों शब्द में प्रवचनसार से बोल रहा हूँ। दर्पण में चेहरा तभी दिखता है, जब दर्पण में बिम्ब गया न होता। ज्ञेय ज्ञान में न झलके, तो ज्ञान कैसे हो ?

एक पक्ष यह भी सत्य है। लेकिन, हे ज्ञानी ! ज्ञान ज्ञेयाकार हो जाये, तो ज्ञेय तो अग्नि थी, वह जल रही थी, तो ज्ञान भी जलने लग जायेगा, यह भी सत्य है। ज्ञान ज्ञेयाकार होता है प्रतिबिम्बभूत रूप, लेकिन ज्ञान तन्मयभूत ज्ञेयाकार नहीं होता। झलकता है, तन्मय नहीं होता। यदि दर्पण में तेरा चेहरा तन्मय हो गया, तो किसी बालक ने दर्पण में पत्थर मारा, तो तेरा चेहरा फूट जायेगा। परन्तु फूटता है क्या ? दर्पण में प्रतिबिम्ब झलका ही था, बिम्ब गया नहीं था। ज्ञान में ज्ञेय झलकता ही है, ज्ञान में ज्ञेय होता नहीं है। ज्ञेय में जब रागदशा होती है तो, हे ज्ञानी ! वह रागरूप ज्ञेय का जो मोह सम्बन्ध है। वह तेरे अन्दर अशुभोपयोग का जनक होता है, द्वेषरूप जो भाव है, वह तेरे ज्ञान में उपयोग के लिए अशुभ होता है। अरिहंत की प्रतिमा एक के लिए शुभरूप हो रही है, दूसरे के लिए अशुभ रूप हो रही है। एक माँ अपने बेटे के लिए शुभरूप भी होती है, वही दूसरे के लिए अशुभ रूप भी होती है। एक महात्मा होता तो उसमें उसे भगवान दिखता, दूसरे को महात्मा में भी बहिरात्मा दृष्टिगोचर होता है। “किं सुन्दर किं असुन्दरम्।” ज्ञेय, ज्ञेय है; ज्ञान-ज्ञान है। ज्ञेय व ज्ञान के बीच में है राग-द्वेष और मोह। वह राग-द्वेष मोह जैसे है, वैसे ही ज्ञान-ज्ञेय के रूप में ज्ञान दर्शन भी है। वही आत्मा राग-द्वेष को विसर्जित करके ज्ञान-चारित्र पर चली जाये तो अहो ज्ञानी ! उसे माँ भी नहीं दिखेगी, पत्नि भी नहीं दिखेगी, महात्मा भी नहीं दिखेगा। यहाँ तक कि भगवान भी नहीं दिखेगा। उसे तो मात्र निज शुद्ध भगवान् आत्मा दिखेगी। जब रत्नत्रय में लीन होगा और ज्ञान को भी अलग करके चलेगा, तब न माँ व महात्मा, न परमात्मा। मात्र क्या होगा ? मैं ही मैं।

परम वीतरागी तपोधन आत्मज्ञाननिष्ठ हो जाते हैं, तो अन्दर जो नाना कर्म काम कर रहे हैं, आ रहे हैं, जा रहे हैं, फिर भी ज्ञाता दृष्टा निज को जब ज्ञेय बनाता है, तो पर-ज्ञेयों से परे हो जाता है। रत्नत्रय में तन्मय का अर्थ। ज्ञान को ही ज्ञेय बना लेना, समझने के लिए, कहने के लिए, बतलाने के लिए। परन्तु

**आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य ।**

**आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥ १५ ॥ ॥ तात्पर्यवृत्ति ॥**

**रयणत्तयं ण बड्डइ, अप्पाणं मुयत्तु अण्णदवियम्हि ।**

**तम्हा तत्तियमइओ, होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा ॥४०॥ ॥द्रव्यसंग्रह ॥**

रत्नत्रय कहाँ है ? आत्मा को छोड़कर रत्नत्रय कहाँ होता नहीं है। इसलिए आत्मा ही मोक्षमार्ग है, आत्मा ही रत्नत्रय है। रत्नत्रय को अभेद रत्नत्रय भी तो कहा है आगम में। अभेद रत्नत्रय ही शुद्ध ज्ञानानुभूति है। आज मालूम, आप लोग कौन-सा निर्णय कर रहे हो ? समयसार का सम्यग्दृष्टि, समयसार का सम्यग्ज्ञानी और समयसार का सम्यग्चारित्रवान। ये तीनों एक है। यह आचार्य ब्रह्मदेव सूरी की भाषा में बोल रहे हैं। इनमें से एक भी होगा, तो तीनों नियम से होंगे। भूल कहाँ हो रही है ? ये सभी विषय चौथे गुणस्थान में लगा रहे हैं, जबकि उनको यह कहना चाहिए, कि अविरत सम्यग्दृष्टि जीव की जो भूमिका है, वह विषय वहाँ लगा देना। लेकिन जब हम समयसार का निश्चय चारित्र का व्याख्यान करेंगे, तो अहो ज्ञानी ! व्यवहार रत्नत्रय धारण कर समग्र हुए बिना निश्चय रत्नत्रय नहीं होता।

मैं अभी चतुर्थ गुणस्थान की बात नहीं कर रहा, क्योंकि मुझे तो अभी उस परम विषय का स्पष्टीकरण करना है। पर इतना अवश्य समझना, सम्यक्त्वाचरण चारित्र से युक्त है वह चतुर्थ गुणस्थानवर्ती आत्मा। इसका निषेध मत कर देना। क्योंकि मिथ्यात्व का विगलन हुआ है। और सम्यक्त्वाचरण चारित्र सम्बन्धी

आत्मानुभूति है उसका भी निषेध मत करना और वह आत्मानुभूति स्वानुभूति से ही है, उसका भी निषेध नहीं करना। लेकिन आज जो विषय यहाँ आ रहा है, शुद्धोपयोग रूप, उसे वहाँ मत लगाना। आचार्य ब्रह्मदेव सूरि ने परमात्म प्रकाश ग्रन्थ की टीका में स्पष्ट लिखा है भरत, पाण्डव, सगर आदि महामुनियों ने गृहस्थ अवस्था में शुद्धोपयोग की भावना भाई। भावना भावरूप है, शुद्धोपयोग नहीं है। आप सभी को रत्नत्रय की भावना नहीं है क्या? आप तभी सम्यग्दृष्टि हो, जब आपको भावनात्मक रत्नत्रय है, और भावनात्मक रत्नत्रय नहीं तो सम्यग्दर्शन किसका? किसके लिए? लेकिन भाव रत्नत्रय नहीं है, तो वह रत्नत्रय ज्ञानात्मक जाननरूप, और उस जानन का अनुभवरूप है। मिश्री का ज्ञान है तो ज्ञान की अनुभूति ज्ञानरूप होगी कि नहीं? अनुभवरूप ज्ञानानुभूति भिन्न है। भूख लगती है, तो रोटी का भी स्वाद चिन्तन में आता है। लेकिन वह स्वाद, जो चिन्तन में रोटी का है, वह चित्त को प्रसन्न नहीं करता, जो पेट में रोटी का जाने वाला करता है।

ज्ञानानुभूति भी दो प्रकार की हो रही है। एक ज्ञानानुभूति ज्ञेय को जानन रूप अनुभूति, और दूसरे ज्ञेय को चखनेरूप अनुभूति। जैसे किसी से कहा, कि अड्डाइस मूलगुण का स्वरूप ऐसा है। तो बताओ आपको वीतरागी मुनियों के स्वरूप का ज्ञान है, कि नहीं है? वह ज्ञानानुभूति आपके अन्दर है, कि नहीं? है न? पर मुनिराज की प्रवृत्ति की अनुभूति कैसी है, वह तुझे अनुभूति है क्या? नहीं है। यह आपकी प्रत्यक्षानुभूति ज्ञानानुभूति नहीं है। यह आपकी परोक्षानुभूति है। परोक्षानुभूति दो प्रकार की हो गई है। एक परोक्ष में परोक्षानुभूति दूसरी परोक्ष में जो सांख्यवहारिक प्रत्यक्षानुभूति, जो अनुभव में आ रही है, वह परोक्षानुभूति।

जो मति-श्रुत ज्ञान है, वह परोक्ष ज्ञान है 'आद्येपरोक्षम्'। सिद्धान्तशास्त्र की अपेक्षा जो शुद्धोपयोग है सप्तम आदि गुण स्थान में, वह परोक्ष ही है। ये परोक्षानुभूति क्यों कहीं? क्योंकि सिद्धान्त 'आद्येपरोक्षम्' कह रहा है, और बिना मति श्रुत ज्ञान के शुद्धोपयोग की दशा होती नहीं। केवलज्ञान में शुद्धोपयोग नहीं होता, केवलज्ञान में शुद्धोपयोग का फल होता है। आचार्य जयसेन स्वामी के अनुसार प्रथम, द्वितीय, तृतीय गुणस्थान में तारतम्य से अशुभोपयोग, चतुर्थ से छठे गुणस्थान में तारतम्य से शुभोपयोग, सातवें से बारहवें तक तारतम्य से शुद्धोपयोग, यह चारित्ररूप शुद्धोपयोग है। लेकिन 'उपयोगो लक्षणम्' सूत्र जो उपयोग कहेगा न, तो वह शुद्धोपयोग तेरहवें गुणस्थान में ही बनता है। वह कौन-सा शुद्धोपयोग? शुद्धज्ञान, शुद्धदर्शन? 'उपयोगोलक्षणं' यानी केवलज्ञान, केवलदर्शन। शुद्धोपयोग के दो भेद हैं एक परिणती रूप, दूसरा जीव का लक्षणरूप। परिणतिरूप शुद्धोपयोग सप्तम से बारहवें गुणस्थान तक है लेकिन उपयोग रूप जो शुद्धोपयोग है वह जीव का लक्षणात्मक, है जो कि तेरहवें से प्रारंभ होता है, चौदहवें तक और सिद्धों के होता है। लब्धिरूप तो निगोदिया में भी सब कुछ होता है। लब्धिरूप, उपयोगरूप, लक्षणरूप। एक उपयोग है, भावन्द्रिय। जो परोक्षानुभूति है, वह सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष है। यह आचार्य अकलंक स्वामी की कृपा है, जिन्होंने सांख्यवहारिक का कथन किया आचार्य माणिक्यनंदि स्वामी ने स्पष्ट लिखा है 'अकलंक महोदधि। यह सूत्र अकलंक महासागर से निकल कर आया है। बारहवें गुणस्थान तक न्यायशास्त्र की अपेक्षा सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष कहना, सिद्धान्त से परोक्ष कहना, अध्यात्म से फिर प्रत्यक्ष कहना। अध्यात्म शास्त्र आपसे प्रश्न करेगा। जिसे सिद्धान्तशास्त्र परोक्षानुभूति कह रहा है, उसे अध्यात्म प्रत्यक्षानुभूति कह रहा है। परमात्म प्रकाश ग्रन्थ में शिष्य ने प्रश्न किया भन्ते! आप बार-बार प्रत्यक्षानुभूति शुद्धात्मानुभूति का



व्याख्यान कर रहे हो, और तत्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वामी ने 'आद्ये परोक्षम्' कहा है, फिर आप प्रत्यक्ष क्यों कहते हो ? सिद्धान्तशास्त्र में इन्द्रिय-मन को सापेक्षता ग्रहण करने के कारण परोक्ष कहा है। लेकिन जब योगी आत्मस्थ होता है, आत्मस्थ काल में जो मति-श्रुत ज्ञान है, वह ज्ञान किसका है ? आत्मा का है। आत्मा को ही ग्रहण करना, कोई-कोई वस्तु को ग्रहण नहीं करना, वह आत्मा का गुण है। गुण-गुणी में लक्षण-प्रयोजन की अपेक्षा से भिन्नत्व भाव है, परन्तु अधिकरण की अपेक्षा से अभिनत्व भाव ही है। आत्मा से भिन्न ज्ञान नहीं है, और ज्ञान से भिन्न आत्मा नहीं है। जो 'मति-श्रुत' शब्द है, यह ज्ञानगुण की पर्याय के लिए शब्द है, ज्ञान के लिए नहीं है। ज्ञान तो त्रैकालिक है, विकारी भाव का अभाव होगा, तो इसी आत्मा में कैवल्य होगा।

पाँच ज्ञान हैं। वह ज्ञानगुण की पर्याय हैं, गुण नहीं हैं पर्याय विनशती है, पर्याय उत्पन्न होती है, परन्तु गुण त्रैकालिक होता है। शक्कर है, उसकी मिश्री आदि मिटाई भी बनती है, वे पर्यायें तो बदल जायेंगी, परन्तु शक्कर का मीठापन नहीं बदलेगा। पर्याय जितनी शुद्ध बनती जायेगी, उतनी मिठास बढ़ती जायेगी। गुड़, शक्कर, मिश्री आदि वह सब गन्ने का ही विकार है।

इसी प्रकारज्ञान गुण की पर्याय तो बदल जायेगी, परन्तु जो चेतनत्व भाव है, वह त्रैकालिक ध्रुव है। जो परोक्षानुभूति कही है, वह आत्मा से भिन्न नहीं है, इसलिए प्रत्यक्षानुभूति है। जिसे आपने बार-बार जाना, अनुभव किया, उसे भी वे स्वानुभूति अब नहीं कह रहे। क्यों ? मैं क्या समझाऊँ तुझे ? तूने ज्ञेयों को जानने की आदत डाल ली है। ज्ञेयों को जानकर अपने को ज्ञानी कह रहा है, ज्ञान को तो तूने जाना ही नहीं है। तुम क्या प्रश्न कर रहे हो, कि ज्ञेयों को न जाने, तो ज्ञान कैसा ? मतलब तेरा ज्ञान पराधीन है। ये ज्ञेय तो जड़ हैं न, यानी कि तेरा ज्ञान भी जड़ है ? ज्ञान का ज्ञेय ज्ञान भी हो सकता है न। परीक्षामुख सूत्र से, ज्ञेय होंगे, तभी ज्ञान होगा क्या ? प्रकाश और पदार्थ के होने पर ही ज्ञान होगा क्या ?

### शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत् ॥१०॥ परी. मुख ॥

शब्द का उच्चारण नहीं करने पर भी मैं तो कह रहा हूँ। 'परीक्षामुख' को गहरे से अध्ययन कर लिया न, तो कथञ्चित समयसार को पढ़ने की जरूरत नहीं पड़ेगी, जबकि 'परीक्षामुख' न्याय का ग्रन्थ है। जो 'परीक्षामुख' पढ़ लेगा न, उसके आगे-आगे समयसार का अर्थ दौड़ेगा।

इतना सारा आप जान रहे हो, सब आप बोलते हो, क्या मकान में घट रखा हुआ है, बिना बोले भी जान लेते हो कि नहीं ? जान लेते हो। जैसे अपनी आत्मा को जानता है, वैसे ही बिना कहे पर पदार्थों को भी जाना जाता है। सर्वथा ज्ञेय होंगे सामने, तभी जानेगे, तो आप चार्वाक हो जायेंगे क्यों चार्वाक का सिद्धान्त क्या है ? जो प्रत्यक्ष है, वही प्रमाण है तो फिर कहना, आपने दादा के दादा के दादा को देखा क्या, दिख रहे क्या ? नहीं, नहीं देखा। तो तू कहाँ से आया ? प्रत्यक्ष कहने वालो। अनुमान पर भी ध्यान दो। तुम हो यानी तुम्हारे दादा के दादा के दादा थे। आया अनुमान। बिना अनुमान के प्रत्यक्ष को भी नहीं जाना जाता। सिद्धान्त से- परोक्ष प्रमाण की सापेक्षता में ही प्रत्यक्ष की सिद्धि होती है। बिना परोक्ष के प्रत्यक्ष की सिद्धि नहीं होती है। प्यास लग रही है, पानी सामने है, तो प्यास बुझेगी,। क्यों, कैसे जाना ? अनुमान से जाना, जो वस्तु आपको ज्ञात नहीं है आप कर्नाटक जायें, वहाँ का व्यक्ति आपको रोटी दिखाये, और अपनी भाषा में रोटी को कुछ और बोले, तो भी आप जान जाओगे कि नहीं ? वस्तु को देखकर आप समझ लेते हो,

कि रोटी बोल रहा है।

प्रत्यक्ष ज्ञान का ज्ञान हो नहीं सकता, जब तक अनुमान नहीं होगा। पानी से प्यास बुझती है, क्यों? अनुमान से। इसलिए जो व्याख्यान यहाँ चल रहा है, उसकी प्राप्ति बहुत कठिन है। आज मैं कह रहा हूँ, क्योंकि नमक की शुद्ध डली का स्वाद नहीं चखा, मिलाकर खाने की आदत है। ज्ञान को ज्ञेयों से जानने की आदत पड़ गई है। ज्ञान को ज्ञान से जानो, उसका नाम शुद्धोपयोग है। ज्ञान से मात्र ज्ञान को जानना, उसके लिए घंटों नहीं, बहुत समय लगता है। जैसे ही पर-ज्ञेय आये, तुरन्त हटाओ। कैसे? विधि यह है कि तालाब में पानी पीने गये, पानी में शैवाल छाई थी, आपने दोनों हाथ से जल्दी से एक तरफ किया और तुरन्त अंजुली भर ली। वैसे ही शुद्ध ज्ञान से ज्ञेय को जानना है। जैसे ही ज्ञेय आये, उसको धक्का मारना, और अपने ज्ञान से ही जानना। वही ज्ञान प्रमाण होगा, प्रमिति होगी, प्रमेय व ज्ञप्ति होगी, यही शुद्धोपयोग की दशा है। जीव है, अजीव है, तत्त्व है, पदार्थ है इत्यादि शब्द ज्ञान में आना, ही ज्ञेय का मिश्रण है। जैसे आपने उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य की भाषा सुनी मेरा ब्रह्मचर्य है, ये मेरी बहिन के समान, ये मेरी माँ के समान है, ये बेटी के समान है अभी ब्रह्मचर्य नहीं है। मैं ऊँची बात कर रहा हूँ, भटक नहीं जाना। यानी ये बेटी के समान है, इसका मतलब ये शब्द तेरे दिमाग में आ रहा है तो कहीं-न-कहीं अब्रह्मभाव है। ये मानता हूँ का मतलब क्या है? सेवन नहीं कर रहा, ये भी पक्का है मानता हूँ, मतलब तुम्हारे मन में द्वैत भाव है। जब अद्वैत ब्रह्म में लीन होगा, मैं ब्रह्मचारी हूँ ये शब्द का भी समापन होगा। फिर आचार्य कुन्दकुन्द की गाथा बोलना -

**सर्व्वंगं पेच्छंतो, इत्थीणं तासु मुयदि दुग्भावं ।**

**सो ब्रह्मचेरभावं सककदि खलु दुद्ध धरि दुं ।८०। वा. पेक्खा ॥**

जो स्त्रियों के सम्पूर्ण अंगों को देखते हुए भी विकार को प्राप्त नहीं होता है, सो ब्रह्मचारी है। घर में नारी नहीं है, फिर भी आँख बन्द किये नारी को देख रहा है। जो आँख खोलकर भी नारी को नारी रूप न देखे, उसमें भी अस्ति पुरुष चिदात्मा देखे, उसका नाम ब्रह्मचारी है। कम-से-कम अध्यात्म की उत्कृष्ट भाषा को ही सुन लिया करो। जो मैं वर्तमान में साधना कर रहा हूँ न, उसको छोड़ने की साधना जिस दिन शुरू हो जायेगी, उस दिन परम साधना होगी। आप साधना छोड़ मत देना। उस छोड़ने का मतलब मूल-उत्तर गुणों का पालन करते हुए भी अब उनके विकल्पों से शून्य हो जाओ, उसको भी छोड़ने का पुरुषार्थ करो। शुद्ध भाषा बोल देता हूँ जैसे कि आपको भोजन करने के लिए भी वह मन बनाना पड़ता है, ऐसे ही शुद्धोपयोग के लिए मन बनाना पड़ता है। ऐसे ही मूलोत्तर गुणों में लीन हूँ वह भी तो पर ज्ञेय की क्रिया में लीन हूँ, मन बनाना पड़ेगा, यानी अब मैं शुद्धात्मा का सविकल्प ध्यान करता हूँ। जो शुद्धात्मा का सविकल्प ध्यान करेगा, वही निर्विकल्प शुद्धात्मा को प्राप्त कर सकेगा, और जब-तक सविकल्प शुद्धात्मा का ध्यान नहीं कर रहा है, तब-तक निर्विकल्प ध्यान नहीं होगा।

जैसे अनेक प्रकार के भोजन की सामग्री तैयार की, उसमें नमक मिला दिया। सामान्य-विशेष के तिरोभाव का अभाव किये बिना जो नमक का स्वाद ले रहा है, ऐसे लोक में अबुद्धि जीव व्यंजन के ही लोभी हैं, उसमें ही स्वाद को प्राप्त हो रहे हैं, उन्हें शुद्ध नमक का स्वाद चखने की आदत ही नहीं है। ऐसे ही आप पर-ज्ञेयों को ही ज्ञान मान बैठे हो, ज्ञान की शुद्ध डली को आपने जाना ही नहीं है। आप ज्ञानानुभूति ज्ञेयों से ले रहे हो। ज्ञेयों से नहीं, ज्ञान से ज्ञान की अनुभूति लीजिए। सहयोग से शून्य होकर सामान्य के अविर्भाव

से वेदन करता है, वह है शुद्धानुभूति। ध्यान रखना, ज्ञान से ज्ञान की अनुभूति ही शुद्धात्मानुभूति है, ऐसा जानना।

## ॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

५५५

जो शुद्ध स्वानुभूति है, वह अखण्ड है, जो स्वानुभूति है, वह अखण्ड है क्या ? स्वानुभूति का भी खण्ड होता है। छठवें गुणस्थान तक शुद्ध धर्म्यध्यान नहीं है, शुद्ध धर्म्यध्यान सप्तम गुणस्थान से प्रारंभ होता है। अब प्रश्न करो कि वहाँ पर शुद्ध धर्म्यध्यान का निषेध क्यों किया ? जहाँ जिस आत्मा के परिणामों में अन्य कोई ध्यान घटित न होता हो, वह शुद्ध है। छठवें गुणस्थान तक आर्त्तध्यान होता है। उस आर्त्तध्यान के कारण धर्म्यध्यान तो है, लेकिन शुद्ध धर्म्यध्यान नहीं है, इसकी धारा बीच की क्यों आ रही है? सप्तम गुणस्थान में किसी आर्त्त, रौद्र का पाया नहीं है, इसलिए शुद्ध धर्म्यध्यान है, यही कारण है, जैसे यहाँ पर शुद्ध धर्म्यध्यान को कहाँ, सप्तम गुणस्थान में, वैसे ही यहाँ एक शब्द प्रारंभ कीजिए। अखण्ड आत्मानुभूति अध्यात्म का शब्द है, अखण्ड चिदपिण्ड ज्ञायक परम पारणामिक जो स्वभाव है, परमानन्द शालिनी चैतन्य मालनी भगवती आत्मा जो है, वह अखण्ड स्वरूप है। खण्ड किस बात पर किया ? शुद्ध अखण्ड श्रुत ज्ञान यही है। शुद्धात्मानुभूति से प्रयोजन क्या है ? पर ज्ञेय को बीच में लाना ज्ञान का खण्डपना है, निज ज्ञान में पर ज्ञेय को नहीं आने देना। निज ज्ञान में, निज ज्ञान से, निजज्ञान में ही जानना अखण्ड श्रुत ज्ञान की धारा है। किसने किसको जाना ? निज ज्ञान ने निज ज्ञान को, निज ज्ञान के द्वारा, निज ज्ञान के लिए, निज ज्ञान से ही जो जाना वह अखण्ड श्रुतज्ञान की धारा है। वह जो अखण्ड श्रुतज्ञान की धारा होगी, वह प्रत्यक्ष आत्मानुभूति है, और ये व्यवहार पक्ष वाले विद्वान् इस बात को मानने को तैयार नहीं हैं। लेकिन इसको स्वीकार किये बिना, कभी भी वस्तु स्वरूप की अनुभूति संभव नहीं है। जो परोक्षज्ञान 'आद्यपरोक्षम' सूत्र कह रहा है, वह सिद्धान्त अपेक्षा है। परन्तु जो श्रुत ज्ञान है, आत्मा से भिन्न नहीं है, ज्ञान आत्मा ही का धर्म है, वह अखण्ड है, और प्रत्यक्ष है स्वात्मानुभूति, इसलिए यहाँ कहना प्रत्यक्षानुभूति।

कल आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने दृष्टान्त दिया था शुद्ध नमक की डली और व्यंजन मिश्रित नमका आविर्भाव, निरोभाव। अहो, इसमें कभी नमक को सामान्यरूप से ग्रहण किया, कभी मिश्र रूप से ग्रहण किया, पर कभी शुद्ध डली का स्वाद लिया कहाँ ? व्यंजन में मिश्रण करके ही तो लिया है स्वाद नमक का अलग से नहीं चखा। इसलिए दो मिश्र धारा में नमक का स्वाद नहीं लिया। जो जीव पंचपरमेष्ठी का ध्यान कर रहा है, जिसे श्रावकाचार व मूलाचार धर्म्यध्यान कह रहे हैं, और समयसार वहाँ परगत तत्त्व कह रहा है द्वैतभाव है। क्योंकि आपने वहाँ दो को लेकर अनुभव किया है। जो धर्म्यध्यान आप कर रहे हो न, भगवान् महावीर स्वामी की जय हो, भगवान् महावीर स्वामी की जय हो, इसमें आप त्रिशला के बेटे के पास पहुँचे, फिर उनकी जय बोलने का शब्द पकड़ा, आपने उनके शरीर को देखा। कहीं गोरे कहा, कहीं साँवले कहा। कही हरा कहा, ये सब आप पर्याय की बात करते रहे; लेकिन यह जो अनुभूति है, वह भी आनंद था, लेकिन यह वह अनुभूति नहीं है, जो आत्मा के एकत्व विभक्त्य स्वानुभूति है। इस स्वानुभूति में न वह हेय को ज्ञेय बनायेगा, न ज्ञेय को ज्ञेय बनायेगा, न उपादेय को ज्ञेय बनायेगा, जो निज शुद्धात्मा परम ज्ञेय रूप उपादेयभूत है, उसे ही ज्ञेय बनायेगा और ज्ञेय के विकल्प से ही शून्य होगा। फिर वहाँ मात्र एक शब्द बचेगा, 'अप्पा अप्पम्मि रओ' आत्मा को आत्मा में ही रमण कराना। अभी तक आपने जो समयसार सुना, उसमें ऐसा होना

चाहिए, ऐसा होना चाहिए, यह सुना था। अब जो आप सुन रहे हो, ऐसा है, ऐसा ही है, अन्य नहीं है, अन्यथा नहीं है। पर-ज्ञेयों को जब-तक जानते रहेंगे, तब तक ज्ञान व्यंजन में नमक के समान है, और व्यंजन को ही नमकीन कहता है। इन अबुद्धिमानों ने वही बुद्धि मान ली है, कि वेसन में मिलाये नमक को ही नमकीन कहना सीख गये हैं, पर ज्ञेयों में लिप्त होकर परमात्मा की आराधना को आराधना समझ रहे हैं। यह पर की आराधना नहीं थी, वह द्वैतभाव था। आत्मा की आराधना ही परम शुद्ध आराधना है। यह परमात्मा की आराधना इसलिए कराई जाती है, कि आप पापों की आराधना में लगे हो। जो अप्रशस्त ध्यान में लीन हो, उनके लिए प्रशस्त ध्यान की बात की जा रही है। जिससे मोक्ष मिलनेवाला है न, आप आज उसकी बात कर रहे हो। अभी तक जो बात की स्वर्ग मिलने तक की बात की। अरहंत की पूजन, पंचपरमेष्ठी की आराधना, कभी साक्षात् मोक्ष दिलानेवाली नहीं है, वह मात्र स्वर्ग का साधन तो है, पर, ज्ञान और ज्ञेय का अभेद भाव ही निर्वाण का कारण है। ये जितने तामझाम पण्डाल आदि दिख रहे हैं, वे तेरे निज आत्मतत्त्व का साधन किंचित भी नहीं हैं। ये स्वर्ग के साधन हैं, अशुभ से बचने के साधन हैं, परम्परा से साधन के साधन हैं। पर साध्य की प्राप्ति में साधन नहीं है। जो साधकतम करण है, ज्ञान का, ज्ञेय का अभेद भाव ही है। अच्छा है, आप पाँच पापों से विरक्त होकर यहाँ आये हैं। आपके लिए साधन का साधन हैं, कारण का कारण है। पर संतुष्ट मत हो जाना इसमें। ये ज्ञानी लोग साधन के साधन में ही साध्य मान बैठे हैं। क्या मुनि बनना तपस्या है? मुनि बनना तपस्या नहीं है, तपस्या के लिए मुनि बनना। वस्त्र तो निकाले जाते हैं, पिच्छि कमण्डलु तो पकड़ा जाता है, परन्तु विषय-कषायों को रोका जाता है। जितने अंश में विषय-कषाय रोकी है, उतने ही अंश में मुनिराज है, अबंधक है और जितने अंश में काषायिक भाव हैं, उतने अंश में बंधक ही है। दसवें गुणस्थान तक कषाय है, ग्यारहवें में उपशम भाव है, उदयभाव से दसवें तक। जो दसवें गुणस्थान तक सूक्ष्म लोभ कषाय बैठी है, वह क्या यथाख्यात चरित्र को प्रकट होने दे रही है?

**येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति ।**

**येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति ॥२१३॥**

**येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति ।**

**येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति ॥२१४॥ पु.सि.उ.॥**

जितने अंश में ज्ञान है, उतने अंश में बंध नहीं है, जितने अंश में चरित्र है, उतने अंश में बंध नहीं है। जितने अंश में सम्यक्त्व है, उतने अंश में बंध नहीं है, और जितने अंश में राग है, उतने अंश में बंध है। रत्नत्रय बंध का कारण नहीं है। जो मुमुक्षु चरित्र को बंध का कारण कह रहे हैं, वे शुद्ध आगम के विपरीत कथन कर रहे हैं। चरित्र बंध का कारण नहीं है, पर चरित्र के साथ बंध हो सकता है। तीर्थकर-प्रकृति, आहारक शरीर का बंध होता है। जैसे कि तीर्थकर भगवान के समवसरण में भक्तों का जाना। तीर्थकर ने आपको कब बुलाया? नहीं बुलाया। उनके हुए बिना आप आये नहीं। यहाँ प्रश्न कर सकते थे कि बन्ध तो योग और कषाय से होता है, फिर मिथ्यात्व गुणस्थान में योग भी है और कषाय भी है। वहाँ पर भी तीर्थकर प्रकृति का व आहारक शरीर का बन्ध होना चाहिए? तब कहना कि नहीं, कि मिथ्यात्व की सत्ता में कषाय की सत्ता में योग हो, उस काल में आहारक शरीर, तीर्थकर प्रकृति का बंध नहीं होगा। फिर कब होगी? चरित्र के साथ, सम्यक्त्व के साथ यदि कषाय और योग है तो तीर्थकर और आहारक प्रकृति का बंध है। क्यों? इसलिए बंध कराते नहीं हैं, पर इनके हुए बिना इन शुभ प्रकृतियों का बंध होता नहीं है। करणानुयोग को भी

बहुत अन्दर से समझो। सर्वार्थ-सिद्धि का देव जो बनेगा वह जीव क्या अविरत सम्यग्दृष्टि बनेगा? निर्दोष अखण्ड संयम का पालन करने वाला जीव ही सर्वार्थसिद्धि का देव बनता है। रत्नत्रय धर्म से मोक्ष होना चाहिए था। फिर सर्वार्थसिद्धि के देव क्यों बनेंगे? हाँ, रत्नत्रय तो सिद्ध ही बनाता है; पर रत्नत्रय की साधना में जो शुभ राग था, उसके कारण स्वर्ग गया।

नमक की डली जो है, व्यंजन के साथ खाई है, आपने उसे नमकीन कहना सीख लिया है, क्यों? अबुध्यमान होता है, जाना ही नहीं। जिस जीव ने आँख खुलते ही धर्म को क्रियारूप समझ लिया और समयसार जैसे ग्रन्थ को पढ़ने का निषेध कर दिया, वह जीवनभर नमकीन को ही नमक कहता रहेगा, वह शुद्ध नमक की डली को चख ही नहीं पायेगा। ज्यादा हुआ तो विधान /पंचकल्याणक करवा दो। इनका निषेध नहीं कर रहा, करना चाहिए, बहुत अच्छी बात है, अशुभ से बचोगे, लेकिन उसके आगे भी कुछ है, उस पर ध्यान दो। नहीं तो आप मुनिराज बन गये, मुनिराज बनकर भी आप प्रतिष्ठाचार्य थे। प्रतिष्ठाचार्य के विचार का त्याग न करके मात्र वस्त्र का त्याग किया है। तो भेष तेरा ज्ञायक-स्वभाव होगा, और परिणति तेरी राग में लिप्त रहेगी। एक क्षण ऐसा आयेगा, इतने ऊँचे पहुँचेंगे, जब परिणति के परिणाम का भी विकल्प समाप्त हो जायेगा। सुनने में जब आपको इतनी एकाग्रता लग रही है, तो उस स्वभाव के लिए कितनी एकाग्रता चाहिए, बगल में क्या हो रहा है, वह भी न दिखे, और तो क्या, मैं मुनि हूँ, मुनिस्वभाव का भी त्याग हो जाये।

प्रज्ञा का परिणमन पर ज्ञेयों से भिन्न हो जाये। प्रज्ञा के व्यभिचार का त्याग कर दो। तन के व्यभिचार का त्याग अनंतबार किया है, पर प्रज्ञा के व्यभिचार का त्याग ही शुद्धात्मानुभूति है, और जो प्रज्ञा का परिणमन है, उसे प्रज्ञा में ही लगा देना। नवजात बछड़े का जन्म होता है, किसान उसका दूध उसी भैंस को पिला देता है। वह पीता नहीं है। बछड़े को भी ज्यादा नहीं पिलाते। उसी भैंस को पिला देते हैं। क्यों पिलाया? एक तो आपके उपयोग का नहीं था, बछड़ा भी ज्यादा पीने से बीमार हो जाता। इसीलिये उसका उसी को पिलाया है उसके दूध की वृद्धि हो गई, ताकत मिल गई उसको। हे ज्ञानी! जैसे भैंस के दूध को निकालकर भैंस को ही पिलाया है, ऐसे ही आत्मज्ञान को आत्मज्ञान में ही लगा देना, तो तेरा परमज्ञान प्रगट होगा। यहाँ कोई मिश्र की बात नहीं होगी। अन्तर में लीन हो जाना स्वानुभूति है।

माँ ने पेड़े बनाये, बेटा दूर से देख रहा था। बेटे की दृष्टि अभी पेड़े पर है। जब वह दूर से देखता है, तो अन्तर्मुखी होकर देखता है। जब पेड़े को खायेगा, तब अन्तर्मुखी नहीं होगा, अनुभूति में होगा। वह मात्र स्वाद-ही-स्वाद ले रहा है। ऐसे ही निज में ही रमण इसका नाम है स्वात्मानुभूति। इस समयसार ग्रन्थ को बड़े प्रेम से मैं समझा सकता हूँ। जिनको भ्रम है कि मैं भी निश्चल शुद्ध निर्विकल्प आत्मानुभूति लेता हूँ। वह आत्मानुभूति नहीं है, क्योंकि आपके पास में द्वैतभाव चल रहा है, ज्ञेयभाव चल रहा है, ज्ञाताभाव चल रहा है।

जं मुरिा लहइ अरांत-सुहु रियाय-अप्पा ज्ञायंतु ।  
 तं सुहु इंदु वि रावि लहइ देविहिं कोडि रंंतु ॥११७प.प्र.॥  
 जो सुख आत्मा को ध्यावने से महामुनि पाते हैं, वह  
 सुख इन्द्रादि देवों को दुर्लभ है - अपनी आत्मा को  
 ध्यावता परम तपोधन जो अनन्त सुख पाता है उस

सुख को इन्द्र भी करोड़ देवियों के साथ रमता हुआ नहीं पाता ।

व्यवहार-धर्म धर्म तो है, पर वह धर्म नहीं है जो निश्चय धर्म है । व्यवहार को ही इतना बढ़ावा दे दिया, निश्चय पर लक्ष्य नहीं ले गये, मिश्री खाने वाले को गुड़ में ही संतुष्ट करा दिया । पर ध्यान रखना, जब-तक मिश्री न मिले, तब-तक गुड़ ही खा लेना, उसे छोड़ मत देना । लक्ष्य में मिश्री ही होना चाहिए । यही कारण है, कि जिसने इस तत्त्व को समझ लिया न, वह अन्य तत्त्वों से उदास होने लगता है, और उदास होना ही मोक्षमार्ग है । उदास यानी परभावों से मध्यस्थ भाव ।

जो सामान्य विशेष से अनुभवन किया, उस सामान्य विशेष में क्या समझा ? सामान्य को सामान्य विशेष को विशेष अनुभवन तो किया, पर शुद्ध नमक को फिर भी नहीं खाया । यहाँ नमक का ही दृष्टान्त क्यों दिया ? इसलिए, क्योंकि दृष्टान्त वही देना चाहिए, जो छोटे से बालगोपाल भी समझ लें । सोने-चाँदी, हीरे-जवाहरात के दृष्टान्त देते तो वह किसी गरीब के नहीं होता । ऐसा कौन-सा अभागा गरीब होगा, जिसके घर में नमक की डली भी नहीं है ? सामान्य-विशेष तो कह रहे हो, विशेष्य को नहीं पकड़ रहे हो ।

उसी प्रकार से ज्ञेयाकारों से किंचित युक्त होते हुए तत्त्व को जाना, जो परमज्ञान से अबुध्यज्ञान रहा । ज्ञेय को जानना ही ज्ञान है, ऐसा अधिकांश लोग मानते हैं । बहुत कम ऐसे लोग हैं जो ज्ञान को ही ज्ञान मानते हैं ।

पहले कहते थे जान लो, अब कह रहे हैं कि इन ज्ञेयों को कब तक जानोगे ? ज्ञेय ज्ञान नहीं है । कर्ता (स्व) साधन ज्ञान है, करण साधन पर ज्ञेय है । करण तो करण ही होता है, करण कर्ता नहीं है । कर्म तो कर्म है, और कर्ता ही कर्ता है । कर्ता से जताया जाता है कि करण से जनाया जाता है ? जनानेवाला कर्ता है, और जानन क्रिया है और जाना जा रहा है, वह कर्म है ।

जब तक भेद-कर्ता-करण में चिपके रहोगे, तब-तक अभेद कर्ता-करण पर दृष्टि नहीं जायेगी । पेन से पेन को नहीं जाना । ग्रन्थों में ज्ञान नहीं है । ग्रन्थों का धर्म ज्ञान नहीं है । द्रव्यश्रुत ज्ञान नहीं है, द्रव्यश्रुत, द्रव्यश्रुत है । द्रव्यश्रुत, के माध्यम से जाना जाता है । लेकिन ज्ञान तो भावश्रुत ही है । कब तक द्रव्यश्रुत का आलम्बन लिये रहोगे ? जब तक भावश्रुत का आलम्बन नहीं है, किंचित अशुभ से तो बच पाओगे, लेकिन शुद्ध में नहीं जा पाओगे । बीजाक्षरों का ध्यान है, मंत्राक्षरों का ध्यान है, पिण्डस्थपदस्थ जितने ध्यान हैं, ये सब आलम्बन हैं । रूपातीत ध्यान आत्मा का स्वभाव है,

**अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनन्तमन्तर्बहिर्महः परममस्तु नः सहजमुद्बिलासं सदा ।**

**चिदुच्छलननिर्मरं सकलकालमालम्बते यदेकरसमुल्लसन्नवणखिल्य लीलायितम् ॥१४॥अ.अ.कलश॥**

अर्थात् - वह उत्कृष्ट तेज प्रकाशरूप हमें प्राप्त होवे, जो सदाकाल चैतन्य के परिणमन से भरा हुआ है । जैसे लवण की डली एक क्षार रस की लीला का आलम्बन करती है, उसी भांति एक ज्ञानरस स्वरूप को आलम्बन करता है । वह तेज खंडित है - जो ज्ञेयों के आकार से खंडित नहीं होता; अनाकुल है - जिसमें कर्म के निमित्त से हुए रागादिकों से उत्पन्न आकुलता नहीं है; अविनाशी है । अंतरंग तो चैतन्य भाव से दैदीप्यमान अनुभव में आता है और बाह्य वचनकाय की क्रिया से प्रकट दैदीप्यमान है; सहज स्वभाव से हुआ, इसे किसी ने रचा नहीं है और सदैव उसका विलास उदयरूप है; एकरूप प्रतिभा समान है । आत्मा भी परद्रव्य से संयोग विच्छिन्न होने पर, केवल अनुभव करते हुए, एक विज्ञान ज्ञानधन परम पारणामिक जो कैवल्य की प्राप्ति का परम मार्ग है, वही शुद्धज्ञान की अनुभूति है । 'आत्मानुभूति' । यह है शुद्धात्मा । अब

कहना कि अखण्ड ज्ञान है। एक क्षण को जीव स्वानुभव में स्थिर रहता है, यह प्रत्यक्ष अखण्ड श्रुतज्ञान है। जो नहीं समझता समयसार को, वह कहता है कि ज्ञान में कौन-सा खण्ड हो गया, यहाँ खण्ड का मतलब है, परज्ञेय का आ जाना।

## ॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

१ १ १

आचार्य भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी आत्मा को पाँच धर्मों से शून्य कह रहे हैं। इन पाँच से रहित जो आत्मा को देखता है, वही सम्पूर्ण नयों सम्पूर्ण श्रुत का ज्ञाता है, सम्पूर्ण जिनशासन को जानता है।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने कितने सुन्दर शब्द का प्रयोग किया? अखण्ड ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण, खण्डित ज्ञान खण्डित होता है। खण्डित होता है, तो ज्ञान कैसे खण्डित होता है? ऐसा प्रश्न करो। अहो ज्ञानी! जब-जब अध्यात्म का प्रयोग करेंगे, तब-तब परमज्ञायक भाव अखण्ड ध्रुव चैतन्य भगवती आत्मा टंकोत्कीर्ण परमपारणामिक स्वभाव से युक्त है। अखण्ड से कोई केवलज्ञान को समझता हो, ऐसा नहीं है। वह ध्रुव अखण्ड कैवल्य तो है ही, मति श्रुत ज्ञान भी अखण्ड होता है। ज्ञान में पर ज्ञेयों का आना खण्डपना है। निज ध्रुव ज्ञान में निज ही ज्ञेय होकर चलना, यह अखण्ड ज्ञान है। यानी ज्ञान में स्वरूप का चिन्तन करना भी खण्डधारा है। ज्ञान में स्वरूप के चिन्तन का भी चिन्तन, समाप्त हो जाये, ज्ञान से, ज्ञान मात्र को ही ज्ञेय बनाया जाये, यही अखण्ड ज्ञान है। निज में निज ज्ञान को ज्ञेयरूप से अनुभव करे, वही अखण्ड ध्रुव ज्ञान है। जहाँ निज ज्ञान में पर ज्ञेय आ गये हैं, ज्ञानी! वही खण्ड हो गया। निज आत्मा स्वज्ञेयी है, पर ज्ञेयी नहीं है। वही ज्ञेय है, वही ज्ञाता है, वही ज्ञान है, तीनों की अभेददशा की जो अनुभूति है, वही शुद्धात्मानुभूति है। यही निश्चय मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्ग अकेला नहीं कहना, उसमें निश्चय शब्द जोड़ना। यही वीतराग स्वसंवेदन है। यही स्वात्मानुभूति है। यही आत्मानुप्रतीति है। यही निश्चयज्ञान है, यही निश्चयदर्शन है। यही निश्चय चारित्र है यही परम माध्यस्थ भाव है।

मति-श्रुत ज्ञान परोक्ष नहीं है, ऐसा सर्वथा मत कहो, सिद्धान्त उसे परोक्ष ही कहेगा। क्योंकि सिद्धान्तवेत्ताओं के बीच में ऐसा बोल दोगे, कि मति-श्रुत ज्ञान प्रत्यक्ष ही हैं, तो आपकी कोई सुनने को तैयार नहीं होगा। पहले आप उसकी बात कहिए, यह मतिज्ञान 'आद्येपरोक्षम' यह सिद्धान्त श्रुत बोल रहा है। मति-श्रुत ज्ञान परोक्ष है। जब इन्द्रिय मन की सहायता का विषय बनाते हैं, तो परोक्ष होता है। लेकिन आत्मा जो है, वह ज्ञान स्वभावी है, जो ज्ञान है, आत्मा से भिन्न नहीं है, और जो आत्मा है, वह ज्ञान से भिन्न नहीं है। इसलिए शुद्ध श्रुतज्ञान भी आत्मज्ञान ही है।

**श्रुतज्ञानस्य स्वयमात्मत्वात्ततो ज्ञानानुभूतिरेवात्मानुभूतिः ॥ आत्मख्यातिं टीका ॥**

शुद्ध जो श्रुत ज्ञान है, वह स्वयं की आत्मा से युक्त है। ज्ञानानुभूति आत्मानुभूति है। इसलिए मतिश्रुत ज्ञान आत्मा के बाहर नहीं है। इसलिए वह भी आत्मा से अनुभूत होता है। बाहर से नहीं होता है साक्षात् आत्मा से होता है। इसलिए वह ज्ञान भी अध्यात्म की अपेक्षा से प्रत्यक्ष है। हे ज्ञानी! यथार्थ मानना जो कह रहा है, वह न 'पंचाध्यायी' ने न किसी विद्वान् ने कहा। यह आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी स्वयं कह रहे हैं। मैं तो रागियों की बात किंचित भी मानने को तैयार हुआ ही नहीं हूँ। होता भी नहीं हूँ। पर जो ध्रुव सत्य है, उसे कहने में कभी चूक नहीं करूँगा। तो जो मति-श्रुत ज्ञान है, वह अखण्ड आत्मा का ही गुण है, इसलिए ज्ञानानुभूति ही आत्मानुभूति है।

जगत के लोग जो शुद्धात्मानुभूति पर ज्ञेयों में लगा कर बैठे न, वह नहीं है। मात्र ज्ञान का ज्ञेयपना ज्ञानरूप ही जहाँ परिणत हो रहा है, वह स्वात्मानुभूति, शुद्धात्मानुभूति है। आत्मपदार्थ से नहीं हटाना। निज आत्मपदार्थ से भिन्न आत्म पदार्थ को भी हटा देना और जगत में जितने, चाक्षुष पदार्थ दिख रहे हैं, इन सबसे अपने आपको हटा लेना। इनसे हटने के बाद जो तेरे ज्ञान में पाँच ज्ञान बस रहे हैं, उनको भी हटा देना। फिर जो 'मति-श्रुत' शब्द बस रहा है, उसे भी हटा देना। मात्र बचा क्या? ज्ञान। सार बचा।

मैं आपको बहुत अच्छी बात बता दूँ। जिन जीवों को अपने विकार भाव बिल्कुल समाप्त करना हों, वे मिलो आज। कितने ही विकारीभाव मन में आ रहे हों, आँखों का टिमकार, साँसों का परिस्पदन, ये दोनों विकारों की वृद्धि के जनक हैं। जिनका टिमकार शीघ्र-शीघ्र चल रहा हो, समझना किसी आवेग में हैं। जिसकी श्वास बार-बार तेज चल रही हो, वह या तो विकार से पीड़ित है, रोग से पीड़ित है, या मृत्यु के नजदीक है। हे मुमुक्षु ! जो प्राणायाम की विधा शरीर पर टेक दी आज के लोगों ने, ध्रुव सत्य है, कि वह काम-विकार को रोकने की विद्या थी। अब ये टिमकार कैसे शान्त हो, श्वास शान्त कैसे हो? जबरदस्ती टिमकार को शान्त करेगा, वो सफल नहीं होगा। श्वास को रोकेगा, वह सफल नहीं होगा। स्थिर बैठ जाओ, और अपने चित्त में विकारों कि मैं शरीर नहीं हूँ, मैं इन्द्रिय नहीं हूँ। मैं उसे मात्र खोज रहा हूँ, जहाँ से मैं 'शब्द' आ रहा है, तू ही मैं शब्द का जनक है, उसे खोजो। मैं शब्द का जनक कौन है? जहाँ से मैं ध्वनित हो रहा है, उसको पूरे शरीर में बैठकर खोजे। विश्वास रखो, जब इसे खोजोगे, तब शीघ्र ही श्वास शांत हो रही हैं। नेत्र स्थिर हो रहे हैं। करके देख लो। ध्रुव सत्य यह है। सब कहते हैं, कि मन वश में नहीं होता, पर मन को वश में करने की प्रक्रिया कोई नहीं करता। जितनी जीभ हिलेगी, श्वास चलेगी, टिमकार चलेगी, उतना मन दौड़ेगा। जितनी जीभ शान्त होगी, नेत्रों की टिमकार शान्त होगी, नासाग्र के अन्दर खींचने वाली श्वासें मन्द हो जायेगी।

विश्वास रखना, अन्दर शान्त होगा, तो अनेकानेक विद्यार्थे अपने-आप सिद्ध होना प्रगट हो जाती हैं। बस, पर-विषयों को छोड़ दो तो। हे मुमुक्षु ! छोड़ दे तू कोलाहल। कोलाहल में शांति नहीं है। छह मास बैठ जाओ मौन से। निज की अनुभूति का अभ्यास कर। स्पन्दन समाप्त हो जायेगा, तो निज का वेदन प्रारंभ हो जायेगा। छः महीने तक अभ्यास कर। जीवन निकल गया, पर हम अपने लिए छः महीने नहीं दे पाये। क्रिया-काण्ड की धारा पर इतने आश्रित हो गये, कि अपने को छः महीने नहीं दे पाये। मौन ले लो। विराम हो जाओ प्रपंचो से, वाणी का ही विराम नहीं। अभिराम निज में ही निज का गमन हो। वचन व मन से मौन हो जाओ तन के साथ। वचन का मौन ले लिया, परन्तु तन का मौन नहीं लिया, तो चंचलता तीव्र होती है। मौन ले लिया, और संकेतों में बात कर रहे हो, विश्वास रखो, तो योग ज्यादा हिलाना पड़ता है। उससे चंचलता और बढ़ती है। कोई भी योग चंचल होगा न, तो स्थिरता नहीं आ सकती। वचनयोग को विराम दिया है, तो काय को भी विराम दो। वचन और काय को विराम दे दिया। आप परिपूर्ण विश्वास के साथ समझना, तो मनयोग को शान्त होना ही पड़ेगा।

हे ज्ञानी ! पैरो को दौड़ने में शक्ति साथ देती है। आपके दोनों हाथ को पीछे बाँध दें, तो आप दौड़ नहीं सकते। इसी प्रकार काय व वचन इनको बाँध दो, जो मन को वश में करने की बात करते रहते हैं। आचार्य उमास्वामी ने परिपूर्ण यथार्थ लिखा है।

**'कायवाङ्मनः कर्मयोगाः'**



कोई सामान्य ग्रन्थकर्ता नहीं है। जिस ग्रन्थ का नाम विश्व में है। शरीर को वश करो, वचन को वश करो, तब मन वश में आयेगा। शरीर से तो लिप्त हो पापों में, वचनों से मौन लेने में सिरदर्द करता है। जिनका मौन लेने में सिरदर्द करता है, वे आगे की साधना क्या करेंगे ? बल्कि यों कहना चाहिए, कि मौन ले लेने से सिरदर्द कम हो गया। मूक और मौन में अन्तर है। मूक शब्दों को निकालना चाहता है, परन्तु निकलता नहीं है, जबकि मौनी निकालना ही नहीं चाहता।

**अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनन्तमन्तर्बहिर्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा ।**

**चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालम्बते यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्य-लीलायितम् ॥१४ अ.अ.क.॥**

ज्ञानियो ! आचार्य भगवन् अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं- ज्ञानधारा पर ज्ञेयों से खण्डित नहीं है। व्यंजन मिश्रित नमक को खाया है 'खण्डितः सब्जी में नमक का स्वाद सब्जी के साथ तो लिया, पर शुद्ध नमक का स्वाद नहीं लिया। हमने अपने ज्ञान को दूसरे के चेहरे पर लगाकर जाना। जाना ज्ञान से, पर लगाया, पर के चेहरे पर जब पर का चेहरा मँने देखा, तो पर को ज्ञेय बनाया। जब तुमने दूसरे के चेहरे को ज्ञेय बनाया, विश्वास मानिये, तब चक्षु इन्द्रिय का भोग बना डाला, अन्दर में वेदन करना शुरु किया, जो ज्ञान मेरा निज ज्ञेय-भूत था, वह ज्ञान मेरा विषयभूत हो गया। जो निर्बन्धता को ले जाने वाला था, उसने बन्ध करा डाला। अखण्ड ज्ञान नष्ट हो गया। अहो ज्ञान ! ज्ञाता को संभाल कर न रह पाना तेरा कार्य है, ज्ञाता को भटका देना नहीं है। हे ज्ञान ! तो ऐसा ही है, कि घर में गैस सिलेण्डर रखा था, विधिपूर्वक प्रयोग करता तो भोजन पकाता, प्रकाश भी देता, परन्तु गैस बन्द तो किया, पर जितना करना चाहिए, उतना नहीं कर सका। जिससे धीरे-धीरे गैस निकल गई, कमरे में भर गई, गैस लाने गया था, पर आग कमरे में लग गई, और गैस जलाने के पहले, अपने आप को जला बैठा। तू सोच रहा था, कि मेरा तो सिलेण्डर भरा है। जो ज्ञान की अनुभूति तेरी थी। तूने धीमे-धीमे ज्ञान के गैस को पर ज्ञेयों में इतने निम्न स्थानों में भेज दिया ज्ञान की धारा को, कि जब विवेक जगा, इसके पहले नीचे पूरा गिर चुका था। विषयों की काडी लग गई, और चारित्र का भवन जल गया। लिखने का, पढ़ने का विषय नहीं, यह लखने का विषय है। यह आपको ग्रन्थों में लिखा नहीं मिलेगा, निर्ग्रन्थों के अनुभव में मिलेगा। परन्तु ग्रन्थों से बाहर नहीं होगा। यह तो अखण्ड ज्ञान है। चूक अपनी हो रही है। यह ज्ञान ही ज्ञान की चूक है। व्यवहार की भाषा में बोल ले चूक अपनी हो रही है। ध्रुव सत्य है कि ज्ञान ही ज्ञान की भूल कर रहा है। छोड़ो इन्द्रियों को दोष देना। छोड़ो शरीर को दोष देना, ज्ञान ही दोषी है, ज्ञान ही निर्दोष है। कर्मों को कब तक दोष देते रहोगे? छोड़ो कर्मों को दोष देना। कर्मों ने कर्मों को नहीं बुलाया, तेरे भाव कर्मों ने कर्मों को बुलाया। जब भी कर्म तेरे से भिन्न होंगे, तो भावकर्मों को संभालने से ही भिन्न होंगे, पर यह भी सत्य है, कि द्रव्य कर्म न होते तो, भावकर्म क्यों होते ? अपन एकांकी नहीं हैं। इसलिए

**जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुगला परिणमंति ।**

**पुगलकम्मणिमित्तं तहेत जीवो वि परिणमइ ॥८०॥ समयसार ॥**

हे ज्ञानी ! जीव के परिणामों के निमित्त से, कार्माण-वर्गणाएँ कर्मरूप परिणत हुई, और कार्माण - वर्गणाओं के प्रभाव से जीव रागादिक भाव से परिणत हुआ। निमित्त नैमित्तक भाव हैं। लेकिन इसमें संतुष्ट नहीं होना। कर्म से तो नहीं छूट पायेगा। तेरा पुरुषार्थ कर्मों पर नहीं चलना चाहिए, तेरा पुरुषार्थ भाव- कर्मों पर चलना चाहिए। भावकर्म पर पुरुषार्थ करेगा, तो द्रव्यकर्म अपने आप भगेगा। दो-सौ वर्ष पुराने भवन खड़े हैं। उसकी आर्द्रता क्षीण हो रही हो, तो सीमेन्ट-चूना झरने लग जाता है। राग की आर्द्रता क्षीण हो जाये, तो

कर्मों का सीमेन्ट झरने लग जाता है। आर्द्रता को क्षीण कीजिए। जब स्वात्मानुभूति में लवलीन होता है, तो नो कर्म शान्त हो जाते हैं, द्रव्यकर्म तो अपने आप ढीला होगा, भावकर्म शान्त कीजिए। भावनाओं को वश कीजिए। यह सारा जगत इतना अल्पधी है (मूर्ख) कि दस साल पहले बोला था, उस बोलने में समय नष्ट किया, उसके सोचने में समय नष्ट किया, आज फिर सुना रहा है, तो फिर समय नष्ट किया। स्वसमय का विवेक ही नहीं है। कितना बुद्धिमान है? बड़े प्रेम से पर के शब्दों को रखे बैठा है। 'अखण्डतम्' ज्ञान अखण्ड है, उस अखण्ड ज्ञान की धारा को जैसे ही विषयों की नाली में ले गया तो उसे, खण्ड-खण्ड कर लिया। नदी धारा में बहती है, बाँध बना डाले, अनेक नहरें निकाल दी, फिर नहरों से छोटी-छोटी नहरें निकाल दी। खेतों में चला गया, तो हे पानी तेरी धारा नष्ट हो गई। अखण्ड ज्ञानधारा चैतन्यसागर में सिद्धों में मिलने वाली थी, अखण्ड चैतन्यधारा को विषयों की नाली से निकालकर कर्मों की खेती में बो डाला, धारा नष्ट हो गई। अब उगाओ कर्मों की फसल। अखण्डधारा को छेड़ा किसने था? कर्मों की खेती में पानी दिया है। जो ज्ञान सोलहकारण भावना भाने वाला था, जो ज्ञान अशरीरी बनाने वाला था, उस ज्ञान की धारा को तू कषायिक भावों में ले गया। एक क्षण को नहीं संभाल सका, अखण्डधारा नष्ट हो गई। जो अखण्ड में आनंद है, वह खण्ड-खण्ड में आनंद नहीं है। जहाँ द्वैतभाव आ जायेगा, वही अशांति है। यही कारण है कि निर्ग्रन्थ योगियों से कहा गया अब तो वनखण्ड में चले जाओ अखण्ड को देखना है तो। रागियों के बीच में रहोगे, तो कहीं-न-कहीं चिंगारी छूटेगी। इसलिए यथार्थ मानना, जो ध्रुवधाम सत्य ज्ञायकभाव है, उस पर पुनः पहुँचो। हमारा ज्ञान अखण्डित है, आकुलता से रहित है। चंचलताएँ जहाँ है, वहाँ निराकुलता नहीं है। ज्ञान में आकुलताएँ नहीं है। परन्तु जैसे ही ज्ञान परज्ञेय में मिलता है, तो आकुलता हो जाती है। पानी काला नहीं होता। पानी जैसा होता है, वैसा होता है। मार्ग में कीचड़ जैसी मिलती है, वैसा हो जाता है। फिर भी पानी अखण्ड निर्मल ध्रुव है। ज्ञानसमल नहीं होता, ज्ञान विकारी नहीं होता, ज्ञान कषायी नहीं होता। कषायों के मिलने से ज्ञान में विकार आता है। द्वेष-राग के मिलने से ज्ञान में विकार आता है। ज्ञान तो अखण्ड ध्रुव एक शुद्ध है। इसलिए किसी भी जिनागम में, 'चारित्रं शुद्ध धर्म आत्मा' नहीं लिखा, 'चारित्रं, खलु धम्मो' तो है, पर आत्मा का धर्म चारित्र नहीं है। आत्मा का धर्म ज्ञान है, वह ज्ञान ही चारित्र है, वह ज्ञान ही दर्शन है, और ज्ञान ही ज्ञान है। निज को जानना सम्यक्ज्ञान है, निज में स्थिर होना सम्यक्चारित्र है, निज में आलंबित करके श्रद्धान कर लेना सम्यक्त्व है। अनंत स्वभावों के मध्य ज्ञान को परम स्वभाव कहा। एक शब्द में कोई आत्मा को जानना चाहे, तो ज्ञानस्वरूप आत्मा चैतन्यमयी, ज्ञानमयी, ज्ञानमूर्ति, अखण्डित, अनाकुलित है और कैसी है? अनंत ज्योतिर्मयी, अनंतस्वभावी, प्रकाशपुंज वह कौन? मैं, जो परमरूप है। झरता है, भरा नहीं होता। जैसे ही चित्त एकाग्र होता है, वैसे ही योगियों के अखण्ड ज्ञान का स्वरूप निर्झरित होता है। सम्पूर्ण कार्यों का आनन्द लेते हुए, एक रस में सम्मिलित होता है। नमक की डली शुद्ध होती है, तो एक रस देती है। आनंद देती है। ऐसे ही परभावों से भिन्न, चिर-ज्योति चैतन्य रस-रसायन से रसित भगवती-आत्मा, जब एकत्व विभक्त्य में लीन होती है, तब परभावों से परिपूर्ण शान्त होकर एकमात्र निज चैतन्य रस का ही पान करती है। ऐसा है योगी का आनंदधन चैतन्य स्वभाव। न पर का ध्यान, न पर का ज्ञान। निज का ही ध्येय है, निज का ही ध्यान है -

**स्वः स्वयं स्वेन स्थितं स्वस्मै, स्वस्मात्स्वस्या विनश्वरम् ।**

**स्वस्मिन् ध्यात्वा लभेत् स्वोत्थमानंदमामृतं पदम् ॥२४॥ स्वरूपसंबोधन॥**

कौन किसको? स्वयं। किससे? स्वेन। किसके लिए? स्वस्मै। किससे? स्वस्मात्। किसमें? स्वस्मिन्, किम यानी क्या? ध्यायेत्, यानी ध्यान करो। आनन्द अमृतपद को प्राप्त होता है। जब इस ज्ञानधन की यात्रा प्रारंभ होती है, तब व्यवहार की बात करो तो ऐसे लगता है जैसे शीतल पानी में चेहरा देख रहे थे कि इतने में कोई पत्थर फेंक दे।

जितनी रागवत् क्रियाएँ हैं, सब उन्मत्तवत् चेष्टाएँ हैं 'रथ्या पुरुषवत्'। जो निजात्म ज्ञानधन का कथन है, विद्यावृतभारुढो' वह विद्या के रथ पर आरूढ़ जो जाता है। चैतन्य आत्मा ही रथ है। चारित्र और ज्ञान ही दो चके हैं। जिस पर बैठा निज् भगवान् आत्मा ही सारथी है, उस विद्यारथ को ले चल, सिद्धालय ही तेरा राजमार्ग है। इस सारथी को साथ में ले चलो, पर उसे स्वामी मत बना बैठना। जाओ अपने घर। निर्णय तो दे सकता है, पर निर्णायक ही, निर्णायक हो सकता है। निर्णय वस्तु कहने वाला ही है, पर निर्णय पूरी वस्तु नहीं है।

निर्णायक से निर्णय ले लेना, पर काम स्वयं ही करना पड़ेगा। क्या करूँ? निर्णय तो बहुत किये हैं, पर निर्णय लिया नहीं है। इस कलश का चिन्तवन करना, अन्तस् में बैठकर सोचना। जब समयसार का अखण्ड कहने वाला तत्त्व एक क्षण में शांति प्रदान करता है, तो जो अखण्ड तत्त्व में लीन हो जायेगा, वह सम्पूर्ण पर्यायों से, अशांति से दूर हो जायेगा।

## ॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

प प प

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने ग्रन्थराज समयसार जी में सम्पूर्ण आत्मप्रवादपूर्व का स्वानुभव लिख दिया है, और पाँचवीं गाथा में यह स्पष्ट कथन कर दिया है कि यह श्रुत से, आगम से भगवन्तों की वाणी को, स्वानुभव से कह रहा हूँ, और यथार्थ मान कर चलना, कि जो तत्त्व की स्वानुभूति है, वह माँ का बेटा है, और जो स्वानुभूति है, वह माँ का शुद्ध पुत्र है, धाय का बेटा नहीं है। जो ज्ञानानुभूति है वह धाय का बेटा है, जो स्वानुभूति है वह धाय का नहीं, माँ का बेटा है। धाय तो पालन पोषण करती है, लेकिन प्रसूति की अनुभूति कैसी होती है वह धाय को मालूम नहीं होती है। माँ पालन न भी करे, धाय से ही पालन कराये, परन्तु प्रसूति की अनुभूति तो जन्म देने वाली माँ को ही ज्ञात होता है। तत्त्व को एक स्वसंवेदन करके जानता है वही ज्ञानानुभूति स्वात्मानुभूति है।

ज्ञानियो ! चिगना नहीं, यह भी समयसार का शब्द है। चिगना नहीं, स्थिर हो कर समझना है, और वह समझना है, जो समझने की आवश्यकता नहीं है। समझा उसे जाये जो परगत हो। जो स्वगत है, उसे समझा नहीं जाता, उसे अनुभव किया जाता है। समझा उसे जाना चाहिए, जो हमारा न हो। जो हमारा होता है, उसे समझा नहीं जाता है, उसे अनुभव किया जाता है। मैं ही अनुभावक हूँ, मैं ही अनुभव हूँ। अखण्ड ध्रुव ज्ञानानुभूति आत्मा का शुद्ध चिद्रूप स्वभाव है। परभावों का विखण्डन जहाँ है, वहीं निजभाव का मण्डन है। यथार्थ मानकर चलना वे परम योगीश्वर जब सबकुछ भूल जाते हैं, तब स्वानुभूति में जाते हैं। बस, अभ्यास करना चाहिए, सबको भूलने का। भगवान् बनने का अभ्यास बिल्कुल नहीं करना चाहिए, भगवान् बनने का अभ्यास करने वाला कभी भगवान् नहीं बन सकता। जो जगत को भूलने का अभ्यास कर लेता है, वह जगत के विषयों को भुला देता है, वही भगवान् बनता है। किसे छोड़ा, किसने छोड़ा? वह भी छूट जाये, यही ध्रुव ज्ञान है। जिस समय त्याग के परिणाम हों, वही तुम्हारी पुण्यदशा है। पाप कर पाओ या न कर पाओ

यदि पाप करने के परिणाम आ रहे हैं, तो यही तेरी पाप दशा है। पाप के परिणाम आये न तो पाप हो गया, प्रवृत्ति में नहीं आया, परन्तु परिणाम में तो आ चुका है। प्रवृत्ति शुभ की बनी भी रहे, परन्तु परिणाम अशुभ की है। तो प्रवृत्ति कुछ भी नहीं कर पायेगी, वह नीचे ले जायेगी, यह ध्रुव सत्य है, यही समयसार है।

हे ज्ञानियो ! आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी पन्द्रहवें कलश में यह कह रहे हैं, कि अब तुम सबको भूल जाओ। ज्ञान में ही ज्ञान से मिलो। जगत को जानना कठिन नहीं है, जाननहार को जानना कठिन है। इस ग्रन्थ में जगत को जानने की व्याख्या किंचित भी नहीं है। सम्पूर्ण अध्यात्म वाङ्मय में, मात्र जाननहार को जानने की व्याख्या है। शब्दब्रह्म में मत डूबिये। डूबना है तो आत्मब्रह्म में डूबिये। ये आत्म ब्रह्म का विषय है। शब्द ब्रह्म का विषय नहीं है। शब्द ब्रह्म की चर्चा करते-करते अनंत जीव चले गये। यथार्थ मानना जितने गूढवादी हुए हैं, वे गूढ में रह जाते हैं। यह गूढ ग्रन्थ है, यह रहस्य ग्रन्थ है। अध्यात्म विद्या यानी कि गूढ विद्या। लोक की सम्पूर्ण विद्याएँ जहाँ समाप्त हो जाती है; वहाँ से इस विद्या का प्रारंभ होता है। क्योंकि हम लोगों ने कमरे में बैठकर इसको देख लिया, इस भवन में भी बैठकर देख लिया, जब बाहर की चर्चा चलती है, तो सभा में हलचल होती है। जब भीतर की बात चलती है, तो सब सामान्य होता है। यमुना, गंगा सबको दिख रही है, पर सरस्वती कहाँ है ? गंगा, यमुना दिख जायेगी, पर सरस्वती अन्दर है। सरस्वती दिखती नहीं है, बहती गंगा है।

आत्मगंगा में लीन होना है, तो बाहरी गंगाओं से दूर होना पड़ेगा। जनश्रुति जनसम्पर्क स्वानुभूति का शत्रु है। गूढ विद्या में प्रवेश करना है, तो छुपना सीखो, छपने से घबड़ाओ। भीड़ तो जुड़ जायेगी, पर भीतर नहीं जाने देगी। भीतर जाओगे, तो भीड़ से तिरना पड़ेगा। यह मैं नहीं कह रहा हूँ, भगवान् जिनेन्द्र की देशना है। लोकोत्तराधार में लवलीन होना है, तो लोकाचार से पृथक्त्वभाव का चिंतन करना है। एकत्व-विभक्त चिद्रूप की अनुभूति में लीन होना है, तो प्रपंचों से दूर होना होगा। जब पंचपरमेष्ठी की आराधना भी आत्माराधना में बाधक है तो, हे ज्ञानी ! पाँच पापों की आराधना आत्माराधना का साधन कैसे है ? सीधे-सीधे नहीं बोलते लोग। जब पंचपरमेष्ठी की आराधना से परगत तत्त्व बनता है, तो पाँच पापों की लीनता से स्वगत तत्त्व कैसे है ? इसलिए पहले पाँच पाप छोड़ना चाहिए, पंचपरमेष्ठी के चरणों में जाना चाहिए। द्वैत से अद्वैत की ओर चलो। परन्तु विषयों की द्वैतपन को तो छोड़ो आप तो द्वैत भी नहीं हो, अद्वैत भी नहीं हो, विषयों के दूत हो। क्या हो गया आपको आज ? द्वैतभक्ति भगवान की करता है, अद्वैतभक्ति आत्मा की करता है। जहाँ भगवान् भी न दिखते हों, आत्मा भी न दिखती हो, उसे क्या कहूँ? वह विषयों का ही दूत है। यदि बुरा लगता हो तो छोड़ दो। सत्य क्या है? विश्वास रखना, यह ज्ञान की धारा है। बिना किसी दृष्टान्त के शुद्ध आत्मतत्त्व की चर्चा की व्याख्या हमेशा की जा सकती है, इतना विषय अपने पास है, आत्मप्रवाद-पूर्व इतना विशाल है। लोग कहते हैं न, जब-तक दृष्टान्त नहीं देंगे तब तक समय कैसे पूरा कर पायेंगे ? ऐसा नहीं है। मूल तत्त्व को कह दो, यथार्थ मानना, शांतता ही 'साता' है। शान्तता हृदय में नहीं, तो साता किस बात की है ? यही कारण है कि स्वानुभूति के रस का आस्वादन करनेवाला ही परम साता में जीता है। यदि आपको ऐसा वेदन करना हो तो, मैं यह नहीं कहूँगा कि मेरे साथ रहो, मैं यह कहूँगा आप स्वयं अपने साथ रह कर देखो। क्योंकि मेरे साथ रहना यानी द्वैत में चले जाना। 'शान्तता ही साता है', इसकी अनुभूति लेना है, तो मात्र अपने आप में रहना सीखो। अपने साथ यानी कि एकत्व-विभक्त में लीन होना। अखण्ड ज्ञान यही है। परिपूर्ण मोह क्षोभ का अभाव (छद्मस्थ अपेक्षा) बारहवें गुणस्थान में होता है। सामान्य से सातवें गुणस्थान में।

परन्तु, पुरुषार्थ चौथे गुणस्थान से ही है। यदि मोह व क्षोभ के परिणाम की परिणति पर लक्ष्य नहीं है, तो चौथा गुणस्थान भी नहीं है।

**चारित्रं खलु धम्मो, धम्मो जो सो हो समोत्ति णिद्धिद्धो ।**

**मोहक्खोह विहिणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥ प्रवचनसार ॥**

मोह, यानी, दर्शनमोह, क्षोभ यानि चारित्रमोह, इन दोनों मोह का अभाव तो क्षायिक सम्यग्दृष्टि कर लेगा चौथे गुणस्थान में पर क्षोभ यानि चारित्र मोहनीय का परिपूर्ण अभाव चौदहवें गुणस्थान में होगा और सामान्य कथन करेंगे तो बारहवें गुणस्थान में होगा। यथाख्यात चारित्र। आप तो शांतता की अनुभूति करो। चतुर्थ गुणस्थान में भी क्षायिक सम्यग्दृष्टि को सिद्धान्त शास्त्र राजवार्तिक वीतराग सम्यक्त्व कहते हैं। लेकिन ध्यान दो, वह वीतराग सम्यक्त्व चारित्र अपेक्षा नहीं, दर्शन की अपेक्षा है। लेकिन हे, ज्ञानी ! ध्यान दो, चतुर्थ गुणस्थान की महिमा भी अपरम्पार है। इसके बिना ऊपर प्रवेश होता नहीं, परन्तु उसमें सन्तुष्ट हो मत जाना। उस पर बैठे रहने से कुछ होता नहीं, उसके मिले बिना कुछ होता नहीं, उसमें मिल जाने से कुछ होता नहीं। इसलिए ध्यान दो, अपूर्वकरण परिणाम वहाँ पर भी है। जैसा मिथ्यात्व में कभी अनुभूत नहीं हुआ था, वह अनुभूति चतुर्थ गुणस्थान में लेता है। अपूर्वकरण परिणाम करता है।

आज एक बालक बोल रहा था, कि मुझे तो आनंद आ गया। मैंने पूछा- क्या ? पहला आनंद यह है, कि इतनी शान्ति से उपदेश सुना। दूसरा आनंद यह है, कि जब मैं आपको आहार देने गया था, बड़ा मजा आया। एक वीतरागी के हाथ पर ग्रास रखने से ही आनंद प्राप्त होने लगता है। किसी भी क्रिया में पंचाश्चर्य नहीं होते। जब निग्रन्थ सुकुल श्रावक के घर में प्रवेश करता है, और ऐसी भक्ति से भरा श्रावक जब हाथ पर ग्रास रखता है, तब ऐसी भक्ति के परिणाम स्वरूप श्रावक भी सन्तुष्ट हो जाये, योगी भी सन्तुष्ट हुआ, और पंचाश्चर्य रत्नों की वर्षा प्रारंभ हो जाती है। इतना अनुराग भगवान की पूजा के समय भी नहीं आता जितना कि मुनिराज को आहार देने के समय आता है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती स्वानुभूति लेता है, वह कैसी लेता है? जब आहार कराते समय पंचाश्चर्य हुए, तो आनंदित हुआ, यही तेरी स्वानुभूति शुभोपयोग की अनुभूति है। इस अनुभूति के काल में ही निधत्ति व निकांचित कर्म चूर-चूर होते हैं। कितनी बार रागियों के साथ रोये; यदि रोना भी पड़ जाये, तो वीतरागी की भक्ति में रो लेना। आनन्दाश्रु टपके हैं; यही आत्मप्रसाद है। यह आचार्य पूज्यपाद स्वामी बोल रहे हैं। यही आत्माह्लाद है।

प्रवचन करना पाप नहीं, बहुत पुण्य का काम है, सुनने वाले समझें या न समझें, परन्तु जितनी देर तुम शुद्ध तत्त्व की बात करोगे तब तक स्वात्मस्वाद होता है। मुझे दो समय ही विशेष आनन्द आता है, या तो प्रवचन करूँ, या सामायिक करूँ, वे सुख के क्षण हैं, पर प्रवचन में प्रवचन मात्र होना चाहिए। प्रवचन जगत के कल्याण के लिए किये जाते हैं। जब जगत के कल्याण की बात करेगा, तो स्वकल्याण पर लक्ष्य रखेगा ही, तो स्वयं का कल्याण होगा ही। संतान के प्रति वात्सल्य रखने वाली माँ के आँचल में दूध आ जाता है, ऐसा ही जो प्राणी मात्र के प्रति वात्सल्यभाव रखेगा, उसका सर्वांग दुग्धमय हो जाता है। तीर्थकर के शरीर का रक्त श्वेत क्यों होता है ? सोलहकारण भावना में भावना है प्रवचन वत्सलत्व भावना। जो प्रवचन करने लग गया, वह महावीर के शासन को आगे ले जाने वाला बन गया। जो उदास हो रहे हैं प्रवचन करने से, उन्हें प्रवचन करना, और क्लास लेना शुरू करना चाहिए।

‘धवला’ जी पहली पुस्तक में लिखा है, मिथ्यादृष्टि का ज्ञान भी मंगलभूत होता है, श्रुत का वाचन,



..... संदर्भ ग्रन्थ सूची .....

१.	समयसार	-	श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास चतुर्थ संस्करण
२.	सामायिक पाठ	-	आचार्य अभितगती
३.	तात्पर्य वृत्ति	-	आचार्य जयसेन स्वामी
४.	द्रव्य संग्रह	-	आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्ति देव
५.	इष्टोपदेश	-	आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि स्वामी
६.	आप्त मीमांसा	-	आचार्य समंतभद्राचार्य
७.	नियम सार	-	श्री कुन्दकुन्दाचार्य
८.	रत्न करण्डक श्रावकाचार	-	आचार्य समन्तभद्र स्वामी
९.	परीक्षा मुख सूत्र	-	आचार्य माणिक्यनंदी स्वामी
१०.	स्वरूप संबोधन	-	आचार्य श्री भट्ट अकलंक देव
११.	राजवार्तिक	-	आचार्य श्री भट्ट अकलंक देव
१२.	आलाप पद्धति	-	आचार्य देवसेन
१३.	मूलाचार	-	आचार्य बड़केर स्वामी
१४.	समाधितंत्र	-	आचार्य पूज्यपाद
१५.	वारसाणुपेक्खा	-	श्री कुन्दकुन्दाचार्य
१६.	तत्वार्थ सूत्र	-	आचार्य उमा स्वामी
१७.	पुरुषार्थ सिद्धि उपाय	-	श्री अमृतचन्द्र सूरि
१८.	गोम्मटसार जीवकांड	-	श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती
१९.	प्रवचनसार	-	श्री कुन्दकुन्दाचार्य
२०.	कल्याण मंदिर स्त्रोत	-	आचार्य कुमुदचंद्रदेव
२१.	सार समुच्चय	-	आचार्य कुलभद्राचार्य
२२.	सन्मति सूत्र	-	आचार्य सिद्धसेन गणी
२३.	श्री अर्हद् भक्ति	-	
२४.	लघीयरित्रय कारिका पाठ	-	
२५.	पंचास्तिकाथ	-	श्री कुन्दकुन्दाचार्य
२६.	छहढाला	-	पं. दौलत राम
२७.	स्वयंभू स्त्रोत	-	श्री स्वामी समन्तभद्र आचार्य
२८.	वृहद् द्रव्य संग्रह	-	आचार्य ब्रह्मदेव सूरि
२९.	दंशण पाहुड	-	श्री कुन्दकुन्दाचार्य
३०.	वीरभक्ति	-	
३१.	शांति भक्ति	-	
३२.	वासुपूज्य रत्नवनम्	-	
३३.	प्रमेय रत्नमाला	-	आचार्य लघूअनन्तवीर्य
३४.	सर्वाथसिद्धि	-	आचार्य पूज्यपाद स्वामी
३५.	न्यायदीपिका	-	श्रीमद् भिनव धर्मभूषण यति

## कृतियाँ

1. शुद्धात्म तरंगिणी (हिन्दी व अंग्रेजी)
2. निजात्म तरंगिणी
3. निजानुभाव तरंगिणी
4. स्वानुभाव तरंगिणी
5. पंचशील सिद्धांत
6. बोधि सच
7. आत्म -बोध
8. प्रेक्षा - देशना
9. पुरुषार्थ -देशना
10. तत्व -देशना
11. अध्यात्म -देशना
12. ईष्टोपदेश भाष्य(हिंदी व अंग्रेजी)
13. समाधि तंत्र-अनुशीलन
14. श्रमणधर्म - देशना
15. सर्वोदयी - देशना
16. अर्हत सूत्र
17. अमृत बिन्दु



18. समय देशना(भाग- 1, 2 व 3)
19. शुद्धात्म काव्यांजलि(हिंदी व अंग्रेजी)
20. आत्मराधना
21. विशुद्ध काव्यांजलि
22. स्वरूप संबोधन परिशीलन
23. स्वरूप देशना

अन्य कृतियाँ आचार्य श्री से संबधित  
आदर्श श्रमण (जीवनी)  
अध्यात्म का सरोवर(जीवनी)  
विशुद्ध शतक  
समाधितंत्र ईष्टोपदेश समीक्षा  
पुरुषार्थ देशना समीक्षा  
विशुद्ध काव्य मजूषा  
प्रत्यग् आत्मदर्शी-जीवनवृत्त

